— प्रकाशक —
राजस्थान पुस्तक मन्दिर,
जयपुर

(तृतीय संस्करण २००० प्रतियाँ)

विषय सूची

सामाजिक अध्ययन

सामान्य विज्ञान

अध्याय १

आधुनिक युग का आरंभ

सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में पश्चिमी यूरोप में हमें एक नया युग जन्म लेता हुआ दिखाई देता है। यह पुनर्जागृति का युग (Renaissance) कहलाता है। इस नये युग का बीजारोपण कई शताब्दियों पहले हो गया था। और इन शताब्दियों में धीरे-धीरे वे सभी बातें जिनका संबंध मध्य-काल से था, मिटती और लुप्त होती चली गईं और वे सभी बातें जो आधुनिक काल से संबद्ध हैं, अंकुरित, प्रस्फुटित और विकसित होने लगीं। सामन्तवाद का प्रभाव धीमा पड़ा और मिटा। कुलीन-वर्ग की प्रतिष्ठा घटते-घटते नष्ट हो गई। संघ-व्यवस्था टूटी, धर्म का प्रभाव क्षीण हुआ और जिज्ञासा खोज, आविष्कार, आलोचना और सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति जागी। ये सारे परिवर्त्तन धीरे-धीरे हुए और इन सबका परिणाम यह निकला कि इतिहास का एक युग मिटा और दूसरा बना। मध्य-युग का शताब्दियों तक फैला हुआ अंधकार नष्ट हुआ। आधुनिक युग की प्रभात किरणें फूटीं। इस संबंध में यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए कि नवीन युग के इस चमकीले सूर्य के दर्शन सबसे पहले पश्चिमी यूरोप में हुए। उसके बाद ही उसका प्रकाश मध्य व पूर्वी यूरोप में पहुँचा और आज यह सारे विश्व में छा गया है। आज की मानव-सभ्यता पश्चिमी यूरोप की सभ्यता का ही विकसित और परिवर्द्धित रूप है।

पुनर्जागृति का युग

इस युग-परिवर्त्तन के मूल कारणों की खोज सरल नहीं है; परंतु उसका एक प्रमुख कारण अवश्य वे धर्म-युद्ध थे, जो यूरोप के लोगों ने ईसाई देशों से तुर्कों के आक्रमण और इस्लाम के प्रभाव को पीछे धकेलने के लिए लड़े। इन युद्धों में जो व्यक्ति सम्मिलित हुए, उनकी मूल प्रेरणा धर्म में थी; पर उनमें से अधिकांश के मन में अन्य प्रेरणाएँ भी काम कर रही थीं। कुछ जोखिम की खोज में थे, कुछ लूटमार की और कुछ सजा और गुलामी से बचने के लिए अपने देशों से भाग निकले थे।

युग परिवर्तन के कारण

सरदार और व्यापारी, चोर और उचक्के, कर्जदार और साहूकार, सभी प्रकार के व्यक्ति इन युद्धों में शामिल होते थे। इन धर्म-युद्धों का प्रत्यक्ष राजनीतिक परिणाम तो विशेष नहीं निकला—इस्लाम की विजय-यात्रा को वे रोक न सके—परन्तु बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक परिणाम बड़े प्रभावशाली सिद्ध हुए। मध्य-युग की अनेकों शताब्दियों में यूरोप के लोग एक जड़ और अविचल जीवन बिताने के अभ्यस्त हो गए थे। शेष संसार से उनका सम्पर्क टूट सा गया था। इन युद्धों ने यूरोप के सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को नए विचारों और अनजनी व्यक्तियों के सम्पर्क में ला दिया, और वे जब अपने अपने गाँवों और नगरों में वापस लौटे, तो एक व्यापक मानसिक क्षितिज को लेकर लौटे। प्राचीन की नीरस सीमाओं में बँधे हुए शुष्क जीवन को बदल डालने की तीव्रता उनके मन में थी। यूरोप के कई भागों में सामाजिक जीवन वैसे भी बदल रहा था। धर्म-युद्धों से व्यापार को नुकसान पहुँचा था। अब तक यूरोप के देशों में वही माल आता था, जो मुसलमान व्यापारी वहाँ ले आते थे। धर्म युद्धों के कारण व्यापार का यह सिलसिला टूट गया। इस कारण अब यूरोप के लोगों ने भूमध्यसागर की लहरों को चीरकर, व्यापार की खोज में, दूर-दूर के देशों तक जाना शुरू किया। वेनिस और मिलन, लूका और फ्लोरेंस व्यापार के बड़े केन्द्र बन गए। यूरोप के लोगों ने पूर्व की प्रगतिशील सभ्यता से भी बहुत कुछ सीखा। एक नया दृष्टिकोण उन्हें मिला। उनके बौद्धिक जीवन पर से धर्म का नियन्त्रण कुछ ढीला पड़ा। पुराने विचारों की शृङ्खलाएँ टूटने लगीं और जीवन के एक नए दृष्टिकोण को स्वीकार करने की तत्परता उन्हें प्राप्त हुई।

विदेशों से सम्पर्क और उसके परिणाम

बाहर की दुनिया से सम्पर्क जर्जरित यूरोप में नवीन प्राण प्रतिष्ठा का मुख्य कारण था। धर्म-युद्धों के बाद ही खोज की यात्राओं में यूरोप के लोगों की रुचि बढ़ी। भूमध्य-सागर को पारकर उनकी डोंगियाँ, जो अब जहाजों की शक्ल लेनी जा रही थीं, एटलांटिक में उतरीं। आरम्भ में अफ्रीका के किनारे चलते-चलते उन्होंने एशिया के देशों तक की यात्रा के मार्गों को खोज निकाला। धीरे-धीरे व्यापार और धर्म दोनों का दबाव बढ़ता गया। व्यापारी लाभ के लोभ में और पादरी लोग धर्म-प्रचार के उद्देश्य से दूर दूर के देशों की यात्रा करने लगे।

चौदहवीं शताब्दी के बाद से यात्रा-संबंधी साहित्य भी बढ़ता जा रहा था और जानकारी भी। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में जब वास्कोडिगामा ने आशा अन्तरीप की परिक्रमा करके भारतवर्ष का मार्ग ढूँढ़ निकाला, तब से दूर देशों की यात्रा में यूरोप के लोगों की रुचि बहुत बढ़ गई। इस बीच कोलम्बस ने अमरीका का पता लगा लिया था। यूरोप के लोगों ने दूसरी ओर लंका, सुमात्रा, जावा, चीन और जापान तक पहुँच-कर अपने व्यापार के अड्डे कायम किए। यह स्पष्ट था कि इन क्रान्ति-कारी परिवर्त्तनों के बीच पश्चिमी यूरोप की सीमित और संकुचित छोटी सी दुनिया बहुत दिनों तक अपने आपमें बन्द नहीं रह सकती थी।

धर्म-युद्धों और भौगोलिक खोजों का सीधा परिणाम यह निकला कि यूरोप के लोगों की एक ओर तो प्राचीनता में रुचि बढ़ी और दूसरी ओर उनमें वर्त्तमान को समझने की उत्कण्ठा जागी।

नए युग की विशेषताएँ

इस नए युग की सबसे बड़ी विशेषता जिज्ञासा की भावना थी, जिसके बिना किसी प्रकार का बौद्धिक विकास संभव नहीं है। प्राचीन संस्कृतियों में रुचि मध्य-काल में भी बिलकुल मिट नहीं गई थी। परंतु अब उसके पीछे एक नई प्रेरणा काम कर रही थी। अपने संबंध में और उस दुनिया के संबंध में, जिसमें वह रह रहा था, मनुष्य के दृष्टिकोण में एक मौलिक अन्तर आ गया था। इस बदले हुए दृष्टिकोण को प्रायः मानववाद (Humanism) का नाम दिया गया है। मानववाद के समर्थक प्राचीन संस्कृति में अगाध विश्वास रखते थे, परंतु इसकी पुनः स्थापना ही उनका एकमात्र लक्ष्य नहीं था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि उन्हें हमारी इस प्रत्यक्ष दुनिया में, जिसमें हम रहते हैं और साँस लेते हैं, खाते-पीते हैं और आमोद-प्रमोद में व्यस्त रहते हैं प्रेम करते हैं और घृणा करते हैं, एक जीवित, जागृत और विशेष रुचि थी। सहज, स्वाभाविक मानव-जीवन से उन्हें प्रेम था। उसके स्वप्न और उसकी आकांक्षाएँ, उसकी वेदना और उसका उत्पीड़न, यही उनकी कला और साहित्य की मूल प्रेरणा थे।

मानववाद के सही अर्थों के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद है। सिसेरो का विश्वास था कि जिन नवयुवकों के हाथ में आगे जाकर

समाज का नेतृत्व आनेवाला है, उन्हें साहित्य, दर्शन, ललित कला, इतिहास और कानून आदि विषयों का अध्ययन करना चाहिए। मानववाद से उनका अर्थ उस संस्कृति से था, जिसमें इस प्रकार के अध्ययन का समावेश हो। परन्तु पुनर्जागृति के युग में मानववाद का प्रयोग विशेष अर्थों में किया जाता था। उसका अर्थ था विचार और कर्म दोनों में ही धर्म के नियन्त्रण की ढिलाई, मध्यकालीन धर्म शास्त्र, दर्शन, कला और साहित्य के सम्बन्ध में उपेक्षा की भावना, और प्राचीन यूनानी और रोमन जीवन और संस्कृति के प्रति अनुराग। पेट्रार्क (Francesco Petrarch, 1304 1374) के जीवन और चरित्र में हमें मानववाद की सभी विशेषताएँ केन्द्रीभूत दिखाई देती हैं। पेट्रार्क फ्लोरेंस (इटली) का रहने वाला था और मानववादी विद्रोह का मुख्य नेता। उसका चरित्र भावनाप्रधान था। रूढ़ियों के बंधन उसे जकड़ पाने में सदा ही असमर्थ रहे। उसके जीवन में निरंतर एक संघर्ष चलता रहा जिसके मूल में यह प्रश्न था—"हमारे कार्य कहाँ तक एक बाहरी नैतिकता की संकीर्ण सीमाओं में बँधे रहने चाहिए और कहाँ तक हमें अपनी इच्छाओं और भावनाओं को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए ?" मध्य-युग का उत्तर इस संबंध में बहुत स्पष्ट था 'नैतिक बन्धनों को हमें जीवन में सर्वोपरि स्थान देना चाहिए।" पेट्रार्क ने इस उत्तर के विरुद्ध बगावत की। धर्म के बन्धनों को मानने के लिए भी वह तैयार न था। अन्तःप्रेरणा ही उसके लिए सब कुछ थी। यह धर्म-निरपेक्षता मानववादी विचार धारा की प्रमुख विशेषता थी। पेट्रार्क के मन में प्राचीन रोम के मिटे हुए वैभव के लिए एक गहरा आकर्षण था। प्राचीन रोम के धर्म निरपेक्ष आदर्शों और संस्कृति के प्रति प्रेम उसके व्यक्तित्व में कूट-कूटकर भरा था। प्राचीन ग्रन्थों की खोज में मारे मारे फिरना और वे जहाँ मिल जाएँ, सुन्दर अक्षरों में उनकी नकल कर लेना पेट्रार्क का मुख्य धन्धा ही बन गया था। इसके साथ ही देश भक्ति की भावना और प्रकृति से प्रेम, ये दोनों बातें भी हम उसके जीवन में पाते हैं। पेट्रार्क के इन आदर्शों को बोकेशियो और अन्य मानववादियों ने आगे बढ़ाया। प्राचीन साहित्य के संग्रह और अध्ययन की भावना चारों ओर फैल गई। इन्हीं दिनों एक यूनानी विद्वान के फ्लोरेंस आ जाने से यूनानी भाषा और साहित्य के संबंध में

मानववाद का अभ्युदय

लोगों को अपनी तीव्र जिज्ञासा शान्त करने का अच्छा अवसर मिल गया। मान्दुआ मे तो एक ऐसी शिक्षा-संस्था ही खोल दी गई जिसमें मानववाद की शिक्षा दी जाती थी। फ्लौरेंस के शासकों और इटली के अन्य नगरों के सरदारों और धनीमानी व्यक्तियों से भी इस आन्दोलन को बडा समर्थन मिला। मानववाद के इस आन्दोलन ने पुनर्जागृति के युग को संभव बनाने में बहुत सहायता पहुँचाई।

पुनर्जागृति के युग की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति ललित कलाओं के क्षेत्र मे हुई। मध्य-युग मे कला धर्म के हाथों की कठपुतली थी। जीवन और वास्तविकता मनुष्य के शरीर और प्रकृति के सौंदर्य से उसका कोई संबंध नहीं रह गया था और इस कारण उसका स्वरूप भी कठोर, रूढ़िग्रस्त और भद्दा हो गया था। कला के जर्जर शरीर मे नए प्राणों का संचार सबसे पहले इटली मे हुआ। पुनर्जागृति के युग से पहिले ही इटली के चित्रकार रूढ़ियों के बंधनों को ढीला करने मे लग गये थे। पुनर्जागृति-युग के चित्रकारों मे माइकेल एन्जेलो (Michel Angelo, 1475 1564) रैफेल (Raphael 1483 1520) और लियोनार्डो द विन्सी (Leonardo de Vinci, 1452 1519) प्रमुख हैं। इनकी कला के विषय भी धार्मिक थे, पर कला अब धर्म की दासी नहीं रह गई थी। रैफेल ने अपने 'आदर्शों' के लिए अधिक से अधिक सुन्दर स्त्रियों को चुना, और माँ के सौन्दर्य और शिशु की सरलता को जीवित रूप देने का प्रयत्न किया। उसका सबसे प्रसिद्ध चित्र 'मैडोना' अपने संश्लिष्ट सौंदर्य और सजीव आकर्षण के कारण संसार के सबसे प्रसिद्ध चित्रों मे गिना जाता है। माइकेल एन्जेलो एक कट्टर व्यक्तिवादी चित्रकार था। उसने मनुष्य की शरीर रचना का बडी बारीकी से अध्ययन किया और अपने चित्रों में उसका बडा सफल प्रदर्शन किया। कल्पना की भव्यता, अभिव्यक्ति की सरलता और शक्ति तथा धार्मिक भावनाओं की गहराई मे संसार का कोई भी चित्रकार उसके सामने नहीं ठहर सकता। लियोनार्डो चित्रकार, कवि, संगीतज्ञ, शिल्पशास्त्री सभी कुछ था; परंतु चित्रकार के रूप मे उसका स्थान अद्वितीय है। 'मोना लिसा' नाम का उसका प्रसिद्ध चित्र अपनी अथाह और गंभीर मुस्कराहट के कारण रहस्यमय आकर्षण का एक प्रतीक बन गया है, और कई कला पारखियों की दृष्टि में भाव भंगिमा

ललित कलाओं का विकास

के सौंदर्य और अन्य विशेषताओं के कारण संसार के सुन्दर चित्रों में अद्वितीय है। उसके एक दूसरे प्रसिद्ध चित्र में उस अन्तिम भोज का दृश्य है, जिसमें क्राइस्ट ने घोषणा की है कि बारह शिष्यों में से एक उनके साथ विश्वासघात करेगा। क्राइस्ट की मुख मुद्रा गंभीर है, और बारह शिष्यों में से प्रत्येक के मुख पर विभिन्न भावनाएँ अङ्कित की गई हैं। सारा चित्र एक सजीव नाटक का दृश्य प्रस्तुत करता है। इटली की चित्रकला फिर कभी उस ऊँचाई का स्पर्श नहीं कर सकी जिस तक इन महान चित्रकारों ने उसे उठा दिया था।

मूर्तिकला, स्थापत्य और संगीत

मूर्तिकला, स्थापत्य-कला और संगीत में भी हम इन्हीं प्रवृत्तियों को देख सकते हैं। मूर्तिकला में प्राचीन आदर्शों का अनुसरण करने की चेष्टा की गई। ज़िबर्टी (Ghiberti, 1378-1455) ने फ्लौरेंस के प्रमुख गिरजाघर के लिए जिस भव्य प्रवेश-द्वार का निर्माण किया, माइकेल एन्जेलो ने उसके संबंध में कहा था कि उनसे स्वर्ग के प्रवेश-द्वार का काम लिया जा सकता था। डोनाटेलो (Denatello, 1386-1466) का भी अपने युग की मूर्तिकला पर प्रभाव पड़ा। स्वयं माइकेल एन्जेलो एक कुशल मूर्तिकार था। उसकी बनाई हुई डेविड की विशाल मूर्ति शरीर-रचना की दृष्टि से संसार की मूर्तियों में ऊँचा स्थान रखती है। स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भी मध्य-युग की गौथिक शैली का तिरस्कार किया गया और यूनान और रोम की प्राचीन वास्तु-कला की विशेषताओं, महराब, गुम्बद और स्तंभ को अपनाया गया। प्राचीन इमारतों के खण्डहरों के जीर्णोद्धार का प्रयत्न किया गया। पर प्राचीन शैली ज्यों की त्यों नहीं अपना ली गई। पुनर्जागृति-काल की स्थापत्यकला में नक्काशी और पच्चीकारी पर अधिक जोर दिया गया। रोम स्थित सेन्टपीटर का गिरजाघर इस शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके विशाल और प्रभावपूर्ण गुम्बद की योजना माइकेल एन्जेलो के द्वारा बनाई गई थी। फ्लौरेंस, रोम और सीना आदि के राजप्रासादों में हमें पुनर्जागृति-युग की वास्तुकला के बहुत से उदाहरण देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार संगीत के रूप में भी एक बड़ा परिवर्त्तन हुआ। मार्टिन लूथर ने पहली बार इस बात की कल्पना की कि धार्मिक अवसरों पर सामूहिक संगीत की व्यवस्था होनी चाहिए। उसने कुछ तो प्राचीन धर्म-गीतों को लिया, कुछ नए धर्म-गीतों की रचना की और उसके

बाद से तो गिरजाघरों में सामूहिक संगीत की परिपाटी ही चल पड़ी। इस नई आवश्यकता के आधार पर वाद्य-यंत्रों में भी परिवर्त्तन और सुधार हुए। आधुनिक ऑपेरा का जन्म भी तभी हुआ।

मुद्रण-कला का आविष्कार

साहित्य के विकास में सबसे अधिक सहायता मुद्रण-कला के आविष्कार से मिली। आज से पाँच सौ वर्ष पहले यूरोप में जितनी भी पुस्तकें प्रचलित थीं, वे सब हाथ से लिखी जाती थीं। प्राचीन यूनानी और रोमन एक किस्म की मोटी घास से बनाए गए रेशों से एक चीज़ तैयार करते थे, जिसका उपयोग पुस्तकें लिखने के लिए किया जाता था। बाद में कुछ जानवरों की खालों को साफ करके उनसे लिखने का काम लिया जाने लगा। ये दोनों ही तरीके महँगे और दुःसाध्य थे। चीन के लोगों ने ईसा से भी दो सौ वर्ष पहले रेशम से एक प्रकार का कागज़ तैयार करना आरंभ किया था। दमिश्क के मुसलमानों ने आठवीं शताब्दी में रेशम के बदले सूत का प्रयोग करना शुरू किया और बाद में यूनान, दक्षिण इटली और स्पेन में उसका प्रचलन हो गया। तेरहवीं शताब्दी में इटली में एक किस्म का लिनन का कागज़ काम में लाया जाता था। बाद में उसका प्रचार फ्रांस, पश्चिमी यूरोप और मध्य यूरोप के सभी देशों में हो गया। कागज़ के आविष्कार के बाद ही मुद्रण-कला का प्रचार संभव हो सका। प्रारंभ में लकड़ी पर उल्टे अक्षरों में पुस्तकें खोदी जाती थीं और उस पर स्याही लगाकर कागज पर छाप लिया जाता था। पहले इसमें असुविधा बहुत अधिक थी। अक्षरों के ढालने का काम सबसे पहले हालैण्ड के एक व्यक्ति ने आरंभ किया। इसके बाद उन अक्षरों को शब्दों में और वाक्यों में व्यवस्थित करके छपाई का काम सरल बनाया जा सका। बराबरी की ऊँचाईवाले इन अक्षरों को एक साँचे में जमा लिया जाता था और एक पृष्ठ के छप जाने पर उन्हें अलग अलग करके दूसरे पृष्ठ के लिए नए सिरे से जमाना पड़ता था। गुटेनबर्ग (Gutenburg, 1398-1468) नाम के एक व्यक्ति ने जर्मनी के एक नगर में पहला छापाखाना खोला। धीरे धीरे यह कला जर्मनी भर में और वहाँ से इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में फैल गई। *यूरोप के सभी बड़े नगरों में छापेखाने स्थापित हो गए।*

इस आविष्कार का सभ्यता के विकास पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पुस्तकें बड़ी संख्या में लिखी जाने लगीं और दूर दूर तक उनका

प्रचार होने लगा। जबकि पहले एक कुशल लेखक वर्ष में शायद दो अच्छी पुस्तकों की नकल कर सकता था, सोलहवीं शताब्दी में एक छापे खाने से एक पुस्तक की चौबीस हजार प्रतियाँ आसानी से निकल सकती थीं। किताबों के मूल्य में भी भारी कमी हो गई थी। सरदारों और राजकुमारों के लिए ही नहीं, मध्यम श्रेणी के लिए भी अब यह संभव हो गया था कि वे पुस्तकें खरीद सकें। पुस्तकों के प्रचार से ज्ञान का विस्तार हुआ। सर्वसाधारण का मानसिक दृष्टिकोण अधिक विकसित हुआ और प्राचीन जीवन और साहित्य के संबंध में जिज्ञासा तृप्त करने के साधन बढ़े।

मुद्रण-कला के आविष्कार का सीधा प्रभाव साहित्य के विकास पर पड़ा। साहित्य में भी नवीन प्रवृत्ति का आरंभ इटली में हुआ, पर बहुत जल्दी यूरोप के अन्य देशों में भी उसका प्रभाव जा पहुँचा। इस नए साहित्य का दृष्टिकोण ही दूसरा था। अन्य कलाओं के समान साहित्य भी अबतक मध्यकालीन धर्म के गतिहीन चक्र से जकड़ा हुआ था। अब उसे एक नई मुक्ति मिली और उसने मानव जीवन और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के विशाल क्षितिज में अपने मुक्त पंखों को फैलाकर उड़ान भरना आरंभ किया। यूनानी और लैटिन भाषाओं के प्राचीन साहित्य में रुचि होना तो इस युग की विशिष्ट प्रवृत्तियों के अनुकूल ही था। प्राचीन साहित्य के साथ ही प्राचीन भाषाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया जाने लगा। नई भाषाओं के विकास पर उसका गहरा असर पड़ा। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप के सभी प्रमुख देशों की भाषाओं में एक शक्तिशाली गद्यशैली का विकास होने लगा था। धीरे धीरे रचनात्मक साहित्य का निर्माण आरंभ हुआ। इस युग में नाटकों ने विशेष प्रगति की। नाटक मध्य युग में और प्राचीन युग में भी, धर्म के साथ बँधे हुए थे, पर धीरे धीरे, विशेषकर इंग्लैण्ड में, सर्वसाधारण ने उन्हें अपने हाथ में लेना आरंभ कर दिया था। अब प्राचीन यूनानी नाटककारों की सुखान्त और दुःखान्त रचनाओं का नए सिरे से अध्ययन आरंभ किया गया और उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया जाने लगा, परन्तु कुछ देशों, विशेषकर फ्रांस और इंग्लैण्ड में मौलिक शैलियों का विकास हुआ। पहला आधुनिक नाटक इंग्लैण्ड में तैयार किया गया। मार्लो (Christopher Marlow, 1564-1593) ने मुक्त छंद का आवि

साहित्य का विकास

प्कार किया, जिसने शेक्सपीयर की महान् कृतियों की रचना का मार्ग सुगम कर दिया। मॉन्टेन (Montaigne, 1533-1592) को, जो फ्रांस का एक बड़ा निबंध लेखक था, पुनर्जागृति-युग के साहित्य की भावना का प्रतीक माना जा सकता है। "मैं अपना ही चित्र खींचता हूँ" यह उसका साहित्य-रचना का मूल सिद्धान्त था। मॉन्टेन ने अपने निबंधों में मानव जीवन की दिन प्रतिदिन की घटनाओं को लिया है और व्यक्तिगत बातों की ही चर्चा की है। बाइबिल के देशी भाषाओं में अनुवाद किए जाने का भी उनकी गद्यशैलियों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

पुनर्जागृति-काल की सबसे बड़ी विशेषता आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास था। विज्ञान का थोड़ा बहुत विकास तो मध्य-युग में भी हुआ था; परंतु जीवन को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से
देखने का प्रयास आधुनिक युग की अपनी विशेषता वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। सोलहवीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञान के विकास का विकास
के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त हो गई थीं।
मनुष्य के मस्तिष्क पर से धर्म का नियंत्रण शिथिल हो गया था और उसे इस दुनिया और उसके जीवन में अपेक्षाकृत अधिक रुचि हो गई थी। धार्मिक सुधार ने भी सदियों के नियंत्रण को एक चुनौती दी और व्यक्तिगत अनुभव को उत्साहित किया। वैज्ञानिक खोज के लिए इस भावना का होना आवश्यक था। पुनर्जागृति-युग में भी चिन्तनशील व्यक्तियों की दृष्टि प्रायः प्राचीन की ओर ही रहती थी। प्राचीन के जीर्णोद्धार की भावना का उस युग में प्राधान्य था। पर सोलहवीं शताब्दी से इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आना आरंभ हुआ और दर्शन शास्त्रियों, लेखकों, राजनीतिक सुधारकों, धार्मिक आचार्यों और वैज्ञानिकों ने अपनी कृतियों में भविष्य में एक नए विश्वास का प्रदर्शन किया। इस वातावरण में एक नई वैज्ञानिक भावना ने जन्म लिया। मध्ययुग के लोगों से अधिकारियों द्वारा जो बात कही जाती थी, वे उसे मान लेते थे। अन्ध-विश्वास में वे डूबे हुए थे और एक रहस्यमय और अप्राकृतिक लोक में वे विचरण करते थे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में बेकन (Francis Bacon 1561-1626) ने उद्घोषणा की कि विज्ञान का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य जीवन को नई खोजों और शक्तियों की भेंट देना है, और डेकार्टीज (Descartes, 1596-1650) ने बताया कि हमें प्रत्येक वस्तु को सन्देह

और अविश्वास की दृष्टि से देखना चाहिए जिससे हम सत्य की खोज कर सकें। इस नए मानसिक दृष्टिकोण के बन जाने से भूगोल और ज्योतिष, रसायन और वनस्पति शास्त्र, गणित और भौतिक-शास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञानों का विकास स्वाभाविक हो गया। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण का यह विकास यूरोप एक लंबे अर्से तक धर्मान्धता के प्रवाह में बहते रहने से रोक नहीं सका।

अभ्यास के प्रश्न

१—पुनर्जागृति-युग (Renaissance) के कारणों का उल्लेख कीजिए। उसके विकास में धर्म-युगों ने कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?

२—मानववाद (Humanism) का अर्थ समझाते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

३—पुनर्जागृति-युग में कला, संगीत, साहित्य, दर्शन और विज्ञान की प्रगति का एक संक्षिप्त विवरण दीजिए।

विविध अध्ययन के लिए

1 Symonds J A. : The Renaissance in Italy.
2. Lucas, H. S. : The Renaissance and the Reformation.
3. Parnes : The History of Western Civilization.

अध्याय २

धार्मिक सुधार के आन्दोलन

पुनर्जागृति के युग मे जिज्ञासा और आलोचना की जिस प्रवृत्ति का जन्म हुआ, उसका प्रभाव धर्म के क्षेत्र मे पड़ना अनिवार्य था। पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार की प्रवृत्तियो मे बहुत अधिक सादृश्य रहा हो, यह बात नहीं थी। पुनर्जागरण ने मानववाद का समर्थन किया था। मानववाद ने प्राचीन साहित्य और संस्कृति के अध्ययन पर जोर दिया था जिसके परिणाम-स्वरूप तर्क और विज्ञान के दृष्टिकोणों को प्रमुखता मिली। धार्मिक सुधारों के आन्दोलन में व्यक्तिवाद की भावना पर जोर तो दिया गया था; पर इस व्यक्तिवाद का आधार श्रद्धा पर था, तर्क पर नहीं और इस कारण कई बार वह श्रद्धा अन्धविश्वास का रूप भी ले लेती थी। आग्रह उसके पीछे इतना अधिक रहता था कि वह दुराग्रह बन जाता था और असहिष्णुता की सृष्टि करता था। यह पुनर्जागरण की मूल भावना के प्रतिकूल था, जिसका आधार सहानुभूति की व्यापकता मे था। पुनर्जागृति-युग और धार्मिक सुधारों के आन्दोलन मे इस मूलभूत अन्तर को समझते हुए हमारे लिए यह जान लेना भी आवश्यक है कि यदि पुनर्जागृति-युग ने एक तर्कशील प्रवृत्ति को जन्म न दे दिया होता, तो धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध वह विद्रोह संगठित नहीं किया जा सकता था, जिसने धार्मिक सुधार के आन्दोलन को जन्म दिया। इस प्रकार इन दोनों आन्दोलनों का एक दूसरे से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। जैसा एक लेखक ने लिखा है, पुनर्जागृति काल ने उस 'ऑक्सीजन' की सृष्टि की जिसकी अनुपस्थिति में धार्मिक सुधारों की ज्योति इतनी तीव्रता के साथ कदापि जल ही नहीं पाती।

पुनर्जागृति-युग और धार्मिक सुधार के आन्दोलन

धार्मिक सुधारों के आन्दोलन को पुनर्जागृति के तर्कशील दृष्टिकोण से जहाँ प्रेरणा मिली वहाँ हमे यह भी मानना पड़ेगा कि उसके

लिए मध्ययुगीन रोमन कैथोलिक धर्म में बहुत काफी कारण मौजूद थे। मध्ययुग में रोमन कैथोलिक चर्च के रूप में संगठित ईसाई धर्म का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। चर्च के पास बहुत अधिक भूमि और संपत्ति तो थी ही, कई प्रकार के कर और चुंगी आदि लगाने का भी उसे अधिकार था। इसके अतिरिक्त उसके राजनीतिक अधिकार भी बहुत विस्तृत थे। इटली के एक बड़े भूभाग पर पोप का शासन था। समस्त यूरोप के शासकों का राज्याभिषेक पोप के हाथों से ही कराया जाता था। विभिन्न देशों के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने का भी पोप को एक बड़ी सीमा तक अधिकार था। धन-वैभव और शक्ति के बढ़ते जाने के साथ ही पोप और पादरियों के जीवन में ऐश्वर्य और विलासिता भी बढ़ते जा रहे थे, और इसके कारण उन्हें श्रद्धालु व्यक्तियों से और भी अधिक धन प्राप्त करना अनिवार्य दिखाई देता था। धन प्राप्त करने के लिए नए-नए उपाय निकाले जाते थे। इनमें से कई बड़े आपत्तिजनक थे। इसके अतिरिक्त जिन वर्गों पर बढ़े हुए करों का बोझ पड़ता था, उनके मन में असन्तोष की भावना का विकसित होना स्वाभाविक था। व्यापारियों के लिए तो यह और भी असह्नीय था कि दूर देशों में जाकर और जोखिम उठाकर वे जो लाभ प्राप्त करते थे, उसका एक बड़ा भाग चर्च उनसे ले लेती थी। दूसरी ओर, नवीन राजनीतिक विचार-धाराओं के आधार पर संगठित होने वाले शासन भी चर्च और उसके अधिकारियों के राजनीतिक जीवन पर बढ़ते हुए अतिक्रमण को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। असन्तोष और आलोचना के इस वातावरण में, जिसका प्रभाव जन-साधारण, व्यापारी और राजनीतिक अधिकारियों सभी पर था, पोप और पादरियों का आलसी अकर्मण्य और अनैतिक जीवन और भी अखरता था। यह संभव है कि धार्मिक क्षेत्रों में व्यभिचार और अनाचार इतना अधिक नहीं था जितना बताया जाता है, परंतु आलोचना की प्रवृत्ति समाज में अब इतनी व्याप्त हो गई थी कि उस ऊँचे नैतिक जीवन से, जिस पर चलने की पादरियों से आशा की जाती थी, हल्के से स्खलन को भी सहने के लिए सर्वसाधारण तैयार नहीं थे।

आन्दोलन के मुख्य कारण

धार्मिक अधिकारियों का अज्ञान भी सर्वसाधारण के उपहास और व्यंग्य का लक्ष्य बन गया था। इस अज्ञान में विशेष रूप से कोई वृद्धि

नहीं हुई थी, समय के साथ संभवतः उसमें कमी ही आई हो। मध्य-युग में अधिकांश पादरी कृषक वर्ग के थे और शिक्षा की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए थे। पुनर्जागृति-युग में स्थिति इतनी बुरी न थी, परन्तु जो एक बौद्धिक चेतना चारों ओर फैलती जा रही थी, उसकी तुलना में इन लोगों का अज्ञान सचमुच एक कुतूहल की वस्तु था। सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य में हमें स्थान स्थान पर इन धार्मिक नेताओं पर व्यंगात्मक टिप्पणियाँ पढ़ने को मिलती हैं। पादरियों की ऊपरी पवित्रता भी मानववादी आलोचकों की तुलना में एक ढकोसला ही थी। धीरे धीरे पोप की प्रतिष्ठा का राजनीतिक आधार भी मिटने लगा था। कुछ समय तक पोप को फ्रांस के सम्राट् के आश्रय में रहना पड़ा और उसके बाद ही चर्च का विभाजन हो गया, जिसके परिणामस्वरूप दो व्यक्तियों ने एक साथ ही पोप होने का दावा किया। चर्च के इस आन्तरिक विग्रह के पीछे फ्रांस और इटली की राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता मुख्य कारण थी, और चर्च के अनुयायियों ने जब देखा कि एक पोप फ्रांस के सम्राट् के आधीन है और दूसरा इटली के राज्याधिकारियों के, तो क्राइस्ट के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले इस धार्मिक अधिकारी में जनसाधारण का विश्वास शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक ही था।

धार्मिक अधिकारियों का नैतिक जीवन

चर्च की आलोचना पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में ही की जाने लगी थी और कुछ लेखकों ने तो और भी पहले से इस प्रकार की आलोचना करना आरंभ कर दिया था। इस दृष्टि से इटली में सैवोनेरोला (Savonarola, 1452-1498) और इंग्लैण्ड में विक्लिफ (John Wycliffe 1330-1384) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सैवोनेरोला को जीवित ही जला दिया गया और विक्लिफ के शरीर को उसकी मृत्यु के बाद कब्र में से निकालकर अपमानित किया गया। बोहिमिया के हस (John Huss, 1369-1415) को भी अपनी आलोचनाओं के पुरस्कार में जीवित जलाए जाने की सजा मिली। सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में एरेसमस (Erasmus, 1466-1536) ने चर्च की प्रखर आलोचना की, परंतु एरेस्मस का मार्ग खुले बिना विद्रोह का मार्ग

धार्मिक सुधार के प्रारंभिक प्रयत्न

था। असहिष्णुता और संघर्ष से उसे अरुचि थी। एरेस्मस की रचनाओं में चर्च की बुराइयों के प्रति एक तीखा व्यंग है; परंतु विरोधी के प्रति भी सभ्य और शालीनतापूर्ण व्यवहार का वह इतना बड़ा समर्थक था कि इससे अधिक की उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। परतु इन आलोचनाओं के बावजूद भी चर्च की बुराइयाँ बढ़ती ही गईं। पोप की गद्दी पर बैठनेवालों ने नैतिक अवपतन को मानो अपने जीवन का लक्ष्य ही बना लिया था। धार्मिक जीवन से उनका सम्पर्क कम होता गया। चर्च को उन्होंने मौज की जिन्दगी बिताने के लिए अधिक से अधिक धन कमाने का एक साधन बना लिया और इस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा लगातार गिरती चली गई।

मार्टिन लूथर (Martin Luther 1483-1541) ने चर्च के खिलाफ खुले विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। वह एक मध्य श्रेणी का व्यक्ति था जिसे उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला था। जीवन में

मार्टिन लूथर और उसके धार्मिक विचार

वह बहुत कुछ बन सकता था, परन्तु आरम्भ से ही उसकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रगाढ़ होती चली गईं। उसने अपने लिए पादरी का जीवन चुना और धार्मिक पुस्तकों के गहरे अध्ययन में अपना बहुत सा समय लगाया। धीरे धीरे उसके मन में ऐसे विचार बनते जा रहे थे जिन्होंने उसकी धर्म विह्वल आत्मा को वर्त्तमान धर्म-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का शंखनाद करने पर विवश किया। उसने बाइबिल में पढ़ा था कि क्राइस्ट ने मनुष्य-मात्र को यह आदेश दिया है कि वह अपने को ईश्वर जैसा पूर्ण बनाए, परंतु मार्टिन लूथर को यह असंभव दिखाई देता था, क्योंकि उसका यह गहरा विश्वास हो गया था कि मनुष्य का नैतिक अधःपतन इतना अधिक हो चुका है कि अपने प्रयत्न से पूर्णत्व की प्राप्ति उसके लिए अब संभव नहीं रह गई है। लूथर का यह विश्वास दिन प्रति दिन दृढ़ होता गया कि केवल अच्छे कामों से मनुष्य की मुक्ति सभव नहीं है। उसकी मुक्ति का तो केवल एक मार्ग है, और वह है श्रद्धा का मार्ग। केवल श्रद्धा से ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो सकती है। धर्मशास्त्र के अध्यापक होने के नाते लूथर ने अपने विश्वविद्यालय में इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी आरंभ कर दिया। इसी बीच लूथर ने देखा कि चर्च की ओर से अच्छे कामों के बदले में रुपया देकर मुक्ति

पत्र प्राप्त किए जाने की व्यवस्था है। लूथर ने इस व्यवस्था का कड़ा विरोध किया। यह पोप के अधिकारों और रोमन कैथोलिक चर्च के एक मूल सिद्धान्त पर प्रहार था। लूथर के सामने जब यह सीधा प्रश्न रखा गया कि ईसाई धर्म के किसी भी सिद्धान्त के संबंध में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार क्या केवल पोप को ही नहीं है, तो उसे स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ा कि इस दृष्टिकोण से वह सहमत नहीं है। लूथर का कहना था कि बाइबिल के आधार पर बनाए जाने वाले व्यक्तिगत विश्वासों का महत्त्व पोप के निर्णय से कहीं अधिक है। यह एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। इसके बाद रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों और अंधविश्वासों के विरुद्ध लूथर का प्रचार बढ़ता ही गया। हस और सैवोनेरोला के समान लूथर को जलाया नहीं जा सका, इसका कारण यह था कि परिस्थितियाँ अब बदल गई थीं। पोप और पादरियों के प्रति जनसाधारण की आस्था कम हो गई थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था और उसमें से बहुत से राज्य, अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए लूथर को पूरा सहयोग देने के लिए, तैयार थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लूथर का प्रभाव बढ़ता ही गया।

धार्मिक एकता का अन्त

धार्मिक सुधार के इस आन्दोलन का यह स्वभाव ही था कि वह एक से अधिक विरोधी मतों की सृष्टि करे। जब व्यक्ति के इस अधिकार को मान लिया गया कि वह धर्म के संबंध में अपने अन्तःकरण की आवाज के आधार पर अपने निर्णय बना सके तो यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक सुधारक अपने ढंग से उन सिद्धान्तों की व्याख्या करता स्विटजरलैण्ड में ज्विग्ली (Zwingli, 1481-1531) ने अपना नया मत निकाला। ज्विग्ली धर्म और राजनीति में बहुत निकट का संबंध मानता था। लूथर के कई धार्मिक विश्वासों से उसका गहरा मतभेद था। ज्विग्ली की मृत्यु के बाद कैल्विन (John Calvin, 1509-1564) ने इसके सिद्धान्तों को कुछ बदलकर अपना एक अलग ही मत निकाल लिया। कैल्विन एक बड़ा विद्वान् था, पर अपने विचारों के संबंध में बहुत ही अधिक दुराग्रही और असहिष्णु। उसके सिद्धान्तों का प्रचार फ्रांस, हॉलैण्ड, जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और इङ्गलैण्ड में अधिक हुआ। भिन्न-भिन्न देशों में उसके सिद्धान्तों ने अलग-अलग रूप लिया।

इङ्गलैण्ड मे एग्लीकन चर्च (Anglican Church) की स्थापना हुई। यह कई दृष्टियों से लूथर और केल्विन के ही सिद्धान्तों का एक अधिक कट्टर और विकासवादी रूप था। राष्ट्रीयता की भावना पर इसका आधार था। इसके समर्थक धीरे धीरे पोप के आधिपत्य से मुक्त होते चले गए। इनके अतिरिक्त धार्मिक सुधार के और भी बहुत से आन्दोलन चल निकले। इन सबके मतों और विश्वासों का थोड़ा बहुत अन्तर था, सभी मे अपने मतों और विश्वासों के लिए इतना अधिक दुराग्रह था कि इनके प्रतिपादन के लिए हिंसा और प्रतिशोध के मार्ग पर चलने में भी उन्हें सकोच नहीं था।

आन्तरिक सुधार के प्रयत्न

दूसरी ओर, धार्मिक सुधार के आन्दोलन को निःशक्त करने के लिए स्वय रोमन कैथोलिक चर्च मे आन्तरिक सुधार का एक आन्दोलन (Counter Reformation) प्रारभ हो गया। रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों में प्रगाढ़ विश्वास रखनेवाले बहुत से व्यक्ति स्वय यह अनुभव कर रहे थे कि उसमे सुधार की आवश्यकता है। प्रसिद्ध कलाकार माइकेल एन्जेलो दृढ़ कैथोलिक विचारों का था; पर उसने इस आवश्यकता का अनुभव किया था। इसी प्रकार के और भी अनेकों व्यक्ति थे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक धार्मिक क्रान्ति का वेग कुछ धीमा पड़ने लगा था। तब इस प्रकार के आन्तरिक सुधार के प्रयत्नो को उचित वातावरण मिला। कई सगठन इस काम मे लगे हुए थे। इनमे से जेसूट सगठन (Jesuits), जिसकी स्थापना इगनेशियस लोयला (Ignatius de Loyala, 1491-1556), ने की थी, सबसे महत्त्वपूर्ण था। अपने प्रारंभिक जीवन मे वह एक सैनिक था। सभवत इसी कारण उसने अपने संगठन की व्यवस्था सैनिक ढग पर की। अपने धार्मिक विचारों के प्रचार के लिए इन लोगों ने शिक्षा सस्थाएँ खोलीं। इस सगठन के सदस्यों की सख्या कम थी, पर चरित्र की दृष्टि से वे बहुत ऊँचे लोग थे। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अनुशासन में उन्हें दीक्षा लेनी पड़ती थी। यूरोप की जनता को रोमन कैथोलिक चर्च के विश्वासों में लौटा लाने और दृढ़ बनाने का बहुत बड़ा श्रेय इस सगठन को प्राप्त है। इन्होंने न केवल यूरोप मे, बल्कि अमरीका और एशिया के दूर दूर के देशों में अपने धर्म का प्रचार किया था। आन्तरिक सुधार के लक्ष्य को

लेकर इसी प्रकार के कुछ और संगठन भी बने; पर सबसे अधिक सफलता जेसूट संगठन को ही मिली। आन्तरिक सुधारों के इस आन्दोलन ने कैथोलिक चर्च की बहुत सी बुराइयों को दूर किया। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रयत्न यदि कुछ पहले आरंभ कर दिया गया होता तो धार्मिक क्रान्ति के आन्दोलन इतने सफल न हो पाते। आन्तरिक सुधार के इस आन्दोलन ने क्रान्ति की प्रगति को रोक दिया। यह आन्दोलन धीरे धीरे बढ़ता चला। १५४५ से १५६० तक ट्रैन्ट नाम के स्थान पर कैथोलिक धर्माधिकारियों की एक बैठक (Council of Trent) हुई, जिसमें सुधारों के संबंध में महत्वपूर्ण निर्णय किए गए। स्वयं पोप ने सुधारों में क्रियात्मक भाग लिया। उन्होंने योग्य और चरित्रवान् पादरियों को ही नियुक्त करना आरंभ किया, जिन्होंने अपने अनुयायियों के धार्मिक जीवन में नई शक्ति और स्फूर्ति के विकास में सफलता प्राप्त की। इसके परिणामस्वरूप कैथोलिक धर्म के नेताओं और अनुयायियों दोनों के ही जीवन का नैतिक स्तर ऊँचा उठा।

धार्मिक मतभेदों का युग

सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक यूरोप, इस प्रकार नए और पुराने अनेकों धार्मिक पंथों में बँट गया था। यूरोप के दक्षिणी भागों, इटली, स्पेन, पुर्त्तगाल, फ्रांस आदि, दक्षिणी नैदरलैण्ड्स, दक्षिणी जर्मनी, दक्षिणी आयर्लैण्ड, पोलैण्ड आदि में कैथोलिक धर्म में विश्वास प्रकट किया जा रहा था; परंतु उत्तरी यूरोप का अधिक भाग, जर्मनी के उत्तरी राज्य, उत्तरी नैदरलैण्ड्स, नॉर्वे और स्वेडेन, स्कॉटलैण्ड, उत्तरी आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड में किसी न किसी प्रकार के प्रोटेस्टैण्ट मत को मान लिया गया था। रोमन कैथोलिक धर्म में इगनेशियस लॉयला और जेसूट संगठन व ट्रैण्ट की कौंसिल के निश्चयों आदि से आन्तरिक सुधार की एक प्रवृत्ति अपने पूरे वेग पर थी। परंतु इसका यह अर्थ नहीं था कि उसमें आन्तरिक विग्रह की प्रवृत्ति कुछ रुक गई थी। रोमन कैथोलिक चर्च में ही धार्मिक विश्वासों को लेकर अनेकों मतभेद थे। कोई भाग्यवाद में विश्वास रखता था, तो कोई इच्छा-स्वातंत्र्य में। चर्च और राज्य में भी आपसी मतभेद बढ़ते जा रहे थे। राज्यों के स्वेच्छाचारी शासक धर्म पर भी वैसा ही नियंत्रण स्थापित कर लेना चाहते थे, जैसा जीवन के अन्य क्षेत्रों पर। कई देशों के चर्च ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के

लिए त्याग और कष्ट-सहन के मार्ग को चुना। उसी प्रकार से, बल्कि उससे भी अधिक, मतभेद प्रोटेस्टैण्ट चर्च में पाये जाते थे। जब बाइबिल को एकमात्र सत्य मान लिया गया था और प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दे दिया गया था कि उसकी शिक्षाओं को वह जैसा समझे, अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करे, तो यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से उसकी व्याख्या करे। लूथर ने एक दृष्टिकोण लिया, कैल्विन ने दूसरा। इंग्लैण्ड में एक बीच के रास्ते पर चलने का प्रयत्न किया गया। लूथर कैल्विन और एङ्गलीकन चर्च के अनुयायी, प्रोटेस्टैण्ट धर्म को तीन विभिन्न दिशाओं में खींचते हुए दिखाई दिए। कोई श्रद्धा को अधिक महत्त्व देता था, कोई कार्यवाद को। चर्च के संगठन के संबंध में भी उनके अलग अलग विचार थे। इनके अतिरिक्त मैथोडिज्म (Methodism), बैपटिज्म (Baptism) और कोंग्रिगेशनलिज्म (Congregationlism) आदि और भी बहुत से मत मतान्तरों की सृष्टि हुई। किसी का आग्रह भावना और विश्वास पर था, किसी का कर्मकाण्ड पर और किसी का पारस्परिक सहयोग पर।

असहिष्णुता का प्रसार

इन परिस्थितियों में धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता की भावना का प्रसार स्वाभाविक ही था। प्रत्येक छोटे बड़े मत-मतान्तर को अपने सिद्धान्तों की सचाई में दृढ़ विश्वास था, और वह दूर दूर तक उनका प्रचार करना चाहता था। साथ ही अन्य धार्मिक विश्वासों को वह गलत भी समझता था और उन्हें नष्ट कर देने को एक धार्मिक कृत्य की दृष्टि से देखता था। धार्मिक मतभेदों की इन उलझनों को आर्थिक और राजनीतिक कारणों ने और भी बढ़ाया। शासकों के लिए धर्म राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण का एक साधन था। पोप, उसकी आड़ में अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के लिए उत्सुक था। मतभेद को दमन और अत्याचार के द्वारा ही मिटाया जा सकता है, इस संबंध में सब एकमत जान पड़ते थे। धर्म के नाम पर असहिष्णुता के प्रदर्शन इतिहास में पहले भी हुए हैं, परन्तु सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के यूरोप की बर्बरता की तुलना में वे ठहर नहीं पाते। इंग्लैण्ड में एक कैथोलिक शासक के राज्य में सैकड़ों प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों को जिन्दा जला दिया गया, जिनके खून ने प्रोटेस्टैण्ट धर्म की जड़ों को मजबूत बनाया; परन्तु

प्रोटेस्टैण्ट शासकों के राज्य में कैथोलिक और अन्य धर्म के लोगों पर अत्याचार किए गये। क्रॉमवेल ने हजारों आइरिश कैथोलिकों को मौत की सज़ा दी। कैथोलिकों पर अत्याचार की यह प्रवृत्ति दूर अमरीका तक भी पहुँची और अन्य अंग्रेजी उपनिवेशों में उनके साथ बदसलूकी के बहुत से उदाहरण हमें इतिहास में मिलते हैं। कैल्विन ने सर्विटस को धार्मिक मतभेद के कारण जिन्दा जलवा दिया। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक धार्मिक असहिष्णुता और अत्याचारों की घटनाएँ समय-समय पर होती रहीं।

परंतु अंत में मानवता ने धार्मिक बर्बरता पर विजय प्राप्त की। समझदार लोगों ने देखा कि धर्म के नाम पर लड़ने से कोई लाभ नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी सामने आए जिन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि उस ईसामसीह के अनुयायी, जो प्रेम और अहिंसा का प्रतीक था और प्रतिशोध की भावना जिसका स्पर्श
तक भी न कर सकी, उसके सिद्धान्तों के नाम पर सहिष्णुता की
कैसे एक दूसरे का गला काटने के लिए तत्पर हो भावना का विकास
सके। मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न भी किया
गया। शासकों ने इस बात को अनुभव किया कि विभिन्न धर्मों के मानने वाले भी राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधे जा सकते हैं, और इस कारण उन्होंने एक ही धर्म को प्रश्रय देने की अपनी नीति को बदला। उधर खोज, आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगति ने धार्मिक विश्वासों को एक चुनौती दी। शताब्दियों से सत्य मानी जानेवाली धारणाएँ खंडित होती हुई दिखाई दीं, और कुछ समय के लिए धर्म के ठेकेदारों ने इस नए आक्रमण के विरुद्ध अपने आपको संगठित करने का प्रयत्न किया। परंतु धीमे, पर निश्चित रूप से, विज्ञान की विजय हुई, और मनुष्य ने वस्तु-जगत् और अन्तर्जगत् दोनों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना आरंभ किया। धर्म में जिनका गहरा विश्वास था, उन्होंने धर्म के आचरण पर अधिक जोर देना आरंभ किया। हृदय की उदात्तवृत्तियों, दया, क्षमा, मानव-मात्र के प्रति करुणा और सहानुभूति, प्रेम और त्याग पर अब अधिक आग्रह दिखाई दिया। जो लोग भिन्न विचारों और विश्वासों में डूबे हुए हैं, उनके प्रति भी सहानुभूति और सहिष्णुता का व्यवहार होना चाहिए, धार्मिक व्यक्ति भी अब इस सिद्धान्त को मानने लगे थे।

धर्म और विज्ञान के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया। बहुत से लोगों ने बाइबिल और धर्म-ग्रन्थों को ही वैज्ञानिक आलोचना की कसौटी पर कसना चाहा। पर जहाँ तक जन साधारण का प्रश्न था, धर्म के संबंध में उनमें एक उदासीनता की भावना का विकास हुआ। जिस वस्तु में आस्था ही शिथिल पड़ गई हो, उसके लिए मारकाट के लिए कौन तैयार होगा? धार्मिक विश्वासों का स्थान धीरे-धीरे वैज्ञानिक दृष्टिकोण ले रहा था। केवल धर्म के संबंध में ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनी स्वतंत्रता के प्रति आग्रह और दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति सहिष्णुता की यह भावना लगातार बढ़ती गई।

अभ्यास के प्रश्न

१—पुनर्जागृति-युग (Renaissance) और धार्मिक सुधार के आन्दोलन (Reformation) में संबंध स्थापित कीजिए।

२—धार्मिक सुधार आन्दोलन (Reformation) के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए।

३—धार्मिक सुधार के प्रारंभिक प्रयत्नों का संक्षिप्त इतिहास देते हुए उनकी असफलता के कारण बताइए।

४—मार्टिन लूथर और उनके धार्मिक विश्वासों के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं? धार्मिक सुधारों के आन्दोलन में मार्टिन लूथर का स्थान निर्धारित कीजिए।

५—यूरोप में धार्मिक विघटन के क्या कारण थे? असहिष्णुता के प्रसार के लिए यह धार्मिक-विघटन कहाँ तक उत्तरदायी था?

६—कैथोलिक-चर्च में आन्तरिक सुधारों के प्रयत्न (Counter-Reformation) का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

७—धार्मिक मतभेदों ने जिस असहिष्णुता की भावना का प्रसार किया था, उसका अन्त कैसे हुआ? सहिष्णुता की भावना के विकास के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Lucas, H. S. : The Renaissance and the Reformation.
2. Smith, P. : Age of the Reformation.
3 Polter : The Story of Religion.

अध्याय ३

खोज, आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगति

खोज और आविष्कार की कहानी

मनुष्य के मानसिक विकास के साथ ही खोज और आविष्कार की कहानी भी जुडी हुई है। मध्य-युग मे यूरोप के लोग यूरोप के बाहर की दुनिया से सर्वथा अपरिचित थे, और बहुत कम लोग यूरोप के भूगोल के संबंध मे भी कोई स्पष्ट जानकारी रखते थे। उत्तरी अफ्रीका के मिस्र आदि देशों और हिन्दुस्तान और चीन के संबंध मे उन्होंने कुछ सुन अवश्य रखा था, पर वह बहुत ही अस्पष्ट था। यह देखकर आश्चर्य होता है कि नए युग के आविर्भाव के साथ ही बहुत थोड़े से समय मे यूरोप के लोगों ने न केवल अफ्रीका के संबंध मे काफी जानकारी प्राप्त कर ली, बल्कि एशिया के साथ सीधे व्यापार के संबंध भी स्थापित किए और अमरीका के तो दो बडे महाद्वीपों को नए सिरे से ही खोज निकाला और उनमें तेजी के साथ अपनी सभ्यता को फैलाना आरंभ किया। अफ्रीका और एशिया के देशों से भी उनके सम्पर्क निरन्तर बढ़ते गए और यद्यपि यूरोप की सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव इन देशों पर अधिक नहीं पड़ा—और इसका मुख्य कारण संभवत यह था कि इन देशों की अपनी सभ्यता और संस्कृति तत्कालीन यूरोप की तुलना मे कहीं आगे बढ़ी हुई थी—आर्थिक दृष्टि से यूरोप का आधिपत्य उन पर बढता गया। धीरे-धीरे यूरोप का साम्राज्यवाद इन देशों में स्थापित हुआ जिससे यूरोप के देशों के द्वारा उनका आर्थिक शोषण अधिक सरल हो गया। इसके दीर्घकालीन परिणाम बडे भयंकर निकले। परन्तु कुछ शताब्दियों तक यूरोप की आर्थिक समृद्धि और उसके सांस्कृतिक विकास का मुख्य कारण दूर देशों पर उसका राजनीतिक प्रभाव ही था।

इस साहसपूर्ण काम में पुर्त्तगाल का छोटा-सा देश सबसे आगे

था। उसके साहसी नाविकों ने अफ्रीका के उत्तरी किनारे से अपनी खोज का काम आरम्भ किया। राजा हेनरी (Prince Henry, d. 1460) ने भूगोल के सम्बन्ध में बहुत-सी जानकारी इकट्ठी की और नक्शों का अध्ययन किया। कुछ ही समय में पुर्तगाल का व्यापार अफ्रीका के पश्चिमी प्रदेशों में बहुत भारी बढ़ गया। इस देश के लोग अफ्रीका में लगातार आगे बढ़ते रहे और अन्त में उन्होंने उसके दक्षिणतम छोर, आशा अन्तरीप तक पहुँचने और उसकी परिक्रमा करने में सफलता प्राप्त की। वास्को डि गामा (Vasco de Gama, d. 1624) ने अफ्रीका के पूर्वी किनारे के नजदीक चलते-चलते अरब सागर को पार किया और भारतवर्ष तक की यात्रा की। उसके बाद तो पुर्तगाल से भारतवर्ष आनेवाले जहाजों का ताँता सा लग गया। पुर्तगालवालों ने रास्ते के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। इस साम्राज्य विस्तार में अल्बुकर्क (Alfonso de Albuquerque d. 1515) का प्रमुख हाथ था। इसे भारतवर्ष का वायसराय नियुक्त किया गया। इसके परिणाम-स्वरूप पुर्तगाल का व्यापार बहुत बढ़ गया और पिछली शताब्दियों में वेनिस का जो स्थान था, वह अब लिस्बन ने ले लिया।

पुर्तगाल का साहस

पूर्व प्रयत्न

पुर्तगालियों ने जिस काम को आरम्भ किया था, स्पेनवालों ने उसे और आगे बढ़ाया। कोलम्बस को तीन जहाज और नब्बे आदमियों की सहायता से भारतवर्ष तक पहुँचने के लिए एक नया मार्ग खोज निकालने का काम सौंपा गया। अमरीका महाद्वीप और प्रशान्त महासागर के अस्तित्व का तब तक यूरोप के निवासियों को पता तक न था। कोलम्बस का यह अनुमान था कि वह यदि लगातार पश्चिम की ओर चलता रहा तो हिन्दुस्तान पहुँच जायेगा। पश्चिमी द्वीप समूह का जब उसने स्पर्श किया, तब उसका यह अनुमान था कि वह कहीं जापान के आसपास है। उसने अपनी यात्राओं में अमरीका के नजदीक के बहुत से द्वीपों और महाद्वीपों के कई भागों का आविष्कार किया। भारतवर्ष तो वह नहीं पहुँच सका परन्तु अमरीका की खोज उसने अवश्य कर डाली। यह निस्सन्देह ससार के इतिहास की एक बहुत बड़ी घटना थी। अमरीका के उस पार एक दूसरा महासागर है, इसका पता कोलम्बस के बाद

अमरीका पहुँचनेवाले लोगों ने लगाया। मैगेलन (Fernands Magallen, d 1521) ससार का पहला व्यक्ति था, जिसने प्रशान्त महासागर को पार कर एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों का चक्कर लगाते हुए पूरे ससार की परिक्रमा कर डाली। पुर्त्तगाल और स्पेन की देखादेखी दूसरे देशों ने भी खोज के इन कामों मे भाग लेना आरभ किया। इ ग्लैण्ड की ओर से कैबट (John Cabot, d. 1508) को भेजा गया। अग्रेजों ने उत्तरी अमरीका के पूर्वी तट मे अधिक दिलचस्पी ली। फ्रास की ओर से भी बहुत काफी लोग उत्तरी अमरीका जाने लगे। कई स्थानों मे स्पेन इ ग्लैण्ड और फ्रास के लोगों मे प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास भी हुआ।

इन खोजो के परिणामस्वरूप कुछ बडी आश्चर्यजनक बातों का पता लगा। अमरीका के आदिम निवासी आरभ से वहीं रहते थे अथवा एशिया महाद्वीप से आकर वहाँ बसे यदि वे मूलरूप से एशिया के रहने वाले थे तो कब और किस रास्ते से वे इस महाद्वीप मे जा पहुँचे, इत्यादि बहुत से ऐसे प्रश्न हैं जिनके सबध मे इतिहासकार
किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच सके हैं। पर एशिया अमरीका की प्राचीन की सभ्यता मे उनका सादृश्य अवश्य आश्चर्य मे सभ्यताओ की खोज डालनेवाला है। यह बात नहीं कि अमरीका के सभी
लोगों ने एक ही प्रकार की सभ्यता का विकास किया था अमरीका की विशालता और जलवायु और भूगोल सबधी विभिन्नताओं के कारण यह सभव भी नहीं था। इस नए महाद्वीप के अधिकाश निवासी शिकारियों का जीवन व्यतीत करते थे। देश के विभिन्न भागों मे विभिन्न प्रकार के जानवरों का शिकार किया जाता था। बहुत से प्रदेशों मे जहाँ शिकार की अधिक सुविधा नहीं थी और जहाँ मछलियाँ भी बहुत कम पाई जाती थीं लोग जड़ों और जगली फलों आदि पर निर्वाह करते थे। कुछ भागों मे जहाँ जमीन उपजाऊ थी और पानी की सुविधा थी खेती बाडी का विकास भी हो गया था। मक्का और कुछ अन्य धानों की फसलें पैदा की जाती थीं। सभी प्रदेशों मे लोग गाँवों मे रहते थे। ये गाँव अक्सर नदियों के किनारे पर होते थे। कई स्थानों पर नगरों का विकास भी हुआ था। पशुओं को बोझा ढोने के लिए काम मे लाया जाता था और उनके बालों का उपयोग कपड़ा बनाने के लिए किया

जाता था। गाय, घोड़े भेड़, बकरी, सुअर और बिल्ली आदि बिलकुल नहीं पाए जाते थे।

प्राचीन सभ्यताओं के इन महाद्वीप का आविष्कार अपने आपमें एक बहुत बड़ी घटना थी। भूगोल की जानकारी को तो इसने आगे बढ़ाया ही नवोदित यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति को अभिव्यक्ति और प्रसार का इसने बहुत अच्छा अवसर दिया। इन देशों में अपार धनराशि के होने की सूचना भी बहुत जल्दी यूरोप के देशों में फैल गई। साम्राज्य विस्तार की भावना को इससे प्रेरणा मिली। तोप और बारूद को काम में लानेवाली यूरोप की सेनाओं के लिए इन जातियों पर विजय पाना कुछ कठिन नहीं था। स्पेन ने बहुत जल्दी मैक्सिको पर विजय प्राप्त करली और इसके बाद पेरू और चिली में अपने साम्राज्य को फैलाया। उसके साहसी विजेताओं ने सैकड़ों नए नगरों का विकास किया। इन नगरों में उन्होंने अपने शासन, धार्मिक संगठन और व्यापार को केन्द्रित किया साथ ही उनके द्वारा स्पेन की भाषा, उसका साहित्य और उसकी संस्कृति देश में चारों ओर फैली। प्राचीन सभ्यताएँ धीरे धीरे मिट चलीं और यूरोप की सभ्यता अमरीका पर छा गई। आदिम निवासियों का काम यूरोप के लोगों के लिए मजदूरी करने का रह गया। परन्तु अमरीका की खोज का सबसे बड़ा परिणाम यह निकला कि शताब्दियों में इकट्ठा किया गया ढेरों सोना और चाँदी तो यूरोप लाया ही जा सका, सोने और चाँदी की खानों में स्पेन के निर्देशन में, तेजी से काम होने लगा और पहले की तुलना में कई गुना अधिक सोना और चाँदी उनमें तैयार किया जाने लगा। यूरोप में इन बहुमूल्य धातुओं की कमी हो गई थी, इस कारण वस्तुओं के दाम बढ़ते जा रहे थे। इस आविष्कार से उसके आर्थिक जीवन में अब एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आ गया। यूरोप के इतिहास में यह समृद्धि के एक महान् युग का आरम्भ था। केवल नगरों का वैभव ही नहीं बढ़ा, गावों के जीवन पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ा। किसानों को अब अनाज की बिक्री से अच्छे दाम मिल सकते थे। जागीरदारों की स्थिति पर अवश्य ही अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। समाज में उनकी स्थिति गिरने लगी और उनका स्थान व्यापारियों ने लेना आरम्भ किया। आर्थिक सहायता के

इस खोज के परिणाम

लिए उन्हें कई बार व्यापारियों पर निर्भर रहना पड़ता था। इसका यह भी परिणाम निकला कि राजा अब सामन्तों की सहायता पर उतना निर्भर नहीं रहता था जितना व्यापारियों के सहयोग पर। व्यापारी चाहते थे कि देश का शासन मजबूत हो, इस कारण उन्होंने राज्य-शक्ति के केन्द्रीकरण का समर्थन किया। इस प्रकार, नए देशों की खोजों का परिणाम केवल मनुष्य के मानसिक विकास पर ही नहीं पड़ा, राजनीतिक संस्थाओं और विश्वासों में भी उसने एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिया।

× × ×

आधुनिक युग की वैज्ञानिक क्रान्ति

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वैज्ञानिक क्रान्ति को माना जा सकता है। धर्म और जीवन-दर्शन, साहित्य और कला, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ, सबको अब एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। जीवन के संबंध में मनुष्य के दृष्टिकोण को तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—अति प्राकृतिक (Supernatural), मानवी (human) और प्राकृतिक (natural)। मध्य-युग में अति-प्राकृतिक का ही अधिक महत्त्व था। पुनर्जागृति-युग के साथ मानववादी दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस दृष्टिकोण में मनुष्य को जीवन के सभी मूल्यों का मापदण्ड माना गया था। परंतु उसके बाद प्रकृतिवाद का युग आया और प्रकृति को उसके अनेक रूपों में देखने और समझने का प्रयास किया गया। यह विज्ञान का युग कहलाता है। कई कारणों ने इस युग के विकास में सहायता पहुँचाई। नए-नए देशों की खोज और उद्योगों के विकास ने वैज्ञानिक को अपनी प्रतिभा के उपयोग का अभूतपूर्व अवसर दिया। सभी देशों में राजतन्त्र के आधार पर सुदृढ शासन-व्यवस्थाएँ स्थापित हो जाने से भी वैज्ञानिक को निर्बाध गति से काम करने का अवसर मिला। पूँजीवाद के साथ समाज में जिस मध्य-वर्ग का विकास हो रहा था, उसकी सहायता से वैज्ञानिक अपनी प्रयोग-शालाएँ खोल सके और अपनी खोजों आदि के प्रकाशन के लिए उचित अवसर प्राप्त कर सके। मध्य वर्ग की सहायता से लगभग प्रत्येक देश में ऐसी संस्थाओं का निर्माण हुआ जिन्होंने वैज्ञानिकों को अपने काम में बड़ी सहायता पहुँचाई। इंग्लैण्ड की रायल सोसायटी, आयर्लैण्ड की

इंगलिश फिलॉसोफिकल सोसायटी, फ्रांस की फ्रेंच एकेडेमी, जर्मन की बर्लिन एकेडेमी आदि संस्थाओं का इस संबंध में उल्लेख किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वैज्ञानिकों को अपने विचारों का प्रचार करने में कोई रुकावट नहीं थी। जनसाधारण, बहुत से शासकों और अधिकांश धर्माधिकारियों के विचार अब भी पुरातनवाद और अंधविश्वास की शृंखलाओं में जकड़े हुए थे और इस कारण अनेकों वैज्ञानिकों को सत्य की खोज में जीवन बिताने का कभी कभी बहुत महँगा मूल्य भी देना पड़ जाता था। परन्तु इन कठिनाइयों के होते हुए भी इस युग में विज्ञान के सभी क्षेत्रों का बहुत अधिक विकास हुआ।

भूगोल और ज्योतिष के संबंध में अब तक अरस्तू और टॉलेमी के विचार ही सच माने जा रहे थे। कोपरनिकस (Copernicus, 1473 1543) ने इस संबंध में कई क्रान्तिकारी खोजें कीं। यह पहला व्यक्ति था जिसने पुराने दार्शनिकों के इस सिद्धान्त को चुनौती दी कि हमारी पृथ्वी ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। उसने यह

भूगोल और ज्योतिष

प्रमाणित किया कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं, परन्तु पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। यह बात पुराने दार्शनिकों के मत के प्रतिकूल ही नहीं थी, धर्म-ग्रन्थों का भी इससे खंडन होता था। इसका परिणाम यह निकला कि धार्मिक नेताओं ने भी इस सिद्धान्त का बड़ा विरोध किया। वैज्ञानिक केवल आकाश और नक्षत्रों के संबंध में ही खोज नहीं कर रहे थे, शरीर विज्ञान के संबंध में भी नई नई बातों का पता लगाया जा रहा था। इस काम का आरम्भ तो प्रसिद्ध चित्रकार लियोनार्डो द विंची ने किया, जिसने मनुष्यों व घोड़ा आदि के यथार्थवादी चित्र बनाने की दृष्टि से उनकी शरीर रचना का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। परन्तु चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से वैसेलियस (Vesalius, 1514-1564) ने इस काम को बहुत आगे बढ़ाया। यह स्वयं अपने हाथ से चीरफाड़ का काम करता था। अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर उसने इस क्षेत्र में प्रचलित अनेकों पुरानी धारणाओं को निराधार प्रमाणित किया और शरीर-रचना के संबंध में बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला। व्यावहारिक चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से पेरासेल्सस (Paracelsus, 1493 1541) का नाम उल्लेखनीय है। पेरासेल्सस

स्विटज़रलैण्ड का रहने वाला था। उसने जगह-जगह घूम-घूमकर पौधों, वनस्पतियों, जड़ी-बूटियों और बीमारियों आदि के संबंध में बहुत-सी काम की सामग्री एकत्रित की। उसका विश्वास था कि कुछ थोड़ी सी दवाओं से बहुत-सी बीमारियों का इलाज किया जा सकता है। पेरासेलसस पहला चिकित्सा-शास्त्री था जिसकी चिकित्सा का आधार रसायन-शास्त्र पर था। उसने बहुत से दुःसाध्य रोगों का इलाज किया जिससे चिकित्सक के नाते उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी। परन्तु नए विचारों का निर्भीक प्रचारक होने के कारण उसे विरोध, लांछन और अपमान का भी सामना करना पड़ा। शल्य चिकित्सा में पारे (Parc, 1510-1590) का नाम लिया जा सकता है। शरीर के टूटे हुए अंगों को जोड़ने और ज़ख्मों का इलाज करने में उसे विशेष सफलता मिली। फ्रैकस्टोरो (Fracostoro, 1483-1553) ने यह सिद्धान्त निकाला कि बीमारियाँ 'बीजों' के द्वारा फैलती हैं। सूक्ष्म-दर्शक यंत्र का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था, परंतु बीमारियों के कीटाणुओं के आविष्कार की दिशा में यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव था। सर्विटस (Servetus) ने रक्त-प्रवाह के संबंध में खोजें की।

ज्योतिष-शास्त्र में तो बड़ी महत्त्वपूर्ण खोजें की जा रही थीं। दूर-दर्शक यंत्र के आविष्कार से पहले ही टाइको ब्राहे (Tycho Brahe 1546-1601) ने नक्षत्र-मंडल के संबंध में बहुत-सी नई बातों का पता लगाया। टाइको ब्राहे कोपरनिकस के बाद पहला ज्योतिष-शास्त्री था। डेनमार्क के राजा की सहायता से उसने अपने लिए एक प्रयोगशाला बनाई। उसके इस काम को केपलर (Kepler, 1571-1630) नाम के एक जर्मन वैज्ञानिक ने आगे बढ़ाया। नक्षत्रों की गतिविधि के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण नियम केपलर के नाम से संबद्ध हैं। कोपरनिकस और केपलर की खोजों को एक सफल परिणाम तक ले जाने का श्रेय इटली के गेलीलियो (Galileo, 1564-1642) को है। गेलीलियो ने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया कि वैज्ञानिक को धर्म-शास्त्रों अथवा परंपराओं पर निर्भर नहीं रहना चाहिए; परंतु प्रयोगों के आधार पर ही अपने परिणामों तक पहुँचना चाहिए। उसने प्रयोगों के द्वारा इस बात को सिद्ध किया कि ऊपर से गिरती हुई वस्तु की गति का उसके वजन से बिलकुल संबंध नहीं है। दूरदर्शक-यंत्र का यद्यपि स्वयं गेलीलियो ने

आविष्कार नहीं किया, परंतु उसके विकास का श्रेय उसी को है। उसने एक ऐसा दूरदर्शक-यन्त्र बनाया जिससे दूर की वस्तुओं का आकार चार सौ गुना अधिक बड़ा दिखाई देता था। गेलीलियो पहला व्यक्ति था जिसने चन्द्रमा की सतह पर फैले हुए पहाड़ों, घाटियों और मैदानों को देखा। आकाश-गंगा का प्रकाश असंख्य तारों की जगमगाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह वही जान सका। बृहस्पति के इर्दगिर्द के चन्द्रमाओं और शनि के समीप स्थित तारों का भी उसी ने पता लगाया। अन्य नक्षत्रों के संबंध में भी उसने महत्त्वपूर्ण खोजें कीं। गेलीलियो की खोजें इतनी क्रान्तिकारी थीं कि रूढ़ियों में पले हुए धर्मान्ध नेता, जिनके हाथ में समाज और शासन की बागडोर थी, उन्हें सह नहीं सके। गेलीलियो के विचारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और सत्तर वर्ष की अवस्था में उसे कैद और प्रायश्चित्त की सजा दी गई।

ऊपर जिन प्रमुख वैज्ञानिकों का नाम दिया गया है, उनके अतिरिक्त भी प्रत्येक देश में छोटे-बड़े ऐसे अनेक वैज्ञानिक थे, जो सत्य की खोज के अपने प्रयत्नों में लगे हुए थे। और, जहाँ एक ओर प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में खोज का काम चल रहा था और जीवन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाया जा रहा था, दूसरी ओर इस युग में ऐसे दर्शन-शास्त्री भी हुए जिन्होंने दार्शनिक दृष्टि से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन किया। इनमें इंग्लैण्ड के बेकन (Bacon, 1561-1626), फ्रांस के डेकार्टीज (Descartes, 1596 1650), हालैण्ड के स्पिनोज़ा (Spinoza, 1632-1671) और जर्मनी के लीबनिज (Leibnitz, 1646-1716) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बेकन का विश्वास था कि ज्ञान को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और यह अन्वेषण प्रयोग और निरीक्षण के आधार पर निष्कर्ष तक पहुँचने का मार्ग है। डेकार्टीज भी सत्य की खोज का सबसे अच्छा मार्ग प्रत्येक वस्तु में सन्देह और शंका करने की प्रवृत्ति को ही समझता था। जड़ और चेतन के पारस्परिक संबंध पर उसने बहुत से नए विचार दिए। स्पिनोज़ा डेकार्टीज के समान स्वयं गणितज्ञ था, परंतु उसके दर्शन की विशेषता यह थी कि उसने जड़ और चेतन को एक ही वस्तु के विभिन्न रूप माना। इन सब विचारों के पीछे वस्तुवाद की विचारधारा काम कर रही थी। चेतन हो अथवा जड़, सबका आधार परमाणु अथवा वस्तु में है, इस विचार को उन्होंने

आगे बढ़ाया। लीबनिज के विचार भी बहुत कुछ इसी प्रकार के थे। विज्ञान और दर्शन में की गई इन खोजों और उनके आधार पर बनाये गए निष्कर्षों का परिणाम यह निकला कि प्रयोगात्मक विधियों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जीवन के सभी क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रधानता दी जाने लगी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तक यही यूरोप की प्रमुख विचार-धारा रही। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक जीवन के इस नए दृष्टिकोण का प्रभाव जनसाधारण के दिन प्रतिदिन के व्यवहार पर भी दिखाई देने लगा था।

अभ्यास के प्रश्न

१—आधुनिक युग के प्रारंभ की भौगोलिक खोजों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

२—नए देशों और महाद्वीपों की खोज का मनुष्य के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा?

३—आधुनिक युग की वैज्ञानिक क्रान्ति से आपका क्या तात्पर्य है? उसके मूल कारणों पर प्रकाश डालिए।

४—भूगोल और ज्योतिष के क्षेत्रों में पुनर्जागृति-युग के प्रमुख आविष्कारों का वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Abbctt, W. C : Expansion of Europe, 2 vols.
2 Barnes ; The History of Western Civilization.
3. Blacknar · A History of Huuan Society.
4. Thorndika, L. : A Short History of Civilization.

अध्याय ४

राजनीतिक विचारों में परिवर्तन

मध्य-युग का राजनीतिक आदर्श सारे संसार को एक शासन के अन्तर्गत ले आना था। रोम-साम्राज्य के पतन के बाद एक ओर तो रोमन कैथोलिक धर्म ने और दूसरी ओर पवित्र रोमन साम्राज्य ने इस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस आदर्श को राष्ट्रीयता की भावना के विकास से एक बड़ा धक्का लगा। राष्ट्रीयता की भावना का विकास आधुनिक युग की एक बड़ी विशेषता है। मध्य-काल में राजभक्ति का आधार भाषा अथवा संस्कृति पर नहीं था। उसका लक्ष्य या तो साम्राज्य होता था अथवा नगर-राज्य और कभी-कभी तो कोई सैनिक अफसर अथवा स्थानीय जमींदार ही इस निष्ठा का केन्द्र बन जाता था। राज्य का राष्ट्रीयता से कोई संबंध नहीं था। विभिन्न भाषाओं को बोलनेवाले और विभिन्न संस्कृतियों को माननेवाले एक किसी दूर पार के नगर में स्थित राज शक्ति को अपनी समस्त राजभक्ति देने के लिए तैयार रहते थे। परन्तु राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने इस स्थिति को बिलकुल ही बदल दिया। राष्ट्रीयता की भावना का जन्म कई कारणों से हुआ। एक बड़ा कारण तो मध्य-युग के धर्म-युद्ध ही थे। इन धर्म-युद्धों ने यूरोप के लोगों को दूर-दूर के देशों तक यात्रा करने की प्रेरणा दी थी और उन्हें विधर्मी, विजातीय और विभिन्न भाषा बोलनेवालों के संपर्क में ला खड़ा किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति उनका ममत्व और अपनापन बढ़ गया था। इधर, धार्मिक सुधार के आन्दोलनों को लेकर यूरोप के लोगों में आपसी संघर्ष उपस्थित हो गए थे। फ्रांस के कैथोलिक, जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट मतानुयायियों से द्वेष करने लगे थे और जर्मनी के प्रोटेस्टेण्ट इङ्गलैण्ड के एंग्लीकन चर्च के माननेवालों के प्रति ईर्ष्या का भाव रखते थे। इस धार्मिक विद्वेष का भौगोलिक आधार धीरे-

मध्य-युग के राजनीतिक आदर्शों पर प्रहार

धीरे दृढ होता गया, जिसका परिणाम यह निकला कि धर्म युद्धों ने राष्ट्रीय युद्धों का रूप ले लिया, और इन युद्धों ने राष्ट्रीयता की भावना को और भी अधिक पुष्ट किया। सामन्तवाद का पतन, नगरो का विकास, व्यापार और वाणिज्य का उत्कर्ष—ये सब कारण ऐसे थे जिन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को दृढ बनाया।

राष्ट्रीयता की भावना ने विभिन्न देशों की जनता को अपने राष्ट्रीय शासक की शक्ति को बढाने की प्रेरणा दी। विभिन्न राष्ट्रों मे ज्यों-ज्यों आपसी लडाइयाँ बढती गईं, एक ओर तो उन देशों मे राष्ट्रीय भावना मजबूत बनी और दूसरी ओर, युद्ध को सुचारु रूप से चलाने के लिए, वहाँ शक्तिशाली राजाओं का उद्भव हुआ। इंग्लैण्ड
और फ्रांस मे लगभग दो सौ वर्ष तक युद्ध चला। राष्ट्रीयता की भावना
उसका आरंभ एक सामंतवादी युद्ध के रूप मे हुआ का विकास
था, परन्तु उसने शीघ्र ही, फ्रांसवालों की दृष्टि मे,
जॉन ऑफ आर्क के नेतृत्व मे राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़े जाने-वाले आन्दोलन का रूप ले लिया और उसका परिणाम यह हुआ कि दोनों ही देशों मे राष्ट्रीयता की भावना, आग की लपटों की तेजी के समान, बढ़ी। स्पेन मे मुसलमानों के साथ के संघर्ष और नई दुनिया की खोज ने राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाया। इस प्रकार, पश्चिमी यूरोप के सभी देशों मे राष्ट्रीयता की एक ऐसी भावना फैलती गई जिसका लक्ष्य अपने देश की शक्ति और समृद्धि को बढ़ाना था। इस शक्ति और समृद्धि को बढ़ाने के लिए एक मजबूत शासन-तंत्र की आवश्यकता थी। इस प्रकार का मजबूत शासन-तंत्र न तो सामन्तवादी व्यवस्था में संभव था और न धर्म के शासन मे ही, उसके लिए राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत एक राष्ट्रीय शासक की आवश्यकता थी। प्रत्येक देश की जनता ने इस प्रकार के शासक की शक्ति को बढाया। सोलहवीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप मे राष्ट्रीयता की भावना और एक सशक्त राष्ट्रीय शासक, दोनों का विकास साथ-साथ हुआ। राष्ट्रीयता की भावना ने शासक की शक्ति को बढ़ाया और राष्ट्रीय शासक ने राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया। सामन्तवाद की अवनति और व्यक्ति के जीवन पर से धर्म के नियंत्रण की शिथिलता ने इस प्रवृत्ति को और भी बल दिया। धीरे-धीरे विशेषकर मुद्रण-कला के आविष्कार के बाद, प्रत्येक देश

में राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का विकास हुआ। अंग्रेज लेखकों ने अंग्रेजी भाषा का विकास किया, और अंग्रेज जनता ने ऐसा साहित्य प्रस्तुत किया जिसमें उनकी अपनी अपनी विशिष्ट भावनाओं की झलक थी। फ्रांस के लेखकों ने फ्रांसीसियों के लिए और जर्मन लेखकों ने जर्मन भाषा बोलने वालों के लिए अपनी-अपनी भाषाओं में साहित्य का एक अनुपम भंडार उपस्थित किया। राष्ट्रीयता की इस बढ़ती हुई भावना ने पुरानी संस्थाओं पर आघात किया और इन संस्थाओं के कमजोर पड़ जाने पर राष्ट्रीयता की भावना और भी पुष्ट हुई।

शासकों के अधिकारों में वृद्धि

यूरोप के शासकों ने इतिहास की इन प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक लाभ उठाया। मध्य-युग का शासन केवल स्वेच्छाचारिता पर ही अवलंबित नहीं था। विभिन्न देशों में लोकसभाएँ थीं। शासन में जनता की बिलकुल ही उपेक्षा नहीं की जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलीं। इस परिवर्त्तन में भी कुछ हाथ धर्म-युद्धों का था। धर्म-युद्धों के कारण यूरोप के ईसाई शासक पूर्वी देशों के संपर्क में आये और उनसे उन्होंने स्वेच्छाचारी शासन के सिद्धान्त सीखे। इधर, धर्म-युद्धों ने व्यापार और यात्राओं को प्रेरणा दी जिसका परिणाम यह हुआ कि मध्य-वर्ग की संख्या, समृद्धि और शक्ति बढ़ी और उसने यात्रा और व्यापार में सुरक्षा के लिए शक्तिशाली शासकों की अपेक्षा की। धर्म-युद्धों में सामन्तवादी दल के बहुत से लोगों का ध्यान आन्तरिक समस्याओं की ओर से हटकर विदेशों के आकर्षणों की ओर गया, और शासन पर उनका प्रभाव शिथिल पड़ा। कई सामन्ती नेता धार्मिक युद्धों में मारे भी गए। कुछ दूर देशों में जा बसे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि सामन्ती व्यवस्था कमजोर पड़ गई और राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया। राजा की शक्ति के मार्ग में मध्य-युग की धर्म-व्यवस्था भी एक बहुत बड़ी बाधा थी, परन्तु अब बढ़ती हुई अराजकता को देखते हुए उसने भी राजा की शक्ति को बढ़ने देना ही श्रेयस्कर समझा। इन सब प्रवृत्तियों का परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप के देशों में राजा की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उसने धर्म-व्यवस्था पर ही आक्रमण किया। तब तक यह व्यवस्था इतनी शिथिल और जर्जर हो गई थी कि राजा की बढ़ती हुई शक्ति का

प्रतिरोध करने की क्षमता उसमें नहीं रह गई थी। धार्मिक सुधार के आन्दोलनों ने राजा की शक्ति को और भी बढ़ाया। इङ्गलैण्ड में विक्लिफ ने और जर्मनी में लूथर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राजा को ईश्वर-प्रदत्त शक्ति प्राप्त है।

नए युग का नया राजनीति-शास्त्र

राजा की इस अनियमित शक्ति का तर्क और दर्शन के आधार पर समर्थन करनेवाले राजनीतिक चिन्तकों की भी कमी नहीं रही। इनमें मैकियावेली (Machiavelli, 1467-1527) बोदाँ (Bodin, 1529-1596) और हॉब्स (Hobbes, 1688-1679) प्रमुख हैं। मैकियावेली ने बताया कि मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता, शरीर और धन की सुरक्षा है। इसके लिये एक मजबूत शासन वांछनीय है, और शासन मजबूत तभी हो सकता है जब वह ऐसे व्यक्ति के हाथ में हो जिसके पास अपरिमित सत्ता हो। बोदाँ ने यह सिद्ध करना चाहा कि शासक ही कानून का अन्तिम स्रोत है और वह अपने कामों के लिये ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। कानून से वह ऊपर है और राजनीतिक दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता है। हॉब्स ने बताया कि मनुष्य राग द्वेष, भय और प्रतिद्वन्द्विता की भावनाओं के वश में रह कर शक्ति प्राप्त करने के लिए ही सदा संघर्ष करता रहता है। उसे कठोर नियंत्रण में रखने व देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि मजबूत केन्द्रीय शासन की स्थापना की जाए और उसे ऐसी शक्ति के हाथ में सौंपा जाए जो कानून से ऊपर हो और समस्त जनता पर जिसका अनियंत्रित अधिकार हो। इस राजनीतिक दर्शन के लोकप्रिय हो जाने का परिणाम यह निकला कि राजा की शक्ति इतनी बढ़ गई जितनी इतिहास में कभी नहीं थी। वह राज्य का एकछत्र स्वामी, समस्त राजनीतिक शक्ति का एकमात्र स्रोत, न्याय का उद्गम और निर्माता ही नहीं था, वह ईश्वर का अंश भी माना जाने लगा और उसके प्रति अवज्ञा की भावना भी पाप मानी जाने लगी। राजा की शक्ति का मुख्य आधार मध्यम वर्ग में था। उसने राजा को योग्य सलाहकार दिए और अपनी व्यवस्था को बनाये रखने के लिए पर्याप्त धन दिया और उसके बदले में राजा ने इस मध्यम वर्ग को अपना व्यापार फैलाने और अपनी धन-समृद्धि को बढ़ाने में पूरी सहायता की।

एकछत्र शासन की जो व्यवस्था इस प्रकार स्थापित हुई वह बहुत अधिक समय तक नहीं चल सकी। यह सच है कि इस युग में कुछ बहुत बड़े-बड़े शासक हुए और उन्होंने अपने देश के लिए बहुत कुछ किया। नए फ्रांस के निर्माण में हेनरी चतुर्थ (Henery IV, 1589-1610 और सली (Sully), रिशेलू (Richelieu) और मैजेरीन (Mazarin) और लुई चौदहवें (Louis XIV. 1643-1715) ने बहुत बड़ा भाग लिया। मेरिया थेरेसा (Maria Theresa, 1745-1780) और जोसेफ द्वितीय (Joseph II. 1790) के बिना आस्ट्रिया यूरोप की राजनीति में प्रमुख भाग नहीं ले सकता था। फ्रेडरिक महान (Frederick The Great, 1740-1786) ने जर्मनी के उत्कर्ष की नींव डाली। पीटर (Peter The Great, 1682-1725) और केथरीन (Catherine The Great, 1762-1796) ने रूस को बर्बरता के अन्धकार से निकालकर आधुनिक यूरोप के बड़े राष्ट्रों की पंक्ति में ला खड़ा किया। नई और प्रगतिशील विचार-धाराओं के साथ इन शासकों की सहानुभूति थी। गुलामी की प्रथा को उन्होंने मिटाने का प्रयत्न किया, सामन्तवादी प्रथाओं को उन्होंने कुचला और व्यापार और उद्योग धन्धों के विकास में उन्होंने पूरी सहायता की। पर इन सब बातों के होते हुए भी स्वेच्छाचारी शासन अधिक टिक नहीं सका। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी तो यह थी कि उसका आधार शासक के व्यक्तिगत चरित्र पर था। यह असम्भव था कि किसी भी राजवंश में योग्य शासकों की एक अनवरत श्रृङ्खला चलती रहती। फ्रांस में लुई चौदहवें के बाद लुई पन्द्रहवाँ जैसा अयोग्य व्यक्ति गद्दी पर बैठा। स्पेन में चार्ल्स तृतीय की गद्दी एक अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति के हाथ में आई। पुर्तगाल में जोसेफ प्रथम की उत्तराधिकारिणी एक पागल रानी बनी। इसी प्रकार अन्य देशों में भी हुआ। बहुत से शासकों ने अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा की और अपना अधिकांश समय भोग-विलास और निष्क्रिय ऐश्वर्य में बिताना आरंभ किया।

एकछत्र शासन की व्यवस्था का पतन

इस युग के प्रमुख शासकों में भी बहुतों ने, जिनके नाम इतिहास में राष्ट्र निर्माताओं की सूची में गिनाए जाते हैं, आन्तरिक सुधारों में कम दिलचस्पी ली, बाहरी लड़ाइयों में अपना अधिक समय लगाया। इसका

परिणाम यह हुआ कि देश की शक्ति और प्रतिष्ठा तो बढ़ी, पर जन-साधारण के जीवन का स्तर गिरता गया। फ्रांस, प्रशा और रूस धनी और शक्तिशाली बने; परन्तु साधारण फ्रांसीसी, जर्मन अथवा रूसी निर्धन और राज्य की शक्ति की तुलना में, वैधानिकता के अधिक निःशक्त होता गया। राजनीतिक चिन्तकों के सिद्धान्तो का उदय विचारों पर इस स्थिति की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी।
जिन शताब्दियों में शासक की स्वेच्छाचारी सत्ता अपनी पराकाष्ठा का स्पर्श करती हुई दिखाई दे रही थी, उनमें भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं थी जिन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। सोलहवीं शताब्दी में हालैण्ड ने स्पेन के आधिपत्य को चुनौती दी और एक ऐसे गणतंत्र की स्थापना की जिसमें राजनीतिक सत्ता लोकसभा के हाथ में थी। इसी प्रकार की क्रान्तियाँ, कुछ सीमित रूप में, अन्य देशों में भी हुईं। धीरे-धीरे वैधानिकता के दर्शन-शास्त्री अपने विचारों का प्रचार करते हुए दिखाई दिए। इनमें प्रमुख स्थान लॉक (John Locke, 1632-1704), मौन्टेस्क (Montesquieu, 1689-1755), रूसो (Rousseau, 1712-1778) और बैन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832) जैसे व्यक्तियों का है, जिन्होंने जनतन्त्र के राजनीतिक दर्शन की नींव डाली। लॉक ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति पर प्राकृतिक अधिकार है और राज्य का निर्माण केवल इस कारण से हुआ है कि वह व्यक्ति को इन अधिकारों के उपयोग का पूरा अवसर दे। लॉक ने तो यहाँ तक कहा कि राजसत्ता के प्रति विद्रोह करना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं है, कभी-कभी तो वह उसका कर्तव्य भी हो जाता है। मौन्टेस्क ने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रचार किया। रूसो ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के उन प्रज्वलनशील सिद्धान्तो की घोषणा की जिन्होंने फ्रांस में क्रान्ति की अग्नि को सुलगा दिया। बैन्थम ने कहा कि राज्य के अस्तित्व और कानून बनाने की सारी कार्यवाही का अन्तिम और एकमात्र लक्ष्य अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना है।

इन विचारों को लेकर यूरोप के राजनीतिक जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन आया जिसका परिणाम यह निकला कि स्वेच्छाचारिता के स्थान पर जनतंत्र के सिद्धान्त की स्थापना हुई। इस परिवर्त्तन का सूत्रपात

राजनीतिक विचारों में पुन परिवर्तन इंग्लैण्ड

इंग्लैण्ड मे हुआ। इंग्लैण्ड में तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ मे यहाँ की जनता ने अपने शासकों से मैगनाकार्टा नाम का एक प्रसिद्ध घोषणापत्र प्राप्त किया था जिसमें नागरिक अधिकारों की पहली बार चर्चा की गई थी। इंग्लैण्ड मे तभी से लोक-सभाएँ काम करने लगी थीं। आरम्भ मैं उनका काम राजा को सलाह देना और रुपये-पैसे की उसकी माँग को पूरा करना ही था—कानून बनाने का दायित्व राजा पर ही था। पर धीरे धीरे लोक-सभा ने अपने अधिकारों का दायरा बढ़ाना आरंभ किया, और राजा की ओर से जब उसके इस प्रयत्न में बाधा डाली गई तो उसने राजा का विरोध करने की तत्परता भी दिखाई। सत्रहवीं शताब्दी मे इस संघर्ष ने बड़ा तीव्र रूप ले लिया। इसमें एक राजा को तो अपने प्राणों तक से हाथ धोना पड़ा। सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक लोकसभा के हाथ मे राज्य के सब वास्तविक अधिकार आ गये थे और जनता के प्रतिनिधियों को अब न केवल राजा की खुली आलोचना करने का अधिकार, बल्कि कर लगाने, न्यायाधीशों को नियुक्त करने, फौज का नियंत्रण करने आदि के अन्य अधिकार भी मिल गये थे। राज्य की सत्ता धीरे धीरे राजा के हाथों से निकलकर जनता के हाथों मे आती गई। इंग्लैण्ड में यह परिवर्तन एक रक्त-हीन क्रान्ति के द्वारा हुआ। सत्ता के अन्तिम हस्तान्तरण मे एक बूँद रक्त बहाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। राजा ने चुपचाप लोकसभा के सामने आत्म समर्पण कर दिया। यह सच है कि यह लोकसभा वास्तविक अर्थों मे जनता की प्रतिनिधि-सभा नहीं कही जा सकती थी। मध्यम वर्ग के कुछ विशिष्ट परिवारों द्वारा ही उसका नियंत्रण होता था; परन्तु इसमे संदेह नहीं कि जनतंत्र की भावना को आगे बढ़ाने मे उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

अमरीका की जनतांत्रिक क्रांति

अठारहवीं शताब्दी मे अमरीका मे जो क्रांति हुई, वह एक प्रकार से तो इंग्लैण्ड के आधिपत्य के विरुद्ध थी, पर वास्तव मे उसका उद्देश्य अमरीका में उसी प्रकार की जनतांत्रिक शासन प्रणाली की स्थापना करना था जैसी इंग्लैण्ड मे मौजूद थी। उनका कहना था कि उन पर कर लगाने का अधिकार उनके चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों मे ही होना चाहिये। इस सिद्धान्त को लेकर ही इंग्लैण्ड के साथ उनका संघर्ष आरंभ हुआ।

४ जुलाई १७७६ को अमरीका के नेताओं ने अपने देश की स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इसके तैयार करने में जेफरसन का प्रमुख हाथ था। इस घोषणा-पत्र मे न केवल राजा के शासन करने के दैवी अधिकार पर ही आक्रमण किया गया है, वल्कि यह कहा गया है कि कोई भी ऐसा शासन जिसमें जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व न हो, जनता पर राज्य करने का अधिकारी नहीं है। इस घोषणा-पत्र मे दो मूल अधिकारों पर विशेष जोर दिया गया—(१) न्यायालयों की पूर्ण स्वतंत्रता और (२) शासन के लिए अपने प्रतिनिधि को स्वयं चुनने का जनता का अधिकार। जनतंत्र की भावना के प्रचार मे अमरीका की इस क्रान्ति का एक विशेष स्थान है। इसमे पहली वार लॉक, रूसो, मौन्टेस्क आदि चिन्तकों की विचारधारा को मूर्त्त-रूप दिया गया था। यह सच है कि इस क्रान्ति के परिणाम स्वरूप जिस शासन की स्थापना हुई, उसे भी हम शुद्ध जनतंत्र नहीं कह सकते; परन्तु वह शासन यूरोप के किसी भी देश की तुलना मे कहीं अधिक प्रगतिशील था और उसने यूरोप के, विशेषकर फ्रांस के लोगों के लिए, जो जनतंत्र के विचार का प्रचार करने मे वहुत दिनों से लगे हुए थे, एक आदर्श उपस्थित किया और उन्हें अपनी व्यवस्था को वदलने के लिए एक प्रेरणा दी।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का मुख्य कारण देश की दुर्व्यवस्था थी। राजाओं को जनता मे कोई रुचि नहीं रह गई थी, न शासन-तंत्र में। नई विचार-धाराओं के अनुसार शासन-तंत्र को ढालने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। शासन का संचालन भ्रष्ट और अयोग्य कर्मचारियों के हाथ मे चला गया था, जो सत्ता का उपयोग स्वार्थ-पूर्ति के लिए करते थे। देश में ज्यों-ज्यों असन्तोष बढता गया, राजा की प्रतिष्ठा घटती गई। असन्तोष का मुख्य कारण सामाजिक असमानताएँ थीं। समाज दो भागों मे बँट गया था। एक ओर किसान थे, जो करों और अत्याचारों के बोझ से पिसते चले जा रहे थे और दूसरी ओर कुलीन और महन्त-वर्ग के लोग थे, जो ऐश्वर्य मे डूबे हुए थे। राजा वर्साई (Versailles) मे पन्द्रह हजार दरवारियों और भोगविलास की प्रचुर सामग्री से घिरा हुआ पचास करोड़ रुपये की लागत के महल में रहता था। केवल उसके परिवार का वार्षिक खर्च दस करोड़ रुपए था।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और उसके कारण

कुलीन वर्ग के लोगों मे भी सभी समृद्ध और सुखी नहीं थे। कुछ गरीब भी थे और गरीबों से उन्हें सहानुभूति थी। महन्तों में भी इसी प्रकार की असमानता थी। ऊँचे वर्गों के महन्तों के हाथ मे देश की भूमि का लगभग एक-पंचमांश था। दूसरी ओर ऐसे महन्त भी थे जो भीख माँगकर गुजारा करते थे। कानून की दृष्टि मे सब बराबर नहीं थे और स्वय कानून की कोई लिखित मान्यताएँ नहीं थीं। जैसा वॉल्टेयर ने लिखा वह लगभग इतनी ही दूरी पर बदल जाता था, जिस पर घोड़ा गाडी के घोड़े बदले जाते थे। एक ही अपराध पर कुलीन वर्ग के लोगों को एक किस्म की सजा मिलती थी और अकुलीन-वर्ग के लोगों को दूसरे किस्म की। पर सबसे बड़ी असमानता कर वसूल करने के सबंध में थी। कुलीन और महन्त-वर्ग के लोग, जिनके पास देश का लगभग समस्त धन केन्द्रित था, करों से लगभग मुक्त थे और गरीब किसानों को अपनी थोड़ी सी आमदनी का कभी तो लगभग पूरा भाग करों मे दे देना पडता था।

राज्य-क्रान्ति का प्रमुख कारण आर्थिक था। जनता तो गरीब थी ही, सरकार का भी दिवाला निकल चुका था। जनता खुशहाल हो तो वह कैसे भी निकम्मे शासन को भी बर्दाश्त कर लेती है। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांस मे शासन भी निकम्मा था और जनता भी दुखी थी। ऐसे वातावरण मे क्रान्ति की ज्वाला का सुलग उठना सहज और स्वाभाविक था। क्रान्ति के लिए जिस नेतृत्व की आवश्यकता होती है, वह उसे मध्यम-वर्ग से मिला। मध्यम-वर्ग की शक्ति और प्रभाव बहुत बढ़ गया था और वह मध्यम-वर्ग शासन के सूत्रों को उन निकम्मे हाथों से, जो उसका सचालन कर रहे थे, छीन लेने के लिए लालायित था। गरीब लोगों को भड़काने के लिए इस वर्ग के पास जनतत्र का वह सारा विचार-दर्शन था, जो अठारहवीं शताब्दी के बुद्धिवादियों ने विकसित किया था। इस प्रज्वलनशील वातावरण मे क्रान्ति की ज्वाला को सुलगाने के लिए केवल चिनगारी की आवश्यकता थी, और वह चिनगारी अमरीका की राज्य क्रान्ति ने फ्रांस को प्रस्तुत की। अमरीका की राज्य-क्रान्ति मे फ्रांस के लोगों को उन सिद्धान्तों का एक साकार रूप दिखाई दिया जिन्हें उनके अपने मॉन्टेस्क्यू और रूसो, हेल्वेशियस और हालबैक, दिदेरो और निश्र-कोप के लेखकों ने प्रतिपादन किया था और अब स्वय अपने देश मे उन्हें क्रियात्मक रूप देने के लिए बेचैन हो रहे थे।

क्रांति की यह ज्वाला धीरे धीरे सुलगी, पर एक बार सुलग जाने पर उसने बड़ा विकराल और भयंकर रूप ले लिया, और एक बार तो सारा देश खून की होली में नहाता हुआ दिखाई दिया। राजा ने टर्गो(Turgot), नेकर (Necker)) आदि कुछ व्यक्तियों को राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए नियुक्त किया था, पर वे असफल रहे थे। तब विशेष लोगों की एक सभा बुलाई गई, पर क्रान्ति का सूत्रपात वह भी कुछ न कर सकी। सच बात तो यह थी कि राज्य के लिए धन प्राप्त करने का एक ही स्रोत था—देश के अमीर लोग। पर उनसे धन वसूल करने की सलाह राजा को देने का साहस किसी में न था। अन्त में राजा से कहा गया कि वह 'स्टेट्स जनरल' (Estates General) की एक सभा बुला ले। इस प्रकार की सभा फ्रांस में लगभग दो सौ वर्षों से नहीं बुलाई गई थी। इस सभा में तीन सदन होते थे जिनके सदस्य क्रमशः कुलीन, महन्त और सर्वसाधारण होते थे। निर्णय इन सदनों के बहुमत से किया जाता था। यह सभा भी कुछ न कर सकी। उसके सर्वसाधारण वर्ग के प्रतिनिधियों ने जब देखा कि यह सभा भी बिना कुछ किए-धरे भंग की जा रही है, तो उनके धैर्य का बाँध टूट गया और उन्होंने इस बात की घोषणा कर दी की जनता के प्रतिनिधि होने के नाते देश के भाग्य-निर्माण का अधिकार उनका है। स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध यह खुली चुनौती थी। इस विद्रोह में उन्हें महन्त और कुलीनवर्ग के बहुत से लोगों का समर्थन भी मिला। अपने को एक राष्ट्रीय महासभा के रूप में घोषित करते हुए उन्होंने इस बात की प्रतिज्ञा की कि राजा की संगीनें चाहे उनके वक्षःस्थलों में घुसा दी जाएँ, वे तब तक अपने घर नहीं लौटेंगे जब तक फ्रांस को एक नया शासन-विधान नहीं दे देंगे।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति का यह सूत्रपात था। उसका नेतृत्व आरंभ में कुछ नरम दल के लोगों के हाथ में रहा, जो राज्य की सत्ता का बिलकुल ही नष्ट कर देना नहीं चाहते थे, और इस कारण सुधार की प्रगति कुछ धीमी रही। पर इस क्रान्ति की प्रगति धीमेपन ने कुछ लोगों को अधीर बना दिया। उधर, देश में खाने-पीने की कमी बढ़ती जा रही थी। आलोचना और प्रत्यालोचना की बौछारों से चारों ओर का वातावरण विक्षुब्ध हो उठा।

नए राजनीतिक दल बने और नए राजनीतिक नेता सामने आये, जो वर्तमान को नष्ट करके रंगीन स्वप्नों और आदर्शों का एक नया भविष्य बनाना चाहते थे, जिनके विचारों में उन्मेष था, जिनकी वाणी अपने में सर्वनाश की हुंकार लिए हुए थी और जिनके हृदय, आदर्शों प्राप्ति के लिए, हिंसा से खिलवाड़ करने के लिए बेचैन थे। राजा की शक्ति अब बिलकुल टूट चुकी थी। राष्ट्रीय महासभा ने अपने नन्हें जीवन काल में काफी बड़े बड़े काम किए थे। सामन्तवादी व्यवस्था नष्ट की जा चुकी थी और एक नए ढंग का समाज, जिसका आधार धर्म पर नहीं व्यक्ति पर था जन्म ले चुका था। राष्ट्रीय महासभा द्वारा स्वीकृत मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा द्वारा नए राजनीतिक अधिकारों की सृष्टि की जा चुकी थी जिसका आधार स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व में था। एक नया संविधान भी बना लिया गया था जिसमें राजसत्ता एक चुनी हुई धारासभा को सौंप दी गई थी और धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का समावेश था। परन्तु उग्र राजनीतिक विचारों के नेता जो वर्तमान समाज व्यवस्था को जड़ से उखाड़ कर एक नई समाज व्यवस्था बनाना चाहते थे, इस प्रगति से सन्तुष्ट नहीं थे, और उनकी शक्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। शासन के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। प्रतिक्रियावादी इन कठिनाइयों से लाभ उठाकर पुरानी व्यवस्था को फिर से स्थापित कर देना चाहते थे और इसके लिए देश के साथ विश्वासघात करने और विदेशों की प्रतिक्रियावादी सत्ताओं से सहायता प्राप्त करने में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस आस्ट्रिया और प्रशा के साथ लड़ाई में उलझ गया। युद्ध आरंभ हो जाने से बाद उसकी विशेषताएँ दिन पर दिन बढ़ती गईं। एक राजनीतिक दल के लोग षड्यन्त्र और हिंसा के द्वारा दूसरे राजनीतिक दल का अन्त करने में लग गए। कुछ समय तक देश भर में 'आतंक का राज्य' (reign of terror) रहा जिसमें कहा जाता है, केवल पेरिस नगर में पाँच हजार व्यक्ति मौत के घाट उतार दिए गए, जिनमें क्रान्ति के लगभग सभी प्रमुख अग्रदूत भी थे, और लगभग पन्द्रह हजार व्यक्ति देश के दूसरे भागों में मार डाले गए। हिंसा की ये लपटें अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचकर बुझती-सी दिखाई दीं। प्रतिक्रिया की एक लहर उठी। क्रान्ति और परिवर्तन के

नाम से फ्रांस की जनता घबराने लगी, और जनतान्त्रिक क्रान्ति के इस खण्डहर पर नैपोलियन ने अपनी एकछत्र राजसत्ता का प्रासाद खड़ा किया।

फ्रांस की क्रान्ति की इतिहास को देन

कुछ लोगों की धारणा है कि हिंसा और प्रतिशोध की इन ज्वालाओं में राज्य-क्रान्ति के आदर्श भस्म हो गए और वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही। पर बात ऐसी नहीं है। अपनी समस्त भयंकरता के होते हुए भी 'आतंक का राज्य' एक महान् राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति में एक घटना मात्र है। फ्रांस को जिन आन्तरिक परिस्थितियों और बाहरी उलझनों में से गुजरना पड़ रहा था, यह शायद उसका अनिवार्य विस्फोट था। उस युग के सामने हिंसा के अतिरिक्त सम्भवतः कोई दूसरा मार्ग था भी नहीं, पर इस कारण हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि फ्रांस की क्रान्ति अपने उद्देश्यों में असफल रही। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति वास्तव में उन प्रवृत्तियों की पराकाष्ठा का संकेत है जिनका आरम्भ सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागृति के युग में हुआ था। इंग्लैण्ड और अमरीका की राज्य-क्रान्तियों ने जिन विचारों को जन्म दिया था, फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने उन्हें और आगे बढ़ाया। वह अधिक व्यापक और गहरी क्रान्ति थी जिसने न केवल महान् राजनीतिक परिवर्त्तनों का सूत्रपात किया अपितु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में भी गहरे परिवर्त्तन लाने का प्रयत्न किया। फ्रांस में यह परिवर्त्तन इतनी सरलता से नहीं हो सका जैसा इंग्लैण्ड और अमरीका में हुआ था, क्योंकि फ्रांस की परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की थीं, परंतु फ्रांस की राज्य क्रान्ति का प्रभाव, इंग्लैण्ड और अमरीका की क्रान्तियों की तुलना में कहीं गहरा पड़ा। उसने उन सब सिद्धान्तों को एक अमर स्वरूप प्रदान किया जो पिछले दो सौ वर्षों से यूरोप के सर्वश्रेष्ठ मनीषियों की आत्मा का मन्थन कर रहे थे। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त आधुनिक मानव-समाज के निर्माण में नींव के पत्थर के समान हैं। आज की हमारी सभ्यता का भव्य प्रासाद इन्हीं के आधार पर खड़ा है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि कोई सत्ता चाहे वह राजनीतिक हो अथवा धार्मिक अथवा सामाजिक, व्यक्ति की इच्छा को कुचलने का सामर्थ्य नहीं रखती। समानता के सिद्धान्त की उद्घोषणा का अर्थ था

विशेष अधिकारों से उस समस्त अन्धकार को भस्म कर देना, जिसे ईश्वर और धर्म के नाम पर कुछ लोग अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए काम में ला रहे थे, और कानून और राज्य की दृष्टि में मनुष्य मात्र की समानता की स्थापना करना। भ्रातृत्व का अर्थ मानवता में भाई चारे की स्थापना करना था। इन सिद्धान्तों ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसके आत्म विश्वास को बहुत ऊँचा उठा दिया। व्यक्ति की प्रतिष्ठा की यह भावना आज की मानवता के एक बड़े भाग के लिए बहुत अधिक महत्त्व रखती है। यही फ्रांस की राज्य क्रान्ति की मानव सभ्यता को सबसे बड़ी देन है।

अभ्यास के प्रश्न

१—मध्य युग के राजनीतिक आदर्शों के संबंध में आप क्या जानते हैं? उनमें और आधुनिक युग के राजनीतिक आदर्शों में भेद समझाइए।

२—राष्ट्रीयता की भावना का विकास किन कारणों से हुआ? राजाओं के एकछत्र शासन की स्थापना में राष्ट्रीयता की भावना ने कहाँ तक सहायता पहुँचाई?

३—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के शासन-संबंधी प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

४—एकछत्र शासन की व्यवस्था का पतन किन कारणों से हुआ?

५—वैधानिक के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए इंग्लैण्ड में लोकसभा के विकास का संक्षिप्त इतिहास दीजिये।

६—अमरीका की जनतान्त्रिक क्रान्ति का विवरण दीजिए। यूरोप की राजनीति पर उसका क्या प्रभाव पड़ा?

७—फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के प्रमुख कारणों का विश्लेषण कीजिए।

८—फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का एक संक्षिप्त विवरण दीजिए, और यह स्पष्ट कीजिए कि इतिहास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Dunning, W A Political theories from Luther to Montesquieu
2. Hayes, C J H, Essays on Nationalism

3. H. J Laski, . Political Thought in England from Locke to Bentham.

4 Mc Laughlin, A. C A Constitutional History of the United States.

5 Hearnshew, F. J. C. The Social and Political Ideas of Some Great French Thinkers of the Age of Reason

---

अध्याय ५

राष्ट्रीय संस्कृतियों का विकास

इटली से पुनर्जागृति के जिस युग का सूत्रपात हुआ था, उसका प्रभाव धीरे धीरे यूरोप के अन्य देशों में भी फैला, और उनमें कला और साहित्य की नई प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इस दृष्टि से

सांस्कृतिक पुनरु-
त्थान की लहर

इटली स्वयं अधिक प्रगति न कर सका। व्यापार का गुरुत्व-केन्द्र भूमध्यसागर से अटलांटिक चले जाने के कारण इटली की आर्थिक स्थिति लगातार गिरती चली गई। राजनीतिक एकता का अभाव भी इटली के पतन का एक प्रमुख कारण था। परन्तु इटली से प्रेरणा लेकर अन्य देशों ने, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दिशा में बहुत कुछ प्रगति की। रैफेल, लियोनार्डो और माइकेल एन्जेलो ने चित्रकला और मूर्तिकला में जिन आदर्शों की सृष्टि की थी, अथवा बरनिनी (Giovanni Bernini, 1598 1680) ने वास्तुकला में सौंदर्य के जो उदाहरण सामने रखे थे, उनसे अन्य देशों ने प्रेरणा ली। परन्तु पुनर्जागृति-युग के बाद की कला में इस शक्ति से अधिक सजावट का आग्रह पाते हैं, जो अन्य देशों के समान इटली की भी इस युग की विशेषता थी। अन्य देशों पर इटली के साहित्य, संगीत, नाटक और नृत्य की शैलियों का प्रभाव भी पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से यह युग स्पेन, हॉलैंड, इंग्लैण्ड और फ्रांस के उत्कर्ष का युग था, इस कारण भी इन देशों का कला और साहित्य में विशेष प्रगति करना स्वाभाविक था।

स्पेन, चार्ल्स पंचम ((Charles V) और फिलिप द्वितीय (Philip II) के नेतृत्व में, राजनीतिक एकता और साम्राज्यवाद में ही आगे नहीं बढ़ रहा था, सांस्कृतिक विकास में भी वह अग्रणी

स्पेन

था और बौद्धिक उत्साह में वह बहुत आगे बढ़ गया था। उच्च-कोटि के अनेक विद्वानों को जन्म देने के अतिरिक्त स्पेन ने इस युग में बहुत से उत्कृष्ट कलाकारों को भी जन्म

किया। चित्रकारों में एल ग्रेको (El. Greco, 1548-1625), वेलास्क्वेज (Velasquez, 1599 1660) और मुरिलो (Murillo 1618-1682) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एल ग्रेको यूनान का रहनेवाला था, पर स्पेन में बस गया था। प्रकाश और छाया के प्रभावों को बड़ी सूक्ष्मता के साथ अपने चित्रों में प्रदर्शित करना उसकी विशेषता थी। उसके चित्रों में भावना का उद्रेक इतनी सफलता के साथ दिखाया गया कि चित्र में दी गई अन्य बातें जैसे दब गई हों। उसने अपने चित्रों में चमकीले रंगों का भी काफी प्रयोग किया। वेलासक्वेज की गिनती यूरोप के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों में की जाती है। उसके चित्रों में हमें एक गहरे यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। यूरोप के संभ्रान्त परिवारों के बहुत से चित्र उसने अङ्कित किए। मुरिलो दूसरे प्रकार के हैं। उनमें जनसाधारण के जीवन को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया गया है। स्पेन में मूर्तिकला के कुछ सुन्दर प्रयोग लकड़ी पर किए गए। साहित्य के क्षेत्र में नाटक के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। नाटककारों में लोप डि वेगा (Lope de Vega, 1562 1635) मुख्य था। उसने लगभग बारह सौ सुखान्त व धार्मिक नाटक लिखे। व्यंग, भावना और यथार्थवाद का एक अच्छा सम्मिश्रण उसकी रचनाओं में पाया जाता है। प्रभावपूर्ण लेखकों डौन क्विक्जोट (Don Quixote) के लेखक सर्वान्तीज (Cervantes, 1547 1616) को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। उसने मध्य वर्ग के जीवन पर व्यंग्यात्मक ढङ्ग से बहुत अधिक प्रकाश डाला। स्पेन के राजनीतिक पतन के साथ उसके सांस्कृतिक जीवन में भी शिथिलता आ गई।

इंग्लैण्ड

इंग्लैण्ड के इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी को स्वर्ण-युग माना गया है। रानी एलिजाबेथ (Queen Elizabeth, 1558-1603) और उसके पूर्वजों ने देश में एक सुदृढ़ शासन की स्थापना कर दी थी। एलिजाबेथ के समय में धार्मिक झगड़े भी समाप्त कर दिए गए थे। संस्कृति के विकास के लिए इससे अधिक उपयुक्त वातावरण क्या हो सकता था? इंग्लैण्ड ने इस युग में होगार्थ (Hogarth, 1697-1764), रेनॉल्ड्स (Reynolds, 1723-1792) और गेन्सबरॉ (Gainsborough,

(1727 1788) जैसे कुछ श्रेष्ठ चित्रकारों को भी उत्पन्न किया, जिन्होंने चित्रकला के स्तर को ऊँचा उठाया। परन्तु इंग्लैण्ड के सांस्कृतिक विकास को साहित्य के क्षेत्र में अधिक अभिव्यक्ति मिली और साहित्य में भी नाटक पर उसके कलाकारों ने अधिक ध्यान दिया। शेक्सपीयर Shakespeare, 1564 1616) और मिल्टन (Milton, 1608 1674), ड्रायडन (Dryden, 1631 1700) और पोप (Pope, 1688-1744) इस युग के प्रमुख कवि हैं। आधुनिक अंग्रेजी गद्य का विकास भी इसी युग में हुआ। इतिहास विज्ञान, जीवनगाथा और उपन्यास साहित्य के इन सभी क्षेत्रों में इंग्लैण्ड ने बड़ी प्रगति की। गिबन (Gibbon, 1737 1794) और ह्यूम (Hume, 1711 1776) ने इतिहास के क्षेत्र में अनुपम रचनाएँ कीं। जॉनसन (Johnson, 1709 1784) ने कोष का निर्माण किया। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अर्थ शास्त्र पर पुस्तकें लिखीं। ब्लैकस्टोन (Blackstone, 1723-1780) ने न्याय शास्त्र के ज्ञान को बहुत आगे बढ़ा दिया। एडीसन (Addison, 1672 1719), डीफो (Defoe, 1660-1731) और स्विफ्ट (Swift 1667 1745) ने सुन्दर उपन्यासों की सृष्टि की। परन्तु इन सब व्यक्तियों से अधिक जिस एक व्यक्ति ने इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा को संसार भर में चमका दिया वह शेक्सपीयर था। नाटककार की दृष्टि से उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ लेखक माना जा सकता है। उसके अधिकांश नाटक आज भी संसार भर के देशों के रंगमंच पर खेले जाते हैं। मानव चित्र की जिस गहराई का स्पर्श अनुभव और अभिव्यक्ति शेक्सपीयर कर सका और हृदय की विभिन्न भावनाओं का जैसा सफल चित्रण उसने किया वैसा कोई अन्य लेखक नहीं कर सका।

हालैण्ड

हालैण्ड ने भी कला और साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की। राष्ट्रीय स्वाधीनता और समृद्धिशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने उसे प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया। हॉलैण्ड अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भी यूरोप के अनेकों देशों के सांस्कृतिक प्रभावों का केन्द्र बिन्दु बन गया। विचारशीलता और चिन्तन के क्षेत्र में उसने ग्रोशियस (Hugo Grotius, 1583-1645) जैसे विद्वान् को जन्म दिया। परन्तु हॉलैण्ड के सांस्कृतिक पुनरुत्थान को सबसे अधिक अभिव्यक्ति चित्रकला के

द्वारा मिली। इस युग में हॉलैण्ड ने रुबेन्स (Rubens, 1577-1640) और वान डिक (Van Dyck, 1599-1641), रेम्ब्रैण्ट (Rembrendt, 1606-1669) और रयूज़डैल (Jacob Van Ruysdael, 1628-1681) जैसे चित्रकारों को जन्म दिया, जिनकी अमर कृतियाँ संसार भर की चित्रकला का गौरव बन गई हैं। इन चित्रकारों ने सर्वसाधारण के जीवन का जितना सुन्दर चित्रण किया है उतना शायद किसी भी देश के चित्रकारों ने नहीं। इटली और स्पेन के कलाकार धार्मिक कथाओं के चित्रण में ही विशेष रुचि लेते रहे, हॉलैण्ड में मध्य-वर्ग के दिन-प्रतिदिन के जीवन के प्रति सहानुभूति और तदात्म्य का प्रदर्शन किया गया। हॉलैण्ड के चित्रकारों में रेम्ब्रैण्ट सबसे प्रमुख था। प्रकाश और छाया का जैसा सफल चित्रण रेम्ब्रैण्ट के चित्रों में मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के भी उसने अनेकों सुन्दर चित्र खींचे, परन्तु उसकी सबसे बड़ी विशेषता चेहरे पर झलक उठनेवाली हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं का सफल चित्रण था।

जर्मनी और अन्य देश

जर्मनी के विभिन्न राज्य, राजनीतिक अराजकता और यूरोप के अन्य देशों के निकट सांस्कृतिक सम्पर्क में न होने के कारण, कला और संस्कृति के क्षेत्र में विशेष योग नहीं दे सके, परन्तु ड्यूरर (Durer, 1471-1528) और हौल्बीन (Holbein, 1497-1544) आदि जर्मन कलाकारों ने चित्रकला के क्षेत्र में विशेष प्रगति की। जर्मनी की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति विशेष रूप से संगीत के क्षेत्र में हुई। बैरक और हैन्डेल, मोजार्ट, बीथोवन और वैगनर जैसे संगीतज्ञों को जर्मनी ने इस युग में उत्पन्न किया जिनकी तुलना में यूरोप के किसी अन्य देश के संगीतज्ञ नहीं ठहर सकते। जर्मन भाषा के विकास में लूथर का बहुत बड़ा हाथ था। भाषा के इस परिष्कार के अभाव में जर्मन हर्डर, गेटे और शिलर जैसे उन महान् साहित्यकारों को उत्पन्न नहीं कर सकता था, जिन्होंने आने वाले युगों में उसकी प्रतिष्ठा को संसार भर में फैला दिया।

कला और संस्कृति के विकास में सबसे अधिक प्रगति फ्रांस ने की। फ्रांस में ललित कलाओं के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। राज-

नैतिक दृष्टि से फ्रांस इन दिनों यूरोप का सबसे प्रमुख देश था। लुई चौदहवें जैसे शासकों ने केवल उसकी सीमाओं का विस्तार ही नहीं किया, सभी ललित कलाओं के विकास को उसने प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पूसाँ (Poussion, 1594 1665) और लोरां (Cloude Lorrain 1600-1682) जैसे चित्रकार, मैन्सर्ट (Jules Mansart) जैसे स्थापत्य कला विशारद और लेब्रुन (Le Brun, 1619 1690) जैसे शिल्पी फ्रांस ने उत्पन्न किए। नाटक की दृष्टि से भी फ्रांस ने बहुत उन्नति की, यद्यपि इंग्लैण्ड की तुलना में उसकी नाट्यकला का रूप बिलकुल भिन्न है। मोलियर (Moliere, 1622-1673) फ्रांस का सबसे बड़ा नाटककार था। उसके नाटक हास्य प्रधान हैं, पर तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि व्यक्तियों का जितना सुन्दर चरित्र चित्रण हमें मोलियर के नाटकों में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। अन्य प्रसिद्ध नाटककारों में कौर्नील (Corneille, 1606-1684) और रासीन (Racine, 1639 1699) के नाम लिए जा सकते हैं। फ्रांस में गद्य का भी बहुत अधिक विकास हुआ। गद्य लेखकों में ब्वॉयलो (Nicolas Boilean, 1636-1711), ला फौन्टेन (Jean La Fnotaine, 1621-1695), रैबेले (Rabelais, 1494-1553) और मॉन्टेन (Montaigne, 1533 1692) प्रमुख थे। इनकी गिनती विश्व के उच्चकोटि के साहित्यकारों में की जाती है। कैल्विन, मॉन्टेस्क्यू, वॉल्टेअर, रूसो, दिदेरो आदि ने दार्शनिक विचारों को सुन्दर और प्रभावशाली गद्य शैलियों में अभिव्यक्त किया।

फ्रांस का स्वर्ण-युग

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप के सभी प्रमुख देशों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान एक बहुत ऊँचे स्तर का स्पर्श कर रहा था। परन्तु इसके साथ ही कुछ अन्य बातों को भी हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। पहली बात तो यह है कि इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के पीछे स्वेच्छाचारी शासकों, विलास और अकर्मण्यता में डूबे हुए सामन्ती नेताओं और व्यापार से अटूट धन कमानेवाले पूँजीपतियों का प्रश्रय और संरक्षण था, और इस कारण उसमें उनके वैभव और ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब ही अधिक

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की विषमताएँ

दिखाई देता है, जनसाधारण के दिन-प्रतिदिन के जीवन की झाँकी कम। इस समस्त सांस्कृतिक वैभव के होते हुए भी यूरोप के समाज में अमीर और गरीब के बीच का अन्तर बढ़ता जा रहा था और वर्ग भेद की दरारें चौड़ी होती जा रही थीं जिसके परिणाम-स्वरूप क्रान्तिकारी विचारों के नए अंकुर विभिन्न देशों में और विशेषकर फ्रांस में फूटने लगे थे। यूरोप के शासक अपार धन-राशि केवल अपने भोग विलास के जीवन पर ही खर्च नहीं कर रहे थे, अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और वंशगत प्रतिष्ठा को सतुष्ट करने के लिए वे बिना सोचे-समझे, महान् अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में जूझ पड़ते थे और इस सबका बोझ जनसाधारण के टूटते हुए कंधों पर पड़ता था। यह निश्चित था कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक एकछत्र राज्य व्यवस्था और सामंतवादी संस्कृति दोनों ही इतनी जर्जर हो गई थीं कि उन्हें चकनाचूर कर इतिहास के ध्वंसावशेषों में फेंक देने और उनके स्थान पर एक जनवादी राजतंत्र और सर्वहारा संस्कृति के निर्माण का प्रयत्न करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया था। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में इस नए राजतंत्र और नई संस्कृति का विकास हुआ।

अभ्यास के प्रश्न

१—सत्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय कला और संस्कृतियों के विकास के कारण समझाइए। पुनर्जागृति-युग की कला और संस्कृति में आप उसमें क्या भेद पाते हैं?

२—स्पेन, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस की कला, साहित्य और स्थापत्य की विशेषताएँ बताइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Barnes : The History of Western Civilization.
2 Mather, F. J. : Modern Painting.
3 Smith, P. : History of Modern Culture.

नीतिक दृष्टि से फ्रांस इन दिनों यूरोप का सबसे प्रमुख देश था। लुई चौदहवें जैसे शासकों ने केवल उसकी सीमाओं का विस्तार ही नहीं किया, सभी ललित कलाओं के विकास को उसने प्रश्रय और

फ्रांस का स्वर्ण-युग

प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पूसाँ (Poussion, 1594 1665) और लोराँ (Cloude Lorrain, 1600-1682) जैसे चित्रकार, मैन्सर्ट (Jules Mansart) जैसे स्थापत्य कला विशारद और लेब्रुन (Le Brun, 1619 1690) जैसे शिल्पी फ्रांस ने उत्पन्न किए। नाटक की दृष्टि से भी फ्रांस ने बहुत उन्नति की, यद्यपि इंग्लैण्ड की तुलना में उसकी नाट्यकला का रूप बिलकुल भिन्न है। मोलियर (Moliere, 1622 1673) फ्रांस का सबसे बड़ा नाटककार था। उसके नाटक हास्य प्रधान हैं, पर तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि व्यक्तियों का जितना सुन्दर चरित्र चित्रण हमें मोलियर के नाटकों में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। अन्य प्रसिद्ध नाटककारों में कौर्नील (Corneille, 1606-1684) और रासीन (Racine, 1639 1699) के नाम लिए जा सकते हैं। फ्रांस में गद्य का भी बहुत अधिक विकास हुआ। गद्य लेखकों में बॉयलो (Nicolas Boilean, 1636-1711), ला फौन्टेन (Jean La Fnotaine, 1621-1695), रैबेले (Rabelais, 1494-1553) और मॉन्टेन (Montaigne, 1533-1592) प्रमुख थे। इनकी गिनती विश्व के उच्चकोटि के साहित्यकारों में की जाती है। कैल्विन, मॉन्टेस्क, वॉल्टेअर, रूसो, दिदेरो आदि ने दार्शनिक विचारों को सुन्दर और प्रभावशाली गद्य-शैलियों में अभिव्यक्त किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप के सभी प्रमुख देशों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान एक बहुत ऊँचे स्तर का स्पर्श कर रहा था। परन्तु इसके साथ ही कुछ

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की विशेषताएं

अन्य बातों को भी हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। पहली बात तो यह है कि इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के पीछे स्वेच्छाचारी शासकों, विलास और अकर्मण्यता में डूबे हुए सामन्ती नेताओं और व्यापार से अटूट धन कमानेवाले पूँजीपतियों का प्रश्रय और संरक्षण था, और इस कारण उसमें उनके वैभव और ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब ही अधिक

दिखाई देता है, जनसाधारण के दिन-प्रतिदिन के जीवन की झाँकी कम। इस समस्त सांस्कृतिक वैभव के होते हुए भी यूरोप के समाज में अमीर और गरीब के बीच का अन्तर बढ़ता जा रहा था और वर्ग भेद की दरारें चौड़ी होती जा रही थीं जिसके परिणाम-स्वरूप क्रान्तिकारी विचारों के नए अंकुर विभिन्न देशों में और विशेषकर फ्रांस में फूटने लगे थे। यूरोप के शासक अपार धन-राशि केवल अपने भोग विलास के जीवन पर ही खर्च नहीं कर रहे थे, अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और वंशगत प्रतिष्ठा को संतुष्ट करने के लिए वे बिना सोचे-समझे, महान् अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में जूझ पड़ते थे और इस सबका बोझ जनसाधारण के टूटते हुए कंधों पर पड़ता था। यह निश्चित था कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक एकछत्र राज्य व्यवस्था और सामंतवादी संस्कृति दोनों ही इतनी जर्जर हो गई थीं कि उन्हें चकनाचूर कर इतिहास के ध्वंसावशेषों में फेंक देने और उनके स्थान पर एक जनवादी राजतंत्र और सर्वहारा संस्कृति के निर्माण का प्रयत्न करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया था। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में इस नए राजतंत्र और नई संस्कृति का विकास हुआ।

अभ्यास के प्रश्न

१—सत्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय कला और संस्कृतियों के विकास के कारण समझाइए। पुनर्जागृति-युग की कला और संस्कृति में आप उसमें क्या भेद पाते हैं?

२—स्पेन, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस की कला, साहित्य और स्थापत्य की विशेषताएँ बताइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Barnes : The History of Western Civilization.
2. Mather, F. J. : Modern Painting.
3 Smith, P. : History of Modern Culture.

अध्याय ६ 23724

औद्योगिक क्रान्ति की देन

उन्नीसवीं शताब्दी में संसार में दो प्रबल आर्थिक शक्तियाँ काम कर रही थीं—प्रथम, वे आविष्कार जिन्होंने मनुष्य का प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित कर दिया और दूसरे, फ्रांस की राज्य क्रान्ति के फलस्वरूप आर्थिक स्वतंत्रता की भावना का उदय होना। इन दोनों शक्तियों ने मनुष्य के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को बिलकुल बदल दिया।

अन्वेषण की प्रवृत्ति का उदय

बात यह थी कि अठारहवीं शताब्दी तक यूरोप तथा संसार के अन्य देशों में सामन्तवादी प्रथा कायम थी। उद्योग धंधों में गिल्ड पद्धति का प्राबल्य था। सामन्तवादी प्रथा में मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का सर्वथा अभाव था। भूस्वामियों का अपने किसानों या असामियों पर पूरा अधिकार था। किसान को प्रति सप्ताह तीन या चार दिन अपने स्वामी की विस्तृत भूमि पर बिना वेतन के काम करना पड़ता था। उन्हें अपने स्वामी को समय समय पर भेंट देनी पड़ती थी। जब किसान अपनी पुत्री का विवाह करता तो उसे जुर्माना देना पड़ता। कोई किसान या उसका पुत्र अपने स्वामी की भूमि को छोड़कर अन्यत्र कार्य करने नहीं जा सकता था। यदि कोई गाँव को छोड़कर जाना चाहता, तो उसे बहुत बड़ी रकम हर्जाने के रूप में अपने स्वामी को देनी पड़ती। गाँव के निवासियों को अपने स्वामी की चक्की से ही आटा पिसवाना पड़ता, उसके मदिरालय से ही शराब लेनी पड़ती और उसकी बेकरी से ही रोटी लेनी पड़ती। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भूस्वामी उनके मालिक थे और वे उसके दास थे। इस दासता के बदले उनको भूमि खेती के लिए दी जाती थी और वे अपने स्वामी की सेवा करते थे। इस आर्थिक दासता के फलस्वरूप उनको सामाजिक तथा राजनैतिक दासता भी स्वीकार करनी पड़ती थी। उन दिनों नगर

तो बहुत कम होते थे, किन्तु जो भी नगर होते थे उनमें धंधों और व्यापार का नियंत्रण उनके संघों (गिल्डस) के द्वारा होता था।

व्यावसायिक संघों में भी बहुत बंधन था। प्रत्येक धंधे का संघ होता था। केवल उस संघ के सदस्यों को ही उस धंधे को करने का अधिकार था। सदस्यों के परिवार के लोगों को ही उस धंधे की शिक्षा दी जाती थी। प्रत्येक लड़के को सात वर्ष तक किसी कारीगर के पास धंधे की शिक्षा लेनी पड़ती थी। उस दशा में वह अपरैंटिस कहलाता था। उसके उपरान्त वह जरनीमैन अर्थात् मजदूर कारीगर बनता था। उस दशा में उसे अपने स्वामी कारीगर के कारखाने में काम करना पड़ता था और उसे संघ द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। वह स्वतंत्र रूप से अपना कारबार स्थापित नहीं कर सकता था। जब संघ के नेता अर्थात् पंचायत उससे प्रसन्न हो, और वह कोई विशेष कारीगरी की वस्तु उपस्थित करे तो उसको स्वतंत्र कारीगर स्वीकार किया जाता था। उनको एक निश्चित प्रकार की वस्तु ही बनानी पड़ती थी। संघ उनके धंधे, रहन-सहन, विवाह, पूजा, पाठ, सभी का कठोरतापूर्वक नियंत्रण करता था। इसी प्रकार व्यापारियों के संघ थे, जो उनके व्यापार, रहन-सहन इत्यादि का नियंत्रण करते थे।

कहने का तात्पर्य यह है उस समय कोई आर्थिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति दास की भाँति जीवन व्यतीत करता था। बहुत से देशों में तो दास प्रथा ही स्थापित थी।

जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता का इतना अभाव था, समाज का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ढाँचा, परम्परा और रूढ़िवादिता पर आश्रित था, उस समय कोई वैज्ञानिक आविष्कार अथवा औद्योगिक क्रान्ति नहीं हो सकती थी।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैंड में अभूतपूर्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उदय हुआ। बात यह थी कि इंग्लैण्ड में "काली मृत्यु" (ब्लैक डैथ) नामक बीमारी के कारण लगभग आधी जनसंख्या नष्ट हो गई। भूमि को जोतने के लिए दास किसानों का टोटा हो गया। प्रत्येक भू-स्वामी उनको अपने यहाँ रखने के लिए लालायित होने लगा। यद्यपि भू-स्वामी का अपने किसान पर कानूनी अधिकार था,

किन्तु अब किसान को अपने मूल्य का पता चल गया था। वह जब गाँव से भागकर जाता तो दूसरा भूस्वामी उसको अधिक उदार शर्तों पर रखने के लिए लालायित रहता था। यह उसकी कानून से भी रक्षा करता था। उधर शहरों में भी इन व्यापारादिक संघों तथा व्यापारिक संघों का प्रभाव और अधिकार कम हो गया और जरनीमैन शहरों को छोड़कर स्वतंत्रतापूर्वक अपना कारबार करने लगे।

ब्रिटेन में आर्थिक स्वतन्त्रता का युग आरम्भ हो गया। उधर ब्रिटेन का विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया था। उसके उपनिवेश उसके व्यापार के लिए विस्तृत बाजार बन गए। इस विस्तृत बाजार को अपने हाथ में तभी रक्खा जा सकता था, जबकि ब्रिटेन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हो, *व्यापार, व्यवसाय तथा खेती में बंधन न हों।* अतएव ब्रिटेन की परिस्थिति ने वहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विकास किया। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की स्थापना, विस्तृत बाजार और ब्रिटेन का बढ़ता हुआ विदेशी बाजार यह कुछ ऐसे कारण थे कि जिनने ब्रिटेन को विवश कर दिया कि वह वैज्ञानिक आविष्कार करे, तथा यन्त्रों का निर्माण करे कि जिससे उत्पादन कार्य में श्रम की बचत की जा सके। इसके अतिरिक्त उपनिवेशों के व्यापार से ब्रिटेन को जो लाभ होता था उससे ब्रिटेन में पूँजी का प्रादुर्भाव हुआ और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई। चार्ल्स प्रथम के वध के उपरान्त ब्रिटेन में और भी अधिक *व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना का उदय हुआ। अब प्रत्येक व्यक्ति* आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र था। वह जहाँ भी जाकर बसना चाहे बस सकता था, वह जिस धंधे या कारबार को करना चाहे कर सकता था। प्रत्येक व्यक्ति व्यापार करने में स्वतंत्र था। इस स्वतंत्रता का परिणाम यह हुआ कि लोगों में आत्मविश्वास, नवीनता को स्वीकार करने की भावना तथा वैज्ञानिक अनुसंधान की भावना का उदय हुआ और औद्योगिक क्रान्ति सफल हो सकी।

ब्रिटेन में जहाँ व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा विचार-क्रान्ति का उदय क्रमशः परिस्थितिवश हुआ, वहाँ फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने यूरोप में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को तेजी से जाग्रत किया। जहाँ-जहाँ फ्रेंच सेनायें गईं वहाँ उन्होंने व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को स्थापित करने का प्रयत्न

किया। इन दोनों कारणों से यूरोप में अभूतपूर्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उदय हुआ। जहाँ भी दास प्रथा स्थापित थी, समाप्त करदी गई। उस समय विचार-क्रान्ति, अन्वेषण और वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो उठी। यही कारण था कि उस समय प्रत्येक देश मे एक विलक्षण हलचल प्रकट हुई।

इंग्लैण्ड तथा अन्य योरोपीय देशों के पर्यटक नये देशों की खोज में निकल पड़े। इसी समय नये महादेशों का पता लगाया गया। विदेशी बाजार तेजी से बढ़ा। प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई नवीन चीज का अनुसंधान करने में लगा हुआ था। यह बात थी कि आर्थिक दासता का अन्त होने पर तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के स्थापित होने पर व्यक्तियों में नवीन स्फूर्ति और नव आकांक्षा का उदय हुआ और उनमें साहसिकता तथा वैज्ञानिक अन्वेषण का अभूतपूर्व उदय हुआ।

इस वैज्ञानिक अन्वेषण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही नये-नये आविष्कार हुए और औद्योगिक क्रान्ति हुई। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो महान् आर्थिक परिवर्तन हुए, वे तब तक सम्भव नहीं थे जब तक कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अभाव था।

अभ्यास के प्रश्न

१—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समाज का आर्थिक ढांचा किस प्रकार था? संक्षेप में लिखिए।

२—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रवृत्ति का क्या प्रभाव पड़ा?

अध्याय ७

औद्योगिक क्रान्ति की देन—औद्योगिक परिवर्तन

औद्योगिक क्रान्ति उन आर्थिक परिवर्तनों की शृंखला को कहते हैं जिनके कारण अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपीय समाज की कायापलट हो गई। औद्योगिक क्रान्ति शब्द कुछ सीमा तक भ्रामक है, क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है कि यह आर्थिक परिवर्तन एकाएक और बहुत शीघ्रता से हुए। परन्तु बात यह नहीं थी, वे आर्थिक परिवर्तन न तो अकस्मात हुए और न बहुत शीघ्रता से हुए। यदि देखा जावे तो औद्योगिक क्रान्ति की क्रिया डेढ़ सौ वर्षों में जाकर सम्पूर्ण हुई। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो परिवर्तन हुए, वे इतने गम्भीर और व्यापक थे कि उनको क्रान्तिकारी कहना अनुचित नहीं था।

औद्योगिक क्रान्ति क्या है

यदि देखा जावे तो औद्योगिक क्रान्ति का जन्म उत्पादन-कार्य में यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति (भाप) के उपयोग से हुआ। यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति के आविष्कार के फलस्वरूप उत्पादन का पुराना तरीका बेकार हो गया और उसका स्थान फैक्टरी पद्धति ने ले लिया।

औद्योगिक क्रान्ति यंत्र तथा यांत्रिक शक्ति की देन थी।

फैक्टरी पद्धति की स्थापना के पूर्व उत्पादन कार्य कारीगरी के द्वारा अपने घरों में अपने निज के औजारों द्वारा होता था। यह कारीगर अपने गाँव अथवा नगर के स्थानीय बँधे हुए ग्राहकों के लिए ही बहुधा माल तैयार करते थे। माल को बेचने की कोई बड़ी समस्या नहीं थी। उदाहरण के लिए गाँव का चमार अपने ग्राहक से आर्डर मिलने पर उसके लिए जूता तैयार कर देता था। गाँव का कुम्हार या बढ़ई गाँव की आवश्यकताओं को पूरा करता था। कहने का तात्पर्य यह है कि गृह-उद्योग धंधों की इस व्यवस्था में कारीगर उत्पादन कार्य स्थानीय माँग

को ध्यान मे रखकर ही करता था, अत विक्री की समस्या जटिल नहीं थी, वह अत्यन्त सरल थी। कुटीर धंधे मे कारीगर औजारों से स्वयं सारी क्रियाएँ करता था, अपनी सहायता के लिए वह अपने घर के सदस्यों को अथवा एक दो शिष्यों को अवश्य रखता था, परन्तु उसको समस्त क्रियाएँ करनी पड़ती थीं। उत्पादन के उस तरीके में श्रम-विभाजन (Division of Labour) अविकसित दशा में था और इतना दुरुह नहीं था जैसा कि आज है। औजार थोड़े और सस्ते होते थे, इस कारण प्रत्येक साधारण कारीगर उनको खरीद सकता था और स्वतन्त्र कारीगर की हैसियत से अपना धंधा कर सकता था। बहुधा स्थानीय माँग के लिए ही उत्पादन किया जाता था। माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की समस्या उपस्थित नहीं होती थी। हाँ, केवल मेलों या बाजारों में थोड़ी बिक्री होती थी जिसके लिए समीपवर्ती गावों से कारीगर माल लाते थे। यातायात की समस्या भी उस समय गम्भीर नहीं थी। कारीगर को अधिक पूँजी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, क्योंकि उसके औजार सस्ते और कम मूल्यवान होते थे, फिर उसे कच्चा माल बड़ी मात्रा मे भरकर नहीं रखना पड़ता था। जैसे ही ग्राहक की माँग आई, वह कच्चा माल लेकर उसकी वस्तु को तैयार कर देता था। कुटीर धंधे की अवस्था मे अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं थी। बहुधा कारीगर उतनी पूँजी को स्वयं ही जुटा लेता था, अन्यथा गाँव मे ही उसको उतनी पूँजी मिल जाती थी। उत्पादन के अतिरिक्त उसे माल की बिक्री तथा कच्चा माल लेने के लिए साख की बिलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती थी। अतएव आज की भाँति उत्पादकों को साख पर निर्भर नहीं रहना पड़ता था और न बैंकों का इतना उस समय महत्त्व ही था।

कुटीर धधों की व्यवस्था मे मजदूरों संबंधी समस्याएँ नहीं के बराबर थीं। अधिकतर तो कारीगर स्वयं तथा अपने
परिवार के सदस्यों की सहायता से ही कार्य करता कुटीर धधो मे मजदूर
था। वह बहुधा मजदूर नहीं रखता था। मजदूरों के समस्या उपस्थित
शोषण, उनके वेतन, उनके रहने की समस्या नही थी
उपस्थित ही नहीं होती थी। परन्तु यदि कारीगर
उस धंधे की शिक्षा देने के लिए एक या दो मजदूर शिष्यों को रखता भी

था, तो भी मजदूरों की कोई समस्या नहीं उठती थी। बहुधा वह मजदूर शिष्य कारीगर के किसी मित्र या सम्बन्धी का लड़का होता था, अथवा वह उसी गाँव का रहनेवाला होता था, अत: कारीगर उसके साथ बुरा व्यवहार नहीं कर सकता था और न उसका शोषण कर सकता था। शिष्य मजदूर के लिए रहने की समस्या उठती ही नहीं थी, क्योंकि वह अपने घर में रहता था अथवा कारीगर के घर में उसके साथ रहता था। कारीगर उससे अत्यधिक काम नहीं ले सकता था क्योंकि कारीगर स्वयं मजदूर शिष्य के साथ काम करता था। फिर काम के घंटे सूर्य की रोशनी द्वारा निर्धारित होते थे। उस समय बिजली नहीं थी कि जिसके परिणाम स्वरूप रात्रि में भी कार्य किया जा सके। कारीगर बिखरे हुए भिन्न भिन्न गाँवों में रहते थे और शिष्य मजदूर भी बहुत बिखरे हुए थे। अतएव उस समय मजदूर-संगठन करने की न तो आवश्यकता थी और न सुविधा ही थी।

अधिकतर स्थानीय माँग के लिए ही उत्पादन होता था अतएव बिक्री की समस्या जटिल नहीं थी। माल को बेचने, बाहर से माल को मगाँने की इतनी आवश्यकता नहीं पड़ती थी अतएव

उत्पादन स्थानीय माँग के लिए होता था

बाजार अधिकतर स्थानीय ही होते थे। केवल कुछ प्रसिद्ध मेलों में दूर दूर से मूल्यवान् सामान बिकने आता था, देश के अन्तर्गत भी व्यापार का अधिक विस्तार नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो केवल नाम मात्र का ही था। केवल मूल्यवान् धातुओं, रेशमी तथा अन्य बहुमूल्य वस्त्रों तथा अन्य मूल्यवान कारीगरी की चीजों तक ही उस समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सीमित था। गाँव तक ही बाजार की सीमा थी और अधिकांश वस्तुएँ स्थानीय माँग के लिए ही उत्पन्न की जाती थीं।

ऊपर हमने मध्य युग में उद्योग धंधों का जो चित्र उपस्थित किया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यवस्था में

उत्पादन में यंत्र और यान्त्रिक शक्ति का उपयोग।

यंत्र और उत्पादन थोड़ी मात्रा में होता था और उत्पादन क्रिया सरल थी। आज जो आर्थिक समस्याएँ समाज के सामने उपस्थित हैं, वे उस समय नहीं थीं। अब हम उन क्रान्तिकारी परिवर्तनों का उल्लेख करेंगे जो कि उत्पादन कार्य में यंत्र तथा यान्त्रिक शक्ति के उपयोग से उत्पन्न हुए।

उत्पादन में यंत्र के उपयोग के सम्बन्ध मे एक बात समझ लेने की है। यंत्र और औजार में एक बड़ा भेद है। औजार को मनुष्य अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा सचालित करता है और वह सादा होता है। परंतु यंत्र मनुष्य द्वारा सचालित नहीं होता, वरन् यान्त्रिक शक्ति द्वारा सचालित होता है। मशीन और औजार मे एक मौलिक भेद यह उत्पन्न हो जाता है कि मनुष्य औजार के द्वारा मनमाने ढंग से कई प्रकार की क्रियाएँ कर सकता है; परन्तु यंत्र के द्वारा केवल एक सूक्ष्म क्रिया ही की जा सकती है। उदाहरण के लिए एक चाकू से किसी वस्तु को हम काट भी सकते हैं और छील भी सकते हैं, किन्तु काटनेवाली मशीन केवल वस्तु को काटेगी, छील नहीं सकती। एक मशीन जिसका कार्य किसी वस्तु मे छेद करना है, वह उसमे केवल छेद करती रहेगी और दूसरा कार्य नहीं कर सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि यंत्र या मशीन किसी ऐसी सूक्ष्म क्रिया को ही कर सकते हैं जो केवल एक हरकत मात्र हो। जिस क्रिया मे कई हरकतें होती हों, वह मशीन या यन्त्र नहीं कर सकता। जब तक कि श्रम विभाजन इतना सूक्ष्म न हो जावे कि वह छोटी छोटी सूक्ष्म उपक्रिया मे बाँटा जा सके, तब तक उसको करने के लिए मशीन का आविष्कार नहीं किया जा सकता। जब कि सूक्ष्म श्रम विभाजन के द्वारा प्रत्येक क्रिया को छोटी छोटी सूक्ष्म उपक्रिया मे बाँट दिया जाता है, तब प्रत्येक उपक्रिया अत्यन्त सरल और आसान हो जाती है। वास्तव में वह इतनी सरल हो जाती है कि उसको करने के लिए एक मशीन का आविष्कार किया जा सकता है। मशीन की विशेषता यह है कि वह एक ही सूक्ष्म क्रिया कर सकती है। मनुष्य अपने हाथ को घुमा-फिराकर सैकड़ों क्रियाएँ कर सकता है। उदाहरण के लिए एक बोरिंग मशीन केवल छेद कर सकती है, वह लकड़ी पर रंदा नहीं कर सकती। जब श्रम-विभाजन सूक्ष्म हो जाता है, तब एक क्रिया अत्यन्त सरल और सामान्य सूक्ष्म क्रियाओं मे बँट जाती है, उस समय उसको करने के लिए कोई भी कुशाग्र बुद्धि कारीगर मशीन का आविष्कार कर सकता है। इस प्रकार श्रम विभाजन के फलस्वरूप मशीनों का आविष्कार होता है और मशीनो के आविष्कार के फलस्वरूप श्रम विभाजन और

श्रम-विभाजन का जटिल होना और बड़ी मात्रा का उत्पादन।

अधिक सूक्ष्म हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन की आश्चर्यजनक गति से वृद्धि होती है और लागत व्यय बहुत कम हो जाता है।

श्रम-विभाजन तथा यन्त्रों के उपयोग के फलस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन अनिवार्य हो जाता है। यह सम्भव नहीं है कि कोई उत्पादन में यन्त्रों का भी उपयोग करे और छोटी मात्रा में उत्पादन करे। यन्त्रों द्वारा छोटी मात्रा का उत्पादन कभी लाभदायक नहीं हो सकता। कल्पना कीजिए कि कोई एक यन्त्र सचालित कर्घा (पावर लूम) दिन में १५० गज कपड़ा तैयार करता है और एक हाथकर्घा पाँच गज कपड़ा तैयार करता है। अब यदि एक जुलाहा केवल १५ गज का एक थान प्रतिदिन तैयार करना चाहता है और वह पावर लूम का उपयोग करता है तो पावरलूम पर एक घन्टे में पन्द्रह गज कपड़ा तैयार हो जावेगा और शेष समय पावरलूम बेकार रहेगा। यन्त्र अधिक मूल्यवान् होता है उसमें बहुत अधिक पूँजी फँसानी पड़ती है। उस पूँजी पर जो सूद और घिसावट का व्यय आता है, वह तभी निकल सकता है जब कि मशीन बराबर काम करे और अधिक मात्रा में उत्पादन हो। यही नहीं कि छोटी मात्रा के उत्पादन से यन्त्र का पूरा उपयोग नहीं हो सकता और उससे लागत व्यय बहुत अधिक बढ़ जावेगा, परन्तु कुछ तो मशीनों को भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि बहुत सी क्रियाएँ ऐसी होती हैं कि वे यन्त्रों द्वारा तभी हो सकती हैं जब कि वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा में हों। उदाहरण के लिए प्रत्येक सूती वस्त्र के कारखाने के साथ ब्लीचिंग और डाइंग विभाग होता है, जहाँ कपड़े को फिनिश किया जाता है। परन्तु यदि कोई कारखाना दिन में दो चार थान कपड़ा ही तैयार किया करे तो ब्लीचिंग और डाइंग विभाग की रचना असम्भव हो जावेगा। सचालन शक्ति (भाप) का भी उपयोग तभी हो सकता है जब कि यथेष्ट यन्त्र चलाये जावें, नहीं तो वह बहुत खर्चीली प्रमाणित होगी। स्टीम इंजन से भाप उत्पन्न करके यन्त्र तभी चलाये जा सकते हैं जब कि यथेष्ट यन्त्र भाप द्वारा सचालित हों। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि यन्त्र का उपयोग तभी होता है, जब कि क्रियाएँ अत्यन्त सूक्ष्म और सरल हो जाती हैं और श्रम-विभाजन अपनी चरम सीमा

यन्त्र के उपयोग का परिणाम बड़ी मात्रा का उत्पादन

पर पहुँच जाता है। उदाहरण के लिए किसी भी धंधे को ले लीजिए, जब वह सैकड़ों सूक्ष्म-उपक्रियाओं में बँट जाता है तभी मशीन का उपयोग किया जा सकता है। केवल एक आलपीन बनाने में ही अस्सी से अधिक उपक्रियाएँ होती हैं। अब यदि उन अस्सी मशीनों के लिए केवल थोड़ी सी आलपीनों को बनाने का काम हो, तो अधिकांश समय वे मशीनें और उन पर काम करनेवाले आदमी बेकार रहेंगे। यदि उत्पादन में मशीनों का उपयोग करना हो, तो बड़ी मात्रा का उत्पादन करना आवश्यक हो जाता है। केवल मशीनों के पूर्ण उपयोग तथा भाप उत्पन्न करने के व्यय के कारण ही बड़ी मात्रा का उत्पादन आवश्यक नहीं हो जाता, वरन् व्यवस्था तथा बिक्री का प्रबंध करने में जो व्यय होता है, उसकी दृष्टि से भी बड़ी मात्रा का उत्पादन आवश्यक हो जाता है। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि यंत्रों तथा यंत्र-संचालित शक्ति के उपयोग के परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन अनिवार्य हो जाता है और कुटीर धंधों का स्थान फैक्टरी-पद्धति ले लेती है।

बड़ी मात्रा के उत्पादन तथा फैक्टरी पद्धति की स्थापना से समाज का सारा आर्थिक ढाँचा ही बदल गया, क्योंकि कुटीर धन्धों के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी, उससे बड़ी मात्रा के उत्पादन में सर्वथा विपरीत बातों की आवश्यकता होने लगी। बड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए सबसे पहली आवश्यकता पूँजी की है। कुटीर धंधों की अवस्था में प्रत्येक कारीगर स्वतंत्र रूप से अपना व्यवसाय कर सकता है परन्तु फैक्टरी स्थापित करने के लिए अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। कारीगर किसी भी दशा में इतनी पूँजी एकत्रित नहीं कर सकता कि वह एक कारखाना स्थापित कर सके। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप कारीगर मजदूर की श्रेणी में पहुँच गया और व्यापारी तथा सामन्त वर्ग में से एक पूँजीवादी वर्ग का उदय हुआ जो कि आवश्यक पूँजी एकत्रित करके कारखाने स्थापित करता था और कारीगरों को मजदूर रखकर उत्पादन-कार्य करने लगा। आरम्भ में सामन्त वर्ग तथा बड़े व्यापारियों ने ही इन कारखानों को स्थापित किया, परन्तु बाद को इन कारखानों के लाभ से क्रमशः वह प्रबल पूँजीपति वर्ग स्थापित हो गया, जिसने आर्थिक यंत्र पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। फैक्टरी प्रणाली के स्थापित होते ही

फैक्टरी पद्धति

स्वतंत्र कारीगर वर्ग लुप्त हो गया, वह मजदूरों की श्रेणी में पहुँच गया और उसकी स्थिति दयनीय हो गई।

मजदूर-वर्ग का उदय

आज एक कारखाने का मजदूर यह कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि वह कभी एक कारखाने का स्वामी बन सकता है। औद्योगिक कार्य में दो वर्गों का उदय हुआ—एक मजदूर वर्ग और दूसरा पूँजीपति वर्ग। इन दोनों वर्गों के परस्पर स्वार्थ भिन्न हैं, अत उनमें संघर्ष उपस्थित हो जाता है। मजदूर अधिक मजदूरी, अधिक अवकाश, रहने की सुविधा, लाभ में हिस्सा और अच्छा व्यवहार चाहता है, तो पूँजीपति का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। परस्पर विरोधी स्वार्थ होने के कारण मजदूर और पूँजीपतियों में संघर्ष होने की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं और इसका समाधान करना आवश्यक हो गया है।

औद्योगिक-केन्द्रों में मकानों का समस्या

फैक्टरी पद्धति के उदय के कारण एक समस्या और भी उपस्थित हुई, वह है औद्योगिक केन्द्रों में रहने की समस्या। कुटीर-उद्योग धंधे बिखरे हुए गाँवों में स्थापित थे। कारीगर और उनके शिष्य अपने घरों में रहकर ही कार्य करते थे, परन्तु जब भीमकाय कारखाने और पुतलीघर स्थापित हुए तो कारीगरों को अपने कुटीर धंधों को छोड़कर इन कारखानों में मजदूरी करने के लिए आना पड़ा। लाखों की संख्या में मजदूर एक स्थान पर एकत्रित हो गए। इसके कारण औद्योगिक केन्द्रों में मकानों की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया। औद्योगिक-विकास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक धंधे के कारखाने एक स्थान पर केन्द्रित हो गए। उदाहरण के लिए बम्बई और अहमदाबाद में सूती मिलें स्थापित हो गईं। यह धंधों के स्थानीयकरण (Localisation of Industries) अथवा प्रादेशिक श्रम विभाजन (Territorial Division of Labour) के कारण हुआ। किन्तु जब एक ही स्थान पर बहुत बड़ी संख्या में कारखाने स्थापित हो गए और लाखों मजदूर उनमें काम करने लगे, तो रहने के मकानों की समस्या ने भयंकर रूप धारण कर लिया। आज बड़े औद्योगिक

केन्द्रों में जो रहने के लिए मकानों की समस्या ने भयंकर रूप धारण कर लिया है, वह औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम है।

फैक्टरियों में यन्त्रों पर मजदूर कार्य करते हैं और यंत्र यान्त्रिक शक्ति द्वारा सचालित होते हैं। यदि कार्य के घण्टे निर्धारित न कर दिए जावे तो मिल मालिक मजदूरों को अत्यधिक कार्य करने पर विवश कर सकते हैं। कारण यह है कि कुटीर धंधे में मालिक कारीगर स्वयं अन्य शिष्यों या मजदूरों के साथ कार्य करता था, किन्तु फैक्टरी के मालिक फैक्टरी से सैकड़ों मील दूर रहते हैं, वे कभी मजदूरों के सम्पर्क में नहीं आते। मजदूरों से काम लेने का कार्य मिल-मालिकों के वेतनभोगी मैनेजर, इंजीनियर तथा विभागीय अध्यक्ष करते हैं। स्वभावतः ये अपनी कार्य दक्षता दिखलाने के लिए मजदूरों से अधिक से अधिक काम लेना चाहते हैं और उनको कम वेतन तथा कम सुविधाएँ देना पसन्द करते हैं।

कार्य के घटा का निश्चित करने की समस्या

केवल यही बात नहीं है कि आधुनिक कारखाना में मिल मालिक अधिक लम्बे समय तक काम ले सकते हैं वरन् वे यदि चाहें तो कार्य की गति को बहुत तेज कर सकते हैं जिससे कि मजदूर को बहुत जल्दी ही थकावट हो जा सकती है। कारण यह है कि जब कुटीर धन्धे में कारीगर अपने औजारों से कार्य करता था तो कार्य की गति को वह स्वयं निर्धारित करता था, किन्तु आज जब मजदूर यन्त्रों पर कार्य करता है और वे यन्त्र यान्त्रिक शक्ति से सचालित होते हैं, तो मिल मालिक बहुत कुछ सीमा तक कार्य की गति को निर्धारित कर सकता है।

आधुनिक कारखानों में यन्त्रों द्वारा कार्य होने की दशा में मजदूरों की जोखिम भी अधिक बढ़ गई है। चाहे जितनी सावधानी बरती जावे फिर भी कार्य करते समय प्रतिवर्ष कारखानों में कुछ मजदूरों को गम्भीर चोटें लग ही जाती हैं और कुछ को अपने प्राण गँवाने पड़ते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप मजदूरों से सम्बन्धित बहुत सी समस्याएँ उठ खड़ी हुई जिनको हल करना आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए औद्योगिक केन्द्रों में

मजदूरों के लिए अच्छे हवादार मकान तैयार करने, फैक्टरियों में काम के घण्टे निर्धारित करने, फैक्टरियाँ ऐसी हों जिसमें कि मजदूरों को अधिक कष्ट न हो, तथा चोट इत्यादि लगने पर हर्जाने की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया है। यही कारण है कि हम आये दिन देखते हैं कि सरकारें मजदूरों के हितों की रक्षा करने के लिए एक के बाद दूसरे कानून बनाती चली जा रही हैं।

मजदूर आन्दोलन की आवश्यकता

औद्योगिक-क्रान्ति के फलस्वरूप मालिक तथा मजदूर के पारस्परिक स्वार्थों में इतना मौलिक भेद हो गया कि मजदूरों के लिए अपने हितों की रक्षा करने के लिए अपने को संगठित करने की आवश्यकता हुई और आधुनिक मजदूर आन्दोलन और मजदूर-संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आरम्भ में बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना के लिए पूँजी सामन्त वर्ग तथा व्यापारी वर्ग ने दी, किन्तु इन कारखानों के लाभ से फिर तेजी से पूँजी एकत्रित होने लगी और एक पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। कारखानों के मालिकों ने अपने कारखानों के लाभ को नये कारखानों की स्थापना में लगाया। इस प्रकार उनका लाभ बराबर बढ़ता ही गया। वे लोग इस निरन्तर बढ़ते हुए लाभ को नये कारखानों में लगाते गए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक देश में कुछ थोड़े-से व्यक्तियों का धन्धों पर स्वामित्व स्थापित हो गया और समाज में भयंकर आर्थिक विषमता का उदय हो गया। आज बहुत से देशों में स्थिति यह है कि देश के समस्त धन का बहुत बड़ा भाग थोड़े से व्यक्तियों के पास है और शेष जनसंख्या निर्धनता का जीवन व्यतीत करती है। इन पूँजीपतियों का समाज में क्रमशः प्रभाव भी बहुत अधिक बढ़ गया। वे राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देकर उन पर प्रभाव डालते हैं, पत्रों को अपने हाथ में रखकर जनमत पर भी प्रभाव डालते हैं। कतिपय पूँजीपतियों का लगातार आर्थिक प्रभाव बढ़ने के कारण तथा उनके पास अधिकाधिक पूँजी एकत्रित होने के कारण उन्होंने

पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना

धंधों पर एकाधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और आज हम देखते हैं कि बहुधा धंधा में एकाधिपत्य (monopoly) या ट्रस्ट स्थापित हो चुके हैं। इस प्रकार जो भी थोड़ी बहुत प्रतिस्पर्द्धा धंधों में विद्यमान थी, वह भी समाप्त हो गई और इन धन-कुबेर व्यवसायियों की आर्थिक शक्ति बहुत बढ़ गई। आज अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य औद्योगिक राष्ट्रों में हम देखते हैं कि लगभग प्रत्येक धंधे में ट्रस्ट और एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित हो चुके हैं।

खरीद-बिक्री की व्यवस्था

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब बड़ी मात्रा का उत्पादन होने लगा तो उसकी बिक्री की व्यवस्था तथा कारखानों के लिए कच्चे माल की खरीदारी की समस्या भी उपस्थित हुई। कुटीर धंधे में न तो कच्चे माल की खरीदारी की कोई समस्या थी और न बिक्री की ही कोई समस्या थी। परन्तु बड़े-बड़े कारखाने अनन्त राशि में कच्चे माल की खपत करते हैं और बहुत बड़ी मात्रा में उत्पादन करते हैं। अतएव सबसे पहले संगठित बाजारों की आवश्यकता हुई। आज जो हम कॉटन ऐक्सचेंज या अन्य सगठित बाजार देखते हैं तथा उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच में एक मध्यस्थ व्यापारी वर्ग देखते हैं, यह बड़ी मात्रा के उत्पादन का ही परिणाम है। जब उत्पादन बड़ी मात्रा में होने लगा और प्रादेशिक श्रम-विभाजन के कारण भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न धंधे केन्द्रित हो गए, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी बढ़ा।

गमनागमन के साधनों की आवश्यकता

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब बहुत बड़ी राशि में कच्चे पदार्थों को औद्योगिक केन्द्रों तक लाने तथा तैयार माल को बेचने की समस्या उपस्थित हुई, तो यह आवश्यक हो गया कि यातायात के साधनों की उन्नति हो। स्टीम इंजन के उपयोग से जो रेलों का तथा स्टीमशिप का प्रादुर्भाव हुआ, उससे ही औद्योगिक क्रान्ति तथा बड़ी मात्रा का उत्पादन सफल हुआ। यदि यातायात के साधनों की यंत्रों के आविष्कार के साथ-साथ उन्नति न होती, तो औद्योगिक क्रान्ति सम्भव ही नहीं होती।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बड़ी मात्रा के उत्पादन के फल-स्वरूप अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। परन्तु बढ़े हुए व्यापार तथा बड़े कारखानों के लिए चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए थोड़े समय के लिए साख की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। फलस्वरूप साख की आवश्यकता बहुत अधिक बढ़ गई। आज तो साख का इतना अधिक महत्त्व है कि उसके बिना व्यापार और व्यवसाय का चलना असम्भव है। यही कारण है कि औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त बैंकों का तेज़ी से विस्तार हुआ है।

साख तथा बैंकिंग की आवश्यकता

कुटीर धंधों में व्यवस्था की कोई विशेष समस्या नहीं थी। कारीगर उत्पादन तथा बिक्री इत्यादि की स्वयं व्यवस्था कर लेता था; परन्तु जब बड़ी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ और बड़े बड़े कारखाने स्थापित होने लगे, तो पूँजी की इतनी अधिक आवश्यकता हुई और धंधे की जोखिम इतनी अधिक बढ़ गई कि एक व्यक्ति के लिए उतनी पूँजी एकत्रित करना तथा उस जोखिम को उठाना सम्भव नहीं रहा। अतएव परिमित दायित्वशाली मिश्रित पूँजी की कंपनियाँ (Joint Stock Companies) की स्थापना हुई। आज यही व्यवस्था औद्योगिक जगत् में सर्व प्रचलित है।

व्यवस्था की समस्या

कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समाज के आर्थिक ढाँचे में एक महान् क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया। प्राचीन सरल और सीधी आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर एक अत्यन्त पेचीदी और जटिल आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि धनोत्पत्ति बहुत अधिक बढ़ गई और रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊँचा हो गया।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप प्रादेशिक श्रम-विभाजन का उदय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत अधिक बढ़ गया। उदाहरण के लिए लंकाशायर तथा मेन्चेस्टर शायर की सूती मिलें अनन्त राशि में सूती कपड़ा बनाकर गरम देशों को भेजने लगीं। इसी प्रकार अमेरिका

और ब्रिटेन के लोहे और स्टील के कारखाने अधिकाश विदेशी माँग को पूरा करते हैं। यदि किसी कारणवश विदेशों में इन वस्तुओं की मॉग कम हो जावे, तो इन देशों मे बेकारी फैल जाती है।

जब भारत ब्रिटेन से बहुत अधिक राशि मे सूती वस्त्र मँगाता था और भारत में फसल खराब होने से किसान कम कपडा खरीदता था और विदेशी वस्तु-बहिष्कार के कारण विदेशी वस्त्र की माँग कम हो जाती थी, तो लकाशायर और मैंचेस्टरशायर मे भयकर बेकारी फैल जाती थी। इस बेकारी पर न तो मजदूर का ही बस है और न मिल मालिक का। समय समय पर इस प्रकार बाहरी कारणों से बेकारी फैल जाना आधुनिक फैक्टरी पद्धति का अनिवार्य परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व स्थानीय मॉग के अनुरूप ही कारीगर उत्पादन करते थे, इस कारण बाहरी कारणों से बेकारी फैलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यह आये दिन की एक गम्भीर समस्या बन गई है। प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र को इस समस्या को हल करने के लिए आज प्रयत्नशील होना पड़ता है। आज प्रत्येक देश की सरकार अपनी औद्योगिक, व्यापारिक तथा मुद्रा-सम्बन्धी नीति इस दृष्टि से निर्धारित करती है कि जिससे देश को बेकारी से बचाया जा सके। यही नहीं, प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र मे बेकारी का बीमा इत्यादि सुविधाएँ उपलब्ध की गई हैं।

(बेकारी की समस्या)

अभ्यास के प्रश्न

१—औद्योगिक क्रान्ति से आपका क्या तात्पर्य है? विस्तार पूर्वक लिखिए।

२—"औद्योगिक क्रान्ति यान्त्रिक-शक्ति और यन्त्रों के आविष्कार का परिणाम है" इस वक्तव्य की व्याख्या कीजिए।

३—यन्त्र तथा यान्त्रिक शक्ति के उपयोग से बडी मात्रा के उत्पादन की आवश्यकता क्यो पडी समझाइए।

४—औद्योगिक क्रांति से समाज के ढाँचे म क्या परिवर्तन हुआ?

५—वर्तमान औद्योगिक-व्यवस्था मे औद्योगिक बेकारी का उदय होना क्यो अवश्यम्भावी है?

६—फैक्टरी व्यवस्था का मजदूरो की स्थिति पर क्या प्रभाव पडा?

विविध अध्ययन के लिए

1. Industrial and Commercial Revolution by L. C A. Knowles.
2 Ogg and Sharp Economic Development of Modern Europe

अध्याय ८

व्यापारिक क्रान्ति

मानव जाति का आर्थिक विकास तीन स्थितियों में से होकर निकला है। आरम्भ में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं आर्थिक स्वावलम्बन का प्रयत्न करता था। यह स्थिति अत्यन्त प्राचीन काल में उपस्थित थी। तदुपरान्त स्थानीय आर्थिक स्वावलम्बन की दशा में समीपवर्त्ती गाँवों तथा नगरों के समीपवर्त्ती प्रदेश तक ही व्यापार परिमित था। कारण यह था कि यातायात के साधन उस समय उन्नत नहीं थे। तदुपरान्त व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होकर समस्त देश हो गया और यातायात के साधनों की उन्नति होने के फलस्वरूप आज सारी पृथ्वी एक आर्थिक इकाई बन गई है और प्रत्येक देश एक दूसरे से व्यापार करता है। यह व्यापारिक क्रान्ति यान्त्रिक-यातायात के साधनों की देन है।

आरम्भ में मनुष्य पशुओं की पीठपर लादकर या नावों द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता था। उस स्थिति में बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं हो सकता था, केवल समीपवर्त्ती स्थानों में व्यापारिक आदान प्रदान होता था। हाँ, जो स्थान नदियों के किनारे थे, उनका व्यापारिक क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत होता था। यों हवा के द्वारा चलनेवाले समुद्री जहाज भी मध्यकाल में चलते थे और उनके द्वारा एक देश का दूसरे देश से व्यापार होता था। परन्तु उस अन्तरदेशीय व्यापार में इतनी अधिक जोखिम थी और इतना अधिक समय लगता था कि केवल अत्यन्त बहुमूल्य पदार्थों का ही व्यापार सम्भव था।

यदि व्यापार इतने सकुचित क्षेत्र में ही सम्भव हो सकता और यातायात का व्यय पूर्वानुसार ही अधिक रहता, तो औद्योगिक क्रान्ति विफल हो जाती और बडी मात्रा का उत्पादन असम्भव हो जाता। किन्तु जैसे-जैसे उत्पादन के क्षेत्र में मनुष्य प्रगति करता गया, वैसे ही वैसे

उसने गमनागमन तथा संदेशवाहक साधनों को भी विकसित किया। व्यापारिक क्रान्ति यान्त्रिक यातायात तथा संदेशवाहक साधनों के द्वारा ही सम्भव हो सकी।

क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम ब्रिटेन में हुई अतएव *यातायात के साधनों में क्रान्ति की आवश्यकता भी सर्वप्रथम ब्रिटेन में ही उपस्थित हुई।* इससे पूर्व ब्रिटेन में सड़कों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उस समय ब्रिटेन में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना अत्यन्त कठिन था। पहियादार गाड़ियों को चलने में कठिनाई होती थी। सड़कों में गड्ढे होते थे और वर्षा के कारण दलदल बन जाते थे।

औद्योगिक क्रान्ति के आसपास ही पार्लियामेंट ने सड़कों को सुधरने तथा उनकी मरम्मत इत्यादि करने के लिए ४०० ऐक्ट बनाकर व्यक्तियों को सड़कों का ठेका दे दिया। ये ठेकेदार सड़कों को बनाने और उनकी मरम्मत करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति तथा सवारी से, जो उस सड़क का उपयोग करती थी, कर वसूल करते थे। परन्तु जब तक सड़क बनाने की कला का विकास न होता, तब तक सड़कों की उन्नति नहीं हो सकती थी। इसी समय कुछ सड़कों के निर्माताओं का उदय हुआ जिन्होंने सड़कों के बनाने में विशेष उन्नति की। इनमें मेटकाफ, टेलफोर्ड, ब्रिंडले, स्मटिन और रैनी इत्यादि मुख्य थे। इन्होंने सड़कों को बनाने की कला और विज्ञान का आविष्कार किया। बाद को मैकडामन ने सड़कों के ऊपरी धरातल को अधिक समतल और अच्छा बनाने की कला में विशेष सुधार किए। इन्हीं इंजीनियरों ने नौका संचालन के लिए नहरों का भी निर्माण किया। इस प्रकार ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की प्रारम्भिक दशा में सड़कों और नहरों की विशेष उन्नति हुई और तभी औद्योगिक क्रान्ति सफल हो सकी।

परन्तु केवल सड़कों और नहरों की उन्नति से ही औद्योगिक क्रान्ति पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकती थी। सड़कों और नहरों की उन्नति से बड़े उद्योग-धंधों का विकास भर हो सका, परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए रेलवे तथा भाप से चलनेवाले जहाजों की आवश्यकता थी। इनके बिना बड़ी मात्रा का उत्पादन बहुत अधिक नहीं बढ़ाया जा सकता था।

रेलवे तथा भाप द्वारा चालित समुद्री जहाजों के आविष्कार का श्रेय भी ब्रिटेन को ही था। रेलवे तथा भाप द्वारा चालित समुद्री जहाजों के आविष्कार से आर्थिक जगत् में एक नई शक्ति उत्पन्न हो गई। रेलवे तथा समुद्री जहाजों के आविष्कार के फलस्वरूप भारी माल को कम व्यय में बहुत दूर तक ले जाना सम्भव हो गया। यही नहीं, यातायात में तेजी, सुरक्षा, निश्चिन्तता, नियमितता तथा सस्तापन आ गया। यांत्रिक यातायात के फलस्वरूप पर्वतों की रुकावट भी दूर हो गई और उन बड़े प्रदेशों में जहाँ जल-मार्ग नहीं थे, गमनागमन आसान हो गया। यही नहीं, बाद में वायुयानों के आविष्कार से आकाश में गमनागमन के साधनों की सुविधा हो गई और वायुयानों द्वारा दूरी का प्रश्न हल हो गया।

इसका परिणाम क्रान्तिकारी हुआ। वस्तुओं और मनुष्यों की गतिशीलता बहुत अधिक बढ़ गई। व्यापार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया और बड़ी मात्रा के उद्योग-धन्धों का तेजी से विस्तार हुआ। यांत्रिक यातायात के फलस्वरूप केवल व्यापारिक क्रान्ति ही हुई हो, यही बात नहीं थी, वरन् राजनैतिक दृष्टि से बड़े बड़े राष्ट्रों और साम्राज्यों का विकास भी यांत्रिक यातायात के फलस्वरूप ही हुआ। उदाहरण के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका, रूस, जर्मनी जैसे प्रबल राष्ट्रों का उदय केवल रेलवे के कारण ही सम्भव हुआ और ब्रिटेन का साम्राज्य बहुत कुछ रेल तथा समुद्री जहाजों की उन्नति से ही सम्भव हो सका।

वस्तुओं की इस नवीन गतिशीलता के कारण व्यापार का क्षेत्र, व्यापारिक संगठन सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए। उत्पादन में विशेषीकरण के फलस्वरूप उद्योग-धन्धों का केन्द्रीयकरण अथवा स्थानीयकरण होने लगा। जिस देश में और जिस स्थान पर किसी धंधे विशेष के लिए विशेष सुविधाएँ थीं, वही धंधा उस स्थान पर केन्द्रित हो गया। प्रत्येक औद्योगिक केन्द्र और प्रत्येक देश में कुछ धंधों विशेष की स्थापना हुई और इस प्रकार व्यापार का क्षेत्र व्यापक हो गया। उदाहरण के लिए बम्बई की सूती वस्तु की मिलें केवल भारत के भिन्न-भिन्न राज्यों को ही वस्त्र नहीं देतीं, वरन् अफ्रीका तथा पूर्वीय द्वीपों में भी उनका कपड़ा जाता है। अतएव देश में बड़ी मात्रा में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के वितरण के लिए तथा विदेशों में माल भेजने के लिए नए

प्रकार से व्यापारिक संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े बड़े व्यापारिक केन्द्र स्थापित हुए और थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी देश के आन्तरिक व्यापार के लिए तथा आयात और निर्यात व्यापार करनेवाले व्यापारी विदेशी व्यापार के लिए आवश्यक हो गए।

बड़ी मात्रा के उत्पादन के फलस्वरूप बड़ी मात्रा की खरीद बिक्री की भी आवश्यकता पड़ने लगी। उदाहरण के लिए जब गृह-उद्योगों के द्वारा छोटी मात्रा का उत्पादन होता था, तो कच्चा माल थोड़ी मात्रा में कारीगर खरीदता था तथा स्थानीय माँग के उपयुक्त पक्का माल तैयार करता था। किन्तु अब एक औद्योगिक केन्द्र में सैकड़ों कारखाने एक ही वस्तु तैयार करते हैं, उनको अनन्त राशि में कच्चा माल चाहिए और वे अनन्त राशि में पक्का माल तैयार करते हैं। उनके लिए संगठित बाजारों की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि आज प्रत्येक वस्तु का हमें संगठित बाजार देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए सोने-चाँदी का बाजार, कपास का बाजार, जूट का बाजार, लोहे का बाजार शेयर बाजार आदि। इन बाजारों में इन वस्तुओं को खरीदने और बेचनेवाले इन वस्तुओं की खरीद बिक्री भी करते हैं और वहाँ सट्टा भी होता है।

परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन और बड़ी मात्रा के व्यापार के लिए उतनी ही बड़ी मात्रा में अर्थ की भी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि अधिक पूँजी एकत्रित करने तथा उस बड़ी जोखिम को बहुत से व्यक्तियों में बाँटने तथा उसे सीमित करने के उद्देश्य से परिमित दायित्व (Limited Liability) सिद्धान्त का आविष्कार हुआ और मिश्रित पूँजीवाली कम्पनी की स्थापना हुई। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनी व्यवस्था में जोखिम सीमित हो जाती है और सीमित जोखिम भी बहुत से लोगों में बँट जाती है। साथ ही अधिक पूँजी भी इकट्ठी हो जाती है। यही कारण है कि बड़ी मात्रा के उत्पादन तथा व्यापार के फलस्वरूप परिमित दायित्ववाली मिश्रित पूँजी की कम्पनी व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

परन्तु केवल इस व्यवस्था से ही पूँजी की समस्या का हल नहीं हो जाता। बड़ी मात्रा के उत्पादन में और बड़ी मात्रा के व्यापार में

बहुत बड़ी राशि में साख की आवश्यकता होती है, अतएव औद्योगिक क्रान्ति के बाद आधुनिक ढग के बैंकों की स्थापना आवश्यक हो गई।

साख की आवश्यकता इस कारण पड़ती है, क्योंकि जो व्यापारी तथा व्यवसायी कारबार करते हैं, उनके पास यथेष्ट पूँजी नहीं होती। यदि किसी दूकान में दूकानदार ने दस हजार निज की पूँजी लगाई है, तो उसकी दूकान में ३० या ४० हजार का माल होता है। इसी प्रकार एक व्यवसायी जितनी पूँजी एक कारखाने को खड़ा करने में लगाता है उससे कहीं अधिक साख बैंकों से लेकर वह कच्चा माल खरीदता है और मजदूरों को मजदूरी चुकाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कृषि, औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति के उपरान्त किसानों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को बहुत बड़ी राशि में साख की आवश्यकता होती है जिसके लिए बैंकों की आवश्यकता हुई।

पूर्व समय में जब खेती, गृह उद्योग धधे और व्यापार स्थानीय और छोटी मात्रा में होते थे, तो उनकी साख की आवश्यकता भी बहुत कम थी और यदि पड़ती भी थी तो वे स्थानीय व्यक्तियों से जो उनको और उनके कारबार से परिचित होते थे ऋण ले लेते थे। परन्तु आज यह सम्भव नहीं है।

साख के लिए आवश्यकता इस बात की है कि जो ऋण लेता है उसमें उधार देनेवालों का विश्वास हो। लेकिन यह विश्वास ऋण लेनेवाले की ईमानदारी, ऋण को चुकाने की योग्यता तथा जो जमानत वह देता है, उसके स्वरूप पर निर्भर है। किन्तु आज यह कार्य इतना पेचीदा है कि कोई व्यक्ति इसको नहीं कर सकता। फिर एक व्यक्ति जितना उधार दे सकता है वह इतना कम होता है कि आधुनिक व्यापार अथवा उद्योग धधे के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती। यदि देश की पूँजी को इकट्ठा करने तथा उधार लेनेवालों की साख की जाँच पड़ताल करने के लिए कोई उचित व्यवस्था न की जावे, तो इसका परिणाम यह होगा कि देश की बहुत सी पूँजी बेकार रहेगी। बैंक इस कार्य को करते हैं। एक ओर वे उन लोगों की बचत को डिपाजिट के रूप में आकर्षित करते हैं, जो अपनी आय का एक अंश बचाते हैं और दूसरी ओर उन व्यापारियों तथा व्यवसाइयों को साख देते हैं, जो उस साख का उत्पादन कार्य में उपयोग करते हैं।

आधुनिक बैंक केवल डिपाज़िट लेने और साख देने का ही कार्य नहीं करते हैं, वे हुण्डियों और बिलों को भुनाते हैं और इस प्रकार व्यापार को सहायता देते हैं। विदेशी मुद्रा को खरीदते और बेचते हैं, जिससे कि विदेशी व्यापार सम्भव हो सकता है। बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने का कार्य बहुत थोड़े कमीशन पर करते हैं। वे यात्रियों के लिए साख-पत्र (Letters of Credit) देते हैं।

बैंक के कार्य

इन कार्यों के अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहकों के लिए बहुत से कार्य करते हैं। उदाहरण के लिए उनके जेवर तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखना, ग्राहकों के सरकारी ऋण खरीदना, या कम्पनियों के हिस्से खरीदना, ग्राहकों के चेकों, बिलों या हुण्डियों का रुपया वसूल करना इत्यादि। इनके अतिरिक्त आधुनिक बैंक अन्य बहुत से कार्य करते हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आज बैंकों के बिना व्यापार सम्भव नहीं है।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बैंक साख देने का करते हैं। बैंक केवल उतना ही रुपया ऋण-स्वरूप नहीं देते, जितना कि उनको हिस्सा पूँजी या जमा (डिपाज़िट) से प्राप्त होता है, वरन् वह उससे दस गुना तक ऋण दे देते हैं, इसी को बैंकों द्वारा साख का निर्माण करना कहते हैं। इसका कारण यह है कि बैंकों को अनुभव से यह ज्ञात है कि जो लोग ऋण लेते हैं वे भी उसको बैंक में जमा कर देते हैं, वे तो केवल यह अधिकार चाहते हैं कि वे जब चाहें उतना रुपया बैंक से ले लें। परन्तु वे एक साथ सब रुपया निकालते नहीं हैं। अनुभव से बैंकों को यह ज्ञात हुआ है कि दस रुपया नकद रखकर सौ रुपये का ऋण दिया जा सकता है। इस प्रकार बैंक साख का विस्तार करते हैं।

जहाँ बैंकों से व्यापार में बहुत सुविधा हुई है और साख का बहुत विस्तार भी हुआ है, वहाँ यह भी आशंका उत्पन्न हो गई है कि बैंकों की असावधानी से तथा अत्यधिक साख का निर्माण कर देने से वे कहीं डूब न जावें और उनके फलस्वरूप व्यापार को धक्का न लगे। अतएव इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि उन पर नियन्त्रण रक्खा जावे और कितनी साख का निर्माण किया जावे, इस पर अंकुश रक्खा जावे। इस कार्य को

प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक करता है। भारत में रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंक का काम करता है।

केन्द्रीय बैंक

प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है, जो मुद्रा और साख का नियंत्रण करता है। केन्द्रीय बैंक को ही सरकार कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार देती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक का अनायास ही मुद्रा पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। साख का निर्माण बैंक करते हैं, अतएव बैंकों पर नियंत्रण स्थापित करना भी आवश्यक हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक साख को भी नियंत्रण करता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक राज्य सरकार तथा सभी अन्य बैंकों का बैंकर होता है। यदि राज्य या अन्य बैंकों को अल्प समय के लिए ऋण की आवश्यकता होती है तो वे केन्द्रीय बैंक से ही लेते हैं। केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाने का भी काम करते हैं और सरकार के ऋण की व्यवस्था करते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपने देश की मुद्रा तथा विदेशों की मुद्राओं की दर (विदेशी विनिमय दर) को नियंत्रित करते हैं।

बीमे की व्यवस्था

औद्योगिक क्रान्ति तथा व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन और बड़ी मात्रा का व्यापार आरम्भ हो गया। परन्तु साथ ही उद्योग धंधों और व्यापार की जोखिम भी उतनी ही अधिक बढ़ गई। आज करोड़ों रुपयों की लागत का कारखाना तनिक भी असावधानी से जलकर राख हो सकता है। विदेशों को जानेवाला जहाज डूब सकता है, तथा माल से भरे गोदाम नष्ट हो सकते हैं। अतएव व्यापार तथा उद्योग-धंधों के विस्तार की दृष्टि से इस जोखिम को उठानेवाली कोई संस्था होना आवश्यक थी। उद्योगपति या व्यापारी इस जोखिम को नहीं उठा सकते। अत: बीमा की व्यवस्था हुई। आज तो बीमा व्यवसाय इतना विकसित हो गया है कि प्रत्येक जोखिम का बीमा किया जाता है। उदाहरण के लिए जीवन बीमा, अग्नि दुर्घटना, समुद्री बीमा, मोटर बीमा, इत्यादि। यहाँ तक कि फसलों का बीमा तथा अपने नौकरों की ईमानदारी का भी बीमा कराया जा सकता है।

यों तो थोड़ा बहुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार औद्योगिक क्रान्ति तथा व्यापारिक क्रान्ति के पूर्व भी होता था। उस समय भारत तथा चीन

औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र थे। इन दोनों देशों का माल कारवाँ के द्वारा मध्य एशिया ईरान, ईराक तथा एशिया माइनर होता हुआ यूरोप की राजधानियों में पहुँचता था। उस समय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

बहुमूल्य कारीगरी की वस्तुओं में ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब शक्ति सचालित यन्त्रों से बड़े बड़े कारखाने स्थापित हुए और बड़ी मात्रा मे उत्पादन आरम्भ हुआ और भाप से चलनेवाली रेलों और समुद्री जहाजों ने समस्त पृथ्वी को एक विस्तृत बाजार बना दिया तो प्रत्येक देश में यह प्रवृत्ति बढ़ी कि वह अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग ले। रेलों और भाप से चलनेवाले समुद्रीय जहाजों से बहुत कम व्यय से भारी से भारी माल तक एक देश से दूसरे देश को बहुत थोड़े समय मे भेजा जा सकता था। बीमे और बैंकों की सुविधा ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और भी बढ़ाया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में सदेशवाहक साधनों की उन्नति ने भी विशेष सहयोग दिया। तार, टेलीफोन केबिल, बेतार का तार (वायरलेस) रेडियो, टेलीविजन, पोस्ट ऑफिस की सुविधा उपस्थित के कारण आज पृथ्वी का प्रत्येक देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गया है और पृथ्वी की दूरी कम हो गई है। हवाई जहाज की सहायता से आज एक देश से दूसरे देश को पहुँचना बहुत ही आसान हो गया है।

किन्तु जहाँ औद्योगिक क्रान्ति और व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप तथा गमनागमन एव सदेशवाहक साधनो की उन्नति के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बहुत विस्तार हुआ, वहाँ राष्ट्रीय स्वावलम्बन की भावना और विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से स्वदेशी धधों की रक्षा करने की नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में अड़चनें भी डालीं। आज प्रत्येक देश अपने धधो को सरक्षण प्रदान करने, उनकी विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा करने का प्रयत्न करता है और उनको प्रोत्साहन देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न भिन्न देशों की एकांगी नीति के कारण बहुत अधिक धक्का न लग जाये, साथ ही प्रत्येक देश के हितों की रक्षा हो सके, इसके लिए भिन्न भिन्न देशों में व्यापारिक समझौते किए जाते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सगठन खड़ा किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भिन्न भिन्न देशों की मुद्रा के विनिमय दरों में

जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन होने से भी अड़चन उपस्थित होती थी। किन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना हो जाने से यह कठिनाई दूर हो गई है।

निर्धन तथा पिछड़े राष्ट्रों की औद्योगिक उन्नति के लिए पूँजी की व्यवस्था करने के उद्देश्य से द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हुई है, जिससे प्रत्येक देश अपने औद्योगिक विकास के लिए ऋण प्राप्त कर सकता है। भारतवर्ष ने भी दामोदर घाटी योजना, रेलों के विस्तार, कृषि यंत्रों की खरीद तथा लोहे और स्टील के कारखानों के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लिया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—औद्योगिक क्रान्ति के लिए यातायात में उन्नति होना क्यों आवश्यक था, समझाकर लिखिए।

२—व्यापारिक क्रान्ति और यातायात में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का आपसी सम्बन्ध बतलाइए।

३—औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप परिमित दायित्ववाली कम्पनियाँ क्यों आवश्यक हो गईं ?

४—व्यापारिक बैंकों के कार्यों की विवेचना कीजिए।

५—केन्द्रीय बैंक के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

६—भारत में रिजर्व बैंक क्या-क्या करता है, लिखिए।

७—आधुनिक व्यवसाय के लिए बीमा की क्यों आवश्यकता पड़ती है ?

विशेष अध्ययन के लिए

1 Industrial and Commercial Revolution by L. C. A. Knowles.
2 Economic History by Ashlay.
3 Economic Development of Europe by Clive Day.

अध्याय ६

मजदूर-संगठन

कुटीर धंधों की व्यवस्था में जब कारीगर अपने घरों में सामान तैयार करते थे तब आधुनिक ढंग के मजदूर संघों का सर्वथा अभाव था। सच तो यह है कि उस समय मजदूर संघों की आवश्यकता ही नहीं थी। कारण यह था कि कारीगर स्वयं कोई पूँजीपति नहीं था। वह छोटी मात्रा में उत्पादन कार्य करता था। अधिकतर वह स्वयं अपने श्रम तथा अपने परिवारवालों की सहायता से सामान तैयार करता था। पहले तो वह मजदूर रखता ही नहीं था और यदि कोई युवक उस धंधे को सीखने के उद्देश्य से उसके यहाँ काम भी करता था, तो कारीगर उसका शोषण करने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। कारण यह था कि मजदूर शिष्य उसी के गाँव का होता था और सम्भवतः उसके मित्र तथा पड़ोसी का पुत्र होता था। सामाजिक प्रभाव के कारण मालिक अपने मजदूर शिष्य के साथ दुर्व्यवहार नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त कारीगर स्वयं मजदूर शिष्यों के साथ काम करता था अतएव वह मजदूर के जीवन से, तथा उसकी कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं होता था। उसका दृष्टिकोण सहानुभूति का होता था। केवल इन्हीं कारणों से कारीगर मजदूर शिष्यों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था, वरन् उसका स्वार्थ भी उसमें निहित था। जहाँ कारीगर मजदूर शिष्य को नौकरी से हटाकर उसे बेकार कर सकता था, वहाँ मजदूर शिष्य उसके कठोर व्यवहार के कारण यदि उसका काम छोड़ देता, तो मालिक का व्यवसाय ठप्प हो सकता था। दूसरे शब्दों में मजदूर भी मालिक के लिए आवश्यक थे। उन दिनों मालिक मजदूरों से बहुत लम्बे समय तक काम ले सके, यह सम्भव नहीं था; क्योंकि रात्रि को कार्य नहीं हो सकता था। कार्य के घंटे केवल दिन में ही निर्धारित होते थे। सूर्य का यथेष्ट प्रकाश जब तक रहे तभी तक यह कार्य हो सकता था। उस समय में से भोजन और विश्राम का समय निकालकर जो समय बचता

था उसी मे कार्य होता था। इस प्रकार प्रकृति ने कार्य के उचित घण्टों को स्वय निर्धारित कर दिया था। मालिक कारीगर मजदूर शिष्यों से अधिक घण्टे काम लेना चाहे तो भी नहीं ले सकता था। मजदूरों को एक सुविधा और भी थी कि सारा कार्य हाथों से ही होता था। मजदूर कार्य की गति को स्वय निर्धारित कर सकते थे। कार्य की गति को निर्धारित करना मालिक कारीगर के हाथ मे नहीं था।

उन दिनों मजदूर की स्थिति दयनीय नहीं थी उसका शोषण इतना सरल नहीं था। मजदूर शिष्य को भी थोड़े दिनों ही मजदूरी करनी पड़ती थी। काम सीख लेने के उपरान्त मजदूर शिष्य स्वय कारीगर बन जाता था, क्योंकि धधे मे अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती थी। फिर भी धधे उस समय आज की भाँति केन्द्रित नहीं थे, क्योंकि कारीगर भिन्न भिन्न स्थानों पर बिखरे रहते थे। उस समय न तो मालिक और मजदूरों मे सघर्ष ही उपस्थित होता था और न मजदूरों के सगठन की ही आवश्यकता थी।

किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त जब बड़ी मात्रा मे उत्पादन कार्य होने लगा, बडे-बडे कारखाने स्थापित हुए, तो स्थिति बदल गई। कारीगर को अपना घर छोडकर कारखानों मे काम करने के लिए जाना पडा शक्ति-सचालित यन्त्रों पर कार्य करने के कारण कार्य की गति का निर्धारित करना उसके हाथ मे नहीं रहा वरन् मिल-मालिक के हाथ मे चला गया। बिजली के प्रकाश मे कारखानों मे रात्रि को भी काम करना सम्भव हो गया। फिर मालिक हजारों मजदूरों को नौकर रखता है, उसके लिए एक या दो मजदूरों का कोई महत्त्व नहीं रहता। यदि एक या दो मजदूर मालिक के बुरे व्यवहार से अथवा कम वेतन के कारण नौकरी छोड़ दें तो मालिक का काम नहीं रुक सकता। अतएव आज की व्यवस्था में मिल मालिक के हाथ मे शोषण की अनन्त शक्ति आ गई है।

जहाँ फैक्टरी पद्धति के प्रादुर्भाव से मजदूरों की तुलना मे मिल मालिक बहुत शक्तिवान् हो गया, वहाँ उसी पद्धति के भावी मजदूर आन्दोलन और मजदूर सगठन के बीज मौजूद थे। प्रातःकाल कारखाने का भोंपू बोलता है और दूर-दूर से मजदूर झुण्ड के झुण्ड एक साथ सब दिशाओं से आकर कारखाने के फाटक पर इकट्ठे होते हैं, उस समय वे आपस मे कारखाने के बारे मे ही बात करते हैं। उनके क्या

हुए दर्द हैं उनके लिए किन सुविधाओं की आवश्यकता है, इत्यादि प्रश्नों पर वे आपस में बातचीत करते हैं। दिन भर कारखाने में साथ साथ काम करके सायंकाल कारखाने की छुट्टी होने पर थके हुए मजदूर धीरे धीरे अपने घरों की ओर हजारों की संख्या में लौटते हैं, तो स्वभावतः वे अपनी स्थिति, कारखानों में होनेवाले दुर्व्यवहार, कम वेतन, मालिकों के शोषण के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं। यहीं से आधुनिक मजदूर आन्दोलन और सगठन का जन्म हुआ है।

आरम्भ में मजदूर आन्दोलन ब्रिटेन में हुआ, क्योंकि सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति उसी देश में हुई थी और वहीं फैक्टरियाँ स्थापित हुई थीं। किन्तु उस समय पूँजीपति बहुत प्रभावशाली थे, अतएव राज्य ने कानून बनाकर मजदूर सघों को गैरकानूनी घोषित कर दिया। उनके विरुद्ध षड्यन्त्र का दोष लगाया गया और उनके नेताओं को कठोर दण्ड दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मजदूरों ने गुप्त सगठन खड़े किए। नेता लोग गुप्त रहते, साधारण मजदूर उनको जानता भी नहीं था; किन्तु उनकी आज्ञा का पालन होता था। प्रत्येक सदस्य को सदस्य बनते समय शपथ लेनी पड़ती थी। इस प्रकार जहाँ जहाँ आरम्भ में मजदूर आन्दोलन के विरुद्ध कानून बनाए गये, वहाँ वहाँ इसी प्रकार के गुप्त सगठन खड़े हो गए। जर्मनी में गुप्त रूप से दो क्रान्तिकारी सगठन स्थापित हुए। एक कानून विरोधियों का संघ तथा दूसरा कम्युनिस्ट सघ। इसी सघ ने प्रसिद्ध कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो (घोषणा पत्र) प्रकाशित किया। क्रमशः मजदूरों के सगठन के विरुद्ध जो कानून बने, वे तोड़ दिए गये और क्रमशः मजदूरों को सगठन करने की सुविधा मिल गई। इस समय तक कार्ल मार्क्स के विचारों के कारण मजदूर आन्दोलन में बहुत उग्रता आ चुकी थी। क्रमशः मजदूर आन्दोलन सबल होने लगा और वह राजनैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो गया। आज तो सभी देशों में मजदूर प्रतिनिधि पार्लियामेंट में अपना प्रभाव डालते हैं और बहुत से देशों में राज्य का शासन-सूत्र उनके हाथ में है।

क्रमशः सरकारों ने मजदूरों के सगठित होने तथा हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया और इस सम्बध में कानून बन गए।

मजदूर संगठन दो प्रकार के होते हैं। एक क्रैफ्ट या क्रिया के अनुसार, दूसरे धंधे के अनुसार। आरम्भ में क्रिया के अनुसार मजदूर संगठनों की स्थापना हुई थी। उदाहरण के लिए यदि वस्तु तैयार करने के धंधे में बुनकरों की एक यूनियन हो, कत्तियों की दूसरी यूनियन हो, तो उसको हम क्रिया के अनुसार यूनियन कहेंगे।

मजदूर-संगठन का ढांचा

क्रिया के अनुसार जो यूनियनें बनाई जाती हैं, उनकी विशेषता यह होती है कि जो भी मजदूर एक क्रिया को करते हैं, वे फिर चाहे जिस धंधे में लगे हों और चाहे जिस मालिक के यहाँ काम करते हों, एक यूनियन में संगठित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत में अहमदाबाद का मजदूर संघ क्रैफ्ट या क्रिया यूनियनों का संघ है।

दूसरे प्रकार की यूनियन धंधों के आधार पर संगठित यूनियन होती है। इस यूनियन की विशेषता यह होती है कि जो भी मजदूर उस धंधे विशेष में काम करता है, उस यूनियन का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए रेलवे मैन यूनियन, वस्त्र व्यवसाय यूनियन इसी प्रकार की यूनियन है।

यूनियन सगठित करने का एक तीसरा सिद्धान्त भी हो सकता है। अर्थात् एक ही मालिक की आधीनता में जो लोग काम करते हैं, उनकी यूनियन सगठित की जावे। उदाहरण के लिए एक म्युनिसपैलिटी के सभी विभागों के कर्मचारी एक यूनियन संगठित करें। इस प्रकार की यूनियन बहुत कम देखने में आती है।

यूनियनों का संघ

प्रत्येक धंधे में जो भिन्न भिन्न औद्योगिक केन्द्रों की यूनियनें हैं, वे एक राष्ट्रीय संघ बना लेती हैं, उदाहरण के लिए बंबई, अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर इत्यादि की यूनियनों ने मिलकर अखिल-भारतीय टैक्सटाइल लेबर फेडरेशन बना ली है।

किन्तु भिन्न भिन्न धधों के राष्ट्रीय संघों की स्थापना से ही समस्या हल नहीं हो जावेगी। मजदूरों की बहुत सी समस्याएँ और प्रश्न ऐसे होते हैं जो कि सभी धधों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए एक समान महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त मजदूरों के राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए उनके हितों की रक्षा करने के लिए एक मच

आवश्यक होता है। प्रत्येक देश में मजदूरों की ट्रेड यूनियन कांग्रेस होती है जिससे सभी मजदूर संघ और ट्रेड यूनियन सम्बंधित हैं।

मजदूर संघों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य श्रमजीवियों की सर्वांगीण उन्नति है। इस उपयोग की प्राप्ति के लिए मजदूर संघ बहुत से उपाय काम में लाते हैं, इनके कार्यों की तालिका बहुत लम्बी है। किन्तु वे सब कार्य तीन श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं (१) रचनात्मक कार्यक्रम, (२) पूँजीपतियों से अधिक से अधिक सुख सुविधाएँ प्राप्त करना और उनसे निरन्तर संघर्ष करना, (३) राजनैतिक कार्यक्रम जिसका उद्देश्य मजदूरों का शासन यन्त्र पर आधिपत्य स्थापित करके समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना होता है।

मजदूर संघ का कार्य

(१) रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत मजदूरों की सुख-सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, बेकारी तथा बीमारी में आर्थिक सहायता, रहने की सुविधा सहकारी उपभोक्ता स्टोर तथा नौकरी दिलाने के लिए ब्यूरो स्थापित करना सभी कार्य ट्रेड-यूनियन करती हैं।

(२) पूँजीपतियों से बातचीत करके मजदूरों के लिए उचित वेतन, अच्छा व्यवहार, कारखाने में अन्य सुविधाएँ प्राप्त करना और आवश्यकता पड़ने पर अपनी माँगों को स्वीकार कराने के लिए संघर्ष करना।

(३) राजनैतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने प्रतिनिधियों को व्यवस्थापिका सभाओं में भेजकर, मजदूरों के हितों के कानून बनाकर सुरक्षित करना तो मजदूर आन्दोलन का तात्कालिक उद्देश्य होता है। परन्तु अपने उद्देश्यों का प्रचार करके तथा शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर देश में समाजवादी व्यवस्था करना उसका अन्तिम लक्ष्य होता है।

यों तो भारतवर्ष में १८६० के पूर्व ही मजदूर आन्दोलन का श्रीगणेश हो चुका था और मजदूरों के परमहितैषी श्री बंगाली तथा मजदूरों के प्रथम नेता श्री लोखंडे ने मजदूरों के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया था किन्तु वस्तुतः प्रथम महायुद्ध तक भारत में कोई मजदूर आन्दोलन नहीं था, तब तक मजदूरों व मिल मालिकों के ओर की भावना 'पिता-पुत्र' जैसी थी।

भारतीय मजदूर संगठन

किन्तु योरोपीय महायुद्ध (१९१४-१८) ने इस भावना में क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिया। महायुद्ध के फलस्वरूप महँगाई बहुत बढ़

गई। वस्तुओं के मूल्य आकाश छूने लगे। मिल मालिकों को कल्पनातीत लाभ होने लगा, किन्तु मजदूरी अधिक नहीं बढ़ी, इस कारण मजदूर वर्ग क्षुब्ध हो उठा। उधर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसने प्रथम वार सर्वसाधारण में नवीन चेतना को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों के साथ जैसा बुरा व्यवहार किया जा रहा था, उससे भारतवासी बहुत रुष्ट थे। इन सबके कारण भारत का मजदूर वर्ग उग्र होता जा रहा था। उधर रूस की बोल्शैविक क्रान्ति ने संसार भर के मजदूरों में नवीन उत्साह का संचार कर दिया। युद्ध के समाप्त होने पर जो सैनिक हटाए गए, वे कारखानों इत्यादि में काम करने गए। वहाँ की दशा और पश्चिमीय देशों की तुलना करने पर उन्हें आकाश-पाताल का अन्तर दिखाई दिया। वे अपने साथ जो विदेशों से नया ज्ञान और नये विचार लाये थे, उन्होंने अन्य साथी मजदूरों में भर दिए।

इसके अतिरिक्त भारत के राजनैतिक नेताओं का ध्यान मजदूरों की ओर भी गया और उन्हें शिक्षित वर्ग का नेतृत्व प्राप्त हो गया। इसी समय भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन हुआ, उससे भारतीय मजदूर आन्दोलन को और भी अधिक बल मिला।

इन सब कारणों से भारत के मजदूरों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई और १९१८ के उपरान्त मजदूरों का तेजी से संगठन हुआ, साथ ही मजदूरों और मिल-मालिकों का तेजी से संघर्ष बढ़ता गया।

जब कि भारत में औद्योगिक ट्रेड-यूनियनें स्थापित हो रही थीं, उसी समय उनमें एक केन्द्रीय संगठन में सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति आरंभ हो गई। इसका कारण यह था कि सभी यूनियनों का नेतृत्व करनेवाले एक ही व्यक्ति थे। क्रमशः मजदूर सभाओं के संघ स्थापित हो गए और आन्दोलन प्रबल होता गया। १९२० में मजदूर आन्दोलन का रूप अखिल भारतीय हो गया और उसी वर्ष बम्बई में स्वर्गीय लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में प्रथम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसी वर्ष से भारतीय श्रमजीवियों के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन (जेनेवा) में सम्मिलित होने लगे। १९२४ तक भारत में सभी प्रमुख धंधों में मजदूर संगठित हो गए, उनके

अखिल भारतीय संघ स्थापित हो गए और वे सभी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से सम्बद्ध हो गए।

१६२४ के उपरान्त भारत में मजदूर आन्दोलन के अन्तर्गत कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ने लगा। उसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय मजदूरों में तीव्र वर्ग चैतन्यउदय हुआ और मजदूर आन्दोलन में उग्रता आ गई। क्रमशः लम्बी हड़तालें होने लगीं। सरकार की ओर से दमन होने लगा और मजदूरों में कटुता उत्पन्न हुई, किन्तु कम्युनिस्टों का मजदूरों पर प्रभाव बढ़ता गया। कम्युनिस्टों के प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दक्षिण पक्ष और वाम पक्ष में संघर्ष उठ खड़ा हुआ। १६२६ में यह संघर्ष इतना अधिक बढ़ा कि नागपुर अधिवेशन में मजदूर आन्दोलन में दरार पड़ गई और दक्षिण पक्षीय मजदूर कार्यकर्त्ता अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से पृथक् हो गए। इस मतभेद का परिणाम यह हुआ कि मजदूर आन्दोलन निर्बल हो गया।

इस समय तक कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी दल की स्थापना हो चुकी थी। समाजवादी नेता मजदूर आन्दोलन में अधिक रुचि लेते थे। उन्होंने मजदूर संगठन में फिर एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप १६३८ में नागपुर के अधिवेशन में फिर एकता स्थापित हो गई।

मजदूर आन्दोलन में एकता स्थापित होने पाई थी कि १६३६ में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध छिड़ गया और कांग्रेस के नेतृत्व में फिर राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा। आरम्भ में तो कम्युनिस्ट दल इस युद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कहकर उसका विरोध करता था, किन्तु जैसे ही जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया, वे इसे जनता का युद्ध कहकर उसका समर्थन करने लगे। इसी समय एम० एन० राय ने भी ब्रिटिश सरकार से सहायता पाकर इण्डियन लेबर फेडरेशन नामक संस्था स्थापित की जिसका उद्देश्य युद्ध का समर्थन करना था। मजदूर आन्दोलन में फिर फूट पड़ गई। कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी कार्यकर्त्ताओं के प्रभाव में जो ट्रेड यूनियन थीं, वे युद्ध का विरोध करती थीं, कम्युनिस्ट और रायवादियों के प्रभाव में जो मजदूर सभाएँ थीं, वे युद्ध का समर्थन करती थीं, युद्ध समाप्त होने

के उपरान्त स्वतंत्रता मिलने पर समाजवादी दल कांग्रेस से पृथक् हो गया। कांग्रेस को यह भी आवश्यकता हुई कि वह भी मजदूरों पर अपना प्रभाव जमावे। अतः कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस नामक अखिल भारतीय मजदूर संगठन को जन्म दिया गया। समाजवादियों ने 'हिन्द मजदूर पंचायत' नामक पृथक् मजदूर संगठन खड़ा किया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस कम्युनिस्टों के प्रभाव में है। आज भारतीय मजदूर आन्दोलन इन तीन राजनैतिक दलों के प्रभाव में बँटा हुआ है।

भारतीय मजदूर आन्दोलन अभी भी बहुत सबल नहीं है। मजदूरों का अशिक्षित होना, औद्योगिक केन्द्रों में भिन्न भाषा-भाषी मजदूरों का होना, मजदूरों की निर्धनता, औद्योगिक केन्द्रों का बिखरा होना, मजदूरों का स्थायी रूप से औद्योगिक केन्द्रों में न रहना तथा विशेषकर मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व योग्य तथा ईमानदार नेताओं के हाथों में न होना इस निर्बलता के मुख्य कारण हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (आई. एल. ओ.)

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना वार्साई संधि के अनुसार हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य संसार में सामाजिक न्याय की स्थापना करना और श्रमजीवियों की आर्थिक उन्नति करना है, जिससे समाज में आर्थिक और सामाजिक स्थिरता स्थापित हो सके। यह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के प्रयत्नों का ही फल है कि संसार के भिन्न भिन्न देशों में मजदूर हितकर कानून बनाए गए और उनकी आर्थिक स्थित में सुधार हुआ। भारत में जो मजदूरों सम्बन्धी कानून बने, वे बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की प्रेरणा से ही बने थे। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के संबंध में संयुक्तराष्ट्र संघ के अध्याय में विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—जब उत्पादन छोटी मात्रा में कुटीर उद्योगों के द्वारा होता था, तब मजदूर संघों की आवश्यकता क्यों नहीं थी, समझाकर लिखें।

२—फैक्टरी व्यवस्था में मजदूरों के संगठन की आवश्यकता क्यों पड़ गई?

३—मजदूर संगठन का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, विस्तारपूर्वक लिखिए।

४—ट्रेड यूनियन (मजदूर सभा) के मुख्य कार्य क्या हैं, विस्तारपूर्वक लिखिए।

५—भारत में मजदूर संगठन के विकास के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

६—भारत में मजदूर आन्दोलन की निर्बलता के कारण बतलाइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1 भारतीय मजदूर—शंकरसहाय सक्सेना।
2 Trade Unionism in India by Punekar.
3 Indian Working Class by Dr. R. K. Mukerji
4. Economics of Labour and Industrial Relations by Bloom and Northrup.
5. Economics of Labour by Lester.

अध्याय १०

आधुनिक समाज का नव-निर्माण

यूरोप का पुनर्निर्माण

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का उग्र-रूप बहुत दिनों तक न टिक सका। क्रान्ति की लपटें मुलस गईं और बुझती हुई दिखाई दीं। शान्ति और व्यवस्था के लिए फ्रांस की जनता बेचैन हो उठी, और इस सबका परिणाम यह निकला कि नैपोलियन के हाथों में फ्रास की समस्त राज्य-सत्ता केन्द्रित हो गई। नैपोलियन की महत्त्वाकांक्षाएँ
फ्रांस की सीमाओं से संतुष्ट नहीं रह सकीं। उसने नैपोलियन की पराजय क्रान्ति की सेनाओं की सहायता से, अपने पड़ोसी और उसके कारण देशों को पराजित करके अपनी गिनती इतिहास के
प्रमुख विश्वविजेताओं में किए जाने का गौरव प्राप्त किया। यूरोप के अधिकांश देश उसके प्रभुत्व में आ गए, पर इंग्लैंड को हराने और उसके विश्वव्यापी साम्राज्य को नष्ट कर देने के उसके स्वप्न पूरे न हो सके और इतिहास के इस अमर विजेता को अपने जीवन के अन्तिम छः वर्ष एक कठोर अंग्रेज जेलर की निगरानी में कैदी की हैसियत से बिताने पड़े। लगभग पन्द्रह वर्षों तक समस्त यूरोप पर नैपोलियन का एकछत्र प्राधान्य रहा, पर वह सारी व्यवस्था उसके पतन के बाद चकनाचूर हो गई। उस व्यवस्था में कितनी ही कमजोरियाँ थीं। एक व्यक्ति पर, उस सारी व्यवस्था का आधार था। उस व्यक्ति के सामने शक्ति की अपनी मर्यादाएँ भी थीं। सारी व्यवस्था सैनिक आधार पर कायम थी और पाशविक बल समस्त समस्याओं को सुलझाने में सदा ही असमर्थ रहा है। नैपोलियन के आक्रमणों ने दूसरे देशों में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया और उस भावना के उग्र और संगठित रूप के सामने नैपोलियन की शक्ति भी टिक न सकी। पर नैपोलियन की पराजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि युद्ध के साधनों की जिस श्रेष्ठता के कारण उसने अपनी विपक्षी सेनाओं पर विजय प्राप्त की थी, बाद के वर्षों में

श्रेष्ठता का वह दावा नहीं कर सकता था, क्योंकि अन्य देशों की सेनाओं ने भी इस कौशल को प्राप्त कर लिया था।

नेपोलियन पराजय के और भी कारण गिनाए जा सकते हैं किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि केवल फ्रांस के इतिहास में ही नहीं यूरोप के इतिहास में बल्कि यह कहना चाहिए कि विश्व के इतिहास में, उसका बहुत बड़ा स्थान है। फ्रांस में जिस नई व्यवस्था की उसने स्थापना की, वह किसी भी अन्य देश की तुलना में अधिक प्रगतिशील थी। हॉलैण्ड ने सोलहवीं शताब्दी में लड़कर अपनी राजनीतिक स्वाधीनता को प्राप्त किया था। इंग्लैंड ने सत्रहवीं शताब्दी में एक लम्बे संघर्ष के बाद राजा की शक्ति को कम करने में सफलता प्राप्त की थी। फ्रांस इन सभी देशों से कई कदम आगे बढ़ गया था। उसकी क्रान्ति केवल राष्ट्रीय और राजनैतिक नहीं थी। उसने एक नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को भी जन्म दिया था। फ्रांस की नई व्यवस्था अठारहवीं शताब्दी के प्रगतिशील विचारों के सर्वथा अनुकूल थी। फ्रांस में एक केन्द्रीय शासन की स्थापना कर ली गई थी जिसका आधार लोकराज्य के सिद्धान्त पर था। उसकी अपनी राष्ट्रीय सेनाएँ थीं। उसकी लोक सभा में नागरिकों का प्रतिनिधित्व होता था (हॉलैण्ड के समान) विशिष्ट वर्गों का नहीं। फ्रांस का नया समाज व्यक्तिवाद के आधार पर सगठित किया गया था। कोई विशेष अधिकार किसी के पास नहीं थे। कानून की दृष्टि में सब बराबर थे। सभी धर्मों को समानता की दृष्टि से देखा जाता था। इन सिद्धान्तों का जन्म फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में हुआ था, पर उन्हें यूरोप भर में फैला देने का श्रेय नैपोलियन को था। यह वह समय था, जब यूरोप के लगभग सभी देश नैपोलियन के प्रभाव में थे और नैपोलियन का राजनीतिक प्रभाव जब अन्य देशों से सिमटने लगा, तब उसके विरोधियों ने भी इस सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था को अपनाने की पूरी कोशिश की, जिसे फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने जन्म दिया जिसका पोषण और प्रसार किया था।

इतिहास में नेपोलियन का स्थान

यदि यह पूछा जाए कि यूरोप को नैपोलियन की सबसे बड़ी देन क्या थी, तो हमें कहना पड़ेगा कि वह राष्ट्रीयता की भावना का सबसे

पैगम्बर था। राष्ट्रीयता की यह भावना फ्रास मे तो अपनी चरम सीमा पर पहुँची ही, उन सभी देशों मे उसने एक कट्टर धार्मिकता का रूप ले लिया, जो नैपोलियन की सेनाओं और उसके शासन के सपर्क मे आए। इस भावना ने शासन के पुराने स्वरूप को बदल दिया और एक नये ढग के शासन की नींव डाली। जर्मनी और इटली, जो असख्य टुकड़ों मे बँटे हुए थे, राष्ट्रीयता की सजीवनी का आस्वादन कर, सबल और शक्तिशाली राष्ट्रों की गिनती मे आ गए। इग्लैण्ड, स्पेन, आस्ट्रिया और रूस मे भी राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गई। राष्ट्रीयता की भावना के फैलने का एकमात्र कारण फ्रास की राज्यक्रान्ति ही नहीं था, यद्यपि यह सच है कि फ्रास का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव लगभग सभी देशों पर पडा और कुछ देशों मे तो राष्ट्रीयता की भावना फ्रास की सेनाओं के द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों और नैपोलियन के शासन की स्वेच्छाचारिता के परिणामस्वरूप ही फैली। सभी देशों मे नए राजनीतिक विचार अपनाए जा रहे थे। जर्मनी मे हर्डर (Herder 1741 1803), फिक्ते (Fichte 1762-1814) और हम्बोल्ट (Humboldt, 1769 1859) का राष्ट्रीयता की भावना को फैलाने मे प्रमुख हाथ था। हर्डर ने तो, मौन्टेस्क्यू और रूसो के समान, फ्रास की राज्यक्रान्ति के पहले से ही अपने विचारों का प्रचार करना आरभ कर दिया था। फिक्ते और हम्बोल्ट को फ्रास की क्रान्ति और उसके वाम पक्षीय नेताओं से प्रेरणा मिली। स्टीन फ्रास की राष्ट्रीयता का बडा प्रशसक था, परतु जर्मनी की जनता मे राष्ट्रीयता की भावना का वास्तविक प्रसार तब हुआ जब नैपोलियन ने उसके शासन मे अनधिकृत हस्तक्षेप करना आरभ किया और उसकी सेनाओं ने उनके प्रदेशों को बड़ी बेरहमी से अपने पैरों तले रौंदा।

राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार जर्मनी

स्पेन और इटली मे भी राष्ट्रीयता के फैलने का यही कारण था। स्पेन के लोगों की तो यह स्पष्ट माँग थी कि एक राष्ट्र होने के नाते अपने भाग्य के निर्णय का अधिकार स्वय उनका था। इटली मे एकता की यह भावना उतनी स्पष्ट नहीं थी, परतु वहाँ भी राष्ट्र प्रेम फैलता जा रहा था। इटली के प्रसिद्ध नाटककार अल्फीरी (Alfieri) ने अपनी एक पुस्तक मे इस बात की घोषणा की कि कला सभ्यता और नीति सभी मे इटली

के लोग मार्स की अपेक्षा कहीं बढ़े चढ़े थे। एक दूसरे साहित्यकार फास्कोलो (Foscolo) ने अपनी कविताओं द्वारा इटली में राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में बड़ी सहायता पहुँचाई। अल्फीरी और फास्कोलो ने राज्य प्रेम की जिस भावना को इटली की जनता के हृदय में अंकुरित किया था, कार्बोनारी (Carbonari) नाम की गुप्त संस्था ने उसे दूर-दूर तक फैला दिया। इस संस्था में धनी अफसर और सरकारी कर्मचारी, जमींदार और किसान, शिक्षक और पादरी सभी शामिल थे और इसका उद्देश्य इटली को विदेशी शासन से मुक्त करना था। छोटे-छोटे देशों में भी राष्ट्रीयता की भावना फैलती जा रही थी। पोलैण्ड में १७९१ में एक क्रान्ति हुई और वहाँ एक ऐसे लोकतान्त्रिक संविधान की स्थापना की गई, जो क्रान्तिकारी फ्रांस के संविधान से मिलता-जुलता था। राजा की शक्ति कम कर दी गई, सामन्तों के विशेष अधिकारों को समाप्त कर दिया गया, जाति भेद मिटा दिए गए, कृषकों की स्थिति को सुधारा गया और धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना की गई। पोलैण्ड का यह प्रयोग अधिक समय तक न चल सका। रूस, प्रशा और आस्ट्रिया की साम्राज्यवादी तृष्णा ने राष्ट्रीयता और जनतंत्र के इस नन्हें से पौधे को बहुत जल्दी मुलसा डाला। पर उसके नेता अपने देश को एक बार फिर सगठित करने के अनन्त प्रयत्नों में अविश्रान्त रूप से लगे रहे।

स्पेन इटली और पोलैण्ड

दूर उत्तर में फिनलैण्ड और स्वेडन में, जार की सहायता से एक अर्द्ध जनतान्त्रिक शासन की स्थापना की गई। एस्टोनिया और लिथोनिया जैसे छोटे छोटे देशों में किसानों की स्थिति में सुधार हुआ। नार्वे में राष्ट्रीयता की लहर फैल गई। १८०७ में वहाँ एक राष्ट्रीय शासन की स्थापना हुई और १८११ में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की। १८१४ में नार्वे को जब स्वेडन के साथ मिला दिया गया तब उस छोटे से देश के नेताओं ने खुले आम राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त की घोषणा की और नार्वे की आजादी का एलान किया। दक्षिण-पूर्वी यूरोप में तुर्की के साम्राज्य में, जहाँ बहुत सी ईसाई जातियाँ सुल्तानों की एक अनवरत श्रृंखला के अनियन्त्रित अत्याचारों का शिकार हो रही थीं, राष्ट्रीयता की भावना फैल गई। यूनानी और यूगोस्लाव, क्रोट और

उत्तरी और दक्षिण पूर्वी यूरोप के छोटे देश

सर्व, सभी में इस भावना ने एक नई जागृति और नई चेतना को जन्म दिया। यूनान में राष्ट्रीयता के प्रचारकों में कोरेस(Korais) और रीगास (Rhigas) का स्थान बहुत ऊँचा है। यूनान के नए साहित्य के निर्माण में इन दोनों का ही हाथ रहा है और इस नए साहित्य के द्वारा उन्होंने यूनान में राष्ट्रीयता की भावना को फैलाया। सर्व जाति के लोगों में कलाजार्ज (Kala George) ने यही काम किया। उसने किसानों की एक सेना खड़ी की जिसकी सहायता से उसने न केवल बेल्गेड से तुर्कों की प्रभुता का अन्त किया, बल्कि एक सर्व-लोक सभा की स्थापना करके सर्बिया में एक जनतांत्रिक शासन की नींव डाली। यह कहा जा सकता है कि सुदूर पश्चिम में इंग्लैण्ड और सुदूर पूर्व में रूस को छोड़कर यूरोप के सभी देश, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा लेकर और नैपोलियन के शासन की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिशीलता के पथ पर चल पड़े थे। केवल इंग्लैण्ड में ही राजनीतिक और सामाजिक सुधार के प्रति अविश्वास की भावना थी। समाज और शासन का नेतृत्व सम्भ्रान्त वर्गों के हाथ में था, यद्यपि उसके पड़ोस में भी आयर्लैण्ड के लोग विद्रोह के पथ पर चल पड़े थे, परन्तु इंग्लैण्ड में भी राष्ट्रीयता की भावना तो दृढ़तर ही होती जा रही थी।

नैपोलियन की पराजय के बाद, १८१४-१५ में, वियना में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य यूरोप के भविष्य की रूप-रेखा खींचना था। यह सम्मेलन, जो आस्ट्रिया के प्रधान-मन्त्री मेटरलिंक (Metterlink) की अध्यक्षता में हुआ, प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की विजय का एक प्रतीक था। सभी स्थानों के देशभक्त अब अपने उन राजाओं के प्रति, जिन्होंने नैपोलियन का विरोध किया था, राजभक्ति की भावना रखते थे। ईसाई-धर्म में भी लोगों का विश्वास फिर से जागा था और पोप की प्रतिष्ठा गिरती-सी दिखाई देने लगी थी। उस हिंसा और रक्तपात से जिसका ताण्डव नैपोलियन के युगों में यूरोप में देखा गया था, जनता तंग आ गई थी। अकाल, व्याधियाँ और अपराध चारों ओर फैल रहे थे। मेटरलिंक का यह अनुमान ठीक ही था कि यूरोप की जनता स्वतन्त्रता नहीं, शान्ति चाहती थी। एक बार मेटरलिंक और उसके साथियों ने यूरोप में एकछत्र शासन

प्रतिक्रियावादी शक्तियों का पुनर्गठन

स्थापित करने के लिए भरसक प्रयत्न किया और एक लम्बे अर्से तक यूरोप में एक कृत्रिम शान्ति स्थापित करने में उन्हें सफलता भी मिली। राष्ट्रीयता और जनतन्त्र, नए यूरोप के इन दोनों सिद्धान्तों को कुचलने का उन्होंने सपूर्ण प्रयत्न किया। वियना की कांग्रेस के निश्चयों में इन दोनों ही सिद्धान्तों की खुली अवहेलना स्पष्ट दिखाई दे रही थी। राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध बेल्जियम को हॉलैण्ड में मिला दिया गया, नार्वे स्वेडेन को सौंप दिया गया, फिनलैण्ड रूस में शामिल कर दिया गया। इटली का एक बडा भाग आस्ट्रिया के अन्तर्गत आ गया। इसी प्रकार के अन्य कई परिवर्तन हुए। जनतत्र की भावना को कुचलने के लिए, ऐसा जान पड़ता था, मेटरलिक ने बीड़ा ही उठा लिया था। जार द्वारा प्रेरित 'पवित्र सघ' (Holy Alliance) और इग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया और प्रशा का 'चतुर्देशीय सगठन' (Onedruple Alliance) इस उद्देश्य की पूर्ति के साधन मात्र थे। यूरोप में जहाँ कहीं भी राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के आन्दोलन खड़े हुए, मेटरलिक ने इन सगठनों के द्वारा उन्हें बडी बेरहमी से कुचला। प्रतिक्रियावादिता ने एक धार्मिक कट्टरपन का रूप ले लिया और मेटरनिक उसका पोप बना।

प्रगतिशील तत्वों का कुचलने के प्रयत्न

जहाँ कहीं कोई प्रगतिशील आन्दोलन खडा होता था मेटरनिक और जार दोनों मिलकर उसके विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय सेनाएँ भेजते थे। मेटरलिक का पहला उद्देश्य तो आस्ट्रिया के साम्राज्य से राष्ट्रीयता और जनतत्र की भावना को कुचल डालना था। राष्ट्रवाद का समर्थन करनेवाले नेताओं को उसने सख्त सजाएँ दीं और आस्ट्रिया के उन सभी प्रदेशों में जहाँ इनके विचारों का प्रभाव था विजातीय सेनाओं की सहायता से जनता को नियंत्रित रखा। समाचारपत्रों पर अकुश लगा दिया गया। पाठ्यक्रम में परिवर्तन किए गए। साहित्य निर्माण की स्वतत्रता नष्ट कर दी गई और इस बात का प्रयत्न किया गया कि बाहर से भी नए विचार आस्ट्रिया में प्रवेश न कर सकें। जर्मन सघ का अध्यक्ष होने के नाते मेटरलिक ने जर्मन राज्यों में भी प्रगतिशील विचारों को कुचला। जगह जगह प्रतिक्रियावादी राज्यों की स्थापना की गई। प्रगतिशील विचारों को समूल नष्ट कर देना असभव था। नगरों और विशेषकर विश्वविद्यालयों में उनका काफी प्रभाव था। मेटरलिक ने विश्वविद्यालयों के शिक्षक,

और विद्यार्थियों के निरीक्षण के लिए विशेष कानून बनाए और समाचार पत्रों का दमन किया। इटली में भी मेटरलिक ने इसी नीति को अपनाया। इटली में भी उदार विचारों का प्रभाव बढ़ रहा था। शिक्षक मध्यमवर्ग, नौकर पेशा और व्यापारी सभी वैधानिक सुधारों और राष्ट्रीय स्वाधीनता का भोग करने लगे थे। गुप्त सभाओं का संगठन किया जा रहा था। १८२० में नेपल्स (Naples) में एक विद्रोह भी हुआ जिसे आस्ट्रिया की सेनाओं ने कुचल दिया। १८२१ का पीडमौण्ट (Piedmont) का विद्रोह भी इसी प्रकार दबा दिया गया।

प्रतिक्रियावादिता का यह प्रमुख आस्ट्रिया जर्मनी और इटली की सीमाओं में ही केन्द्रित नहीं रहा, जहाँ मेटरलिक का अनियंत्रित शासन था, अन्य देशों पर उसका प्रभाव था। रूस का ज़ार एलेक्जैण्डर, जो कुछ वर्षों तक प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में रहा था अब मेटरलिक का शिष्य बन गया था। इन थोड़े से वर्षों में रूस और उसके आस पास के प्रदेशों में जो नाम-मात्र के वैधानिक सुधार किए गए थे, वे सब खत्म कर दिए गए और ज़ार ने अपनी सारी शक्ति अपनी सेना को बढ़ाने और उसी सहायता से किसान आन्दोलन को दबाने में लगा दी। ब्रिटेन में इन दिनों शासन की सारी सत्ता अनुदार दल के हाथों में थी। फ्रांस के साथ एक लम्बे संघर्ष के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में प्रतिक्रियावादी तत्त्व और भी अधिक सशक्त हो गए थे। ब्रिटेन में नए विचारों के प्रचारक भी अपने काम में लगे हुए थे। गॉडविन टॉमसपेन और बैन्थम आदि इनमें प्रमुख थे परन्तु उन्हें खतरनाक व्यक्ति समझा जाता था और उनके विचारों को फैलने नहीं दिया गया। ब्रिटेन में इन दिनों कई ऐसे कानून बनाए गए जिनसे व्यक्ति की स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगा दिया गया। फ्रांस अनुदार और उदार विचार धाराओं के बीच संघर्ष का मुख्य केन्द्र था। १८ वें लुई ने बीच का रास्ता निकालने का प्रयत्न किया परन्तु धीरे धीरे प्रतिक्रियावादी दल सशक्त होता गया। स्पेन में भी प्रतिक्रियावादिता अपने पूरे ज़ोर पर थी। वहाँ की जनता ने विद्रोह भी किया पर फ्रांस की सेनाओं द्वारा उसे कुचल दिया गया। पुर्तगाल में भी राष्ट्रीय तत्त्व इसी प्रकार दबा दिए गए।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं था कि उदार विचार सभी देशों में सभी समय के लिए दबाए जा सके। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक समानता

और राष्ट्रीयता के विचारों को सदा के लिए नहीं दबाया जा सकता था। दक्षिणी-यूरोप में इटली, स्पेन और पुर्तगाल के राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाया जा सका; परन्तु दक्षिणी पूर्वी यूरोप के यूगोस्लाव और यूनानी आन्दोलनों को कुचलना आसान न था। उधर, इंग्लैण्ड घरेलू नीति में कट्टर-पंथी होते हुए भी विदेशी नीति में उदार तत्त्वों के समर्थन में विश्वास रखता था। यूनान में जब तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा ऊँचा किया गया, तो सारे यूरोप में उसके प्रति सहानुभूति की लहर दौड़ती दिखाई दी। पुरानी सभ्यताओं के प्रशंसक और नए विचारों के पुजारी, स्वतंत्रता और जनतंत्र के हामी और ईसाई धर्म के हिमायती, कवि और चित्रकार सभी यूनान की स्वाधीनता के समर्थक थे। इस आन्दोलन का परिणाम यह निकला कि १८३२ में यूनान को स्वाधीनता मिल गई। इस सफलता से सभी देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला। फ्रांस में १०वें चार्ल्स की प्रतिक्रियावादी नीति के विरुद्ध एक क्रान्ति हुई, जिससे १७८९ की क्रान्ति की घटनाओं की पुनरावृत्ति होती दिखाई दी। १०वें चार्ल्स को गद्दी से हटा दिया गया और उसके स्थान पर लुई फिलिप को, जिसने पहली क्रान्ति में भाग लिया था, गद्दी पर बिठाया गया। क्रान्ति का तिरङ्गा झण्डा फिर पेरिस के राजप्रासाद पर लहराया।

राष्ट्रवाद और जनतंत्र का पुनरुत्थान

विद्रोह की लहरें बहुत शीघ्र यूरोप के अन्य देशों में भी फैलती हुई दिखाई दीं। बेल्जियम ने हॉलैण्ड के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। पोलैण्ड व कुछ अन्य जर्मन राज्यों में उपद्रव हुए, जिन्हें कुचल दिया गया। इटली में स्वाधीनता का आन्दोलन एक बार फिर एक व्यापक रूप में संगठित किया गया, पर मेटरनिक ने उसे भी दबा दिया। इसके बाद क्रान्ति की यह चिनगारी फिर कई वर्षों तक बुझी-सी रही। परन्तु १८४८ में यह फिर ज़ोरों से भड़की और यूरोप के पश्चिमी सिरे से लेकर पूर्वी सिरे तक क्रान्तिकारी आन्दोलन उठ खड़े हुए। १७८९ और १८३० के समान इनका आरम्भ इस बार भी फ्रांस में हुआ। लुई फिलिप को गद्दी से हटा दिया गया और गणतंत्र की घोषणा की गई। इस बार क्रान्ति की लहरों ने आस्ट्रिया में भी प्रवेश किया, जो प्रतिक्रियावादिता

१८४८ की क्रांतियाँ

का गढ़ था और मेटरनिक को उखाड़ फेंका। इटली क्रान्तिकारियों की सेना मे सम्मिलित हो गया और उसके बाद जर्मनी ने उसका अनुकरण किया। १८४८ के इन आन्दोलनों को भी पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। फ्रांस मे नेपोलियन तृतीय ने गणतंत्र को समाप्त कर अपने को सम्राट् घोषित किया और आस्ट्रिया में अनुदार दल के हाथ में एक बार फिर शासन की सत्ता आ गई। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि अब तक रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी को छोड़कर यूरोप के अधिकांश देशों, और विशेषकर पश्चिमी देशों में नए विचारों को बहुत बल मिल गया था।

इस युग की एक विशेष प्रवृत्ति हम यह पाते हैं कि राष्ट्रवाद को जहाँ-जहाँ जनतंत्र का समर्थन प्राप्त हो सका, वहाँ तो उसने उसकी सहायता की, पर कई देशों मे जहाँ केवल जनता की सहायता से राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाया नहीं जा सकता था, वहाँ जनतंत्र को पीछे छोड़ दिया गया और राष्ट्रवाद की भावनाएँ तेजी से आगे बढ़ चलीं। जर्मनी इसका एक अच्छा उदाहरण है। जर्मनी एक शक्तिशाली देश था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक प्रमुख स्थान ले लेने के लिए बेचैन हो रहा था। राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने के लिए इसे आन्तरिक और वाह्य कई प्रकार की कठिनाइयों के विरुद्ध एक लम्बा संघर्ष करना पड़ा था। इस संघर्ष का नेतृत्व अनायास ही प्रशा के हाथ मे आ गया और उसके प्रमुख नेता विस्मार्क ने यह निश्चय किया कि जर्मनी युद्ध और रक्तपात के मार्ग पर चलकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। विस्मार्क ने जर्मनी के लिए एक बड़ी सेना का संगठन किया। इस सेना की सहायता से उसने पहले तो आस्ट्रिया को पराजित किया जिससे जर्मन राज्यों का एकमात्र नेतृत्व प्रशा के हाथ में रह सके। उसके बाद फ्रास को हराया। प्राचीन गौरव की समस्त महानता के होते हुए भी यूरोप का प्रमुख देश फ्रांस तेजी से उठते हुए एक राष्ट्र की सुसंगठित सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सका। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया और फ्रास की इन पराजयों ने यूरोप के इतिहास और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास की दिशा को ही बदल दिया। एक ओर तो आस्ट्रिया को केन्द्रीय यूरोप से निकाल दिया गया और दूसरी ओर फ्रास की शक्ति कम हुई। जर्मनी के आन्दोलन की सफलता से इटली को भी अपना राष्ट्रीय लक्ष्य प्राप्त करने

राष्ट्रवाद बनाम जनतंत्र

से प्रेरणा मिली है। मेज्जिनी (Mezzini), कावूर (Cavour) और गैरिबाल्डी (Garibaldi) जैसे नेता उसे प्राप्त थे। कावूर ने सार्डिनिया के शासक की सहायता से शासन में बहुत से सुधार किए जिनके परिणामस्वरूप इटली का यह छोटा सा प्रदेश राष्ट्रीय आकांक्षाओं का केन्द्र बन गया और बाद में उसके आस पास के अन्य प्रदेश भी उसी में सम्मिलित होते गए और इस प्रकार एक संयुक्त इटली की नींव पड़ी। जर्मनी और इटली के एकीकरण के परिणामस्वरूप यूरोप में दो नए राज्यों की वृद्धि हुई। जर्मनी की शक्ति का तो बड़ी तेजी से विस्तार हुआ और केवल फौजी शक्ति की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि औद्योगिक विकास की दृष्टि से भी जर्मनी यूरोप के पुराने देशों के लिए एक चुनौती बन गया। इन देशों की राष्ट्रवाद की भावना पुराने देशों की तुलना में कहीं अधिक गहरी थी और उसका संक्रामक प्रभाव धीरे-धीरे अन्य देशों में भी फैला। जर्मनी द्वारा पराजित होने के बाद से फ्रांस में प्रतिशोध की भावना तेजी के साथ फैल गई थी। रूस में अपनी सीमाओं का विस्तार करने की भावना, इंग्लैण्ड में अपने व्यापक साम्राज्य की रक्षा की भावना और अमरीका में एक बड़े और अपरिमित्य देश का सहज आत्म-विश्वास, राष्ट्रवाद की भावना को दृढ़ बना रहे थे। धीरे-धीरे यह भावना एक ओर तो पश्चिमी गोलार्द्ध के अर्जेंटिना, ब्रैज़िल और चिली जैसे देशों में और दूसरी ओर सुदूर-पूर्व में जापान जैसे देशों में फैली। यह बात नहीं थी कि बड़े देशों की जनता में ही यह भावना विकास पा रही थी, छोटे छोटे प्रदेशों के लोग जो शताब्दियों से विदेशी दासता के बंधनों में जकड़े हुए थे, राष्ट्रीय स्वाधीनता को मुक्त-वायु में साँस लेने के लिए आकुल हो उठे थे।

अभ्यास के प्रश्न

१—नैपोलियन की पराजय और उसके कारणों का उल्लेख करते हुए इतिहास में उसका स्थान निर्धारित कीजिए।

२—उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना के फैलने के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए।

३—जर्मनी, स्पेन, इटली, पोलैण्ड और यूरोप के अन्य छोटे देशों में राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

४—उन्नीसवी शताब्दी मे प्रगतिशील तत्वों को कुचलने के कुछ प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए। वे प्रयत्न कहाँ तक सफल हुए ?

५—उन्नीसवी शताब्दी मे यूरोप मे जनतन्त्र की भावना का विकास किस सीमा तक हुआ और राष्ट्रवाद की तुलना मे उसे अधिक सफलता क्यो नही मिल सकी ?

६—१८३० और १८४८ की क्रान्तियो का संक्षेप मे उल्लेख कीजिए और परिणामो की दृष्टि से उनकी तुलना कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Hays. C. J. H. : Essays on Nationalism.
2. Ludwig, E : Napoleon.
3. Rose, J. H : Napoleon. I
4. Poslgate, R. W. : Revolution from 1789 to 1906.

———

अध्याय ११

साम्राज्यवाद का विकास और उसके कारण

राष्ट्रीयता की भावना ने प्रत्येक देश की जनता के मन में अपने देश को अन्य देशों की तुलना मे सशक्त और प्रभावशाली बनाने की एक तीव्र लालसा उत्पन्न कर दी और इस तीव्र लालसा ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप यूरोप के प्रगतिशील राष्ट्रों ने संसार के दूर-दूर के देशों में जाकर अपने झंडे फहराए। संसार की अधिक से अधिक भूमि और सौ करोड़ से अधिक जनसंख्या कुछ थोड़े से साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा शासित की जाने लगी। ब्रिटेन अपनी गोरी आबादी से १० गुना अधिक काले, भूरे और पीले लोगों पर शासन कर रहा था। फ्रांस का साम्राज्य उसकी अपनी जमीन से २० गुनी अधिक जमीन पर फैला हुआ था। पुर्त्तगाल का साम्राज्य पुर्त्तगाल से २३ गुना अधिक बड़ा था और बेल्जियम का ८८ गुना। साधारणतः यह माना जाता है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम है, परंतु वास्तव में वह पूँजीवाद से कहीं अधिक पुराना है। इसका जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ जब पुर्त्तगाल, स्पेन, हॉलैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड ने दूर-दूर के देशों से अपने व्यापार के संबंध स्थापित किए। यह एक आश्चर्य की सी बात है कि साम्राज्य निर्माण की दिशा में पहले कदम इटली और जर्मनी के उन राज्यों द्वारा नहीं उठाए गए, जो पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में व्यापार के बड़े केन्द्र थे : बल्कि पुर्त्तगाल, स्पेन आदि व्यापारिक दृष्टि से पिछड़े हुए और कृषि-प्रधान देशों द्वारा। परंतु इसके कुछ विशेष कारण थे।

साम्राज्यवाद का उत्थान

साम्राज्यवाद के उत्थान का एक बड़ा कारण यह था कि इन दिनों यूरोप में सोने चाँदी की बहुत कमी थी। व्यापार के बढ़ते जाने से यह कमी और भी महसूस की जाने लगी। राजा को भी अपनी शान-शौकत

व शक्ति के निर्वाह के लिए सोने चाँदी की आवश्यकता थी। इटली अपने एशियाई व्यापार के द्वारा कुछ सोना चाँदी जुटा लेता था। जर्मनी में कुछ खानें भी थीं। अन्य देशों के पास कोई साधन न थे। इस कारण सोने व चाँदी की खोज में साम्राज्यों की स्थापना उनके व्यापारी दूर दूर तक गए। पुर्तगाली पश्चिमी के कारण अफ्रीका के किनारे किनारे चलते हुए आशा अन्तरीप का चक्कर लगाकर भारत आ पहुँचे, और उन्होंने हमारे देश के साथ व्यापार करना आरंभ किया। पुर्तगाल का उद्देश्य उपनिवेश कायम करना नहीं, व्यापार से लाभ कमाना था। स्पेन ने अमरीका में चाँदी और सोने की बहुत सी खानें ढूँढ निकालीं। स्पेन के अन्तर्गत होने के कारण उसके और पुर्तगाल के लाए हुए सामान को यूरोप के अन्य देशों में बाँटने का काम हॉलैण्ड के जिम्मे आया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हॉलैण्ड जब स्पेन के आधिपत्य से मुक्त हुआ, तब उसने पुर्तगाल के उपनिवेशों और व्यापार पर छापे मारने आरंभ किए। दूसरे देशों के सामने भी इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था कि वे अपने यहाँ नई नई वस्तुएँ तैयार करें और बाहर के देशों में जाकर बेचें, जिससे वहाँ से वह सोना व चाँदी ला सकें।

इसके लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ी। उपनिवेश प्राप्त करना यूरोप के सभी देशों का लक्ष्य बन गया। राजा की शक्ति के विकास ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। राजाओं को अपनी शान शौकत के लिए रुपये की आवश्यकता थी और वे व्यापारियों पर कर लगाकर उसे वसूल कर सकते थे। इस कारण व्यापार और उपनिवेशवाद दोनों को उन्होंने प्रोत्साहन दिया। धर्म प्रचार की उपनिवेशों की भावना से भी साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिला परन्तु उपयोगिता साम्राज्यवाद की स्थापना और उसके विकास का सबसे बड़ा कारण आर्थिक ही था। समुद्र की यात्रा के लिए बड़े बड़े जहाज बनने लगे थे और यूरोप के विभिन्न देशों की सड़कें अब पहले से बहुत अच्छी थीं। इस कारण भारी सामान का लाना और ले जाना अब बहुत कठिन नहीं रह गया था। सभी देशों का व्यापार बड़ी तेजी से बढ़ने लगा इस कारण प्रत्येक देश के लिए यह आवश्यक हो गया कि बाहर जाकर वह ऐसे उपनिवेशों की स्थापना करे, जहाँ वह बिना रुकावट

अथवा प्रतिद्वन्द्विता के अपना माल बेच सके। उपनिवेशों को लेकर यूरोपीय राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी और अनेकों युद्ध हुए। इन युद्धों के परिणामस्वरूप अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक अधिकांश उपनिवेश इंग्लैण्ड और फ्रांस के हाथ में आ गए थे।

साम्राज्यवाद की यह पहली लहर लगभग एक शताब्दी के बाद अपना वेग खोने लगी। पुराने साम्राज्य टूटने लगे और राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्थाएँ तेजी के साथ बदलने लगीं। साम्राज्यवाद का ह्रास बीच में एक ऐसा समय आया, जब उपनिवेशवाद में और उसके कारण लोगों की आस्था घटने लगी। फ्रांस में टर्गो (Turgot) ने कहा, "उपनिवेश फलों के समान हैं जो पेड़ों में तभी तक लगे रहते हैं जब तक पक नहीं जाते।" इंग्लैण्ड में डिजरायली (Disraeli) ने लिखा, "ये बदनसीब उपनिवेश कुछ ही वर्षों में स्वतन्त्र हो जाएँगे और तब तक के लिए ये हमारे गले में जुए के समान हैं।" आर्थिक परिस्थितियाँ और आर्थिक सिद्धान्त भी बदल रहे थे। कताई और बुनाई के नए साधनों, भाप से चलनेवाले इंजनों और इसी प्रकार के अन्य आविष्कारों ने इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) को जन्म दिया। इस दृष्टि से इंग्लैण्ड यूरोप के सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ था। औद्योगिक उत्पादन में कोई देश उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था। इस कारण उसे अब इस बात की चिन्ता नहीं थी कि दूसरे देशवाले उपनिवेशों में अपना माल उसकी तुलना में सस्ते भावों पर बेच सकेंगे। यूरोप के बाजारों में भी अपना माल बेचने के लिए वह बेचैन था। इन परिस्थितियों में नए सिद्धान्तों ने जन्म लिया। फ्रांस में टर्गो और दूसरे अर्थ शास्त्रियों ने, इंग्लैण्ड में एडम स्मिथ (Adam Smith) काब्डन (Cobden) और ब्राइट (Bright) आदि ने मुक्त व्यापार के सिद्धान्त का प्रचार किया और उपनिवेशवाद को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, जनतन्त्र और विश्व-बन्धुत्व के वे सिद्धान्त, जिनका प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हो रहा था, उपनिवेशवाद के विरुद्ध थे। काब्डन ने अंग्रेजी साम्राज्य का "जनता को लूटने और परेशान करने के लिए एक षड्यन्त्र" का नाम दिया। भारत में अंग्रेजी राज्य के सम्बन्ध में उसने लिखा, 'प्रकृति के कानून की विजय होगी और वह

दिन अवश्य आएगा जब सफेद चमड़ीवालों को अपने देशों में लौटकर आना होगा।" तब तक हिन्दुस्तान में उन्हें "कष्ट, हानि और अपमान" के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा। धीरे-धीरे सभी देशों में यह विश्वास हो चला कि उपनिवेशवाद हानिकारक साम्राज्यवाद-विरोधी और निरर्थक वस्तु है। इंग्लैण्ड ने इन वर्षों में विचारों का विकास अपने साम्राज्य को बढ़ाने के कई अच्छे अवसर जान बूझकर खो दिए। फ्रांस और जर्मनी के इतिहास में भी हमें मुक्त व्यापार में विश्वास और उपनिवेशवाद में अनास्था की यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। फ्रांस ने अपने उपनिवेशों के व्यापार को सब देशों के लिए खुला छोड़ दिया। जर्मनी में बिस्मार्क उपनिवेशवाद के विरुद्ध था ही। उसने लिखा, "उपनिवेशों से मिलनेवाले सभी लाभ काल्पनिक हैं। इंग्लैण्ड उपनिवेशवाद की अपनी नीति को छोड़ रहा है। वह उसे बहुत महँगी पड़ी है।" परंतु यह विचारधारा अधिक नहीं चली। उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों में, साम्राज्यवाद का ज्वार एक बार फिर अपने पूरे वेग के साथ लौटा, और यूरोप के सभी राष्ट्र औद्योगिक क्रान्ति द्वारा दिए गए साधनों से सपन्न होकर साम्राज्यवाद के भयकर पथ पर एक बार फिर चल पड़े।

साम्राज्यवाद का पुनर्जन्म और उसके कारण

साम्राज्यवाद का पुनर्जन्म बदलती हुई आर्थिक परिस्थितियों में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक यूरोप की आर्थिक परिस्थितियों में चार बड़े परिवर्त्तन हो गए थे। पहली बात तो यह थी कि औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा इंग्लैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर जो प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, वह मिट चला था। १८७० में संसार का आधा लोहा इंग्लैण्ड में गलाया जा रहा था, और सूती कपड़े का आधे से अधिक उत्पादन इंग्लैण्ड में था। किसी भी देश का विदेशी व्यापार इंग्लैण्ड की तुलना में आधा भी नहीं था। परंतु अब जर्मनी अमरीका, फ्रांस और दूसरे राष्ट्र आगे बढ़ रहे थे, और तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे। अंग्रेजी माल की तुलना में उनके माल का उत्पादन कई गुना अधिक वेग से बढ़ रहा था, यद्यपि परिमाण में इंग्लैण्ड का मुकाबिला वे अभी भी नहीं कर सकते थे। इन देशों का विदेशी व्यापार भी उसी अनुपात में बढ़ रहा था। सभी देशों में अधिक से अधिक कपड़ा,

लोहा, फौलाद और अन्य वस्तुएँ तैयार करने की होड़ लगी हुई थी। प्रतिस्पर्धा में तैयार किए गए इस सीमातीत उत्पादन की बिक्री के लिए विदेशी बाजारों की आवश्यकता थी। औद्योगिक राष्ट्र, जो स्वयं इसी तरह का माल तैयार करने में लगे हुए थे, उसे क्यों खरीदते? अमरीका, रूस, जर्मनी और फ्रांस—इंग्लैण्ड को छोड़कर सभी औद्योगिक राष्ट्र—विदेशी माल के आयात पर कड़े प्रतिबन्ध लगा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में इनके सामने केवल एक ही रास्ता था—उपनिवेशों को प्राप्त करना। उपनिवेशों में अपने तैयार किए हुए माल को आसानी से बेचा जा सकता था, और अन्य देशों से आनेवाले माल पर बंधन लगाए जा सकते थे।

संसार की आर्थिक परिस्थिति में एक दूसरा बड़ा परिवर्तन यातायात के साधनों में होनेवाली क्रान्ति थी। भाप से चलनेवाले जहाज अब समुद्र की उत्ताल तरंगों को रौंदते हुए संसार के कोने-कोने तक पहुँच सकते थे। रेल की पटरियाँ अफ्रीका और एशिया के घने जंगलों को चीरती हुई व्यापार और सेनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकती थीं। उपनिवेशों को शासक देशों से सम्बद्ध रखने के लिए पृथ्वी की सतह पर और समुद्र के गर्भ में हजारों मील तक फैले हुए तार के खंभे थे। साम्राज्यवाद का तीसरा बड़ा कारण उपनिवेशों से कच्चा माल प्राप्त करना था। ब्रिटेन के कपड़े के कारखानों में झोंकने के लिए करोड़ों गट्ठे कपास की आवश्यकता थी। इसके लिए अमरीका के स्वाधीन हो जाने पर, इंग्लैण्ड को हिन्दुस्तान और मिस्र पर निर्भर होना पड़ा। जूते और बरसाती, साइकिलें और मोटरों के टायरों आदि के लिए सभ्य संसार का काम रबड़ के बिना नहीं चल सकता था। रबड़ कांगो और अमेजॉन की घाटियों में उगनेवाले पेड़ों से ही प्राप्त किया जा सकता था। मलाया, लंका और पूर्वी द्वीपसमूह में भी यूरोपीय राष्ट्रों ने रबड़ के लिए ही अपने साम्राज्यवाद की स्थापना की। कॉफी, कोको, चाय और चीनी ने भी साम्राज्यों को जन्म दिया है।

साम्राज्यवाद का चौथा कारण यूरोप के देशों में अधिक पूँजी का इकट्ठा हो जाना था। औद्योगिक विकास के साथ प्रत्येक देश में पूँजी की मात्रा बढ़ती जा रही थी। उसे कहीं लगाना आवश्यक था। एक लंबे अरसे तक तो यह पूँजी घरेलू उद्योग-धंधों में ही लगाई जाती रही, पर इस क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ जाने के कारण अब लाभ बहुत कम

मिलता था। पिछड़े हुए देशों मे जहाँ पूँजी की बडी कमी और आवश्यकता थी, उसे लगाने से कई गुना अधिक लाभ मिलने की आशा की जा सकती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप के लोगों ने अरबों रुपया बाहर के देशों मे लगाया। अपनी पूँजी इन देशों मे लगाने का अर्थ यह हुआ कि धीरे-धीरे उनकी राजनीति पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक प्रतीत होने लगा और, इस प्रकार यूरोप मे पूँजीवाद के विकास के साथ, एशिया और अफ्रीका के एक बडे भू-भाग पर साम्राज्यवाद की स्थापना हुई।

साम्राज्यवादकी पोषक विचार-धाराएँ

उस नई आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल नए सिद्धान्तों का विकास भी स्वाभाविक ही था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को उग्र राष्ट्रवाद का युग कहा जा सकता है। जर्मनी, इटली, दक्षिण-पूर्वी यूरोप के देश, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमरीका सभी में राष्ट्रवाद की भावना तेजी से बढ रही थी। राष्ट्रवाद की भावना का अर्थ था किसी भी विदेशी प्रभाव को अस्वीकार करते हुए अपने देश की शक्ति को तेजी से आगे बढाते जाना। पर इसी युग मे साम्राज्यवाद का भी बडी तेजी के साथ विस्तार हुआ। साम्राज्यवाद का अर्थ था अन्य देशों की राष्ट्रीय भावना को कुचल कर उनपर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना। ऊपर से देखने मे ये दोनों भावनाएँ एक-दूसरी के विरुद्ध प्रतीत होती हैं। परंतु वास्तव मे उत्कट राष्ट्रवाद की भावना ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया। प्रत्येक देश को यह विश्वास होता जा रहा था कि साम्राज्यवाद के द्वारा ही वह अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढा सकता है। मुक्त व्यापार और साम्राज्यवाद-विरोधी सिद्धान्त अब पृष्ठभूमि मे चले गए थे। नए युग का दार्शनिक नेता एडम-स्मिथ नहीं था, जर्मनी का प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट था, जिसने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि राष्ट्र अपने आपमें एक चिरन्तन और सर्वोपरि सत्ता है और उसके लाभ के लिए यह आवश्यक है कि व्यापार का नियंत्रण राज्य के द्वारा किया जाए, और व्यक्तिगत स्वार्थों को राष्ट्रीय आवश्यकताओं के सामने गौण स्थान दिया जाए। लिस्ट राज्य द्वारा आर्थिक नियंत्रण के सिद्धान्त का पैगम्बर था। इस सिद्धान्त से इस युग की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। मज़दूर अपनी सुविधाओं के लिए कानून चाहते थे, औद्योगिक विदेशी

व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता से मुक्त। मानवतावादी सामाजिक सुधारों के लिए प्रचार कर रहे थे। इन सभी बातों को पूरा करने के लिए राज्य की शक्ति को बढ़ाना आवश्यक था। और राज्य की शक्ति के बढ़ जाने पर दूर-दूर के देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का काम सरलता से हो सकता था।

अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार का काम एक बार फिर हाथ में लिया गया। इसमें डिजरायली का प्रमुख हाथ रहा है। उसके नेतृत्व में अनुदार दल ने साम्राज्यवाद को अपना प्रमुख उद्देश्य ही बना लिया। इन दिनों इंग्लैण्ड में कई ऐसे बड़े बड़े लेखक हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवाद का समर्थन किया और कई ऐसे पूँजी पति हुए जिन्होंने उसके विस्तार के लिए मुक्त हृदय से रुपया खर्च किया। इन्हीं वर्षों में इंग्लैण्ड ने स्वेज की नहर के अधिकांश हिस्से खरीदकर उसे अपने अधिकार में ले लिया, और इसका यह परिणाम निकला कि मिस्र इंग्लैण्ड के एकाधिपत्य में आ गया। महारानी विक्टोरिया का भारत की सम्राज्ञी घोषित किया जाना भी डिजरायली के उन नाटकीय कामों में से है जिनके द्वारा वह इंग्लैण्ड की जनता को साम्राज्यवाद की चकाचौंध में मोह लेना चाहता था। एशिया में बलोचिस्तान और अफ्रीका में ट्रान्सवाल ब्रिटेन ने इसी युग में हस्तगत किए। १८७८ में डिजरायली जब बर्लिन के सम्मेलन से लौटा तो साइप्रस (Cyprus) उसके झोले में था। अफगानिस्तान में भी उसने हस्तक्षेप किया। इंग्लैण्ड में साम्राज्यवाद की यह भावना इतनी प्रबल हो गई कि ग्लैड्स्टन (Gladstone) जब कुछ वर्षों के लिए प्रधान मंत्री बना तब भी वह रोकी नहीं जा सकी। उदार दल के लोगों पर भी साम्राज्यवाद की अनिवार्यता स्पष्ट होती जा रही थी। साम्राज्यवादी संघ और औपनिवेशिक सम्मेलन इसी युग की सृष्टि हैं।

साम्राज्य का विस्तार इंग्लैण्ड

फ्रांस भी अपने साम्राज्य को फैलाने में लगा हुआ था। अफ्रीका में ट्यूनिस और एशिया में टाम किंग इस नए साम्राज्य के केन्द्र बिन्दु बने और धीरे धीरे उनके आसपास के प्रदेश फ्रांस के साम्राज्यवाद में समाविष्ट किए जाने लगे। फ्रांस में भी आरम्भ में इस प्रवृत्ति का विरोध हुआ, पर शीघ्र ही इसने सर्वमान्यता प्राप्त कर ली। जूल्स फेरी (Jules perry)

फ्रांस :

उपनिवेशवाद के इस पुनरुत्थान का मुख्य दार्शनिक था। उसने साम्राज्य-वाद के पक्ष में तीन बातें रखीं—(१) प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र को अपने माल को बेचने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता होती है। (२) सभ्य जातियों के पिछड़ी हुई जातियों के संबंध में कुछ विशेष अधिकार हैं। ये विशेष अधिकार इस कारण हैं कि उनके कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं, और इन कर्त्तव्यों में सबसे बड़ा कर्त्तव्य असभ्य जातियों को सभ्यता की दीक्षा देना है। पैरी ने लिखा, "क्या कोई इस बात से इनकार कर सकता है कि अफ्रीका की दु:खी जनता का सौभाग्य है कि उसे फ्रांसीसी अथवा अंग्रेजी राज्य का संरक्षण प्राप्त है?" (३) तीसरा कारण यह बतलाया गया कि किसी भी समुद्री ताकत के लिए स्थान-स्थान पर कोयला भरने के गोदाम और भोजन प्राप्त करने के लिए सुविधाजनक बन्दरगाह अपने नियंत्रण में रखना आवश्यक होता है। जूल्स पैरी का विश्वास था कि फ्रांस यदि साम्राज्यवाद के मार्ग से च्युत हो जाएगा, तो वह प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की पंक्ति से हटकर तीसरी अथवा चौथी श्रेणी की ताकत बन जाएगा। फ्रांस के अन्य कई चिन्तकों ने भी इसी विचार-धारा का समर्थन किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में, जब यूरोप में जर्मनी ने उसके महानता के दावे को खंडित कर दिया था, एशिया और अफ्रीका में फ्रांस ने एक बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना कर ली।

जर्मनी

जर्मनी में बिस्मार्क उपनिवेशवाद के विरुद्ध था, परंतु वहाँ के लेखक और विचारक, व्यापारी और धार्मिक सुधारक, सब उसका जोरदार समर्थन करने में लगे हुए थे। चारों ओर यह भावना फैलती जा रही थी कि यदि जर्मनी संसार में प्रतिष्ठा के साथ जीना चाहता है, तो अपनी पूँजी लगाने और अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए उसे उपनिवेशों को प्राप्त करना ही पड़ेगा। साथ ही पिछड़ी हुई जातियों में जर्मन संस्कृति के फैलाने के पवित्र उत्तरदायित्व को भी उसे पूरा करना है। बिस्मार्क को इस प्रवृत्ति से समझौता करना पड़ा था और वह अमरीका और प्रशान्त महासागर में अधिक दिलचस्पी लेने लगा था परंतु जर्मनी का शासन जब तक बिस्मार्क के हाथों में रहा, उसने यूरोप की समस्याओं को ही अधिक प्रमुखता दी। उसके बाद विलियम द्वितीय (Wilhelm II) ने शासन की बागडोर जब अपने हाथ में ली, अफ्रीका, दक्षिणी समुद्र के

द्वीपों और चीन के समुद्रतट पर जर्मनी के उपनिवेश तेजी से कायम होने लगे और जर्मन साम्राज्यवाद ने तुर्की में प्रवेश किया और उसके संभाव्य पतन और वह उसके ध्वसावशेषों पर आधिपत्य के स्वप्न देखने लगा।

अन्य राष्ट्रों ने भी अपनी शक्ति भर साम्राज्यवाद के मार्ग पर चलना आरंभ किया। इटली ने लाल समुद्र के पश्चिमी किनारे पर और अबीसीनिया में अपने साम्राज्यवाद की नींव डाली। अब राष्ट्र रूस पूर्व में साइबेरिया में, दक्षिण कुस्तुन्तुनियाँ (Constantinople) और कॉकेशस (Caucasus) तक और पश्चिम में बाल्टिक की ओर बढ़ता चला जा रहा था। आस्ट्रिया-हंगरी ने बोस्निया को अपने कब्जे में लिया और बल्कान राज्यों पर अपना ललचाई दृष्टि डाली। और भी छोटे राष्ट्रों के लिए इस मार्ग पर चलना और भी कठिन था। हॉलैण्ड और डिस्मार्क, पुर्तगाल और स्पेन अपने पुराने साम्राज्यों को कायम रखने के प्रयत्नों में लगे रहे। बेल्जियम ने मध्य अफ्रीका के कांगो प्रदेश में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। सुदूर पूर्व में जापान उसी मार्ग पर चल रहा था। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप के सभी औद्योगिक राष्ट्र और उनके पद चिह्नों पर चलनेवाले एशिया के जापान जैसे देश साम्राज्यवाद के विस्तार की एक पागल बना देनेवाली प्रतिस्पर्धा में जी-जान से जूझ पड़े थे।

अभ्यास के प्रश्न

१—साम्राज्यवाद का विकास किन परिस्थितियों में हुआ? साम्राज्यवाद की स्थापना के मूल कारणों पर प्रकाश डालिए।

२—साम्राज्यवाद कुछ समय के लिए शिथिल पड़ गया। इसके क्या कारण थे? साथ ही उन परिस्थितियों और विचारधाराओं का वर्णन कीजिए जिन्होंने उसे एक नया जीवन प्रदान किया।

३—उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी और अन्य राष्ट्रों के द्वारा साम्राज्य विस्तार के प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1 Moon, P T Imperialism and World Politics.
2. Langer W L The Diplomacy of Imperialism.

अध्याय १२

उग्र राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाएँ

उग्र राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की यह पागल बना देनेवाली दौड़ यूरोप और संसार को कहाँ ले जायगी, यह कोई नहीं जानता था। प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थों को बढ़ाने के लिए जी तोड़ परिश्रम कर रहा था। बिस्मार्क ने डेनमार्क, आस्ट्रिया और फ्रांस से जो लड़ाइयाँ लड़ीं, उनका स्पष्ट उद्देश्य जर्मनी की शक्ति को बढ़ाना था।

जर्मनी द्वारा फ्रांस की पराजय

इस बात की उसे चिन्ता नहीं थी कि उन देशों पर इन युद्धों का क्या असर पड़ता है। फ्रांस की गिनती यूरोप के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में थी। बिस्मार्क को विश्वास था कि फ्रांस को हरा देने से जर्मनी की गिनती प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों मे होने लगेगी। फ्रांस की राजनीतिक दलबंदियों, नैपोलियन तृतीय के निकम्मेपन और उसकी सैनिक सहायता से वह भली भाँति परिचित था, और फ्रांस की इस कमजोरी का उसने अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहा। फ्रांस को पराजित करने के बाद जर्मनी ने उस पर सख्त से सख्त शर्तें लादीं। लड़ाई के हर्जाने के रूप मे उसे एक बड़ी रकम देने पर विवश किया गया, और जबतक वह अदा न कर दी गई, तब तक फ्रांस के कई सीमान्त प्रदेशों पर जर्मनी की फौजों का एकाधिपत्य रहा। परन्तु सबसे निर्मम शर्त जो फ्रांस पर लादी गई वह यह थी कि एलसेस और लॉरेन नाम के दो प्रान्त उससे छीन लिए गए। यह वह जख्म था, जो फ्रांस की संवेदनशील राष्ट्रीयता कभी भुला न सकी। यह निश्चय था कि इस अपमानजनक पराजय के बाद फ्रांस अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेगा और अन्य देशों से सहायता लेकर जर्मनी से प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध होगा।

इस विषय के बाद बिस्मार्क ने फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए सब कुछ किया, पर वह उसे एल्सेस और लॉरेन लौटाने के लिए राजी नहीं हुआ। क्योंकि ऐसा करने से जर्मनी की राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचने की सम्भावना थी। दूसरी ओर फ्रांस जर्मनी की शक्ति एल्सेस और लॉरेन को वापस लेने के लिए अपना बढ़ाने का प्रयत्न सब कुछ न्योछावर कर देने के लिए तैयार था।
बिस्मार्क ने यह प्रयत्न किया कि वह फ्रांस को यूरोप के किसी अन्य राष्ट्र से निकट के सम्बन्ध स्थापित न करने दे। ब्रिटेन की ओर से उसे चिन्ता न थी क्योंकि वह इन दिनों यूरोप के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं ले रहा था, और एक ऐसी नीति पर चल रहा था जिसे "शानदार तटस्थता" (Splendid Isolation) की नीति कहने में उसे सन्तोष का अनुभव होता था। इटली कमजोर था, और जर्मनी से कहीं उसकी सीमाओं का स्पर्श नहीं होता था। बिस्मार्क ने अपना सारा ध्यान आस्ट्रिया और रूस से निकट के सम्बन्ध बनाने पर दिया, क्योंकि उसे डर था कि यदि इनमें से कोई राष्ट्र फ्रांस से मिल गया, तो जर्मनी को उससे खतरा रहेगा। इस सगठन को दृढ़ बनाने की दृष्टि से जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के सम्राटों में कई सम्मेलन हुए और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर चर्चा और समझौते हुए।

परन्तु बिस्मार्क को बहुत जल्दी इस बात का पता लग गया कि आस्ट्रिया और रूस दोनों को एक साथ रखना कठिन होगा, क्योंकि इन दोनों के स्वार्थ दक्षिण-पूर्वी यूरोप में एक दूसरे से टकराते थे। दोनों ही बड़ी बेचैनी से तुर्की साम्राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय प्रति नष्ट भ्रष्ट हो जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे जिससे यूरोप ... का विभाजन के प्रदेशों को हड़प सकें। बल्कान देशों पर दोनों की गृद्ध-दृष्टि गड़ी हुई थी। १८७५ में बोस्निया के प्रश्न को लेकर रूस और आस्ट्रिया में मनमुटाव बढ़ गया। इसके दो वर्ष बाद जब रूस ने तुर्की के सुल्तान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और सैन-स्टीफानो की सधि (Treaty of San Stephano) में रूस पर कुछ कड़ी शर्तें लाद दीं तब तो आस्ट्रिया बहुत घबरा गया। ब्रिटेन भी रूस की इस विजय से असन्तुष्ट था। दोनों ने मिलकर सारी समस्या को एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के सामने प्रस्तुत करने का प्रस्ताव रखा। जर्मनी ने उनका साथ दिया।

१८७८ में बर्लिन में इस प्रकार का सम्मेलन हुआ। बिस्मार्क का दावा था कि इस सम्मेलन में उसने ईमानदार दलाल का काम किया; पर सम्मेलन के निर्णयों से रूस संतुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि बर्लिन की संधि ने उसे उन बहुत से लाभों से वंचित कर दिया, जो उसने सैन स्टीफानो में प्राप्त किए थे। इसके बाद भी बिस्मार्क ने रूस को अपने साथ रखने का पूरा प्रयत्न किया, पर रूस के मन में जो फाँक पड़ गई वह फिर मिट नहीं सकी। जर्मनी के प्रति उसका अविश्वास बढ़ता ही गया।

इन परिस्थितियों में बिस्मार्क ने जर्मनी और आस्ट्रिया के बीच एक रक्षात्मक संधि की, जिसके अनुसार प्रत्येक देश पर यह बाध्यता थी कि यदि दूसरे पर किसी अन्य देश के द्वारा आक्रमण किया जाए, तो वह अपनी संपूर्ण शक्ति से उसकी सहायता करेगा। कुछ ही वर्षों के बाद इटली ने भी जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ इसी प्रकार का एक समझौता किया जिसके परिणामस्वरूप ये तीनों देश एक दृढ़ संबंध में बँध गए। मध्य यूरोप के इन तीन राष्ट्रों के बीच की इस संधि का स्वरूप रक्षात्मक था। इसका अर्थ यह था कि इनमें से कोई भी देश अपने साथी देश की सहायता के लिए तब तक विवश नहीं था, जब तक किसी बाहरी देश के द्वारा उस पर आक्रमण ही न किया जाए।

जर्मनी और आस्ट्रिया का गठबंधन

रक्षात्मक होते हुए भी केन्द्रीय यूरोप के राष्ट्रों के इस गठबंधन का परिणाम यह निकला कि फ्रांस और रूस ने अपने संबंधों को दृढ़ बनाया। फ्रांस और रूस में किसी भी प्रकार का साम्य नहीं था — एक पश्चिमी यूरोप का गणतंत्र राज्य था, दूसरा पूर्वीय यूरोप का एक तानाशाह देश। परंतु केन्द्रीय यूरोप के इस त्रि-राष्ट्रीय संगठन ने उन्हें इस बात के लिए विवश किया कि वे सारी असमानताओं को भुलाकर मैत्री के एक निकटतम सूत्र में अपने को बाँध लें। ब्रिटेन की बाह्य नीति कई वर्षों तक डाँवाँडोल रही। उसका यह विश्वास था कि यूरोप की यह गुटबंदी महाद्वीप के आन्तरिक प्रश्नों के संबंध में है जिनसे उसका कोई संबंध नहीं और वह मजे में तटस्थता की अपनी इस नीति पर चलता रह सकता है। पर यूरोप के देशों का बढ़ता हुआ साम्राज्यवाद संसार के कोने कोने में उसके स्वार्थों पर चोट कर रहा था। एशिया में, विशेषकर

जर्मनी और आस्ट्रिया के समझौते की प्रतिक्रिया

चीन में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से वह बहुत अधिक सशंकित था। इसे रोकने के उद्देश्य से उसने १९०२ में जापान के साथ एक समझौता किया। इस समझौते से जापान की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ी और उसकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को भी प्रोत्साहन मिला, जिसका यह परिणाम हुआ कि १९०४-५ में पूर्व का यह महत्त्वाकांक्षी बौना रूसी दैत्य से जा भिड़ा और युद्ध में उसे बुरी तरह पराजित किया। यह पहला अवसर था जब कि एक बड़े यूरोपीय देश को एक छोटे, पर संगठित एशियाई देश के हाथों पराजय का सामना करना पड़ा था।

ब्रिटेन और फ्रांस के पारस्परिक सम्बन्ध

उधर, यूरोप में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया, पर बार बार किए जानेवाले समझौते के इन प्रस्तावों को जर्मनी ने प्रत्येक बार ही ठुकरा दिया, क्योंकि जर्मनी को भय था कि यदि वह ब्रिटेन के साथ समझौता कर लेगा तो उसे सदा के लिए एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति बने रहना होगा। वह तो ब्रिटेन की बराबरी करने और यदि संभव हो तो उससे आगे बढ़ जाने का प्रयत्न कर रहा था, और इसके लिए ब्रिटेन से युद्ध करने के लिए तैयार था। जर्मनी द्वारा अपमानित और लाञ्छित होकर ब्रिटेन फ्रांस की ओर मुड़ा। ब्रिटेन और फ्रांस का औपनिवेशिक और व्यापारिक संघर्ष बहुत पुराना था और अब भी न्यूफाउण्डलैण्ड (New foundland), मैडागास्कर (Madagascar) और स्याम (Siam) आदि को लेकर दोनों में काफी मतभेद था, और मिस्र और मोरक्को के मामलों में तो यह मतभेद खुले संघर्ष का रूप लेने की धमकी दे रहा था। परन्तु जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति और फ्रांस और रूस की महत्त्वाकांक्षाओं से सशंकित ब्रिटेन ने १९०४ में फ्रांस के साथ एक समझौता किया, जिसमें इन सभी प्रश्नों को बड़ी उदारता के साथ इन समस्याओं को सुलझा लिया। मिस्र में फ्रांस ने ब्रिटेन के प्रभुत्व को मान लिया और मोरक्को में ब्रिटेन ने फ्रांस की प्रधानता का समर्थन करने की प्रतिज्ञा की।

ब्रिटेन और फ्रांस का यह समझौता भी आकस्मिक संकट की स्थिति में सुरक्षा की दृष्टि से ही किया गया था। परंतु इससे जर्मनी की आशंकाओं का बढ़ जाना उतना ही स्वाभाविक था जितना जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के समझौते से फ्रांस के भय का बढ़ना। जर्मनी को सबसे बड़ी

आशा यह थी कि जिस फ्रांस को एकाकी बना देना उसकी विदेश नीति का अब तक सबसे बड़ा लक्ष्य था वह अब एक ओर तो रूस के साथ एक प्रगाढ़ मैत्री के संबंध में आबद्ध हो गया था, और दूसरी ओर ब्रिटेन से उसका दृढ़ संबंध बनता जा रहा था। जर्मनी की दृष्टि में उसकी विदेश-नीति की यह एक बड़ी पराजय थी। परंतु वस्तुस्थिति से समझौता करने के लिए वह तैयार नहीं था। उसके सामने तो एक ही मार्ग था—अपनी राष्ट्रीय शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाते जाना। बिस्मार्क, रून (Roon) और मोल्टके (Moltke) ने जर्मनी को एक सशक्त सेना दी थी। कैसर विलियम द्वितीय उसके जहाजी बेड़े को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया। जर्मनी के उस समय के गुप्त सरकारी कागज पत्रों को देखने से अब यह स्पष्ट हो गया है कि अपने जहाजी बेड़े की शक्ति को बढ़ाने में जर्मनी का उद्देश्य केवल यही था कि वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बढ़ा सके। इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े से टक्कर लेने की कोई कल्पना उसके मन में न थी। परंतु इंग्लैण्ड ने उसके इस प्रयत्न को गहरे अविश्वास की दृष्टि से देखा। इंग्लैण्ड यह मानता था कि जर्मनी को एक बड़ी फौज रखने की आवश्यकता तो है, पर वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि अपने जहाजी बेड़े को बढ़ाना भी उसके लिए आवश्यक हो सकता है। बाद में तो जर्मनी और ब्रिटेन के बीच समझौते की सारी बातचीत केवल इसी कारण बार बार टूटती रही कि जर्मनी का कहना था कि इंग्लैण्ड यदि उसके साथ अन्य राजनीतिक मामलों के संबंध में समझौता करने को तैयार हो, तो वह अपने जहाजी बेड़े को कम कर सकेगा, और इंग्लैण्ड इस बात पर अड़ा रहा कि जब तक जर्मनी अपने जहाजी बेड़े को कम नहीं करता, वह उससे किसी भी राजनीतिक प्रश्न पर बातचीत करने के लिए तैयार नहीं होगा।

जर्मनी की भावनाएँ

अविश्वास के इस वातावरण से इंग्लैण्ड ने यह आवश्यक समझा कि वह फ्रांस के अतिरिक्त अन्य देशों से भी निकट के संबंध स्थापित करे। फ्रांस और रूस की मैत्री इतनी प्रगाढ़ थी कि फ्रांस से समझौता करने के बाद इंग्लैण्ड के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह रूस से भी अपने संबंधों को सुधारे। इंग्लैण्ड और रूस के बीच भी मतभेद के बड़े गहरे कारण उपस्थित थे। उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की विदेश नीति

का एक प्रमुख उद्देश्य रूस के साम्राज्य विस्तार को रोकना था। तिब्बत, ईरान और अफगानिस्तान में अब भी इंग्लैण्ड और रूस के स्वार्थ आपस में टकरा रहे थे। परंतु जर्मनी के समान विरोध ने इन दोनों देशों के अपने पुराने संघर्ष और प्रतिस्पर्धाओं को भुलाकर इंग्लैंड और रूस को मिलाने पर विवश किया। १९०५ में जापान के हाथों रूस की पराजय ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि रूस उतना सशक्त नहीं है जितना इंग्लैंड उसे समझता था। इन परिस्थितियों में १९०७ में इंग्लैण्ड और रूस में एक समझौता हुआ, जिसमें झगड़े की सभी समस्याओं को बड़ी कुशलता के साथ सुलझा लिया गया और दोनों देशों ने एक-दूसरे का साथ देने का वादा किया। तिब्बत में इंग्लैण्ड और रूस दोनों ही देशों ने हस्तक्षेप न करने का निश्चय किया, अफगानिस्तान में रूस ने अंग्रेजों की वैदेशिक नीति पर नियंत्रण रखने के अधिकार को मान लिया और ईरान को तीन भागों में बाँट दिया गया, जिनमें से प्रत्येक पर क्रमशः रूस, ईरान के शाह और इंग्लैण्ड का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। १९०४ के इंग्लैंड और फ्रांस के समझौते के बाद १९०७ में इंग्लैंड और रूस के बीच इस समझौते का अर्थ यह हुआ कि इंग्लैंड, फ्रांस और रूस तीनों मित्रता की एक दृढ़ कड़ी में बँध गए। यूरोप, इस प्रकार स्पष्ट रूप से, दो विभिन्न गुटों में बँट गया था। एक में केन्द्रीय यूरोप के साम्राज्यवादी देश, जर्मनी, आस्ट्रिया हंगरी और इटली थे, दूसरे में इंग्लैण्ड, फ्रांस और रूस। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इन दोनों गुटों की प्रतिस्पर्धा एक भयंकर रूप लेती गई।

इन दोनों गुटों में वास्तविक युद्ध तो १९१४ में आरंभ हुआ, पर संकटों के विस्फोट एक के बाद एक लगातार होते रहे। प्रत्येक संकट' ने युद्ध की स्थिति को और समीप लाने में सहायता पहुँचाई। १९०५ में मोरक्को के प्रश्न को लेकर पहले संकट का कार 'संकट' की उत्पत्ति हुई। जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांसीसी साम्राज्य के विस्तार को रोकना चाहा, पर रूस और इंग्लैंड की सहायता से फ्रांस ने जर्मनी के प्रयत्नों को असफल कर दिया। इसके बाद ही फ्रांस और इंग्लैंड ने आपस में कई सैनिक समझौते इस उद्देश्य से किए कि यदि जर्मनी ने फिर कभी उनके मार्ग में बाधा उपस्थित करने की चेष्टा की,

तो वे उसका सशस्त्र विरोध कर सकें। १९०८ में आस्ट्रिया के द्वारा बोस्निया पर अधिकार कर लिए जाने से यूरोप में एक बार फिर 'संकट' की स्थिति उत्पन्न हो गई। आस्ट्रिया की कार्यवाही का सीधा प्रभाव रूस की बल्कान संबंधी महत्वाकांक्षाओं पर पड़ा था। फ्रांस ने रूस का साथ देने के अपने आश्वासन को दोहराया और जर्मनी ने यह स्पष्ट कह दिया कि वह आस्ट्रिया का परित्याग कदापि नहीं करेगा, पर संकट इस बार भी टल गया। १९११ में अगादीर की समस्या को लेकर, जिसका जन्म मोरक्को के प्रश्न में जर्मनी के हस्तक्षेप के दूसरे प्रयत्न में हुआ था, तीसरी बार फिर 'संकट' का डाइल मॅंडराए। वे छितर भी नहीं पाए थे कि १९१२ में बल्कान-युद्धों का आरम्भ हो गया। बल्कान राष्ट्रों ने एक बार तो अपने संयुक्त प्रयत्नों से टर्की को हरा ही दिया पर शीघ्र ही उनमें आपस में फूट पड़ जाने के कारण विजय के परिणामों से उन्हें वंचित रह जाना पड़ा। आस्ट्रिया और जर्मनी जो टर्की के ध्वंसावशेषों पर अपने साम्राज्यों के प्राचीर खड़े करने के स्वप्न देख रहे थे, छोटे बल्कान देशों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सह नहीं सकते थे। उन्होंने टर्की का साथ दिया। परन्तु फ्रांस और इंग्लैण्ड की सहायता से रूस ने टर्की का विरोध किया। इन घटनाओं ने वातावरण को इतना विक्षुब्ध बना दिया कि राष्ट्रों के इन दो विरोधी समूहों में, जिनमें यूरोप के सभी प्रमुख देश बँट गए थे, एक विश्वव्यापी निर्मम महायुद्ध की लपटों में झोंक देने के लिए केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी।

वह चिनगारी एक अज्ञात सर्ब देशभक्त के द्वारा बोसनिया की सीमा में, आस्ट्रिया के निकम्मे राजकुमार की मूर्खतापूर्ण हत्या के रूप में सुलग उठी। इस हत्या से आस्ट्रिया में रोष की एक लहर दौड़ गई। वह प्रतिशोध लेने पर तुल पड़ा। परन्तु वह जानता था कि सर्बिया पर
आक्रमण करने का अर्थ होगा रूस के विरुद्ध युद्ध
महायुद्ध का आरंभ करने के लिए तैयार रहना, क्योंकि रूस बल्कान में
आस्ट्रिया की किसी भी आक्रमणात्मक कार्यवाही को
अब सहन करने के लिए तैयार नहीं था। आस्ट्रिया ने सारी स्थिति को जर्मनी के सामने रखा। जर्मनी रूस से युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में आस्ट्रिया को पूरी सहायता देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध था ही। उसकी अनुमति से आस्ट्रिया ने सर्बिया को 'अल्टीमेटम' दे दिया और उसकी

समाप्ति पर युद्ध की घोषणा कर दी। सर्बिया को आस्ट्रिया के हमले से बचाने के लिए रूस आगे बढ़ा और रूस के युद्ध में शामिल होते ही फ्रांस उसमें कूद पड़ा। युद्ध में फ्रांस के भाग लेने का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि वह एल्ज़ास लारेन और लॉरेन को एक बार जर्मनी के हाथों से छीन लेना चाहता था। जर्मनी इस चुनौती का प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार बैठा ही था। आस्ट्रिया को, रूस और फ्रांस के विरोध में अकेला छोड़ देना स्वयं उसके अस्तित्व के लिए खतरनाक था। जर्मनी का अपने निकटतम साथी की रक्षा के लिए युद्ध में जूझ जाना अनिवार्य था। इंग्लैण्ड कुछ समय तक अनिश्चित की सी स्थिति में रहा, पर फ्रांस और रूस से वह इतनी दृढ़ सन्धियों में बँधा हुआ था कि उसका युद्ध से बाहर रहना असम्भव था। अपने साथियों को युद्ध में प्रवृत्त होने से रोकने का न इंग्लैण्ड ने कोई प्रयत्न किया और न जर्मनी ने, मानो वे इस बात को जानते थे कि युद्ध तो अनिवार्य है और उनमें प्रत्येक को यह भी विश्वास था कि उसकी अपनी शक्ति इतनी बढ़ी हुई है कि शत्रु उसके सामने अधिक दिनों तक टिक नहीं सकेगा।

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध का आरंभ हुआ। युद्ध का दावानल जब एक बार सुलग उठा, तो वह चार वर्ष और कुछ महीनों तक अपने पूरे वेग से धधकता रहा। संसार का कोई महाद्वीप और कोई समुद्र उसकी लपटों से सुरक्षित न रह सका— युद्ध का देवता जैसे एक के बाद एक, सभी देशों को उसमें झोंक देने के लिए कटिबद्ध बैठा हो। इटली ने मध्य-यूरोप के राष्ट्रों को धोखा देकर, कुछ प्रदेशों के थोथे प्रलोभन में, मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया। जापान ने, सुदूर पूर्व के जर्मन प्रदेशों और द्वीप-समूहों को हथियाने की दृष्टि से, जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। टर्की ने मध्य-यूरोपीय राष्ट्रों का साथ दिया। अमरीका भी युद्ध में खिंच आया—तटस्थता के उसके सारे सिद्धान्त एक ओर रह गए। युद्ध के समाप्त हो जाने पर वह स्वयं इस बात का निश्चय न कर सका कि वह युद्ध में शामिल क्यों हुआ था और इंग्लैण्ड के प्रचार पर उसने उसका सारा दोष मढ़ा। 'संसार को जनतन्त्र के लिए सुरक्षित रखने' और 'युद्ध का अन्त करने' के लिए लड़े जानेवाले इस युद्ध ने लाखों निर्दोष व्यक्तियों के जीवन का अन्त कर दिया और करोड़ों के

महायुद्ध की विभीषिका

जीवन में शून्यता, दारिद्रय और विषाद की सृष्टि की, और जब उसका अन्त हुआ तब उसमें हारनेवाले देश तो नष्ट हुए ही, विजयी राष्ट्रों की समस्त आर्थिक व्यवस्था इस बुरी तरह से चकनाचूर हो गई कि उनमें से अधिकांश उसके दुष्परिणामों से कभी मुक्त नहीं हो सके और उनका नैतिक पतन और राजनीतिक विघटन एक तीव्र गति से बढ़ता ही गया।

युद्ध के कारण

यह युद्ध लड़ा ही क्यों गया था? लड़ाई का अंत होने पर विजयी राष्ट्रों ने पराजित जर्मनी से यह स्वीकार करा लिया कि युद्ध का दायित्व उसी पर था, और इस स्वीकृति के आधार पर, युद्ध का हर्जाना देने की शर्त उस पर लादी गई। पर आज तो सभी देशों के उस समय के गुप्त सरकारी कागज़-पत्र इतिहास के विद्यार्थी के लिए उपलब्ध हैं और उन्हें देखकर यह निश्चित करना असंभव हो जाता है कि युद्ध की जिम्मेदारी किसकी मानी जाए। सच तो यह है कि जब युद्ध का मुख्य उत्तरदायित्व किसी भी देश पर नहीं रखा जा सकता था, यह कहना भी कठिन होगा कि किसी भी देश को उससे मुक्त किया जा सकता है। दोष सभी का था—किसी का कुछ कम, किसी का कुछ अधिक। और देशों से अधिक दोष उन प्रवृत्तियों और उन कार्यवाहियों का था, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अनिवार्य अंग बन गई थीं। राष्ट्रवाद की भावना सभी देशों में उग्र रूप लेती जा रही थी। और कई देशों में जहाँ यह जातीयता की भावना से सम्बद्ध हो गई थी, वह अत्यन्त भयंकर हो उठी थी। धार्मिक स्थानों, शिक्षण-संस्थाओं, सांस्कृतिक पर्वों—सभी में, पग-पग पर व्यक्ति को अपने देश को बड़ा मानने, उसके लिए अपने को उत्सर्ग कर देने और अन्य देशों को छोटा और हेय समझने और यदि वे सिर उठाने का साहस करें, तो उन्हें कुचल देने के लिए तैयार रहने की शिक्षा दी जाती थी। पर राष्ट्रवाद की इस भावना के पीछे ट्यूटन जाति की एकता अथवा स्लाव जाति की एकता की जातीय भावना भी काम कर रही थी। एक को जर्मनी से प्रेरणा दी जा रही थी और दूसरी को रूस से। इस युग के साहित्य में भी हमें इस जातीय आधार पर संगठित होनेवाले राष्ट्रवाद का पूरा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। जातीय राष्ट्रवाद के साथ ही आर्थिक साम्राज्यवाद की भावना भी काम कर रही थी। दुनिया के कच्चे माल और दुनिया की मंडियों पर आधिपत्य के लिए भी यह युद्ध

लड़ा गया था। प्रतिस्पर्धा साम्राज्यों के लिए थी। इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस महान् साम्राज्यों के अधिपति थे। जर्मनी और इटली उपनिवेशवाद की भूख से पीड़ित थे, पर लगभग सभी प्राप्य उपनिवेशों पर उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने पहले से ही अधिकार जमा रखा था और इस अधिकार को वे शक्ति रहते, शिथिल होने देने के लिए तैयार नहीं थे। इस कारण शक्ति से उन पर आक्रमण अनिवार्य दिखाई दे रहा था। दूसरी ओर जर्मनी का आर्थिक साम्राज्यवाद इस तेजी से बढ़ चला था कि इंग्लैंड सशंकित हो उठा था और उस पर एक घातक प्रहार करने के लिए बेचैन था।

युद्ध का दायित्व सभी देशों पर था, इसका अनुमान तो इस बात से ही लगाया जा सकता है कि १९१४ में सभी देश युद्ध के लिए पूरी तौर से तैयार थे। उनकी सेनाएँ युद्ध के सामान से सुसज्जित थीं और उनसे कई गुना अधिक व्यक्तियों को सैनिक शिक्षा दी जा चुकी थी और किसी भी क्षण युद्ध के मैदान पर उन्हें बुलाया जा सकता था। लड़ाई के भयंकर से भयंकर जहाज बनाए जा रहे थे। शासन लगभग सभी देशों में सैनिक-वर्ग के लोगों के हाथ में था। शान्ति और समझौते की बात करने के लिए किसी को अवकाश न था। प्रत्येक देश अपने साथी देशों के साथ गुप्त समझौतों और सैनिक दाँव-पेचों की व्यवस्था करने में लगा हुआ था। सभी गुप्त समझौते भयंकर थे अथवा सभी सैनिक दाँव-पेच आक्रमण की दृष्टि से ही सोचे जा रहे थे, यह बात नहीं थी, पर पारस्परिक अविश्वास इतना घना हो गया था कि एक दल में इस प्रकार की हल्की-सी चर्चा भी दूसरे दल के लिए शंकाओं और कुशंकाओं का कारण बन जाती थी और उसे अपनी युद्ध की प्रकट और गुप्त सभी तैयारियों को और दृढ़ बनाने की प्रेरणा देती थी। जहाँ प्रतिस्पर्धा इतनी तीव्र हो और अविश्वास इतना गहरा, वहाँ शान्ति का कोई भी प्रयत्न निष्फल हुए बिना नहीं रह सकता था।

अभ्यास के प्रश्न

१—बिस्मार्क की विदेश-नीति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त कीजिए। बिस्मार्क की नीति को कहाँ तक प्रथम महायुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है?

२—प्रथम महायुद्ध के पहले यूरोप के राज्यों के दो गुटों में बँट जाने का संक्षिप्त इतिहास बताइए।

३—प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ किन परिस्थितियों में हुआ? उसके कारणों का विश्लेषण करने का प्रयत्न कीजिए।

४—प्रथम महायुद्ध को क्या किसी प्रकार रोका जा सकता था? इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति दीजिए और उन साधनों का उल्लेख कीजिए, जिनका उपयोग आपकी समझ में आवश्यक था।

विशेष अध्ययन के लिए

1 Fay, S B.: Origins of The World War.
3 Hazen, C. D : Europe Since 1815
3 Simons, F. H., and Brooks Emeny · The Great Powers in World Conflict

अध्याय १३

पददलित देशों में स्वाधीनता के आन्दोलन

यूरोपीय साम्राज्य-वाद का स्वरूप

यूरोप के जिन देशों ने एशिया और अफ्रीका में अपने साम्राज्यों की स्थापना की थी, उनका मुख्य उद्देश्य संभवतः राजनीतिक नहीं था। उनमें से अधिकांश व्यापारी की हैसियत से इन देशों में आये थे। वे यहाँ पर व्यापार करना चाहते थे ईमानदारी से, यदि संभव हो और बेईमानी और जोर जबरदस्ती से यदि आवश्यकता पड़ जाए। साम्राज्य स्थापित करने की कोई निश्चित योजना लेकर ये लोग नहीं आये थे। एशिया और अफ्रीका के इतिहास में ये शताब्दियाँ राजनीतिक विघटन और अकेन्द्रीकरण की शताब्दियाँ थीं। प्रादेशिक शक्तियाँ आपसी युद्धों में लगी हुई थीं। व्यापार के लिए शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता थी। आपस में झगड़नेवाली प्रादेशिक शक्तियों ने प्रायः विदेशी व्यापारियों का पल्ला पकड़ा और उनसे प्रार्थना की कि उनकी सहायता करें और उस सहायता के बदले में बड़े-बड़े लालच उनके सामने रखे। इस बीच विदेशी व्यापारियों ने व्यापार की सुरक्षा की दृष्टि से किले बनाने शुरू कर दिये थे। और उनकी रक्षा के लिए फौजें रखने लगे थे। ये फौजें सुसंगठित और सुसंचालित थीं। यूरोप की फौजों के ढंग पर उनका संगठन किया गया था। कई बार देशी लोगों को भी फौज में भरती करके यूरोपीय ढंग की ट्रेनिंग दे दी गई थी। इन संगठित फौजों को लेकर, दूसरों के आमंत्रण पर अथवा अपनी प्रेरणा से, जब कभी यूरोपीय शक्तियाँ आन्तरिक संघर्षों में भाग लेती थीं, उनका हस्तक्षेप प्रभावशाली होता था। उनका वजन इतना होता था कि विजय का पलड़ा उनके बोझ से दब जाता था। एक के बाद दूसरे आन्तरिक विद्रोहों में से होते हुए यूरोप के व्यापारी एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में अपने साम्राज्यों की स्थापना करने में सफल हुए।

पददलित देशो का आर्थिक शोषण

परंतु एशिया और अफ्रीका के देशों मे स्थापित होनेवाले और फैलनेवाले यूरोपीय शक्तियों के ये साम्राज्य इन देशों के पुराने साम्राज्यों से भिन्न प्रकार के थे। इनका उद्देश्य अपने साम्राज्यों की सीमान्त रेखाओं को विस्तीर्ण बनाकर एक वैभवशाली दरबार की स्थापना कर लेने और अपनी शान शौक़त के भड़कीले प्रदर्शन के संतोष प्राप्त कर लेना नहीं था। इनका उद्देश्य तो अपने व्यापार को फैलाना था। इधर, इनके व्यापार का स्वरूप भी तेजी के साथ बदल रहा था। इन देशों मे एक महान् औद्योगिक क्रान्ति का विकास हो रहा था। अब इन व्यापारियों का उद्देश्य एक स्थान से माल को दूसरे स्थान पर थोड़ा सा लाभ लेकर बेच देना और जहाँ तक संभव हो सके, उस देश का माल सस्ते भाव में खरीद लेना नहीं था। अब उनकी बड़ी फैक्टरियाँ, बड़े परिमाण में वैज्ञानिक साधनों से तैयार किया हुआ माल उगल रही थीं, और इन व्यापारियों का काम यह था कि वे उस तैयार किए हुए माल को विदेशों मे, और विशेषकर अपने साम्राज्य की मंडियों मे खपाते जाएँ और उन देशों से कच्चा माल ढो-ढोकर अपनी फैक्टरियों के दरवाजों पर लाकर इकट्ठा कर दें। विदेशी आधिपत्य के इस नए स्वरूप का परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशों के समस्त आर्थिक ढाँचे को बदल देने का प्रयत्न आरंभ करा दिया गया। समाज-व्यवस्था के इस परिवर्त्तन से उपनिवेशों को लाभ न पहुँचा हो, यह बात नहीं थी। इन देशों का उत्पादन बड़ी तेजी के साथ बढ़ गया। जगह-जगह जंगल साफ किए गए, दलदलों को पीटा गया और ऐसी भूमि को कृषि के लिए तैयार किया गया, जिसका इस दृष्टि से कभी उपयोग नहीं किया गया था। सड़कों और रेलगाड़ियों का जाल सभी उपनिवेशों में फैलता चला गया। चावल और रबड़ की पैदावार बढ़ी। कोयले और लोहे की खानों को खोदा गया। इन सबका प्रभाव यह पड़ा कि उपनिवेशों का आर्थिक उत्पादन बढ़ गया। परन्तु उसका लाभ क्या उपनिवेशों के रहनेवालों को मिला? नहीं। उसका वास्तविक लाभ यूरोप के साम्राज्यवादी देशों को मिला। उनकी धन-सम्पत्ति और वैभव-समृद्धि में विकास हुआ। उनके साहित्य को नई प्रेरणा मिली। उनके संगीत के स्वर एक नई इठलाहट से काँप उठे। उनकी चित्रकारी के रंग निखर आए। उनके राजप्रासादों और गिरजाघरों की मीनारें

आकाश को चूमने लगीं। उपनिवेश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनें, परन्तु उपनिवेशों की जनता गरीब और दुःखी होती चली गई।

इन परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह की भावना का फैलना स्वाभाविक था। इन बन्दी बनाए गए जन-समुदाय में तीस करोड़ मुसलमान भी थे, जो विभिन्न उपनिवेशों में बिखरे हुए थे पर; जिनमें से पाँच
अरब देशों में रहते थे। ये लोग आसानी से इस बात को इस्लाम का
नहीं भूल सकते थे कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों विद्रोह
में यूरोप में जिस पुनर्जागृति-युग का उद्‌भव हुआ था,
उसके मूल में उनका वह विकास के शिखर पर पहुँचा हुआ ज्ञान और विज्ञान था, जिसके संपर्क ने यूरोप के लोगों को अपनी प्राचीन संस्कृतियों के जीर्णोद्धार की प्रेरणा दी थी। अभी कुछ समय पहले तक भी वे यूरोप के लोगों की तुलना में सभ्यता की दृष्टि से किसी भी रूप में पीछे नहीं थे। इन मुसलमानों में से अब लगभग पन्द्रह करोड़ अंग्रेजी साम्राज्य में और शेष फ्रांस और इंग्लैंड के साम्राज्यों में थे। १६०२ में मुसलमानों में एकता, और पश्चिम के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व के प्रति विद्रोह की भावना का निर्माण करने के उद्देश्य से एक अखिल-इस्लामी आन्दोलन की नींव डाली गई। संसार भर में बिखरे और अनेक मतमतान्तरों में बँटे हुए मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँध देना सरल नहीं था, और यह आन्दोलन अधिक सफल नहीं हो सका; परंतु उपनिवेशों में पश्चिम के प्रति विद्रोह की भावना की सृष्टि अवश्य की। प्रथम महायुद्ध में टर्की के साम्राज्य को विघटित करने की दृष्टि से, अंग्रेजों ने अरब-राष्ट्रीयता का समर्थन किया। अरबों को आश्वासन यह दिया गया था कि युद्ध के बाद उन्हें एक स्वतन्त्र राज्य का विकास करने का अवसर दिया जायगा। परन्तु विजय प्राप्त कर लेने पर अंग्रेजों ने वचन-भंग करके अरब देशों को अपने और फ्रांस के बीच बाँट लिया ईराक और फिलस्तीन अंग्रेजों के हिस्से आए, सीरिया और लेबनान पर फ्रांस का संरक्षण स्थापित किया गया। अरब विद्रोहों को इंग्लैण्ड और फ्रांस की सेनाओं ने बुरी तरह कुचला; परन्तु ईराक, सीरिया, फिलस्तीन, लीबिया और मिस्र सभी में विद्रोह की ज्वाला निरंतर सुलगती रही। दूसरे महायुद्ध में बहुत से अरब नेताओं ने धुरी राष्ट्रों का साथ दिया। बहुत संभव है कि दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर अरब देशों को

स्वाधीनता मिल जाती। पर इस बीच इराक़, ईरान और सौदी अरब मे तेल के अपार स्रोतों का पता लग चुका था और अंग्रेज और अमरीकी अपनी कंपनियाँ इन देशों मे खोलते जा रहे थे।

अरब देशो की स्वाधीनता और समस्याएँ

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर सीरिया और लेबनॉन को फ्रास के आधिपत्य से मुक्ति मिली। अंग्रेज सीरिया के अमीर अब्दुल्ला को एक 'वृहत् सीरिया' के निर्माण के लिए सहायता दे रहे थे। मिस्र अंग्रेजों की अधीनता के जुए को उतार फेंकने के लिए बेचैन था। मार्च १९४५ मे सभी अरब देशों के नेताओं ने मिलकर अरब लीग की स्थापना की, और मिस्र के आजम पाशा को उसका मंत्री चुना। अरब लीग का उद्देश्य अरब देशों की 'स्वाधीनता और प्रभुसत्ता की रक्षा' और उनके आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग का विकास करना था। अरब लीग को विशेष सफलता नहीं मिल सकी। इसका कारण यह था कि वह सामंतवादी व्यवस्था का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती थी जनसाधारण का नहीं। फिलस्तीन के स्वाधीनता के संघर्ष ने उसकी प्रतिष्ठा को और भी गिराया। अरबों के आधिपत्य से मुक्त होने के लिए यहूदी वर्षों से छटपटा रहे थे और प्रयत्नशील थे। प्रथम महायुद्ध मे अंग्रेजों ने केवल अरबों को एक अरब राज्य के निर्माण मे (जिसमें उनकी दृष्टि से फिलस्तीन का सम्मिलित किया जाना स्वाभाविक था) सहायता देने का आश्वासन दिया था, यहूदियों को भी एक स्वतन्त्र फिलस्तीन की स्थापना का वचन दिया था। पर युद्ध के बाद अंग्रेजों ने स वचन की रक्षा के लिए भी कोई उत्साह नहीं बताया। अरब यहूदी संघर्ष, एक जातीय संघर्ष की समस्त बर्बरता के साथ लगातार चलता रहा। दूसरे महायुद्ध के बाद अंग्रेज फिलस्तीन की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में उदासीन रहे, पर अमरीका और संयुक्तराष्ट्र के प्रयत्नों से, फिलस्तीन का विभाजन करके, यहूदी बहुमतवाले भागों को इजरायल के स्वतन्त्र राज्य मे परिवर्त्तित कर दिया गया। अरबों ने इस निर्णय का विरोध किया और इजरायल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दी। पर उनकी सैनिक दुर्बलता बहुत शीघ्र प्रकट हो गई और इजरायल एक स्वतन्त्र राज्य के रूप मे अपने को संगठित करने के प्रयत्नों मे जुट पड़ा। आज वह छोटे राज्यों मे एक आदर्श राज्य बन गया है।

यरुशलम से यक्षकर्त्ता (Jogiakarta) लगभग तीन हज़ार मील की दूरी पर स्थित है, पर वहाँ की मुस्लिम जनता में भी मध्य-पूर्व के अखिल इस्लामी (Pan Islamic) आन्दोलन का प्रभाव उन बहुत से धार्मिक यात्रियों के द्वारा पहुँचता रहा, जो वहाँ से हज के लिए मक्का और मदीना आते थे। १६१२ में इण्डोनेशिया मे सरेकत इस्लाम नाम की एक संस्था की स्थापना हुई। आरम्भ में ही वह मुसलमानों की आर्थिक उन्नति का उद्देश्य लेकर चली थी और उसने मुसलमानों को चीनियों के आर्थिक प्रभुत्व के विरुद्ध संगठित किया। पर बहुत शीघ्र इस संस्था ने डच साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ मे लिया। १६१७ के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन का लगातार विकास होता रहा। नए राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ। डच शासकों ने दमन का प्रयोग किया। दमन को कुछ समय के लिए कुचला जा सका, पर दूसरे महायुद्ध मे जापान ने इण्डोनेशिया से डच साम्राज्य का अन्त कर दिया और जापान की पराजय के बाद हॉलैण्ड को इण्डोनेशिया को स्वाधीन करने के लिए विवश होना पड़ा। इण्डोनेशिया के समान ही दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों मे साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय विद्रोह एक लम्बे अर्से से चल रहा था। रूस पर जापान की विजय (१६०५), चीन की जनतांत्रिक क्रान्ति (१६११), सनयातसेन के सिद्धान्त, पहले महायुद्ध की घटनाएँ, रूस को साम्यवादी क्रान्ति (१६१७), भारतवर्ष का सत्याग्रह-आन्दोलन, सभी का प्रभाव दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर पड़ रहा था। हिन्द-चीन की जनता फ्रांस के साम्राज्यवाद को अपने देश से हटा देने के लिए प्रयत्नशील थी। मलाया और बर्मा के रहनेवाले, अंग्रेज़ी शासन को समस्त देन के बावजूद, अंग्रेज़ों की राजनीतिक दासता से तंग आ गए थे और उसे समाप्त करने के लिए बेचैन थे। फ़िलीपीन, ऊपर से देखने से, पश्चिमी संस्कृति के रंग में रँगा हुआ दिखाई दे रहा था। वहाँ के अमरीकी शासन के सम्बन्ध में साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि अन्य विदेशी शासनों की तुलना में वह बहुत अधिक उदार था। फ़िलीपीन की जनतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण और विकास मे उन्होंने अधिक सहयोग भी दिया था। पर राजनीतिक स्वाधीनता के लिए फ़िलीपीनी राष्ट्रवादी सदैव संघर्ष करते रहे

दक्षिण-पूर्वी एशिया का विद्रोह

थे। अमरीका के संबंध-विच्छेद से उनकी आर्थिक स्थिति के बहुत अधिक बिगड़ जाने की आशंका थी, पर आर्थिक सुविधाओं के लिए वे राजनीतिक स्वाधीनता का मूल्य देने के लिए तैयार नहीं थे।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्वाधीनता के आन्दोलन सफलता का स्पर्श करते हुए दिखाई दिए। १९४६ में फिलीपीन को स्वतंत्र घोषित कर दिया गया। १९४७ में भारतवर्ष और पाकिस्तान को स्वाधीनता मिली। १९४८ में बर्मा और श्रीलंका अंग्रेजी आधिपत्य से मुक्त हुए। १९४९ में इंडोनेशिया ने स्वाधीनता प्राप्त की। मलाया और हिन्दचीन में आज भी संघर्ष चल रहा है, पर उसका कारण यह नहीं है कि ब्रिटेन और फ्रांस अपने साम्राज्यवाद को मिटने देना नहीं चाहते। इन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन कम्युनिस्ट तत्त्वों के हाथ में हैं और ब्रिटेन और फ्रांस को भय है कि वे देश यदि स्वाधीन हो गए, तो उनकी वैदेशिक नीति और आन्तरिक मामलों पर रूस का बहुत अधिक प्रभाव होगा और इस प्रकार साम्यवादी देशों की शक्ति को बल मिलेगा। पर इसमें संदेह नहीं कि मलाया और हिन्दचीन की स्वाधीनता को बहुत अधिक समय तक के लिए टाला नहीं जा सकता। स्वाधीनता की भावना आज तो सभी उपनिवेशों में इतनी गहरी और व्यापक हो गई है कि साम्राज्यवाद का अस्तित्व अब टिक नहीं सकेगा। पूर्वी और केन्द्रीय अफ्रीका के अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष तीव्र होता जा रहा है। सूडान मिस्र के आधिपत्य से और मिस्र ब्रिटेन के प्रभाव से अपने को मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। ट्यूनीशिया और मोरक्को में फ्रांस के साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह अपनी चरम सीमा पर है, दूर, दक्षिणी अमरीका में गायना जैसा छोटा-सा देश भी, अन्य देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों से प्रेरणा पाकर, अंग्रेजी शासन को निर्मूल कर देने के लिए कटिबद्ध दिखाई देता है।

उपनिवेश स्वाधीनता के पथ पर

ब्रिटेन के संबंध में एक आश्चर्यजनक बात यह रही है कि अपने देश का शासन जनतंत्र की दिशा में करते हुए भी उसने संसार में एक ऐसे बड़े साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था। इस सारे साम्राज्य के लिए कानून बनाने और कानून को अमल

मे लाने की सारी जिम्मेदारी ब्रिटेन की लोकसभा पर थी। ये कानून ब्रिटेन की जनता के लाभ के लिए ही बनाए जाते थे, उपनिवेशों के लिए नहीं। यह तो स्वाभाविक ही था, पर इसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। पहला विस्फोट अमरीका के स्वातन्त्र्य युद्ध के रूप में हुआ। अमरीका की स्वाधीनता को तो इंग्लैण्ड रोक नहीं सका, पर उसके बाद से उसने अपनी नीति को बहुत कुछ बदल दिया। १८३९ की प्रसिद्ध डरहम रिपोर्ट की सिफारिशें और १८६८ मे कनाडा के संघ का निर्माण अंग्रेजी साम्राज्यवाद की बदली हुई नीति के द्योतक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त मे औपनिवेशिक सम्मेलनों का आरंभ हुआ, जिनका अर्थ था कि ब्रिटेन और अन्य उपनिवेशों के प्रधानमंत्री समय समय पर मिलकर सामान्य समस्याओं के संबंध मे सलाह मशविरा कर सकें। प्रथम महायुद्ध के बाद यह नीति और भी तेजी के साथ अपनाई गई। उपनिवेश के स्थान पर अब 'कॉमनवेल्थ' शब्द काम मे लाया जाने लगा। शान्ति-सम्मेलन म उपनिवेशों के प्रतिनिधि भी मौजूद थे और लीग ऑफ नेशन्स के सदस्य भी। वे स्वतंत्र रूप से अपना निर्णय बनाते थे और अन्य सार्वभौम राज्यों के समान संधियों पर हस्ताक्षर भी उन्होंने अलग-अलग ही किए।

'कॉमनवेल्थ का कायाकल्प

१९२६ के साम्राज्य-सम्मेलन में इस संबंध मे एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित किया गया, जिसमें कहा गया कि ब्रिटेन और उपनिवेश "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त शासन संपन्न ऐसे समाज हैं, जो प्रतिष्ठा में एक दूसरे के समकक्ष हैं, अपने घरेलू अथवा बाहरी मामलों में किसी भी प्रकार से एक-दूसरे के मातहत नहीं हैं, यद्यपि सम्राट् के प्रति सामान्य निष्ठा के द्वारा वे एक सूत्र में बँधे हुए हैं और अपनी स्वतंत्र इच्छा से अंग्रेजी कॉमनवेल्थ के सदस्य हैं।" इस रिपोर्ट मे यह भी कहा गया कि "साम्राज्य का प्रत्येक स्वयं शासित सदस्य अपने भाग्य का विधाता है किसी प्रकार का दबाव उस पर नहीं है स्वतंत्र सहयोग उसकी जीवन स्नायु है। स्वतंत्र सहयोग उसका साधन है।' १९३१ की एक घोषणा (Statue of Westminster) के अनुसार सभी अंग्रेज उपनिवेशों को कानून की दृष्टि से पूरी स्वतंत्रता मिल गई। इंग्लैण्ड की पार्लियामेन्ट को

अंग्रेज उपनिवेशों की बढ़ती हुई स्वतंत्रता

अब इस अधिकार से वंचित कर दिया गया कि उसके बनाए हुए क़ानून उपनिवेशों पर लादे जा सकें। सम्राट् की सत्ता को सभी उपनिवेशों ने स्वीकार किया था, पर क़ानून की दृष्टि से उपनिवेशों के लिए वह सम्राट् इंग्लैण्ड का सम्राट् नहीं था, कनाडा का अथवा आस्ट्रेलिया का अथवा दक्षिण अफ्रीका का सम्राट् था।

भारतवर्ष और कॉमनवेल्थ

इस दृष्टि से भारतवर्ष की स्थिति कुछ भिन्न रही। यद्यपि यह स्पष्ट घोषणा नहीं की गई थी कि उसे उपनिवेशों का दर्जा प्राप्त होगा, परंतु १९१९ के बाद से बहुत से लोगों का विश्वास बन गया था कि भारतीय वैधानिक विकास की दिशा भी अन्ततः वही होगी, जो कनाडा, आस्ट्रेलिया व अन्य उपनिवेशों की हुई। १९२८ में राष्ट्रीय महासभा ने इस बात की माँग की कि उसे एक वर्ष के भीतर औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाए। जब अंग्रेजी राज्य ने उसकी इस माँग को स्वीकार नहीं किया, तो उसने पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य घोषित किया। १९४२ के क्रिप्स-प्रस्तावों का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य ही था, परंतु उसके इस अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया था कि यदि वह चाहे तो कॉमनवेल्थ से अपना संबंध-विच्छेद कर ले। १९४७ मे जब भारतवर्ष को स्वाधीनता मिली, तो उसे पूरा अधिकार था कि वह ब्रिटेन से बिलकुल ही सम्पर्क तोड़ ले, परंतु तब ब्रिटेन और भारत दोनों ने ही चाहा कि उनमे निकट का संबंध बना रहे और इस कारण कॉमनवेल्थ के रूप में एक बार फिर क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ। उसका नाम 'ब्रिटिश कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स' के स्थान पर केवल 'कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स' रखा गया, और भारतवर्ष को उसका सदस्य बनने के लिए यह सुविधा दी गई कि यदि वह चाहे तो सम्राट् से किसी प्रकार का संबंध न रखे। १९५० के नए संविधान के अनुसार भारतवर्ष ने अपने आपको गणतंत्र के रूप मे घोषित किया, परंतु कॉमनवेल्थ से अपने संबंध को नहीं तोड़ा। ब्रिटेन साम्राज्यवाद की ऐतिहासिक परिस्थितियों मे परिवर्त्तन के अनुसार अपने को ढालता जा रहा है। ब्रिटेन की जनतंत्र, सहयोग और समझौते की भावनाओं का यह परिचायक है।

साम्राज्यवाद, इस प्रकार, सभी देशों से किसी न किसी रूप में मिटता जा रहा है। स्वयं साम्राज्यवादी देशों का आर्थिक ढाँचा

महायुद्धों और आर्थिक सङ्कटों की चपेट में, टूटता चला गया है और इसी परिणाम से उपनिवेशों का विद्रोह अधिक तीव्र होता गया है। साम्राज्यवादियों ने अपनी शक्ति को बनाए रखने के लिए समय-समय पर, विभिन्न साधनों की सृष्टि की, कभी 'अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण' के नाम पर, कभी 'मुक्तद्वार' (Open door) की तथाकथित नीति की आड़ में, कभी संरक्षण' की दुहाई देकर और कभी प्रभावक्षेत्रों' की अनिवार्यता सिद्ध करके उन्होंने अपने प्रभाव को अधीनस्थ देशों में प्रच्छन्नरूप में बनाए रखने का सतत् प्रयत्न किया है। आज भी जिन देशों से साम्राज्यवाद ने अपना राजनीतिक शासन समेट लिया है, वहाँ भी अपना आर्थिक और व्यापारिक प्रभुत्व वे बनाए रखना चाहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि सभी देशों में राष्ट्रवाद के बढ़ते हुए वेग के सामने उन्हें समझौता करने अथवा पीछे हटने पर विवश होना पड़ रहा है। परंतु, पीछे हटते हुए भी वे अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक शृंखलाएँ छोड़ जाना चाहते हैं और उनकी यह आशा अभी मिटी नहीं है कि अनुकूल परिस्थितियों में वे उन्हें फिर से दृढ़ बना सकेंगे। साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देनेवाले कारण अभी भी मिट नहीं गए हैं। राजनीतिक सत्ता और आर्थिक शोषण की प्यास अभी भी वैसी ही तीव्र है। प्रत्यक्ष शासन के द्वारा नहीं तो धन, कूटनीति और सैनिक सहायता के द्वारा इस प्यास को बुझाने का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार का प्रयत्न दक्षिण अमरीका, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पश्चिमी यूरोप, यूनान, टर्की, सऊदी अरब ईरान और पाकिस्तान सभी स्थानों पर चल रहा है। जिन राष्ट्रों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करली है, अथवा निकट भविष्य में उसे प्राप्त करने की आशा रखते हैं, उन्हें सदैव यह याद रखना पड़ेगा कि 'सतत् चौकसी से ही स्वतन्त्रता की रक्षा की जा सकती है।'

साम्राज्यवाद का भविष्य

अभ्यास के प्रश्न

१—यूरोपीय साम्राज्यवाद के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। पुराने ढंग के साम्राज्यवाद-स्थापना के प्रयत्नों में और इस नए साम्राज्यवाद में क्या अन्तर था?

२—उपनिवेशो मे स्वाधीनता के मान्दोलनो के उठ खड़े होने के मुख्य कारणो पर प्रकाश डालिए।

३—इस्लामी देशो मे स्वाधीनता के मान्दोलनों का सक्षिप्त इतिहास दीजिए।

४—दक्षिण-पूर्वी एशिया के स्वाधीनता के सघर्ष का सक्षेप मे वर्णन कीजिए। कॉमनवेल्थ के कायाकल्प का सक्षिप्त इतिहास देते हुए यह बताइए कि भारतवर्ष की उसमे क्या स्थिति रही ?

५—भारतवर्ष के कॉमनवेल्थ का सदस्य बने रहने के पक्ष अथवा विपक्ष मे अपने विचार व्यक्त कीजिए।

६—साम्राज्यवाद की पुन स्थापना किन परिस्थितियो मे संभव हो सकती है ? इस स्थिति से बचने के लिए कुछ उपाय सुझाइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1 Schuman : International Politics.

2. Payne : Revolt of Asia.

3 Moon, P. T. : Imperialism and world Politics.

———

अध्याय १४

पश्चिम में जनतंत्र के प्रयोग

उन्नीसवीं शताब्दी में जनतंत्र का विकास जिन देशों में हुआ, इंग्लैण्ड उनमें प्रमुख है। इंग्लैण्ड में जनतंत्र की परंपराएँ बहुत पुरानी भी थीं। मैगनाकार्टा तेरहवीं शताब्दी के आरंभ का घोषणा-पत्र
है। यह ठीक है कि वह एक सामंतवादी घोषणा है इंग्लैण्ड में जनतन्त्र
जिसका उद्देश्य जनता के अधिकारों की स्वीकृति नहीं, का विकास
सरदारों के अधिकारों का ऐलान करना था। परन्तु
उससे राजा की शक्ति पर बहुत अधिक नियन्त्रण लगाया जा सका। सत्रहवीं शताब्दी के जनतन्त्रीय आन्दोलन को भी उससे बड़ी प्रेरणा मिली। इंग्लैण्ड में लोकसभा का आरम्भ भी तेरहवीं शताब्दी के अन्त में ही होता है। लोकसभाएँ मध्य-युग में फ्रांस और यूरोप के कई देशों में थीं, पर मध्य-युग के अन्त में उनका ह्रास होने लगा। केवल इंग्लैंड में ही उनकी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई। ट्यूडर वंश के सम्राटों (१४८५ से १६०३ ई० तक) को तो अपनी लोकसभाओं का पूरा सहयोग मिलता रहा और उन्होंने भी उसके कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं किया। परन्तु स्टुअर्ट राजाओं के शासन-काल में उसमें और लोकसभाओं में संघर्ष उत्पन्न हुआ। इस संघर्ष ने एक समय तो इतना तीव्र रूप धारण कर लिया कि उनकी सेनाओं में नियमित रूप से युद्ध हुए। इस संघर्ष से एक राजा (Charles I) को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। बीच में क्रॉमवेल के नेतृत्व में तानाशाही का एक युग भी आया, पर वह अधिक न चल सका। अन्त में विजय लोकसभा की हुई। १६८८ में इंग्लैंड में एक 'रक्तहीन क्रान्ति' (Bloodless Revolution) हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप राजसत्ता राजा के हाथ से निकलकर लोकसभा के हाथ में आ गई।

लोकराज्य की इस कल्पना के मूल में हमें लॉक (locke, 1632-1704), ह्यूम (Hume, 1711-1776), मिल (John Stuart

Mill 1806-1873), पेन (Thomas Paine, 1737-1809) आदि की विचारधारा दिखाई देती है। लॉक के संबध में तो यह कहा जा सकता है कि राज्य, समाज और शिक्षा के क्षेत्रों में अंग्रेजों के जीवन पर उसका उतना ही प्रभाव है जितना हीगल (Hegel, 1770-1831) का जर्मनी पर। राजनीतिक उदारवाद और सहिष्णुता की भावना भी हम उसकी विचार-धारा में पाते हैं। लॉक की सम्मति में समाज निर्माण के पूर्व की प्राकृतिक स्थिति में भी मनुष्य के कामों को प्रेरित और नियंत्रित करने के लिए एक कानून था, और उसका आधार बुद्धि के उपयोग पर था। लॉक ने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि अथवा अन्तरात्मा के अनुसार काम करने का अधिकार है और वह राजसत्ता के द्वारा इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। उसने यह भी कहा कि समाज की सुरक्षा का उत्तरदायित्व जिन कर्मचारियों के हाथ में है, वे स्वयं भी उन कानूनों से बँधे हुए हैं जिनका वे स्वयं निर्माण करते हैं। लॉक के अनुसार शासक और शासित का सम्बन्ध एक सामाजिक अनुबंध (Social Contract) पर आधारित है, जिसे निभाने की जिम्मेदारी दोनों ही पक्षों पर है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का जो विचार लॉक ने राजनीतिक जगत् को दिया था उसका विकास स्वभावतः ही लोकराज्य और वैधानिकता की दिशा में हुआ और उसके दृढ़ आधार पर अंग्रेजी जनतंत्रात्मक विचार-धारा का विकास हुआ।

जनतंत्र के मूल सिद्धान्त

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक ब्रिटेन की लोकसभा अंग्रेजी जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता की सुरक्षा का प्रतीक बन गई थी, परंतु अभी वह वास्तविक अर्थों में जनता की प्रतिनिधि-सभा नहीं समझी जा सकती थी। उच्च-सदन (House of Lords) में तो ऊँचे वर्ग के कुलीन और महंत कुटुम्बों के व्यक्ति थे ही, निचले सदन (House of Commons) में भी छोटे जागीरदार और उस धार्मिक मध्यम वर्ग के लोग ही अधिक थे, जिनके विचार उनसे मिलते-जुलते थे। जनसाधारण की आवाज लोक-सभा तक पहुँचना कठिन था। औद्योगिक क्रान्ति के विकास के साथ ही साथ देश में आबादी के वितरण की व्यवस्था बिलकुल ही बदल गई थी, उसका परिणाम यह हुआ कि चुनाव में जनसाधारण का प्रतिनिधित्व और भी कम हो गया। औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत थोड़े से

जनतन्त्र का संकुचित रूप

धनीमानी उद्योगपतियों के हाथ में सारी राजनीतिक सत्ता आ गई, और मजदूरों का शोषण बढ़ने लगा। इन्हीं दिनों फ्रास की राज्य क्रान्ति हुई और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ब्रिटेन में अनुदार और प्रतिगामी शक्तियाँ और भी सशक्त बनीं। १८१६ में इंग्लैण्ड में पहली बार, पीटरलू नाम के स्थान पर अपने अधिकारों को माँगनेवाले मजदूरों की एक निहत्थी भीड़ पर गोली चलाई गई। सच तो यह है कि औद्योगिक क्रांति से उत्पन्न होनेवाली नई आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के लिए जनवाद के उस दर्शन के पास कोई उपचार नहीं था जिसका प्रतिपादन लॉक और अन्य लेखकों के द्वारा किया गया था। उनकी धारणा थी कि समाज की प्रकृतिदत्त अवस्था में स्वतन्त्र और अनियंत्रित प्रतिद्वन्द्विता का ही मुख्य स्थान है। उसमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसका यह अर्थ था कि लोगों को केवल अमीर बनने और अपनी धन-समृद्धि में, कानून की सीमा में रहते हुए, न केवल बढ़ाते चले जाने का पूरा अधिकार है; बल्कि अन्य व्यक्तियों को उनकी मजदूरी के लिए कम से कम पारिश्रमिक देकर नंगे और भूखे रखने की भी पूरी स्वतन्त्रता है। इसी प्रकार शोषित किये जानेवाले वर्ग को किसी प्रकार की सहायता देना अथवा मालिक और मजदूर के आपसी मामलों में हस्तक्षेप करना राज्य का कर्त्तव्य नहीं माना जाता था।

इसका परिणाम यह निकला कि मजदूरों की स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जाने लगी। लोक-सभा में उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। इस कारण वैधानिक उपायों द्वारा अपनी स्थिति को सुधारने का वे कोई प्रयत्न नहीं कर सकते थे। अपने जनतन्त्र को व्यापक क्षोभ को प्रकट करने के लिए जब कभी असंगठित रूप बनाने के प्रबल से उन्होंने कोई प्रयत्न किए, उन्हें बुरी तरह से कुचल दिया गया। परंतु इंग्लैण्ड में जनतन्त्र की भावना इतनी गहरी थी कि इस प्रकार की स्थिति अधिक दिनों टिक नहीं सकती थी। १८१६ में नौ वर्ष से छोटी आयु के बच्चों को कारखानों में काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। १८३३ में अठारह वर्ष से कम आयुवालों के काम के घण्टे बाँध दिए गए। १८४७ में एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार स्त्रियों से दस घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। १८५० में रविवार को कम से कम आधे दिन की छुट्टी घोषित कर दी

गई । इस बीच देश के कानून मे भी कई सुधार किए जा रहे थे। मजदूरों के सगठन पर से प्रतिबध हटाए जा रहे थे और धर्म के आधार पर राजनीति मे भाग न लेने के संबध मे जो प्रतिबंध लगे हुए थे, उन्हें दूर किया जा रहा था।

मध्यम-वर्ग के प्रभाव मे वृद्धि

१८३० और ३२ के लोक सभा के चुनाव-संबंधी सुधारों से राजसत्ता पर मध्यम-वर्ग का प्रभाव बहुत कुछ बढ गया। मजदूरों को तब भी चुनाव मे भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था, परंतु उनकी स्थिति को सुधारने की दृष्टि से अब वातावरण पहले से कहीं अच्छा था। मजदूर-संघों की स्थापना करने और उनके द्वारा आन्दोलन चलाने के प्रयत्न तो सफल नहीं हो सके, परन्तु अब ऐसी स्थिति बन गई थी, जिसमे उद्योगपतियों के द्वारा उनका शोषण उतना आसान नहीं रह गया था। १८८४ मे, एक बड़ी सीमा तक वयस्क (पुरुष) मताधिकार के सिद्धान्त को मान लिया गया, और धीरे-धीरे मताधिकार को अधिक व्यापक रूप भी दिया गया। मतदान की पात्रता पर जायदाद की जो शर्त्त थी, वह १८५८ मे ही हटा ली गई थी। १८७० में शिक्षा-सबंधी एक कानून के द्वारा सभी सार्वजनिक सस्थाएँ सर्व-साधारण के लिए खोल दी गई। १८७२ मे गुप्त मतदान (Secret ballot) की व्यवस्था स्वीकार की गई। १९०६ में मजदूरों को मुआविजा देने के संबंध में एक कानून पास हुआ, १९०८ मे बुढापे की पेंशन (Old age pension) के सबध मे और १९११ मे बेरोजगारी और बीमारी मे सरकार के द्वारा दी जानेवाली सहायता के सबंध मे। इस प्रकार, महायुद्ध के पहले-पहले ब्रिटेन मे जनतत्र की बडी सुदृढ परंपराएँ स्थापित की जा चुकी थीं।

इंग्लैंड के सविधान की विशेषताएं

ब्रिटेन के शासन की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसका संविधान सर्वथा अलिखित है। मेगनाकार्टा १६८८ का घोषणापत्र १७०१ का उत्तराधिकार-सबंधी नियम आदि कुछ महत्त्वपूर्ण कानूनी मसविदों को छोड़कर शेष सविधान अलिखित ही है। इंग्लैण्ड के वैधानिक विकास का मुख्य आधार ऐतिहासिक परंपराओं के प्रति आदर, कानून के शासन में आस्था और शासन की रूपरेखा के सम्बन्ध मे कुछ विचारों की सर्व-

मान्यता में है। यदि यह प्रश्न पूछा जाए कि ब्रिटेन का शासन किसके हाथ में, तो उसका उत्तर देना कठिन है। नाम के लिए शासन राजा के हाथ में है, परन्तु वास्तव में राजा भी देश के किसी भी साधारण नागरिक के समान लोक सभा के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। एक विधान शास्त्री का कहना है कि लोकसभा यदि उसकी मृत्यु की आज्ञा भी उसके सामने रखे, तो राजा को उस पर दस्तखत कर देने पड़ेंगे। परन्तु इंग्लैंड में राजा के प्रति जनता में निष्ठा की अत्यधिक भावना है, यहाँ तक कि मजदूर दल भी उसे हटाने के पक्ष में नहीं है। एक मजदूर दल के नेता ने लिखा था कि यदि इंग्लैण्ड में गणतन्त्र की स्थापना हो जाए तो वहाँ की प्रजा राजा को ही अपना अध्यक्ष चुनेगी।

मन्त्रिमण्डल के अधिकार

इंग्लैण्ड में शासन की सर्वोपरि सत्ता प्रधान-मंत्री और उसके मन्त्रिमण्डल के हाथ में है। प्रधान-मन्त्री शासन का सबसे बड़ा अधिकारी है। जो राजनीतिक दल लोकसभा में अपना बहुमत स्थापित कर लेता है, उसका नेता प्रधान-मन्त्री बनता है और जब तक उस दल को लोकसभा का बहुमत प्राप्त रहता है, वह देश पर शासन करता है। उसके हट जाने पर विरोधी-पक्ष का नेता प्रधान मन्त्री बनता है। प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद धारासभा के चुनाव होते हैं। मन्त्रिमण्डल के सदस्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रधान-मन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सरकारी कर्मचारियों का चुनाव विशेष कानूनों के अन्तर्गत होता है जिनके अनुसार ऐसे व्यक्तियों को ही चुना जाता है, जिन्होंने परीक्षा में ऊँचे स्थान प्राप्त किए हों। उनकी नियुक्ति अथवा पद-वृद्धि में मन्त्रियों का कोई हाथ नहीं होता। मन्त्रिमण्डल बदलते रहते हैं, पर सरकारी कर्मचारी स्थायी रूप से कार्य करते रहते हैं। यह स्वाभाविक है कि शासन पर उनका बड़ा प्रभाव रहता है। लोकसभा के दो सदन होते हैं। ऊपर के सदन के सदस्य कुछ विशिष्ट सरदार घरानों के व्यक्ति ही होते हैं, परन्तु उसकी शक्ति अब नाममात्र की ही रह गई है। वास्तविक सत्ता अब निचले सदन (House of Commons) के हाथ में ही है। ब्रिटेन की लोकसभा का यह निचला सदन संसार की धारा-सभाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली और योग्य माना जाता है। इसका संगठन सम्पूर्ण जनतान्त्रिक आधार पर है। न्यायालयों का संगठन और स्थानीय शासन की

व्यवस्था भी ब्रिटेन की अपनी विशेषताएँ हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि बिना किसी लिखित विधान के होते हुए भी ब्रिटेन में लोकसभा के जनता द्वारा चुने हुए सदन के हाथों में शासन की सर्वोपरि सत्ता केन्द्रित है।

अमरीका में जनतंत्र का विकास

ब्रिटेन में जनतंत्र के जिन सिद्धान्तों और उनके परिणामस्वरूप जिन संस्थाओं का जन्म हुआ, संयुक्त राज्य अमरीका में उनका विकास हुआ। ब्रिटेन के अतिरिक्त अमरीका ही एक ऐसा देश है, जिसने जनतंत्र की विचारधारा और जनतंत्र की संस्थाओं में अपने विश्वास को दृढ़ रखा है। भौगोलिक, सांस्कृतिक और अन्य परिस्थितियों के कारण अमरीका में इन संस्थाओं के स्वरूप में अवश्य अन्तर पड़ा है; परंतु उनके मूल में जनतंत्र की वही भावना काम कर रही है, जो ब्रिटेन में ब्रिटेन की तुलना में अमरीका एक बहुत बड़ा देश था और विभिन्न राष्ट्रीयताओं को समन्वित करने की एक बड़ी समस्या भी उनके सामने थी। इस कारण अमरीका में जिस जनतन्त्रात्मक राज्य का संगठन किया गया, वह एकात्मक न होते हुए संघात्मक था। संघ-शासन की दृष्टि से संसार में यह पहला प्रयोग था, और इसने उन सभी जनतांत्रिक देशों को, जिन्होंने अपने यहाँ एक संघात्मक राज्य बनाना चाहा प्रेरणा दी है। अमरीका के जनतंत्र की व्याख्या हमें उसके महान नेताओं, वाशिंग्टन (Washington), जेफरसन (Jefferson), जैक्सन (Jackson), अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) आदि के विचारों और जीवन से मिलती है।

अमरीका के संविधान की विशेषताएँ

अमरीका के शासन विधान के ६ मूल सिद्धान्त माने जा सकते हैं। (१) अमरीकी शासन का आधार प्रतिनिधि-संस्थाओं पर है। इन संस्थाओं के सदस्य समस्त जनता द्वारा चुने जाते हैं, किसी विशेष वर्ग अथवा जाति के द्वारा नहीं। जनतंत्र का वास्तविक आधार इसी प्रकार की चुनाव व्यवस्था पर रखा जा सकता है। (२) अमरीका का शासन संघात्मक है, जिसमें केन्द्र और राज्य के विशेष अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या कर दी गई है और दोनों में से किसी को भी एक दूसरे के निर्धारित क्षेत्रों में अनुचित हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। उदाहरण के लिए, विदेशी नीति के संबंध में निर्णय का पूरा अधिकार

केन्द्र को ही है जिस पर राज्यों द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता था। दूसरी ओर, राज्यों के व्यापार और अन्य विषयों के सम्बन्ध में कुछ अधिकार ऐसे हैं, जिनमें केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। (३) शासन के अधिकार सीमित हैं, और व्यक्ति को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, जिनकी घोषणा स्वाधीनता के घोषणा-पत्र में कर दिए जाने के कारण जिन्हें छीनने का राज्य को कोई अधिकार नहीं है। (४) न्यायालय की स्वाधीनता के सिद्धान्त को राज्य के संविधान में मान लिया गया है। संघीय-न्यायालय कार्यपालिका और व्यवस्थापिका-सभा दोनों के नियन्त्रण से मुक्त है। (५) शासन का आधार राजसत्ता के विभाजन (Division of Powers) और एक विभाग के द्वारा दूसरे को नियन्त्रित और सन्तुलित रखने (Checks and Balance) के सिद्धान्त पर है। शासन के तीनों विभाग—न्याय, कार्यकारी और धारासभा एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं; पर साथ ही एक-दूसरे पर कुछ नियन्त्रण भी रखते हैं, जिससे उनमें किसी एक के हाथ में राज्य की सारी सत्ता का केन्द्रित किया जाना असम्भव हो गया है। (६) अध्यक्ष (President) के बहुत अधिकार होते हुए भी वह विदेशी मामलों में उच्च सदन (Senate) के राय के बिना कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं बना सकता है।

अमरीका का संविधान जब बनाया गया तब उसके निर्माताओं का यह अनुमान था कि परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर उसमें बहुत अधिक परिवर्तन करने पड़ेंगे। पर वास्तव में वैसे परिवर्तन बहुत कम हुए हैं। उसकी कुछ खराबियाँ अमरीका को तो स्पष्ट हैं ही। अध्यक्ष और लोकसभा दोनों के सीधे जनतन्त्र पद्धति जनता द्वारा चुने जाने से दो प्रकार की स्वतन्त्र उत्तर　　के दाय दायी राजसत्ताओं की स्थापना हो गई है, जिसके कारण कार्यपालिका और लोकसभा के बीच मतभेद और संघर्ष की सदा ही सम्भावना रहती है। इसके अतिरिक्त अध्यक्ष का चुनाव जहाँ चार वर्ष में केवल एक बार, एक निश्चित तिथि पर ही किया जा सकता है, लोकसभा का निचला सदन दो वर्ष के बाद बदल जाता है। यदि अध्यक्ष एक राजनीतिक दल का सदस्य हो और लोकसभा के निचले सदन में दूसरे राजनीतिक दल का बहुमत हो, तो उनके बीच संघर्ष और भी अनिवार्य हो जाता है। कानून को बनाने और उसको

कार्यान्वित करनेवाली सत्ता का इस प्रकार का विभाजन अपने आपमें एक कठिनाई उपस्थित कर देता है। कानून को बनानेवाली सभा को यह स्पष्ट जानकारी नहीं रहती कि देश का शासन किस प्रकार के कानूनों का बनाया जाना आवश्यक समझता है, और इसी प्रकार लोकसभा द्वारा बनाए गए कानूनों को कार्यान्वित करने में शासन प्रायः उतना उत्साही नहीं होता, जितना वह उस स्थिति में हो सकता था जिसमें कानूनों को बनाने में उसका अपना नेतृत्व होता। अध्यक्ष का चुनाव सीधा जनता द्वारा होने के कारण यह संभावना भी रहती है कि जनता भावुकता अथवा आवेश में ऐसे व्यक्ति को चुन ले, जिसके हाथ में इतनी अधिक शक्ति का केन्द्रित हो जाना देश के लिए कल्याणकारी न हो। अमरीका की जनता द्वारा अध्यक्षों की तुलना जब हम इंग्लैंड के, अपने राजनीतिक दल में वर्षों के सतत प्रयास से नेतृत्व प्राप्त करनेवाले योग्य और अनुभवी, प्रधान मंत्रियों से करते हैं, तो उनकी राजनीतिक क्षमता में एक स्पष्ट अन्तर हमें दिखाई देता है। इन सब कारणों से बहुत से विधान-शास्त्री जिनमें अमरीका के प्रमुख विधान-शास्त्री भी सम्मिलित हैं, अब यह मानने लगे हैं कि शासन की लोकसभात्मक (Parliamentary) पद्धति अध्यक्षात्मक (Presidential) पद्धति की तुलना में अधिक जनतांत्रिक है। इसके अतिरिक्त, अन्य सब शासनों के समान ही अमरीका में भी केन्द्र की शक्ति लगातार बढ़ती जा रही है। परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी अमरीका से अभी तो हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपनी उन वैधानिक परंपराओं को बदल देगा, जिन्हें लगभग दो शताब्दियों से वह मानता चला आया है। अपनी गलत परंपराओं को छोड़ देना भी राष्ट्रों के लिए आसान नहीं होता।

अन्य देशों में वैधानिक शासन का विकास

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में धीरे-धीरे राजा की स्वेच्छाचारिता का वह सिद्धान्त, जिसका आधार शासन करने के ईश्वर प्रदत्त अधिकार में था, कम होने लगा और ब्रिटेन और अमरीका के अतिरिक्त यूरोप के बहुत से देशों में भी वैधानिक शासन की स्थापना हुई। इस वैधानिक शासन का समर्थन मूलतः मध्यम वर्ग के द्वारा किया जा रहा था। राजाओं के शासन से व्यापार और वाणिज्य के विकास में वे सुविधाएँ नहीं मिल सकती थीं, जो प्रजातंत्र में संभव थीं। व्यापार के

लिए स्वतन्त्रता, नागरिक अधिकारों के लिए आश्वासन और सम्पत्ति के लिए सुरक्षा मे ऐसे सिद्धान्त थे, जिन्हें मध्यम-वर्ग ने लिखित संविधानों के रूप मे लिपिबद्ध कराने पर पूरा जोर दिया। यूरोप भर मे फैल जाने वाली १८३० और १८४८ की क्रान्ति की लहरों के मूल मे भी यही माँगें थीं। प्रत्येक देश का मध्यम-वर्ग यह चाहता था कि एक लिखित संविधान की स्थापना कर दी जाए जिसमें जनता की स्वतन्त्रताओं और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकारों की व्याख्या कर दी गई हो और उनकी सुरक्षा के लिए समुचित आश्वासन दिए गए हों। संविधान लिखित अथवा अलिखित, परिवर्तनशील अथवा अपरिवर्तनीय, एकात्मक अथवा संघात्मक, मंत्रिपरिषद् प्रणाली पर आधारित अथवा अध्यक्षात्मक प्रणाली का अनुसरण करनेवाला कैसा भी हो, पर एक लिखे हुए संविधान पर उनका आग्रह था। संविधान के होने का अर्थ सदा ही यह नहीं था कि राज्य जनतान्त्रिक ही होगा, परन्तु अधिकांश ऐसे राज्य, जिनका आधार संविधान में था, जनतान्त्रिक ही थे। जनतंत्र भी कई प्रकार का हो सकता था। प्रत्यक्ष जन तंत्र के अव्यावहारिक होने के कारण अब सभी देशों में प्रतिनिधि के अथवा अप्रत्यक्ष जन तंत्र की स्थापना पर जोर दिया जा रहा था, पर इन सब बातों के होते हुए भी उन्नीसवीं शताब्दी में जनतंत्र का विकास उतनी तेजी के साथ नहीं हो सका, जैसा राष्ट्रवाद का, और राजनीति में जनतंत्र की भावना जिस सीमा तक स्वीकार की गई सामाजिक जीवन के क्षेत्र मे तो उसे उससे भी कम प्रतिष्ठा मिली। यूरोप के समाजपर निहित स्वार्थों और विशिष्ट वर्गों का प्राधान्य रहा। राजनीतिक जनतंत्र भी इंग्लैण्ड, फ्रास और अमरीका के बाहर अधिक पनप नहीं पाया। बीसवीं शताब्दी मे यूरोप के अन्य देशों मे राजनीतिक चिन्तन की धारा जनतंत्र को छोड़कर अधिनायकवाद की ओर तेजी से बढ़ती हुई दिखाई दी।

अभ्यास के प्रश्न

१—इंग्लैण्ड म जनतन्त्र के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए। उन्नीसवीं शताब्दी में इसे व्यापक बनाने के क्या प्रयत्न किए गए?

२—इंग्लैंड के संविधान की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

३—अमरीका में जनतन्त्र के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

४—अमरीका के संविधान की विशेषताएँ बताते हुए इंग्लैंड के संविधान से उसकी तुलना कीजिए।

५—अमरीका की जनतन्त्र पद्धति मे आपको क्या दोष दिखाई देते हैं ?
६—इंग्लैण्ड और फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप के अन्य देशो मे वैधानिक शासन का कहाँ तक विकास हुआ ? इन देशो मे जनतत्र की स्थापना के मार्ग मे क्या कठिनाइयाँ थी ?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Becker, C. The United States, An Experiment in Democracy.
2. Bryce, J. Modern Democracies.
3. Rose, J. H. Nationality in Modern History.

अध्याय १५

एशिया का सर्वतोमुखी विकास
भारत में धार्मिक तथा सामाजिक जागृति

भारत धर्मप्राण देश रहा है, परन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में भारत के सर्वांगीण पतन के साथ-साथ धार्मिक दृष्टि से भी इसका पतन हुआ। हिन्दू धर्म का दर्शन और ज्ञान मनुष्यों की दृष्टि से ओझल हो गया और अधिकांश जन-समुदाय कर्मकाण्ड और प्रचलित रूढ़ियों को ही धर्म मानने लगा। प्राचीन रूढ़ियों पर अंध श्रद्धा का देश में प्राबल्य हो गया और धार्मिक कट्टरता बढ़ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। धर्म के नाम पर जीवहिंसा, अछूत कहे जानेवाले जनसमुदाय को मानवीय अधिकारों से वंचित किया गया और समस्त देश में कर्मकाण्ड और रूढ़ि को ही धर्म के स्थान पर स्थापित कर दिया गया।

ब्रह्म-समाज की स्थापना

जिस समय सारा देश धार्मिक अंधकार में घुट घुटकर साँस ले रहा था उस समय राजा राममोहन राय ने उस अंधकार को मिटाने का प्रयत्न किया। राजा राममोहन ने प्रचलित रूढ़ियों, कर्मकाण्ड और सम्प्रदायवाद के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और देशवासियों का ध्यान वेद, उपनिषद् और शास्त्रों की ओर आकर्षित किया। उनका कहना था कि हमारे मूल शास्त्रों के अनुसार एकमात्र ईश्वर ही उपासना और पूजा के योग्य है। उन्होंने वेदान्त सूत्रों तथा उपनिषदों को हिन्दी, बँगला और अंग्रेजी में टीका सहित छपवाया। जिससे संस्कृत न जाननेवाले शिक्षित व्यक्ति भी अपने शास्त्रों के सिद्धान्त को जान सकें।

सन् १८२८ में उन्होंने ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म-समाज के मुख्य सिद्धान्त नीचे लिखे हैं —अखिल ब्रह्माण्ड का स्वामी, निराकार, अनादि और अनन्त परमेश्वर ही एकमात्र पूजा के योग्य है, किसी

साम्प्रदायिक नाम से उसकी पूजा नहीं की जानी चाहिए, मनुष्यमात्र को फिर वह चाहे किसी भी धर्म, जाति सम्प्रदाय वर्ग या पद का क्यों न हो, परमेश्वर की उपासना करने का समान अधिकार है। उपासना मे किसी प्रकार के चित्र प्रतिमा या ऐसी वस्तु का उपयोग न किया जावेगा जिसको किसी समय ईश्वर के स्थान पर माने जाने की शका हो। पूजा में कोई खाने-पीने की चीज नहीं चढाई जावेगी और कोई बलिदान न किया जावेगा। किसी प्रकार की जीव हिंसा न की जावेगी। किसी जीव या पदार्थ की जिसे कोई मनुष्य या सम्प्रदाय पूज्य मानता है, निन्दा न की जावेगी। मदिर मे केवल उसी प्रकार की कथा, प्रार्थना और सङ्गीत होगा जिससे ईश्वर का ध्यान करने की ओर रुचि बढे और जिससे प्रेम, दया, भक्ति और साधुता का प्रचार हो।

राजा राममोहन राय भारत मे वर्तमान जागृति के प्रवर्त्तक या जनक माने जाते हैं। यों तो ब्रह्म समाज हिन्दू धर्म से मिलता-जुलता है किन्तु सार्वभौम उपासना का भाव ही राममोहनराय की विशेषता है। ब्रह्म समाज यद्यपि हिन्दू धर्म पर आधारित था किन्तु उसमें विदेशी प्रभाव भी बहुत कुछ दिखलाई पडता है। जब कि एक ओर पश्चिमीय सभ्यता का सुन्दर रूप सामने हो और दूसरी ओर स्वदेश मे अज्ञान अन्धकार, कुरीति, रूढ़िवादिता, ईर्षा, द्वेष और अत्याचार का प्राबल्य हो, तो प्रथम सुधारक सस्था मे विदेशी प्रभाव आ जाना स्वाभाविक था। फिर राजा राममोहन स्वय पश्चिमीय सभ्यता के प्रशसक थे। यही कारण था कि ब्रह्म समाज का देश मे अधिक प्रचार नहीं हुआ और वह शिक्षित समुदाय और विशेषकर बगाल मे ही सीमित रही। किन्तु राजा राममोहन राय और ब्रह्मसमाज तथा पीछे देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित नवीन ब्रह्मसमाज और आदि ब्रह्मसमाज और बम्बई प्रान्त मे प्रार्थना-समाज ने अपनी शक्ति के अनुसार अपने सीमित क्षेत्र मे जागृति उत्पन्न की।

उस समय देश मे एक ऐसी सस्था की बडी आवश्यकता थी जो देश मे प्रचलित अधविश्वास अज्ञान रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता का विरोध करती, किन्तु भारतीयों मे जो हीनता की भावना उत्पन्न हो गई थी उसको समाप्त करके उनमे स्वाभिमान उत्पन्न करती और अपने धर्म, सभ्यता और सस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती। देश के सौभाग्य से इसी समय

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज

स्वामी दयानन्द (१८२४-८३) का आविर्भाव हुआ और उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द ने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वेदों का अध्ययन किया। उनकी मान्यता थी कि वेद ही सम्पूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत हैं। वेदों पर आधारित अत्यन्त प्राचीन भारतीय शिक्षा और सभ्यता संसार में सर्वश्रेष्ठ है और वैदिक धर्म तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता को स्वीकार करके ही मानव-मात्र सुखी हो सकता है। किन्तु जहाँ उन्होंने वैदिक धर्म और प्राचीन आर्य सभ्यता के पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया, वहाँ उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों मूर्त्ति-पूजा, श्राद्ध, जाति-पाँति, अस्पृश्यता बाल विवाह, वृद्धि विवाह नर विक्रय, देवी देवताओं के पूजन, तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों का कठोरतापूर्वक विरोध किया। उन्होंने नारी शिक्षा और विधवा विवाह का समर्थन किया। जो हिन्दू मुसलमान अथवा ईसाई हो गए हैं उनको पुन शुद्ध कर हिन्दू बनाने का क्रान्तिकारी कार्यक्रम चलाया। उन्होंने संस्कृत के महत्त्व को पुन स्थापित करने का प्रयत्न किया और स्वयं गुजराती भाषी होने पर भी हिन्दी का समर्थन किया। स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया और शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली को देश में पुन: प्रचलित किया। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं में जो हीनता की भावना उत्पन्न हो गई थी उसको नष्ट कर दिया। वे भी यह समझने लगे कि हमारा धर्म, सभ्यता, संस्कृति और दर्शन बहुत ऊँचा है और वे संसार की महान् सभ्य जातियों में से एक हैं। स्वामी दयानन्द ने देश भर में भ्रमण करके भारत में धार्मिक और सामाजिक जागृति उत्पन्न करके अद्भुत कार्य किया। स्वामी दयानन्द के पूर्व भारत अपने को भूल चुका था उनके इस शंखनाद से समस्त देश जाग उठा। वास्तव में भारत में जागृति उत्पन्न करने का बहुत कुछ श्रेय स्वामी दयानन्द को है।

स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए और समाज-सुधार का कार्य करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की। आर्य समाज ने गुरुकुलों और आधुनिक पद्धति की शिक्षा देने के लिए डी० ए० वी स्कूल और कालेज स्थापित किए, बालविवाह निषेध, विधवा विवाह, शुद्धि, अछूतोद्धार, वेदप्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया। आर्यसमाज

के प्रचार का फल यह हुआ कि अधिकांश हिन्दू फिर चाहे वे आर्य समाजी न भी हों विचारों में सुधारवादी हो गए। आर्यसमाज एक सतेज और कार्यशील संस्था के रूप में देश मे कार्य करतो है।

इसी समय जब स्वामी दयानन्द देश मे वैदिक धर्म की सर्वश्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे थियोसोफी के जन्मदाता कर्नेल आल्काट भारत मे आये और यहाँ थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना हुई (१८७६ ई०)। विश्वव्यापी भ्रातृभाव का उपदेश सुनाते हुए इस सोसायटी ने हिन्दुओं को बतलाया कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म वास्तव मे बहुत ऊँचा है तुम उसका महान् गौरव पहचानो, उसमे जो बुराइयाँ घुस गई हैं, उन्हें दूर कर दो स्वधर्म पर दृढ रहो। ईसाई पादरियों के बहकावे मे न आओ और अपने धर्म को कभी न छोड़ो। थियोसोफिकल सोसाइटी ने हिन्दू धर्म की बहुत सी गूढ और रहस्य की बातों का वैज्ञानिक ढग से प्रतिपादन भी किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म की बहुत सी रहस्यमयी गूढ बातों को जो अभी तक अंधविश्वास के कारण मानी जाती थीं और जिनका असली उद्देश्य भुला दिया गया था, वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो गया। थियोसोफिकल सोसाइटी हिन्दुओं के अनुसार कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे विश्वास करती है और उन्हे नये ढग से युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध करती है।

थियोसोफिकल सोसाइटी का स्थापना

भारतवर्ष मे सोसाइटी की स्थापना अडयार (मदरास) मे हुई। कुछ समय बाद श्रीमती एनीबीसेन्ट के इसमे सम्मिलित हो जाने पर उनके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इसमे बहुत से विद्वान् और नेता सम्मिलित हो गए तथा शिक्षित भारतीयो मे इसका प्रभाव स्थापित हो गया। इस सोसायटी ने सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की, जो बाद मे हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चला गया। इसके अतिरिक्त सोसायटी ने बहुत से स्थानों पर स्कूल तथा छात्रावास स्थापित किए। शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त सोसायटी ने समाज-सुधार का भी कार्य किया भारत के शिक्षित हिन्दुओं मे इसका खूब स्वागत हुआ। डाक्टर एनीबीसेंट तथा जार्ज अरंडेल जैसे उत्कृष्ट कोटि के विद्वानों के व्याख्यानों, लेखों तथा पुस्तकों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा।

विदेशों में और विशेषकर अमेरिका में हिन्दू धर्म के प्रभाव को स्थापित करने का बहुत कुछ श्रेय परमहंस रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८६३ १९०२) को है। स्वामी विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने जनता स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त सम्बन्धी भ्रम दूर करके उसे समयोपयोगी और रामकृष्ण शिक्षा दी। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में होने- मिशन वाले सर्व धर्म सम्मेलन में भाग लिया। उनके भाषणों को सुनकर अमेरिकावासी स्तब्ध रह गए। उन्हें तब ज्ञात हुआ कि हिन्दू धर्म और दर्शन कितना ऊँचा है। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में बहुत से योग्य स्त्री-पुरुष स्वामीजी के शिष्य हो गए और वहाँ वे लोग रामकृष्ण मठ बनाकर वेदान्त का प्रचार करने लगे।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का प्रचार करने के अतिरिक्त भारत वासियों को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया और उनमें नवजीवन का संचार किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक और विश्वासपूर्वक यह घोषणा की 'लम्बी से लम्बी रात्रि भी अब समाप्त होती जान पड़ती है। हमारी यह मातृभूमि अपनी गहरी नींद से जाग रही है, कोई अब उसे उन्नति करने से रोक नहीं सकता संसार की कोई शक्ति अब उसे पीछे नहीं ढकेल सकती, क्योंकि वह अनन्त शक्तिशाली देवी अपने पैरों पर खड़ी हो रही है।"

इसी समय एक महान् वेदान्ती का जन्म हुआ। स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त और राष्ट्रधर्म तथा देशभक्ति का खूब प्रचार किया। उनके प्रभावशाली भाषणों और लेखों से भारतीयों में वेदान्त की ओर रुचि बढ़ी और देशभक्ति की भावना तीव्र हो उठी।

स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ ने यह सिद्ध कर दिया कि संसार में हिन्दू सभ्यता का बहुत ऊँचा स्थान है और हिन्दुओं का वेदान्त धर्म और तत्त्वज्ञान केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए

आज भी रामकृष्ण मठ की ओर से भारत तथा विदेशों में सेवा आश्रम स्थापित हैं, जो वेदान्त का प्रचार करने के अतिरिक्त रोगियों की सेवा करते हैं।

ऊपर लिखी धार्मिक संस्थाओं के सदस्यों की संख्या भारत की जनसंख्या को देखते हुए अधिक नहीं है; परन्तु इन धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव भारत के जनमानस पर बहुत अधिक पड़ा है। जो लोग कि पुराने विचारों के हैं उनमें विचार क्रान्ति हुई है। यों अधिकांश हिन्दू आज भी सनातन धर्मी हैं। परन्तु वे भी इन धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं।

धार्मिक आन्दोलनो का प्रभाव

भक्ति सम्प्रदाय भारतवर्ष की प्राचीन सम्पत्ति है। इस समय भी देश मे इनका ही प्राधान्य है। करोड़ो की संख्या में इन सम्प्रदायों के अनुयायी देश मे मौजूद हैं और आधुनिक अशान्ति के समय इनकी वृद्धि हो रही है। मुख्यत: तीन सम्प्रदाय देश मे स्थापित हैं वैष्णव, शैव, शाक्त। इनके अनेक महात्माओं ने समय-समय पर लोगों के सामने धर्म का विशाल दृष्टिकोण रक्खा है और जनता की अच्छी सेवा की है। परन्तु इनमे धार्मिक संकीर्णता पायी जाती है।

भक्ति सम्प्रदाय

भारत के जागृतिकाल मे मुसलमानों मे कोई धार्मिक सुधार का आन्दोलन नहीं हुआ, हाँ सर सैयद अहमद के नेतृत्व मे मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी पहनावे और आधुनिक जीवन को अपनाने का प्रयत्न किया। अलीगढ मुस्लिम विश्व-विद्यालय इसका केन्द्र बन गया। अंग्रेजों ने मुसलमानो को हिन्दुओं के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयत्न किया और अन्तत: वे इसमे सफल हो गए और भारत का विभाजन हो गया। धार्मिक कट्टरता आज भी मुसलमानों में विद्यमान है। पाकिस्तान में पंजाब के अन्तर्गत कादियानियों पर जो अत्याचार हुए वे इस बात के प्रमाण हैं और वहाँ जो शरियत का कानून स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है, वह इस ओर संकेत करता है। परन्तु आधुनिक शिक्षा प्राप्त मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता बढ़ रही है।

मुसलमान

ईसाई मिशन इस देश मे बहुत समय से स्थापित हैं और वे ईसाई धर्म का प्रचार करते हैं। उनका मुख्य कार्य शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित

करना और औषधालय स्थापित करके जनता की सेवा करना है तथा इस सम्पर्क का उपयोग वे अन्य धर्मावलम्बियों को ईसाई बनाने में करते हैं। कहीं कहीं पिछड़ी आदि वासी जातियों में ईसाई पादरी अराष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न भी करते हैं। फिर भी उनके द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थाएँ तथा चिकित्सालय जनता की अच्छी सेवा करते हैं।

ईसाई धर्म

एक समय था कि जब भारत में बौद्ध धर्म की प्रधानता थी। कालान्तर में भारत में बौद्ध धर्म क्षीण हो गया। वर्तमान समय में भारत में बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है। परन्तु पिछले दिनों में महाबोधि सोसाइटी की स्थापना के फलस्वरूप देश का ध्यान फिर उस ओर आकर्षित हुआ है। सारनाथ में बौद्ध धर्म के प्रचारकों का इस देश में केन्द्र स्थापित है जहाँ से बौद्ध धर्म का बौद्ध विद्वान् तथा भिक्षु प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यहाँ से बौद्ध धर्म के साहित्य का प्रकाशन भी होता है तथा यहाँ बौद्ध धर्म के अध्ययन का केन्द्र भी स्थापित है।

बौद्ध धर्म

यद्यपि महात्मा गांधी ने किसी धर्म विशेष का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु उन्होंने मनुष्य के दैनिक जीवन में ईश्वर प्रार्थना सत्य और अहिंसा को स्वीकार करने पर विशेष बल दिया। यही नहीं, उन्होंने इस देश में धार्मिक सहिष्णुता को उत्पन्न करने का जितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उतना किसी व्यक्ति ने नहीं किया। हिन्दुओं में से अस्पृश्यता के कलंक को दूर करने का उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया।

महात्मा गांधी का धार्मिक प्रभाव

प्राचीन स्मृतिकारों ने युग धर्म अर्थात् समाज के लिए देश काल के अनुसार कर्तव्य पालन की एक सुन्दर प्रणाली निर्धारित की थी। जब तक देश उसके अनुसार आचरण करता रहा, भारतवर्ष सुखी और समृद्धशाली बना रहा। पिछली शताब्दियों में हमने युग-धर्म की अवहेलना की और उसका परिणाम यह हुआ कि हमारा पतन होना आरम्भ हो गया। हम रूढ़िवादी बन गए। इस कारण समाज में घुन लग गया और वह निस्तेज हो गया। हिन्दू समाज में क्रमशः कन्या-वध, बाल विवाह, सती प्रथा

हिन्दू-समाज में सुधार कार्य

अस्पृश्यता, जाति पाँति जैसी भयंकर रूढ़ियाँ स्थापित हो गईं। विधवाओं की संख्या बढ़ती गई और उनकी स्थिति दयनीय हो गई। अंधविश्वास और रूढ़िवादिता समाज पर छा गई। अनेक व्यक्ति दुराचारी, कपटी, मुफ्तखोर और नशेबाज होते हुए भी केवल ब्राह्मण होने के कारण अथवा साधु होने के कारण समाज में प्रतिष्ठा पाने लगे। नीची जाति का शुद्ध, संयमी, परोपकारी तथा अच्छे आचरण करनेवाला व्यक्ति भी समाज में नीचा गिना जाने लगा। सामाजिक जीवन में सच्चाई और ईमानदारी का बहिष्कार और आडम्बर का स्वागत होने लगा। भले आदमियों का निर्वाह होना कठिन हो गया। सामाजिक अत्याचार चरम सीमा पर पहुँच गया।

जागृति काल में समाज सुधारकों का ध्यान इन कुप्रथाओं की ओर गया और उन्होंने इनके विरुद्ध देश में वातावरण तैयार करना आरम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पिछले सौ वर्षों में हिन्दू समाज में बहुत सुधार हुए। अब हम उनका संक्षेप में वर्णन करेंगे।

कन्या वध सती प्रथा और विधवा विवाह

अज्ञान के कारण कुछ जातियों में माता पिता कन्या को जन्म के समय मार देते थे। कारण यह था कि उन जातियों में कन्या के विवाह में दहेज बहुत देना पड़ता था और लड़कीवाला वर पक्ष से नीचा समझा जाता था। क्रमश समाज-सुधारकों ने इस घृणित प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और लार्ड विलियम बेंटिक (१८२८-३५) के शासन काल में इसको रोकने के लिए एक कानून बनाया गया।

इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत में विधवा के अपने मृत पति के साथ चिता पर जलकर मर जाने की प्रथा प्रचलित थी। राजा राममोहनराय ने इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन आरंभ किया और उनके आन्दोलन से प्रभावित होकर १८२६ में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने इस कुप्रथा को कानून द्वारा बन्द कर दिया।

यह तो पहले ही लिखा जा चुका है कि हिन्दू समाज में विधवा की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो उठी थी। विधवाओं की दुर्दशा को देखकर पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने इस बात का आन्दोलन किया कि विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार मिलना

चाहिए। अन्त में उनके प्रयत्न सफल हुए और १८५६ में विधवा को कानून से पुनर्विवाह करने का अधिकार मिल गया। इसके उपरान्त स्वामी दयानन्द ने विधवा विवाह का समर्थन करके देशवासियों के मन से इसके प्रति घृणा का भाव दूर कर दिया। यद्यपि आज भी विधवा विवाह अधिक नहीं होते हैं, परन्तु यदि कोई विधवा विवाह कर लेता है तो उससे घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता और न उसका बहिष्कार किया जाता है।

अंधविश्वास तथा अज्ञान के कारण हिन्दुओं में अत्यन्त छोटी उमर में विवाह कर दिया जाता था। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा अन्य सुधारकों ने इसके विरुद्ध भी आन्दोलन किया। वे चाहते थे कि
इसके विरुद्ध भी कानून बना दिया जाय परंतु सरकार   बाल विवाह
तैयार नहीं हुई। बाल विवाह को बन्द करने की ओर
पहले ब्रह्मसमाज ने आन्दोलन किया बाद को आर्यसमाज ने बाल विवाह के विरुद्ध आन्दोलन किया। आर्यसमाज ने ब्रह्मसमाज पर बल दिया और इस बात का प्रचार किया कि लड़के-लड़कियों का विवाह क्रमशः २५ और १६ वर्ष की आयु में होना चाहिए। १ अप्रेल १९३० को हरविलास शारदा के प्रयत्न से एक कानून बना जिसके अनुसार १४ वर्ष की आयु से कम की लड़की और १८ वर्ष की आयु से कम के लड़के का विवाह नहीं किया जा सकता। परन्तु इस कानून से कोई लाभ नहीं हुआ। अशिक्षित लोगों में अब भी बाल विवाह होते हैं। हाँ, शिक्षित घरों में बाल विवाह की प्रथा समाप्त हो गई। जैसे जैसे शिक्षा का प्रचार होता जायगा, बाल विवाह की प्रथा समाप्त हो जावेगी।

हिन्दू-समाज में कन्या विक्रय और वर विक्रय भी आरम्भ हो गया था। इसके भयंकर दोष सामने आने लगे। समाज सुधारकों ने और विशेषकर ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज तथा बाद को महिला संस्थाओं ने इसके विरुद्ध आन्दोलन किया। दहेज लेने के विरुद्ध किसी किसी राज्य में दहेज को बन्द करने के कानून बने, परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अखिल भारतीय कानून नहीं बना है।

अब शिक्षित हिन्दू परिवारों में क्रमशः वर वधू एक-दूसरे के चुनाव में अपनी सम्मति भी प्रकट करने लगे हैं। विवाह आज भी अधिकतर

अपनी जाति मे ही होता है, परन्तु यदि कोई युवक अन्य जाति मे विवाह कर लेता है तो उसको अधिक बुरा नहीं माना जाता। अब अन्तर्जातीय विवाहों की सख्या बढती जा रही है। फरवरी १९४९ मे अन्तर्जातीय विवाह को वैधानिक ठहरानेवाला कानून बन गया है।

अन्तर्जातीय विवाह

भारत में हिन्दुओं की ऊँची मानी जानेवाली जातियों तथा मुसलमानों मे पर्दा प्रथा बहुत प्रचलित थी। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के प्रचार के कारण, समाज सुधार आन्दोलन महिला सस्थाओं के प्रयत्न के कारण तथा राष्ट्रीय जागृति और शिक्षा प्रचार के कारण पर्दा प्रथा हिन्दुओं मे क्रमश कम हो गई है, परन्तु मुसलमानों मे अभी तक उसका प्रचार है।

महिलाओं की जागृति

महिलाओं को पहले शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझा जाता था परन्तु अब लड़कियों की शिक्षा का प्रचार तेजी से हो रहा है और माता पिता लडकियों की शिक्षा को भी आवश्यक मानने लगे हैं।

भारत मे महिलाओं को सभी राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। वे पुरुषों के समान ही मत देती हैं, वे चुनाव मे खडी होती हैं, कई महिलाएँ तो मन्त्रिमण्डलों की सदस्या हैं। भारतीय सविधान मे महिलाओं को वे सभी अधिकार प्राप्त है जो पुरुषों को मिले हुए हैं। पिछले दिनों देश मे अभूतपूर्व महिला जागृति उत्पन्न हुई है।

पिछली शताब्दियों मे हिन्दुओं मे जाति-पाँति का भेद इतना अधिक बढ़ गया था कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति से खान-पान तथा विवाह का सम्बन्ध नहीं रख सकता था। ब्रह्मसमाज ने सबसे पहले अपने उपासना-मदिर का दरवाजा सबके लिए खोल दिया और जातिवाद का विरोध किया। इसके उपरान्त आर्यसमाज ने इस जातिवाद को शिथिल करने का बहुत प्रशसनीय कार्य किया। जात-पाँत-तोडक मडल तथा अन्य सस्थाओं ने भी इस ओर अच्छा कार्य किया। राष्ट्रीय जागृति और शिक्षा के विस्तार के साथ खान पान के बधन टूटते जा रहे हैं। फिर भी जाति का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ। लोग समस्त राष्ट्र के हित की दृष्टि से विचार

जाति-पाँति का भेद

न करके अपनी-अपनी जाति के हित की दृष्टि से विचार करते हैं। जिसमें जातिवाद का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

अस्पृश्यता-निवारण

जागृति काल में हिन्दू समाज-सुधारकों का ध्यान अपने कई करोड़ दलित भाइयों की शोचनीय दशा की ओर भी गया। राजा राममोहन राय ने अस्पृश्यता का विरोध किया और फिर स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता के विरुद्ध युद्ध किया। आर्य समाज के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि जनता का ध्यान इस कलंक की ओर गया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने देश का ध्यान इस समस्या की ओर बड़ी तेजी से आकर्षित किया।

परन्तु अस्पृश्यता का देश से निवारण करने का महान् कार्य राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने किया। उन्होंने ही अस्पृश्य कहलानेवालों को 'हरिजन' नाम दिया। महात्मा गांधी ने हरिजनों के उत्थान कार्य को कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान दिया। तब से अस्पृश्यता निवारण में कुछ अधिक प्रगति हुई। हरिजनों को बहुत सी जगहों में कुओं से पानी भरने और मन्दिरों में दर्शन करने का अधिकार मिलने लगा। महात्मा गांधी ने हरिजनों के उत्थान के लिए समस्त देश की यात्रा की और समस्त देश में हरिजनों के प्रति सद्भावना को उत्पन्न किया। स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त अस्पृश्यता को वैधानिक दृष्टि से समाप्त कर दिया गया है, परन्तु अभी तक कट्टर हिन्दुओं में हरिजनों के प्रति उदार दृष्टिकोण नहीं है। परन्तु धीरे धीरे परिस्थिति में सुधार हो रहा है, क्रमश देश से यह कलंक दूर हो जायेगा। भारत-सरकार ने इनके लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की हैं और उन्हें शिक्षा नौकरी इत्यादि में संरक्षण दिया जाता है।

आदिवासी

भारत में ढाई करोड़ से अधिक ऐसे आदमी हैं जो अभी तक सभ्यता की प्रारंभिक अवस्था में हैं। इनके अनेक भेद हैं। गोंड़ कोल, भील मीना इत्यादि इनमें मुख्य हैं। कुछ समय से समाज का ध्यान इन उपेक्षित जातियों की ओर भी गया है और बहुत सी संस्थाएँ इनमें कार्य कर रही हैं। हरिजनों की भाँति ही सरकार ने इनको भी शिक्षा, इत्यादि के लिए सहायता देने तथा उनकी आर्थिक और सामाजिक दशा में सुधार करने का निश्चय

किया है। आशा है कि भविष्य में अन्य जातियों की भाँति ही सभ्य और सुसंस्कृत बन जायेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१—अठारहवीं शताब्दी में भारत में धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति कैसी थी, उसकी विवेचना कीजिए।

२—ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज का भारत के धार्मिक और सामाजिक जागरण में क्या स्थान है, समझाकर लिखिए।

३—भारत की सामाजिक स्थिति में सुधार करने के लिए कौन कौन से कानून बनाए गए, उनका उल्लेख कीजिए।

४—महात्मा गांधी ने भारत के सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए क्या प्रयत्न किया, उसका विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. भारतीय जागृति—श्री भगवानदास केला।
2. History of Nationalism in the East by Hans Kohn.
3. महात्मा गांधी के हरिजन तथा अस्पृश्यता सम्बन्धी लेख।

अध्याय १६

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति

राष्ट्रीयता की परिभाषा देना कठिन है। बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो मिलकर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देते हैं। परन्तु इनमें से किसी एक अथवा कई तत्त्वों के मौजूद होने से ही राष्ट्रीयता का निर्धारण नहीं किया जा सकता। जाति की एकता राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक मानी जाती है, परन्तु संसार की सभी जातियों का रक्त एक-दूसरे में इतना घुलमिल गया है कि जातीय शुद्धता नाम की कोई वस्तु आज कहीं भी अस्तित्व में नहीं है। भाषा की एकता को प्रायः राष्ट्रीयता का आधार माना गया है, परन्तु हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अंग्रेज और अमरीकी दो भिन्न राष्ट्र होते हुए भी एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, दूसरी ओर हम स्विस राष्ट्र के मुट्ठी भर व्यक्तियों को तीन या चार विभिन्न भाषाओं का उपयोग करते हुए पाते हैं। यह भी कहा जाता है कि राष्ट्र के सभी व्यक्तियों में सामान्य स्वार्थ का होना उनके एक राष्ट्र माने जाने के लिए आवश्यक है, परन्तु आज तो यह देखा जा रहा है कि प्रत्येक समाज में वर्ग-संघर्ष की भावना प्रमुख है और एक देश के पूँजीपति और दूसरे देश के पूँजीपति के बीच अधिक सामान्य स्वार्थ हैं, एक ही देश के पूँजीपति और मजदूर के मुकाबिले में। ऐसी स्थिति में सामान्य स्वार्थ का सिद्धान्त भी ठीक नहीं उतरता। धर्म को भी प्रायः राष्ट्रीयता का आधार माना गया है, परन्तु धर्म यदि सचमुच राष्ट्रीयता का एक ठोस आधार होता, तब तो हम एक ओर सारे यूरोप में एक ही राष्ट्र के व्यक्तियों को बसा हुआ पाते और दूसरी ओर दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में फैले हुए करोड़ों मुसलमानों को एक दर्जन से अधिक राष्ट्रों में बँटा हुआ नहीं देखते। भौगोलिक सामीप्य भी राष्ट्रीयता की भावना को

राष्ट्रीयता की परिभाषा

बढ़ाने का एक कारण अवश्य है, परन्तु पड़ोस में रहनेवाले सभी व्यक्तियों को सदा ही हम एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बंधा हुआ नहीं पाते। सच तो यह है कि जाति, भाषा, सामान्य स्वार्थ, धर्म और भौगोलिक समीपता राष्ट्रीय भावना को सुदृढ बनाने में सहायक होते हैं, परन्तु राष्ट्रीयता का जन्म इन सबसे परे कुछ दूसरी ही परिस्थितियों में होता है। रेनान के शब्दों में, 'राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है जिसका निर्माण दो वस्तुओं से होता है—एक तो प्राचीन काल के वैभव की एक सुखद स्मृति और दूसरी वर्त्तमान में समझौते की भावना, साथ रहने की इच्छा और मिल-जुलकर अपने सामान्य वैभव को आगे बढाने की आकांक्षा।" राष्ट्रीयता में और बातें हों या न हों, पर प्राचीन में गौरव, वर्त्तमान में समझौते की भावना और भविष्य के लिए समान आकांक्षाओं का होना आवश्यक है।

भारतीय राष्ट्रीयता का सूत्रपात

हमारे देश में राष्ट्रीयता की इस भावना का आरम्भ कब हुआ? अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक हम अपने प्राचीन गौरव की कहानियों को बिलकुल भूल गए थे। हममें न तो स्वाभिमान रह गया था और न किसी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा। पतन के एक गहरे गर्त्त में हम डूबे हुए थे। एक राष्ट्र बनाने वाले सभी तत्त्व हममें मौजूद थे पर अपने इतिहास से सम्पर्क हम खो बैठे थे। हमारे नवयुवक धीरे धीरे अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में आते गए और अपनी संस्कृति से उनका सम्बन्ध टूटता गया। ऐसे अवसर पर कुछ विदेशी लेखकों ने हमारे प्राचीन साहित्य की खोज की उसका अध्ययन किया, पश्चिमी भाषाओं में उसका अनुवाद किया और मुक्त-कंठ से उसकी प्रशंसा की। हमने जब इन पश्चिमी विद्वानों को अपनी सभ्यता की प्रशंसा करते हुए देखा तब उसके सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त करने की हमारी उत्सुकता भी बढ़ी। जहाँ हम एक ओर उन पश्चिमी विद्वानों के प्रति ऋणी हैं, वहाँ राष्ट्र निर्माण के इस कार्य में राममोहन राय, द्वारकानाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती आदि अपने उन धार्मिक और सामाजिक सुधारकों के योगदान को भी नहीं भूल सकते जिन्होंने हमें अपनी प्राचीन संस्कृति की महानता से परिचित कराया और हममें आत्मविश्वास की भावना जागृति की। राष्ट्रीय भावना को आगे बढाने की दिशा में हमें

पश्चिमी विचार धाराओं के उस संपर्क को भी नहीं भूल जाना है, जो हमें अंग्रेजी भाषा के शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण उपलब्ध हुआ। यूरोप के दूसरे साम्राज्यवादी देशों, हॉलैंड आदि ने अपने अधीनस्थ देशों को पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने उनके स्वास्थ्य की देखरेख की, उनकी खेती-बाड़ी में पश्चिमी वैज्ञानिक साधनों का प्रवेश कराया, उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारा, पर उनमें पश्चिमी विचारों को नहीं फैलने दिया। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को पश्चिमी संस्कृति के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया और अंग्रेजी भाषा के द्वारा अंग्रेजी साहित्य, राजनीति विज्ञान और तत्त्व-दर्शन सभी के दरवाजे हमारे लिए खोल दिए। हमने ह्यूम और काट के तत्त्व-दर्शन का अध्ययन किया और बर्क, मिल, पेन और स्पेन्सर की रचनाओं से स्वतन्त्रता, समानता और उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों को सीखा। जनतंत्र के सिद्धान्तों को जान लेने के बाद हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि जनतन्त्र यदि अंग्रेजों के लिए शासन की सबसे अच्छी व्यवस्था हो सकती है तो हिन्दुस्तानियों के लिए क्यों नहीं ?

राष्ट्रीयता के विकास के अन्य कारण

एक ओर तो हम पश्चिम की इन प्रगतिशील विचार-धाराओं के सम्पर्क में आते गए और दूसरी ओर हमें अपनी बढ़ती हुई गरीबी, बेकमी और मुफलसी का सामना करना पड़ रहा था। हमने देखा कि जो अंग्रेज अपने देश में एक आदर्श शासन-तंत्र की स्थापना करने में सफल हुए हैं, वही हमारे देश के शोषण में लगे हुए हैं। टैक्सों में हमसे इतना वसूल कर लेते हैं जितना इस देश की किसी अन्य सरकार ने कभी नहीं किया था, परन्तु उसका अधिकांश अंग्रेजों के हित में ही खर्च होता है और हिन्दुस्तानियों के लिए न तो शिक्षा की समुचित व्यवस्था है और न उनके स्वास्थ्य के लिए सरकार कोई चिन्ता करती है, और न बार-बार पड़नेवाले अकालों से उन्हें बचाने का ही कोई इलाज उसके पास है। दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त आदि अर्थ शास्त्रियों ने तथ्यों और आँकड़ों के द्वारा यह सिद्ध किया कि हिन्दुस्तान कभी इतना गरीब नहीं था, जितना अंग्रेजी राज्य में, और अकाल में लोगों के मरने का कारण यह नहीं था कि उन्हें अनाज नहीं मिल सकता था, पर यह था कि

सरकार उनसे टैक्सों से ही इतना अधिक रुपया ले लेती थी कि उनके पास अनाज खरीदने के लिए कुछ नहीं बचता था। इस प्रकार, एक ओर तो हममे आत्मविश्वास की भावना बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर अग्रेज शासकों की नीति के प्रति हममे कड़वाहट आती जा रही थी। इस कड़वाहट को आगे बढ़ाने का एक मुख्य कारण अग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तानियों के साथ किया जानेवाला दिन प्रतिदिन का बर्त्ताव था। इस बर्त्ताव के पीछे अग्रेजो की यह दृढ़ भावना थी कि वे एक सभ्य जाति के प्रतिनिधि हैं और इस देश के रहनेवाले असभ्य, असस्कृत और पिछड़े हुए हैं। अग्रेजों का सामाजिक जीवन हिन्दुस्तानियों से बिलकुल भिन्न था। उनके क्लब घरों और होटलों मे हिन्दुस्तानियों के लिए स्थान नहीं था। हिन्दुस्तानी केवल गुलाम की हैसियत से उनसे मिल सकते थे। अपने प्राचीन गौरव के प्रति हममे ज्यो ज्यों ममत्व और अहकार बढ़ता गया अग्रेजों के इस अमानुषिक व्यवहार के प्रति हममें खीझ, क्रोध और विद्रोह की भावना का बढ़ते जाना भी स्वाभाविक था। इन विभिन्न परिस्थितियों मे हमारे देश मे राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया।

विवेकानद और शक्ति का सदेश

राष्ट्रीयता की भावना का सूत्रपात तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारभिक वर्षो मे, जब पश्चिमी सपर्क की प्रतिक्रिया के रूप मे एक नई सामाजिक चेतना हमारे देश मे जागृत हो रही थी पड़ चुका था, पर उसका अधिक विकास इस शताब्दी के अतिम वर्षो और बीसवीं शताब्दी के आरभ म हुआ। राष्ट्रीयता की इस भावना को एक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व मे मिली। विवेकानन्द १८६६ मे एक सर्व धर्म सम्मेलन मे शामिल होने के लिए शिकागो गए थे। हिन्दुस्तान से जाने से पहले उनके मन मे पश्चिमी सभ्यता का बड़ा आकर्षण था। हिन्दुस्तान से वह चीन और जापान के रास्ते अमरीका गए थे। इन देशों मे जब उन्होंने भारतीय सस्कृति का प्रभाव देखा तब सहज ही उनके मन मे अपनी सस्कृति के प्रति एक ममत्व और गौरव की भावना का आविर्भाव हुआ। अमरीका पहुँचकर जब उन्होंने सर्व धर्म-सम्मेलन में भाग लिया, तब उनके धर्म-सबधी ज्ञान, उनकी अद्भुत वक्तृत्व शक्ति और उनके दीर्घकाय और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह सहज ही इस सम्मेलन में भाग लेनेवालों के लिए आकर्षण

और श्रद्धा का एक बड़ा केन्द्र बन गए। सम्मेलन की समाप्ति पर उन्हें अमरीका के विभिन्न स्थानों से भाषण देने के निमंत्रण मिले। आरम्भ में स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि पूर्वी संस्कृति का आधार अध्यात्मवाद में और पश्चिमी संस्कृति की महानता कर्म के क्षेत्र में है। उनका विश्वास था कि इन दोनों संस्कृतियों का समन्वय संसार के लिए आवश्यक है। परन्तु ज्यों ज्यों वह अमरीका के जीवन के निकट संपर्क में आते गए, पश्चिमी संस्कृति की हीनता और भारतीय संस्कृति की महानता में उनका विश्वास बढ़ता गया। १८९७ में विवेकानन्द हिन्दुस्तान लौटे और उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में उनका मुख्य उद्देश्य लोगों को यही बताना था कि किस प्रकार हिन्दुस्तान के पास अध्यात्म विद्या का एक अटूट खजाना है और बाहर की दुनिया उसके अभाव में कैसी दुःखी, बेचैन और पथभ्रष्ट हो रही है। हिन्दुस्तानियों से उन्होंने कहा, 'इस बात की चिन्ता न करो कि एक पार्थिव शक्ति के द्वारा तुम जीत लिए गए हो और अपनी आध्यात्मिक शक्ति से तुम विश्व पर विजय प्राप्त करो।' यह एक नया संदेश और बड़ा सार्थक आह्वान था। हमने यह अनुभव किया कि राजनीतिक दृष्टि से गुलाम होते हुए भी जीवन के और क्षेत्रों में हम धनी हैं। हमने यह भी अनुभव किया कि भटकी हुई दुनिया को रास्ता बताने की एक बड़ी जिम्मेदारी हमारे कंधों पर है। राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ हमें एक राष्ट्रीय कार्यक्रम भी मिला।

जिन दिनों स्वामी विवेकानन्द हमारे छिपे हुए आत्म गौरव को अपने प्रभावशाली लेखों और भाषणों के द्वारा उभाड़ रहे थे, उन्हीं दिनों कुछ अन्य शक्तियाँ भी इसी दिशा में काम कर रही थीं। यह समय हमारे देश में एक बड़े संकट का समय था। एक बहुत बड़ा अकाल देश के अधिकांश भाग में फैला हुआ था और उसके साथ ही
पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्लेग और दूसरी भयंकर घातक बीमारियाँ भी फैल रही थीं। सरकार ने इस सम्बन्ध
में जो नीति धारण की, उससे जनता में और भी क्षोभ बढ़ा। दक्षिण भारत में लोकमान्य तिलक ने इन भावनाओं का उपयोग जनता में एक नया राजनीतिक जीवन संगठित करने की दिशा में किया। बंगाल में बंकिम बाबू का 'आनन्द मठ', जिसमें 'वन्दे मातरम्' का लोक-प्रसिद्ध राष्ट्रगीत

सम्मिलित था, प्रान्त के नवयुवकों को राजनीतिक संस्थाएँ निर्माण करने और मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देने के लिए प्रेरित कर रहा था। उन्ही दिनों बंगाल और दूसरे प्रान्तों में भी 'गीता अनुशीलन समिति' और इस प्रकार की दूसरी संस्थाएँ बन रही थीं, जिनका ध्येय देश भर मे एक क्रान्तिकारी संगठन को जन्म देना था। पजाब में लाला लाजपतराय और उनका समाज सुधारक दल राजनीतिक कामों में जुटा हुआ था। इस विक्षुब्ध वातावरण में लॉर्ड कर्जन की नीति ने आग मे घी का काम दिया। बंगाल के विभाजन के उनके निश्चय ने देश की समस्त राजनीतिक शक्तियों को एक बडी चुनौती दी थी और उसकी सीधी प्रतिक्रिया यह हुई कि देश मे स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन उठ खड़े हुए। सभी प्रकार के अंग्रेजी माल पर विशेषकर कपड़े का बहिष्कार होने लगा, और स्वदेशी को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। सरकार ने दमन के सहारे इस आन्दोलन को कुचलना चाहा। 'वन्दे मातरम्' की आवाज उठाने पर नन्हें बालकों को बेतों से पीटा गया, बहिष्कार में भाग लेनेवाले व्यक्तियों को सजाएँ दी गईं और क्रान्तिकारी आन्दोलन से सहानुभूति रखनेवाले अनेकों व्यक्तियों को फाँसी के तख्ते पर लटकाया गया। सरकार ने दूसरी ओर नरम दल के राजनीतिक नेताओं को फोड़ने का प्रयत्न किया और १६०६ के सुधारों के द्वारा उसे इस काम में सफलता भी मिली। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक आन्दोलन वैसे तो रुक-सा गया, पर भीतरी रूप में अनेकों क्रान्तिकारी दलों का संगठन होने लगा। इन दलों की शाखाएँ न केवल बंगाल, पंजाब और हिन्दुस्तान के अन्य प्रान्तों में थीं, पर इंग्लैण्ड और जर्मनी में भी खुल गई थीं। राष्ट्रीय आन्दोलन की जो आग एक बार सुलगी, वह विदेशी शासन की लाख कोशिशों के बाद भी बुझाई नहीं जा सकी।

अंग्रेज अधिकारी इस बात को समझ गए थे कि भारतीय राष्ट्रीयता से सीधा मोर्चा लेना उनके लिए संभव नहीं होगा। इस कारण उन्होंने प्रतिक्रियावादी दलों को अपने साथ लेने की नीति को अपनाया। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर चलना प्रत्येक देशी सत्ता के लिए आवश्यक होता है। अंग्रेजों को हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुसलमानों में जो धार्मिक और सामाजिक भेद-भाव मिला, उसका मिट जाना वे नहीं

चाहते थे। गदर के जमाने तक तो उन्हें मुसलमानों से अधिक खतरा था।' बहुत अंग्रेज राजनीतिज्ञों का यह विश्वास था कि गदर के पीछे भी मुसलमानों का ही अधिक हाथ था। परंतु उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के वर्षों में, जब हिन्दुओं में राजनीतिक जागृति बढ़ने लगी, अंग्रेजों ने हिन्दुओं के साथ पक्षपात करने की नीति को छोड़कर मुसलमानों का पल्ला पकड़ा। बीसवीं शताब्दी का आरंभ होते-होते मुसलमानों के साथ पक्षपात की यह नीति बिलकुल स्पष्ट हो गई थी। बंगाल के विभाजन के पीछे भी यही नीति काम कर रही थी। कर्जन बंगाल के मुसलिम बहुसंख्यक भाग को अलग करके मुसलमानों में मुसलिम राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना चाहता था। मुसलमानों को बढ़ावा देने की इस नीति के परिणामस्वरूप ही १९०७ में आगाखाँ के नेतृत्व में मुसलमान नेताओं का एक दल लॉर्ड मिन्टो से मिला और मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन की माँग की। लार्ड मिन्टो ने फौरन ही उस माँग को स्वीकार कर लिया। यह स्पष्ट है कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध एक बड़े मोर्चे के रूप में संगठित कर लेना चाहते थे। भारतीय राष्ट्रीयता को छिन्न-भिन्न करने की दृष्टि से किया जानेवाला साम्राज्यवाद का यह पहला बड़ा षड्यन्त्र था।

राष्ट्रीयता पर पहला बड़ा आक्रमण

भारतीय राष्ट्रीयता ने इस षड्यन्त्र का मुकाबिला किया और उस पर विजयी सिद्ध हुई. एक लम्बे अर्से तक मुसलमान धर्मान्धता की बाढ़ में बहने से बचे रहे। कुछ ऐसे मुसलमान इन दिनों सामने आए, जिन्होंने मुसलिम-समाज में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपने जोरदार भाषणों और 'अल हिलाल' की प्रभावपूर्ण टिप्पणियों के द्वारा मुसलमानों में एक नया जोश फूँका। मौलाना मुहम्मद अली ने वही काम अपने 'कॉमरेड' और हमदर्द नाम के पत्रों द्वारा किया। मौलाना जफरअली का 'जमींदार' तो अपने राष्ट्रीय विचारों के लिए इतना प्रसिद्ध था कि बहुत से लोगों ने केवल उसे पढ़ने के लिए उर्दू सीखी। डॉक्टर अनसारी, हकीम अजमल खाँ और चौधरी खलीकुज्जमाँ आदि नेता भी इन्हीं दिनों सामने आए। प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने से हिन्दुस्तान के मुसलमानों

राष्ट्रीयता और उसकी प्रतिक्रिया

में फैलनेवाली इस राष्ट्रीय भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। युद्ध में टर्की अंग्रेजों के खिलाफ था और टर्की के सुलतान के खलीफा माने जाने के कारण हिन्दुस्तान के मुसलमान उसके प्रति अपनी वफादारी छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। लडाई के समाप्त हो जाने पर इसी प्रश्न को लेकर खिलाफ्त का आन्दोलन उठा। उधर लडाई के दिनों मे ही राष्ट्रीय आन्दोलन एक बार फिर बढ़ चला था। लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बीसेंट ने 'होमरूल लीग' की स्थापना की। इस आन्दोलन के फल स्वरूप अंग्रेजों ने १६१७ की सम्राट् की घोषणा के द्वारा हिन्दुस्तान मे धीरे धीरे उत्तरदायी शासन स्थापित करने की प्रतिज्ञा तो की, परन्तु उनके व्यवहार मे कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं आया और लडाई समाप्त होने के बाद ही कुछ ऐसे कानून बनाए गए जिनका स्पष्ट उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल डालना था। जागृत और सशक्त भारतीय राष्ट्रीयता उन्हें चपचाप मान लेने के लिए तैयार नहीं थी। इन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह मे एक बडी विजय प्राप्त करके महात्मा गांधी हिन्दुस्तान लौटे थे। इस बेचैनी, कसमसाहट और विक्षोभ के वातावरण मे देश का नेतृत्व उन्होंने अपने शक्तिशाली हाथों मे लिया। सरकार जो नए कानून बना रही थी, देश भर मे उनके विरुद्ध हड़ताल व सभाएँ हुई। इसी सिलसिले मे पंजाब मे जलियाँवाला बाग का रक्त रंजित नाटक खेला गया और जगह-जगह मार्शल लॉ की स्थापना हुई। इसकी देश भर मे बडी भीषण प्रतिक्रिया हुई। खिलाफ्त और राजनीतिक स्वाधीनता दोनों के आन्दोलन एक दूसरे मे घुल मिल गए, और गांधीजी के महान् नेतृत्व म हिन्दू और मुसलमान दोनों, कंधे से कंधा मिला कर, देश की आजादी के लिए अहिंसा के आधार पर लडे जानेवाले एक महान् युद्ध मे जूझ पडे। हिन्दू मुस्लिम एकता के जो दृश्य १६२० २१ के दिनों मे देखने मे आए, वे आज भी एक मीठी स्मृति के रूप मे हमारे हृदयों मे सुरक्षित हैं। अंग्रेजों की भेद डालने की नीति के विरुद्ध राष्ट्रीयता का यह एक बडा सफ्ल और विजयी मोर्चा था।

१६२० २१ के सत्याग्रह आन्दोलन ने भारत मे अंग्रेजी राज्य की जड़ों को झकझोर डाला। इस आन्दोलन मे लगभग चालीस हजार

व्यक्ति जेल गए और लाखों व्यक्तियों ने आन्दोलन से सम्बन्ध रखनेवाली कई प्रवृत्तियों में भाग लिया। विदेशी कपड़े का बड़ा सफल बहिष्कार किया गया। फरवरी १९२२ में सत्याग्रह या असहयोग आन्दोलन को सविनय अविनय अवज्ञा आन्दोलन के और उसके बाद रूप में परिणित करने का निश्चय किया गया था।

९ फरवरी को वाइसराय ने भारत मंत्री को सूचना दी—"शहरों में निम्न मध्यम श्रेणी के भागों पर असहयोग आन्दोलन का बहुत ज्यादा असर पड़ा है। कुछ भागों में विशेषकर आसाम घाटी, संयुक्त प्रान्त उड़ीसा और बंगाल में किसानों पर भी असर पड़ा है। पंजाब में अकाली आंदोलन गाँवों के सिक्खों में प्रवेश कर चुका है। देश भर में मुस्लिम आबादी का एक बड़ा भाग कड़वाहट और विक्षोभ की भावना से भरा हुआ है, स्थिति बहुत खतरनाक है। अब तक जो कुछ हुआ है, उससे भी अधिक व्यापक अशान्ति की सम्भावना मानकर भारत सरकार तैयारी कर रही है।" कुछ स्थानों में, जैसे गुन्टूर के जिले में, किसानों ने कर न देने का आन्दोलन भी शुरू कर दिया था। इन्हीं दिनों चौरीचौरा में एक ऐसी घटना हुई, जिसने गांधी जी को यह विश्वास दिला दिया कि देश अभी एक बड़ी अहिंसात्मक क्रान्ति के लिए तैयार नहीं था और उन्होंने फौरन आन्दोलन को बन्द कर देने की आज्ञा दे दी। एक महान् आन्दोलन के एक ऐसे अवसर पर जब वह सफलता के बिलकुल नजदीक पहुँचा हुआ दिखाई दे रहा हो, अचानक रोक दिए जाने से नेताओं व जनसाधारण में निराशा का फैल जाना बिलकुल स्वाभाविक था। परन्तु गांधीजी भारतीय समाज के किसी भी वर्ग को उस समय तक राजनीतिक आन्दोलन में लाना नहीं चाहते थे, जब तक उसमें अहिंसा पर चलने की क्षमता न हो। १९२०-२१ के आन्दोलन में राजनीतिक चेतना का प्रवेश निम्न मध्यमश्रेणी जनता में, जिसमें छोटे-मोटे दूकानदार, क्लर्क, शिक्षक, विद्यार्थी आदि शामिल थे, हुआ और उसने गांधीजी के सिद्धान्तों पर चलने की उचित योग्यता का प्रदर्शन किया परन्तु इस राजनीतिक चेतना की परिधि ज्यों-ज्यों तेजी के साथ बढ़ने लगी मजदूर और किसान भी एक बड़ी संख्या में उसमें शामिल होने लगे और उन्होंने अनुशासन मानने के बदले कानून और व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया। कलकत्ता, बम्बई, आदि शहरों के मजदूर-वर्ग

ने और चौरीचौरा मे गॉव के लोगों ने जैसा प्रदर्शन किया, उससे गाधीजी को यह विश्वास हो गया कि जब तक सम ज के इन वर्गों में उचित ढङ्ग से राजनीतिक शिक्षा का प्रसार नहीं हो पाता, तब तक इन्हें राजनीतिक सघर्ष मे लाने से लाभ कम हो सकेगा और खतरा ज्यादा रहेगा। इसी कारण गाधीजी ने देश की शक्ति को राजनीतिक क्षेत्र से हटाकर रचनात्मक कार्यक्रम मे मोड़ना चाहा। परतु अधिकाश कार्यकर्त्ताओं के मन मे राजनीतिक सघर्ष और क्रान्तिकारी आन्दोलनो के लिए जो दिलचस्पी थी, वह रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति नहीं और देश के कुछ प्रमुख राजनीतिक नेता तो, जो अब अग्रेजी साम्राज्य से मोर्चा ले रहे थे, सो साम्प्रदायिक उलझनों मे पड़ते गए।

राष्ट्रीय उत्थान की दूसरी लहर

गाधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम सभी राजनीतिक कार्यकर्त्ता अपना नहीं सके थे, यह स्पष्ट था। साम्प्रदायिक झगड़ों से उन नेताओं का ध्यान हटाने के लिए, जो केवल राजनीतिक कार्य में ही रुचि ले सकते थे, जो केवल नेहरू और चित्तरजन दास ने स्वराज्य-दल का निर्माण किया अपरिवर्तनवादियों के विरोध के बावजूद भी उन्हें काग्रेस के अधिकाश नेताओं का समर्थन मिल सका। १६२३ मे स्वराज्य पार्टी ने धारा सभाओं मे प्रवेश किया, परन्तु काग्रेस के इस नीति-परिवर्त्तन पर भी भारतीयता राष्ट्रीय पर्व अग्रेजी साम्राज्यवाद का आक्रमण लगातार जारी रहा। इन्हीं दिनों स्वराज्य पार्टी के विरोध करने पर भी, भारत सरकार ने कुछ ऐसे कानून बनाए, जो भारतीय हितों के खिलाफ जाते थे, और १६२७ में विधान निर्माण पर अपनी सम्मति देने के लिए एक ऐसे कमीशन की नियुक्ति की जिसमे एक भी हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं था। उधर जनता मे राजनीतिक जागृति का लगातार विकास हो रहा था। एक ओर तो श्रमिक वर्ग मे गिरनी कामगार सघ, लाल झंडा सघ आदि सस्थाओं के द्वारा जागृति फैलाई जा रही थी और दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के यूरोप प्रवास से लोट आने पर देश मे नवयुवकों को एक सशक्त नेतृत्व मिल गया था। इन परिस्थितियों मे देश ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया और जब साइमन कमीशन ने हिन्दुस्तान का दौरा किया तब जगह-जगह काले झण्डों 'साइमन लौट जाओ' के नारों और लबे-

लंबे जुलूसों के द्वारा जो विरोधी प्रदर्शन हुए, उनसे उन वर्षों में समाज के विविध वर्गों में फैल जानेवाली राष्ट्रीय भावना का अच्छा परिचय मिलता है। अंग्रेजी सरकार जब अपनी कट्टर साम्राज्यवाद की नीति से टस से मस न हुई तो १६२६ के लाहौर-कांग्रेस के ऐतिहासिक अवसर पर युवक नेता प० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य बनाने की घोषणा की। इस लक्ष्य का जनता में प्रचार करने के लिए २६ जनवरी १६३० को पहला स्वाधीनता दिवस मनाया गया। इन परिस्थितियों में गांधीजी ने एक बार फिर देश के भाग्य की बागडोर अपने हाथ में ली और मार्च १६३० की ऐतिहासिक दांडी यात्रा और ६ अप्रैल १६३० को समुद्र तट पर नमक कानून के कार्यक्रम से महान् जन आन्दोलन का सूत्रपात किया। नमक कानून के बाद स्थान स्थान पर दूसरे अवाञ्छनीय कानूनों को भी तोड़ा गया। विदेशी कपड़े व शराब की दूकानों पर धरना दिया गया। लगभग नब्बे हजार व्यक्तियों ने कारागृह का आवाहन किया और हजारों ने अपना सर्वस्व राष्ट्रीय स्वाधीनता की वेदी पर भेंट चढ़ा दिया। पेशावर में गढवाली सिपाहियों ने मुसलमान आन्दोलनकारियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और शोलापुर में एक सप्ताह तक वहाँ के मजदूरों ने राज्य शासन अपने हाथ में रखा। इस आन्दोलन में सबसे बड़ी क्षति अंग्रेजी उद्योग धंधों और व्यापार को हुई। यह अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे कोमल स्थल भी था और इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी साम्राज्य एक बार फिर हिल उठा। जनवरी १६३१ में सरकार को महात्मा गांधी और कांग्रेस की कार्य-समिति के दूसरे सदस्यों को बिना शर्त के छोड़ देने पर मजबूर होना पड़ा और ४ मार्च को गांधी इरविन समझौते पर दस्तखत किए गए। यह पहला अवसर था, जब अंग्रेजी सरकार को एक बागी संस्था के नेता से समझौता करने पर विवश होना पड़ा था। भारतीय राष्ट्रीयता के लिए नि संदेह यह एक महान् विजय थी।

१६३१ तक के भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास पर जब दृष्टि डालते हैं तो हमें दिखाई देता है कि राजनीतिक चेतना क्रमश समाज के ऊँचे वर्गों से आरम्भ होकर नीचे के वर्गों तक फैलती चली गई है। १८८४ में कांग्रेस की स्थापना के पीछे समाज के ऊँची श्रेणी के लोगों का

हाथ था। १९०५-६ में राष्ट्रीय चेतना ने मध्यम श्रेणी के ऊपर के स्तर का स्पर्श किया। १९२०-२१ तक प्रायः समस्त मध्यम श्रेणी में यह चेतना व्याप्त हो चुकी थी और १९२९-३१ में मजदूर और किसानों का एक बड़ा वर्ग उसके प्रभाव में आ चुका था। प्रत्येक आन्दोलन में लोगों ने पहले से अधिक त्याग, बलिदान और कष्टसहिष्णुता का परिचय दिया।

निरंतर बढ़ती जानेवाली राष्ट्रीय चेतना

प्रत्येक आन्दोलन को हम एक तूफान के समान उठते हुए पाते हैं जिसके पीछे कई बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कारण होते हैं। प्रत्येक आन्दोलन ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ों को अधिक गहरे जाकर झकझोर डाला, परन्तु जब यह दिखाई देने लगा कि अभी या तो राष्ट्रीय चेतना इतनी व्यापक नहीं है या अंग्रेजी साम्राज्यवाद अभी इतना कमजोर नहीं हुआ है कि वह जड़ से उखाड़ा जा सके तभी आन्दोलन की गति कुछ धीमी पड़ चली। इन सभी आन्दोलनों के प्रणेता, गांधीजी ऐसा जान पड़ता है, राजनीतिक जागृति को अधिक से अधिक व्यापक बनाने और अंग्रेज साम्राज्य से संघर्ष करने में कोई अन्तर नहीं देखते थे। स्वराज्य अथवा पूर्ण स्वाधीनता से किसी प्रकार कम लक्ष्य न रखते हुए भी गांधीजी ने अपने आन्दोलन के सिलसिले में जब कभी भी यह देखा कि अब आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीय भावना का अधिक विकास सम्भव नहीं रह गया है, तभी बिना इस बात की चिन्ता किए कि राजनीतिक लक्ष्य की दिशा में वैधानिक दृष्टि से वह कितना आगे बढ़े थे, उन्होंने आन्दोलन को बन्द कर दिया। वह तो इस बात की चिन्ता करते हुए भी दिखाई नहीं देते थे कि जनता पर उनके इस निर्णय की क्या प्रतिक्रिया होगी। राजनीतिक आन्दोलन को बन्द करते ही, बल्कि बन्द करने के दौरान में ही गांधीजी देश की समस्त शक्तियों को रचनात्मक कार्यक्रम की ओर मोड़ देने का प्रयत्न करते थे। उनकी दृष्टि में राजनीतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्यक्रम के बीच का कोई मार्ग नहीं था, परन्तु वह रचनात्मक कार्यक्रम न तो सभी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को अपील करता था और न जनता काफी उत्साह से उसमें भाग लेती थी। ये लोग इस बात की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करते रहते थे कि फिर किसी राजनीतिक कार्यक्रम पर चलने का उन्हें अवसर मिले। उनकी इस इच्छा की पूर्ति गांधीजी के

अलावा किसी अन्य राजनीतिक नेता को करनी पड़ती थी। १६२३-२४ में मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास ने काम किया। १६३४ के बाद कांग्रेस के तत्वावधान में ही पार्लियामेण्टरी कार्यक्रम का आयोजन किया गया। १६३६ में कांग्रेस ने प्रान्तीय चुनावों में भाग लिया जिसके परिणामस्वरूप ग्यारह में से आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमण्डल बने। कांग्रेस चाहे एक बड़ा आन्दोलन चला रही हो, चाहे रचनात्मक कार्यक्रम में जुटी हुई हो और चाहे धारा सभाओं के चुनाव में लगी हो या प्रान्तीय शासनों का नियंत्रण कर रही हो, उसका लक्ष्य सदा यही रहा रहा कि वह जनता में राजनीतिक जीवन का प्रसार व संगठन करती रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय चेतना का प्रसार अपने जन्म के बाद से कभी रुका नहीं है। वह एक अबाध गति और क्रम से सदा ही आगे बढ़ता रहता है।

अभ्यास के प्रश्न

१—राष्ट्रीयता का अर्थ समझाते हुए यह बताइए कि आधुनिक भारत में राष्ट्रीयता का विकास किन परिस्थितियों में हुआ ?

२—भारतीय राष्ट्रीयता के प्रमुख उन्नायकों और उनके विचारों के सम्बन्ध में संक्षेप में लिखिए।

३—अंग्रेजों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास को रोकने के लिए किन उपायों का सहारा लिया और अपने उद्देश्य में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली ?

४—भारतीय राष्ट्रीय महासभा का संक्षिप्त इतिहास दीजिए। राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार में उनकी सेवाओं का उल्लेख कीजिए।

५—राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान निर्धारित कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Singh, G. N. : Landmarks in the Political and Constitutional History of India.
2. Verma, S. P. : Prob'em of Democracy in India
3. „ „ हमारी राजनैतिक समस्याएँ।
4. „ „ स्वाधीनता की चुनौती।

अध्याय १७

स्वतन्त्र भारत का निर्माण

युद्धकालीन राजनीति : गत्यावरोध

१९३७ में जब कांग्रेस ने विभिन्न प्रान्तों में मन्त्रिमंडल बनाने का निश्चय किया तब उसे यह विश्वास होने लगा था कि अंग्रेज शायद बिना किसी बड़े संघर्ष के, धीरे धीरे पर निश्चित रूप से, सत्ता उसके हाथ में सौंप देंगे। २७ महीने के कांग्रेस के शासन काल में गवर्नरों और मन्त्रिमंडलों में बड़े अच्छे सम्बंध रहे, उधर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में फासीवाद और जनतन्त्र के बीच जो अन्तर बढ़ता जा रहा था, उसमें हमारी समस्त सहानुभूति जनतन्त्र के पक्ष में होने के कारण भी हमें यह विश्वास था कि हमारे और ब्रिटेन के बीच सद्भावना अधिक बढ़ेगी। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर हमारी समस्त सहानुभूति फासिस्ट देशों के विरुद्ध और जनतान्त्रिक देशों के पक्ष में थी, परन्तु हमें यह देखकर बड़ा क्षोभ हुआ कि हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हमारे नेताओं और हमारी धारासभा की राय लिए बिना ही हिन्दुस्तान के युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी, और शासन विधान में युद्ध कालीन परिवर्तन करके और एक के बाद एक आर्डिनेंस निकाल कर यह जाहिर करना चाहा कि उसे हमारे विचारों या दृष्टिकोण को जानने की तनिक भी इच्छा नहीं है। कांग्रेस यह नहीं चाहती थी कि युद्ध का संकट जब अंग्रेजी सरकार पर छाया हुआ था तब वह उसके रास्ते में किसी प्रकार की रुकावट डालती। परन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया, यह स्पष्ट होता गया कि जनतन्त्र के बड़े-बड़े सिद्धान्तों के प्रचार करते रहने के बावजूद भी अंग्रेज वास्तविक सत्ता किसी भी रूप में हिन्दुस्तानियों के हाथ में सौंपने के लिए तैयार नहीं थे। अगस्त १९४० में वाइसराय ने अपनी कार्यकारिणी में कुछ हिन्दुस्तानियों को लेने व एक भारतीय रक्षा-समिति की स्थापना का प्रस्ताव रखा। इस अपमानजनक प्रस्ताव ने राष्ट्रीय विक्षोभ की भावना को बहुत बढ़ा दिया। इस भावना की संगत और

प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए गाधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन चलाया। गाधीजी इस सबध मे अधिक से अधिक सावधानी ले रहे थे कि युद्ध के संचालन में किसी प्रकार की रुकावट न पडे। अग्रेजी सरकार ने गाधीजी की इस नेकनीयती को अविश्वास की दृष्टि से देखा और आन्दोलन को सयमित रखने के उनके प्रयत्न को कमजोरी का चिन्ह माना। इन दिनों, दुर्भाग्यवश भारत-मत्री के रूप में एक ऐसा व्यक्ति ब्रिटेन की भारत-सबधी नीति का सचालन कर रहा था, जो सदा से भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति विरोध और वैमनस्य का भाव रखता आया था। एमरी की राजनीति का सीधा लक्ष्य काग्रेस और मुस्लिम लीग के आपसी मतभेदों को बढाते रहना था। गाधीजी ने बहुत दुःखी होकर लिखा "सकट मे प्राय लोगों के दिल नरम पड जाते हैं और उनमें वस्तुस्थिति को समझने की तत्परता आ जाती है, परन्तु ब्रिटेन के सकट का असर उलटा पडता है, मि० एमरी पर तनिक भी असर नहीं पडा है।"

क्रिप्स प्रस्ताव और उसकी प्रतिक्रिया

दिसम्बर १९४१ में युद्ध का एक दूसरा दौर शुरू हुआ और जापानी सेनाएँ हागकाग फिलीपीन, मलाया, बरमा आदि यूरोपीय और अमरीकी साम्राज्यों के गढ एक के बाद एक और तेजी से, जीतती हुई, मार्च १९४२ तक हिन्दुस्तान की अरक्षित उत्तर-पूर्वी सीमा तक आ पहुँचीं। तीन सदियों में धीरे धीरे फैलनेवाला पश्चिम का एशिया पर आधिपत्य तीन महीनों में मिटता दिखाई दिया। इन परिस्थितियों में अग्रेजी सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को हिन्दुस्तानी नेताओं से एक बार फिर बात करने के लिए नियुक्त किया। क्रिप्स ने, इस बातचीत के बाद अपने प्रस्तावों को देश के सामने रखा। उन्होंने घोषणा की कि हिन्दुस्तान यदि चाहेगा तो युद्ध के बाद उसे औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा फौरन मिल जायगा और साम्राज्य से सम्बन्ध विच्छेद करने का अधिकार भी उसे प्राप्त होगा। क्रिप्स ने इस बात का भी आश्वासन दिया कि युद्ध के समाप्त होते ही एक विधान निर्मात्री सभा का निर्माण होगा, जिसमे मुख्यत जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होंगे और जिसके काम मे अग्रेजी सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। क्रिप्स प्रस्तावों में प्रान्तों के इस अधिकार को मान लिया गया था कि यदि वे भारतीय सघ में शामिल होना चाहें, तो अपनी स्वतन्त्र स्थिति रख

सकेंगे, या यदि वे चाहें तो अंग्रेजी सरकार से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे। उनमें विधान निर्मात्री सभा के द्वारा अंग्रेजी सरकार से एक संधि कर लेने की बात भी थी, जिसमें जातीय और धार्मिक अल्पसंख्यकों के उन विशेषाधिकारों का समावेश किया जाना था, जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने समय-समय पर स्वीकार किया था। कुछ खराबियों के बावजूद भी भविष्य के लिए ये प्रस्ताव बुरे नहीं थे। उनकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि उनके पीछे ब्रिटिश वर्तमान में हिन्दुस्तानियों के हाथ में रंचमात्र भी सत्ता न सौंपने का दृढ निश्चय था। वर्त्तमान की दृष्टि से सर स्टैफर्ड क्रिप्स अगस्त १९४० की लिनलिथगो-घोषणा से तनिक भी आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। दूसरी ओर कांग्रेस किसी ऐसे प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं थी, जिसमें वर्त्तमान के संबंध में किसी ठोस कदम के उठाए जाने का आश्वासन न हो। क्रिप्स-प्रस्ताव अंग्रेजी सरकार की ओर से समझौते का अन्तिम प्रस्ताव था। उसकी असफलता पर देश भर में निराशा, असन्तोष और विक्षोभ की एक आँधी सी उठ खड़ी हुई। कुछ प्रखर-बुद्धि राजनीतिज्ञों ने उलझन से निकलने की वैधानिक चेष्टाएँ कीं। श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी पाकिस्तान-संबंधी योजना के द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम लीग को कुछ निकट लाने का प्रयत्न किया, परन्तु क्रिप्स-प्रस्ताव के खोखलेपन ने गांधीजी के धैर्य को डिगा दिया था और उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश कर दिया था कि अब इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था कि अंग्रेजों से स्पष्ट शब्दों में हिन्दुस्तान छोड़ने के लिए कह दिया जाए। गांधीजी के आदेश पर कांग्रेस ने ८ अगस्त १९४२ की रात को 'भारत छोड़ो' का अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया और ९ अगस्त की महत्त्वपूर्ण प्रभात-वेला में गिरफ्तारी के समय स्वयं गांधीजी ने 'करो या मरो' के मंत्र से देश के नवोदित आत्मा को दीक्षित किया।

९ अगस्त १९४२ को नेताओं की गिरफ्तारी के बाद ही बिना किसी मार्ग-निर्देश और बिना किसी तैयारी के एक महान् जन-विद्रोह अपनी समस्त शक्ति के साथ देश भर में फैल गया। नेताओं के अभाव में जनता ने जो ठीक समझा, किया। ९ अगस्त की रात को ही अपने एक ब्रॉडकास्ट भाषण में भारत-मंत्री मि० एमरी ने सूचना दी कि

कांग्रेस रेल की पटरियाँ उखाड़ने, बिजली और तार के खंभे नष्ट करने और सरकारी इमारतों को जला देने का एक बृहद् कार्यक्रम तैयार कर रही थी। भारत-मंत्री के इस भाषण ने नेताओं की गिरफ्तारी से क्षुब्ध भारतीय देशभक्तों को अपनी राष्ट्रीय उत्थान की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एक रास्ता दिखाया। तीसरी लहर यूरोप में जर्मनी के अधिकार में जो देश आ गए थे, उनमें भी प्रतिशोध की भावना इसी प्रकार के कामों में अभिव्यक्ति पा रही थी। रेल की पटरियाँ उखाड़ने और सरकारी इमारतों को नष्ट कर देने की घटनाएँ हम आए दिन अखबारों में पढ़ा करते थे। जापान के अधीनस्थ देशों में सुभाषचन्द्रजी और जो दूसरे भारतीय नेता काम कर रहे थे, उन्होंने भी हमें इसी मार्ग पर चलने का बढ़ावा दिया। १६४२ का महान् जन-आन्दोलन भारतीय जनता की विक्षुब्ध और सहज ही उमड़ उठनेवाली भावनाओं का परिचायक था। ६ अगस्त और ३१ दिसम्बर के बीच, सरकारी आँकड़ों के अनुसार, साठ हजार से अधिक व्यक्ति गिरफ्तार किए गए, अठारह हजार भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत नियत्रण में रखे गए और क्रमश. ६४० और १६३० पुलिस और फ़ौज की गोलियों से मारे गए और घायल हुए। सरकारी आँकड़ों के अनुसार १६४२ के आन्दोलन में कुल १०२८ व्यक्ति मारे गए और ३२०० घायल हुए, पर यह देखते हुए कि जब स्वयं सरकारी विज्ञप्तियों के अनुसार ५३८ अवसरों पर गोली चलाई गई, दस हजार से कम व्यक्तियों के मारे जाने का कोई भी अनुमान सही नहीं हो सकता—यों जनसाधारण में तो इस आन्दोलन में अपने प्राणों की भेंट चढ़ाने-वाले व्यक्तियों की संख्या पचीस हजार आँकी जाती है। पर १६४२ के आन्दोलन की व्यापकता का अन्दाजा हम गिरफ्तार होने, मारे जाने या घायल किए जानेवाले लोगों की संख्या से नहीं लगा सकते। सरकारी दमन के शिकार वही लोग हुए, जो सिद्धान्त अथवा परिस्थितियों के कारण उससे बच नहीं सके। दूसरे लोगों ने सत्य और अहिंसा को एक ओर रखकर गुप्त ढङ्ग से विदेशी शासन के विरुद्ध अधिक से अधिक घृणा और विद्रोह की भावना का प्रचार किया। कई स्थानों पर, विशेषकर बिहार, बंगाल के मिदनापुर जिले, उत्तर-प्रदेश के बलिया आदि दक्षिण-पूर्वी जिलों में विदेशी शासन

चकनाचूर कर दिया गया और राष्ट्रीय शासन की स्थापना की गई। महाराष्ट्र के कई भागों में भी यही हुआ। १९४२ के आन्दोलन की विशेषता यह थी कि मुस्लिम लीग को छोड़कर देश की सभी राजनीतिक संस्थाओं के कार्यकर्ता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसमें सहयोग दे रहे थे—यह कांग्रेस का आन्दोलन नहीं रह गया था, जन-साधारण का आन्दोलन बन गया था—और देशी राज्यों में भी वह उतनी ही तेजी से फैला जितना ब्रिटिश भारत में। परन्तु अंग्रेजी सरकार की नृशंस दमन नीति और नेताओं के अभाव के कारण कुछ समय के बाद उसका शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक था।

राजनीतिक गत्यावरोध को सुलझाने के लिए मई १९४४में भूलाभाई देसाई और लियाकतखाँ में एक समझौता हुआ जिसे लेकर तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड वेवल मंत्रि-मंडल से सलाह लेने के लिए इंग्लैण्ड गए और वहां से लौटकर उन्होंने शिमला कान्फ्रेन्स का आयोजन किया। समझौते का यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका, पर इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए वेग से समझौता करने के लिए अंग्रेज सरकार को विवश होना पड़ेगा। उन्हीं दिनों इंग्लैण्ड में नए चुनाव हुए जिनके परिणाम-स्वरूप चर्चिल की अनुदार सरकार के स्थान पर मजदूर दल के हाथ में शासनकी बागडोर आई। मजदूर दलकी सरकार बनने के कुछ ही दिनों के बाद एक ऐसी घटना हुई जिससे भारतीय राष्ट्रीयता को बढ़ती हुई शक्ति का परिचय एक बार फिर संसार को मिला। यह घटना दिल्ली के लाल किले में आजाद हिन्द फौज के तीन नेताओं का जिनमें एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक सिख थे, मुकदमा था। यह मुकदमा जिन दिनों दिल्ली में चल रहा था उन्हीं दिनों देशमें चुनाव हो रहे थे। संयोग से मिल जानेवाली इन दोनों बातों ने देश के वातावरण में एक विचित्र कम्पन, स्फूर्ति और उत्साह भर दिया। आजाद हिन्द फौज के वीरतापूर्ण कार्यों की घर घर में चर्चा होने लगी। सुभाष बोस के व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में अचानक श्रद्धा और ममत्व की एक अनोखी भावना का उदय हुआ और हिन्दू और मुसलमानों में भाईचारे का जोश एक बार फिर उमड़ पड़ा। यह राष्ट्रीय उत्साह जब अपने पूरे जोरपर था, तभी अंग्रेजी पार्लियामेंट के एक शिष्ट-मंडल ने

१९४५-४६ की क्रान्ति

हिन्दुस्तान में दौरा किया। इस उत्साह की उन पर भी गहरी प्रतिक्रिया हुई। यह भावना नागरिकों तक ही सीमित नहीं थी, सेना में भी फैलती जा रही थी। फरवरी १९४६ में सरकारी जहाजी बेड़े के नाविकों ने विद्रोह की घोषणा की और यह खुली बगावत धीरे धीरे बंबई, कराची और मद्रास आदि सभी स्थानों में फैल गई। विद्रोह आरम्भ होने के २४ घंटे के भीतर बंबई और इसके आसपास के नगरों के बीस हजार नाविकों और बन्दरगाह के बीस जहाजों में इसकी लपटें फैल चुकी थीं। इन लोगों ने जहाजों के मस्तूलों पर से यूनियन जैक को हटाकर कांग्रेस और लीग के झंडे को साथ-साथ लहराया। जिन दिनों नाविकों का यह विद्रोह चल रहा था, उन्हीं दिनों ब्रिटेन ने भारतीय राजनीतिक गुत्थी को अन्तिम रूप से सुलझाने के विचार से, कैबिनट के प्रमुख मन्त्रियों का एक मिशन हिन्दुस्तान भेजने की घोषणा की। मार्च १९४६ में कैबिनट मिशन हिन्दुस्तान पहुँचा और विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ एक लम्बी बातचीत के बाद १६ मई १९४६ को उसने एक निश्चित योजना देश के सामने रखी। जैसा केन्द्रीय धारासभा के यूरोपीय दल के नेता ने अपने एक भाषण में कहा, "कैबिनट मिशन के हिन्दुस्तान आने के पहले हिन्दुस्तान बहुत से लोगों की राय में, एक क्रान्ति के किनारे पर था, कैबिनट मिशन योजना ने इस क्रान्ति को स्थगित करने की दिशा में बहुत बड़ा काम किया।'

माउन्टबेटन-योजना और स्वाधीनता का उदय

कैबिनट मिशन योजना का आधार देश संयुक्त और अविभाजित रखने पर था पर उसमें एक निर्बल केन्द्रीय शासन की कल्पना की गई थी। आरंभ में तो कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस योजना को मान लिया; पर एक बार स्वीकार कर लेने के बाद मुस्लिम लीग ने कैबिनट मिशन योजना को ठुकरा दिया और देश के विभाजन की माँग को दुहराया। इसके परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक तत्त्व देश में एक बार फिर प्रबल हो उठे और कलकत्ता, नोआखाली और टिपेरा, बिहार और गढ़मुक्तेश्वर और पश्चिमी पंजाब की हृदय को हिला देनेवाली घटनायें हमारे सामने आती गईं। इधर, अंग्रेज शासक इस बात को बिलकुल स्पष्ट रूप से समझ गए थे कि भारतीय राष्ट्रीयता अब इतनी बड़ी शक्ति बन गई है कि उसे कुचला नहीं जा सकता। मजदूर दल

के व्यवहारकुशल नेताओं ने यह भी देख लिया कि भारतीय राष्ट्रीयता को यदि उन्होंने एक बार फिर चुनौती दी, तो अपने क्षीण होते जाने वाले आर्थिक साधनों और ढहते हुए साम्राज्य की समस्त शक्ति लगाकर भी वे उसे दबा नहीं सकेंगे। उनके सामने यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय राष्ट्रीयता के साथ समझौता कर लेने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग उनके पास रह नहीं गया था। उन्होंने यह देख लिया था कि साम्राज्यवाद एक खोखली और निस्सार वस्तु रह गई है और यह भी समझ लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तेजी से बदलते हुए घटना-चक्र में वह एक खतरनाक वस्तु भी हो सकती है। वस्तुस्थिति को ठीक से पहचान कर उन्होंने जून १६४८ तक हिन्दुस्तान को आजाद कर देने की एक साहसपूर्ण घोषणा कर दी। ३ जून १६४७ को प्रकाशित माउन्टबेटन योजना में इस निश्चय के क्रियात्मक रूप को सामने रखा गया, और निश्चित अवधि के दस महीने पहले १४ अगस्त १६४७ की मध्य-रात्रि को भारतवर्ष की स्वाधीनता की घोषणा कर दी गई और तीस करोड़ व्यक्तियों का यह देश अंग्रेजी साम्राज्यवाद की दासता के जुए को अपने कंधों से उतार कर एक बड़े और स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में संसार के सामने आ गया।

परन्तु जहाँ हमें एक ओर वह आजादी मिली जिससे अपने भाग्य के हम स्वयं विधाता बने, वहाँ दूसरी ओर भौगोलिक, आर्थिक राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सदियों से एक रहनेवाले इस देश के बँटवारे को भी हमें स्वीकार करना पड़ा। एकता की बड़ी कीमत पर हमें आजादी प्राप्त हुई। पिछले साठ वर्षों से कांग्रेस के भीतर व बाहर के हमारे राष्ट्रीय नेता जिस आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे, वह इस प्रकार की कटी फटी आजादी नहीं थी। हमारे देश के असंख्य नौनिहालों ने जिस आजादी के लिए अपने मूल्यवान प्राणों की भेंट चढ़ायी थी, वह अटक से अराकान तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक समूचे देश की आजादी थी। एकता की कीमत पर हमने आजादी के इस मार्ग को क्यों चुना? राष्ट्र के प्रखर नेतृत्व में देश के बँटवारे को क्यों स्वीकार किया और एक अखंड, अविभाज्य हिन्दुस्तान की आजादी के लिए अपने प्रयत्न क्यों जारी न रखे? इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में

पर विभाजन क्यों?

उठना स्वाभाविक है। इनका सतोषजनक उत्तर तो भविष्य ही दे सकेगा; पर यह स्पष्ट है कि जून १९४७ मे राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रह गया था। अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान को छोडकर चले जाने का निश्चय कर लिया था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेदों को देखते हुए और यह देखते हुए कि कांग्रेस के राष्ट्रीय होने के दावे के सही होने के बावजूद भी देश के करोड़ों मुसलमानों का विश्वास कायदे-आजम और मुस्लिम लीग मे है, अंग्रेजी सरकार इस स्थिति मे नहीं थी कि वह कांग्रेस के हाथ मे सारे हिन्दुस्तान की राज्य सत्ता सौंप दे। कांग्रेस और मुस्लिम-लीग मे समझौते के सभी प्रयत्न असफल हो चुके थे। एक वर्ष पहले केबिनेट मिशन योजना के अन्तर्गत जिस मिले-जुले शासन की व्यवस्था की थी, वह मुसलमानों को मंजूर नहीं थी और केन्द्रीय शासन के भीतर मुस्लिम-लीग का जो रवैया रहा, उससे कांग्रेस के नेताओ को यह विश्वास हो गया था कि वे वहाँ केवल उनके काम मे अड़ंगा डालने के लिए है, परिस्थितियो ने इस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व के द्वारा देश के बंटवारे की मांग को स्वीकार करना अनिवार्य बना दिया। इस प्रकार हमे आजादी तो मिली—एक बड़े साम्राज्य व समस्त पाशविक बल का आततायी बोझ हमारे सिर पर से हट गया—पर इसके साथ धार्मिक आधार पर देश का बँटवारा भी हमे मिला। और आजादी और विभाजन के इस अनोखे मिश्रण से कुछ विचित्र समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हुई, जिनके परिणाम-स्वरूप उस समय के लिए तो हमारा राष्ट्रीय अस्तित्व ही खतरे मे पड़ गया था।

हमने साहस के साथ न केवल इन परिस्थितियो पर काबू ही पाया, एक धर्म निरपेक्ष लोक-राज्य की स्थापना के लिए एक प्रगतिशील गण तन्त्रात्मक सविधान का निर्माण भी किया और स्वाधीनता के इस शैशव काल मे ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति स्वतन्त्र भारत पर एक गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हुए। पिछले सात की समस्याएँ वर्षों मे जहाँ हमने बहुत कुछ किया है, बहुत कुछ और करना अभी शेष है। हमारे सामने आन्तरिक पुनर्निर्माण के बड़े-बड़े कार्यक्रम हैं। डेढ सौ वर्षों तक एक हृदयहीन विदेशी सत्ता के द्वारा हमारा जो आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक निःसत्त्वीकरण हुआ है, उसकी चोट से हमें उभरना है। अंग्रेजी शासन के कारण

हमारा औद्योगीकरण जो पिछड़ गया है, तेजी के साथ हमें उसकी पूर्ति करना है। एक बड़े देश की अपार जनसंख्या को शिक्षित और स्वस्थ बनाना है और जनतंत्र के सिद्धान्तों में उसे दीक्षित करना है। अभी तो हमने एक ही प्रकार की गुलामी से मुक्ति पाई है। एक विदेशी शासन के जुए को हम अपने कंधे से उतारकर फेंक सके हैं और अपने देश में एक ऐसे देश की स्थापना करने में सफल हुए हैं जिसका आधार राजनीतिक दृष्टि से इस देश में रहनेवाले प्रत्येक नागरिक की समानता में है। परन्तु दूसरे देशों का इतिहास हमें बताता है कि किसी भी ऐसे देश में जहाँ केवल राजनीतिक स्वतंत्रता हो, पर सामाजिक और आर्थिक समानता न हो, राजनीतिक समानता भी धीरे-धीरे अपना मूल्य गँवा बैठती है। हमारा समाज आज भी ब्राह्मण-अब्राह्मण, कुलीन-अकुलीन, सवर्ण और अस्पृश्य आदि में बँटा हुआ है। समृद्ध जमींदार और भूखा किसान, महलों में रहनेवाला पूँजीपति और सर्दी से ठिठुरता हुआ मजदूर, ये विषमताएँ भी आज हमारे समाज में मौजूद हैं। सामाजिक असमानताओं के इस वातावरण में सच्चा जनतंत्र पनप नहीं सकता। सामाजिक समानता के साथ ही आर्थिक समानता के प्रश्न को भी हमें लेना होगा। देश के प्राकृतिक साधनों का समाजीकरण और उत्पत्ति का इस ढंग से बँटवारा करना होगा कि वे अधिक से अधिक लोगों के सुख का साधन बन सकें। दूसरे शब्दों में भारतीय जनतंत्र के आधार को इतना व्यापक बनाना होगा कि उसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी प्रकार की समानता का समावेश हो सके।

अभ्यास के प्रश्न

१—दूसरे महायुद्ध के अवसर पर भारत में उत्पन्न होनेवाले राजनीतिक गत्यावरोध के कारणों पर प्रकाश डालिए।

२—क्रिप्स-प्रस्तावों का संक्षिप्त विवरण दीजिए और बताइए कि भारतीय नेताओं ने क्यों उन्हें अस्वीकृत कर दिया ?

३—१९४२ की क्रान्ति की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कीजिए। इस क्रांति की असफलता के क्या कारण थे ?

४—उन परिस्थितियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए, जिन्होंने अंग्रेजी शासन को भारतवर्ष से हट जाने पर विवश किया।

५—भारत के विभाजन के कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।
६—स्वतन्त्र भारत की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि उनके सुलझाने में हम कहाँ तक सफल हो रहे हैं।

विशेष अध्ययन के लिए

1 Crupland . Report on the Constitutional Problem in India.
2. Palme Dutt . India Today.
3. Varma, S. P. : Problem of Democracy in India.
4. " " स्वाधीनता की चुनौती

अध्याय १८

भारतीय कला

भारतीय चित्रकला अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। इसमें धार्मिक तथा मानव-हृदय की भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अजंता की गुफाओं में जो दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी मिलती है वह ईसा से एक सौ वर्ष पूर्व से लेकर सातवीं शताब्दी के समय की है। यह चित्रकारी वास्तव में भारत की प्राचीन सभ्यता का एक नाटक है, जो कि दीवारों पर चित्रित किया गया है। भारतीय इतिहास में स्वर्ण-युग की सभ्यता और संस्कृति को मानो चित्रकारों ने दीवारों पर अंकित कर दिया है। इन चित्रों की सुन्दरता और रंगों की ताजगी इतनी मनमोहक है कि अजंता की चित्रकारी वास्तव में भारत की राष्ट्रीय चित्रशाला है। अजंता की चित्रकला का प्रभाव केवल भारत की चित्र-कला पर ही नहीं पड़ा, वरन् उसका प्रभाव भारत के पड़ोसी मध्य-एशिया, बर्मा, लंका, चीन और जापान पर भी पड़ा। इन महान चित्र-कारों ने इन चित्रों में भगवान् बुद्ध की महानता का वास्तविक चित्रण सफलतापूर्वक किया है। अजंता का सर्वोत्तम चित्र "अवलोकितेश्वर-पद्मपाणि" है।

अजंता-शैली की चित्रकला

अजंता शैली का हमारी चित्रकला पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा यह तो इसी से स्पष्ट है कि कई स्थानों पर उसका अनुकरण किया गया। ग्वालियर राज्य के बाघ की चित्रकला, दक्षिण भारत के सित्तानावासल और लंका की सिगिरिया की दीवारों पर अंकित चित्रकारी इस शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं।

आठवीं शताब्दी के उपरान्त दीवारों पर चित्रकला का रिवाज कम हो गया और छोटे-चित्रों की ओर झुकाव अधिक बढ़ा। बंगाल में

पाल शैली (९वीं ईसवी से १२वीं ईसवी तक) और गुजरात-शैली (११वीं ईसवी से १५वीं ईसवी तक) की चित्रकला इसी श्रेणी की है। यह छोटी चित्रकारी बहुधा हस्त लिखित ग्रन्थों पर होती थी। प्रसिद्ध बौद्ध हस्तलिखित ग्रन्थ प्रज्ञापारमिता के कुछ ताड़-पत्र जिन पर यह सुन्दर छोटे चित्र बने हैं, आज भी उपलब्ध हैं।

पाल-शैली

पश्चिमी भारत में पाल शैली के समान ही गुजरात शैली की छोटी-चित्रकारी का उदय हुआ। यह चित्रकारी ताड़-पत्र और कागज दोनों पर ही मिलती है। सर्वोत्तम चित्रकारी उस परिवर्तन काल (ईसवी १३५० से १४५० ईसवी तक) की है जबकि ताड़-पत्र का स्थान कागज ले रहा था। इस शैली की विशेषता मुख लम्बा, नुकीली नासिका, बाहर निकली हुई आँखें और अत्यधिक सजावट थी। अधिकांश चित्र सदा दो इंच लम्बे और उतने ही चौड़े हैं। पहले के चित्रों में लाल पृष्ठभूमि और सादे रंगों का समावेश है परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के चित्रों में नीले और सुनहले रंगों का अधिक उपयोग किया गया है। यह चित्र जैन धर्म और कृष्ण-लीला से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। "वसन्त विलास" नामक कपड़े पर की हुई चित्रकारी वसन्त की शोभा का अद्वितीय नमूना है। यह १४५१ ईसवी की चित्रकारी है। इस चित्रकला की विशेषता यह है कि इसमें सूक्ष्म कला का सुन्दर चित्रण किया गया है।

गुजरात-शैली

राजस्थानी चित्रकला (सोलहवीं और सत्रहवीं ईसवी) में भारतीय कला का शुद्ध रूप उद्भासित होता है। इसमें प्रेम और देव आराधना ही मुख्य विषय मिलते हैं। यदि राजस्थानी चित्रकला के साथ हम पश्चिमी हिमालय (१७वीं और १८वीं ई०) की कलम को और सम्मिलित कर लें तो राजस्थानी चित्रकला का स्थान संसार की चित्रकला में बहुत ऊँचा माना जावेगा। प्रेम का जैसा उत्कृष्ट चित्रण राजस्थानी कला में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।

राजस्थानी चित्रकला

इन चित्रों में स्त्रियों के आदर्श सौंदर्य को प्रदर्शित किया गया है। बड़ी-बड़ी कमल की पंखुड़ियों जैसी आँखें, लम्बे केश, उन्नत उरोज,

पतली कमर और गुलाब जैसे हाथों का बहुत सुन्दर चित्रण मिलता है। इन चित्रों में हिन्दू स्त्री के हृदय की भावनाओं का भी अत्यन्त सजीव चित्रण है। इन चित्रों में तेज सुन्दर रंगों का बड़ी चतुराई से उपयोग किया गया है। राजस्थानी चित्रकला के विषयों में कृष्ण-लीला, शृंगार, प्रेमी और प्रेमिका, शिव पार्वती, रामायण महाभारत, हमीर हठ नल-दमयन्ती बारह मास और रागमाला मुख्य हैं। रागमाला भारत की विशेषता है। इसमें रागों को भावपूर्ण चित्रों में चित्रित किया गया है। संगीत और चित्रकला का यह सम्बन्ध भारतीय कला की अपनी विशेषता है।

राजस्थानी चित्रकला और विशेषकर रागों के चित्रण ने हिमालय पर्वतीय चित्रकला को जन्म दिया है। यह चित्रकला हिमालय प्रदेश, जम्मू, बासोहली, चम्बा, नुरपुर, कांगड़ा कुल्लू, मंडी, सुकेत और गढ़वाल में पनपी और विकसित हुई। हिमालय-कला का मुख्य विषय कृष्ण की बाल-लीला और राधा का है।

हिमालय शैली

मुगल सम्राट् कला प्रेमी थे, इस कारण उनके शासन काल में चित्र कला का खूब विकास हुआ। अकबर ने भारत के सभी प्रान्तों और विशेषकर गुजरात और राजस्थान से सैकड़ा चित्रकारों को बुलाकर उन्हें संस्कृत और फारसी के महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों में चित्र बनाने का काम सौंपा। इनमें तैमूर-वंश का इतिहास जिसकी प्रति बाँकीपुर में मौजूद है, महाभारत जिसमें १६९ सुन्दर चित्र हैं जो जयपुर में सुरक्षित हैं हजनामा प्रेम कथाओं की पुस्तक, जिसमें १३७८ चित्र हैं, रामायण, अकबरनामा, इयारे-दानिश मुख्य हैं। अकबर के संरक्षण में इस एक नवीन चित्रकला की शैली का जन्म हुआ जिसमें राजस्थानी और ईरानी कला का मिश्रण था। इन चित्रों में मुगल दरबार, महलों के जीवन, सम्राट् और उनके सरदारों के चित्र रहते थे।

मुगल चित्रकला

जहाँगीर के शासन-काल में भी चित्रकला का विकास हुआ। इस समय के चित्रों में रेखाओं का सौंदर्य और हल्के रंगों का मिश्रण एक विशेषता थी। अधिकांश चित्र उसके जीवन से सम्बन्धित हैं अथवा

चिड़ियों और पशुओं के हैं, क्योंकि जहाँगीर को ये प्रिय थे। उसके आदेश पर उस्ताद मसूर ने बहुत से सुन्दर चित्र बनाए थे।

यद्यपि शाहजहाँ का ध्यान चित्रकला की ओर इतना नहीं था जितना भवन निर्माण की ओर, फिर भी वह चित्रकारों को प्रोत्साहन देता रहा। उसके समय में दरबार सन्त और फकीरों तथा सरदारों के चित्र बहुत बने। औरंगजेब के समय में चित्रकला को धक्का लगा।

मुगल काल की चित्रकला में अधिकतर महलों के जीवन का चित्रण रहता था, जिसमें सम्राट् स्त्रियों के सहवास में गाना सुनते हुए और मदिरा पीते हुए दिखाई देते थे।

दक्षिण में गोलकुंडा और बीजापुर दरबारों के
प्रोत्साहन से दक्षिण चित्रकला की शैली का दक्षिण की चित्रकला
उदय हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय चित्रकला का पतन-काल था। मुगल साम्राज्य का पतन हुआ तो चित्रकला का भी पतन हुआ। केवल देहली, लखनऊ और पटना में थोड़ी चित्रकारी होती थी, किन्तु वह मस्ती कला थी और भारत के पतन का उस
पर पूरा प्रभाव था। कांगड़ा (पहाड़ी) चित्रकला भारतीय चित्रकला
१९०५ में वहाँ भयंकर भूचाल आने से बिलकुल लुप्त का पतन
हो गई।

१८५४ में कलकत्ता जो कि उस समय अंग्रेजों की सत्ता का प्रमुख केन्द्र था, वहाँ कलकत्ता स्कूल-आफ-आर्ट्स स्थापित हुआ, जिस पर अंग्रेजी चित्रकला का पूरा प्रभाव था। इस पतन-काल
में केवल राजा रवि वर्मा ने भारतीय चित्रकला को भारत में चित्रकला
जीवित रक्खा और कुछ सुन्दर चित्र तैयार किए। का पुन उदय
उस समय भारतीय चित्रकला में विदेशी चित्रकला की
नकल करने की प्रवृत्ति जागृत हो उठी थी।

भारतीयों को इस नकल से बचाने और भारतीय चित्रकला को पुनः जीवित करने का श्रेय श्री ई० बी० हैवल को है, जो कलकत्ता स्कूल आव आर्ट्स के अध्यक्ष थे। उनको इस कार्य में श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर से पूरी सहायता मिली। टैगोर ने कुछ तरुण चित्रकारों को जमा किया और इन्हीं लोगों ने बंगाल की नवीन चित्रकला की नींव डाली।

इन चित्रकारों ने फिर अजंता, राजपूत और मुगल चित्रकला से प्रेरणा ली और वे रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, कालिदास और उमरखय्याम तथा भारतीय इतिहास की घटनाओं का चित्रण करने लगे। इन बंगाली चित्रकारों ने यूरोपीय ढंग से तैलचित्रों को छोड़ दिया और 'वाटर कलर' को अपनाया। साथ ही उन्होंने चीनी, जापानी और ईरानी चित्रकला से भी प्रेरणा ली। रवीन्द्रनाथ टैगोर के अतिरिक्त श्री नन्दलाल घोस ने अजंता के चित्रकारों की भावना को अपने चित्रों मे उतारना आरम्भ किया और उनके चित्रों मे बौद्धकाल की चित्रकला के दर्शन हुए। इसके अतिरिक्त श्री असितकुमार हल्दार, समारेन्द्रनाथ गुप्त, अब्दुर रहमान चगताई इस शैली के प्रसिद्ध कलाकार हैं। देवीप्रसाद राय चौधरी ने पूर्वीय और पश्चिमीय चित्रकला का सुन्दर समन्वय किया है, जो उनकी भूटिया स्त्री तथा तिब्बती युवती के चित्रों मे लक्षित होता है। पुलिन बिहारी मित्र ने सिद्धार्थ तथा मीरा को अपनी तूलिका का विषय बनाया, प्रमोदकुमार चटर्जी ने हिमालय के जीवन को अपनी तूलिका से चित्रित किया है। इन्हीं कलाकारों ने देश के भिन्न प्रान्तों मे जाकर आर्ट्स स्कूल या कालेजों के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया और इस प्रकार इस शैली का प्रभाव समस्त भारतवर्ष मे फैल गया।

बंगाली-चित्रकला

बम्बई स्कूल आव आर्ट्स में अवश्य ही इस बातका प्रयत्न किया गया कि पश्चिमीय ढंग की कला का भी उपयोग किया जावे। परन्तु उन्होंने भारतीय परम्परा को भी बनाए रक्खा। बाम्बे स्कूल आफ आर्ट्स ने अजंता को भुलाया नहीं और अजन्ता की कला को अपनाया। बम्बई स्कूल आव आर्ट्स के विद्यार्थियों ने श्री जान ग्रिफिथ (स्कूल के आचार्य) की देख-रेख में अजंता के फ्रैस्को पेंटिंग की सुन्दर नक़ल की है और उनके द्वारा अंकित देहली के सचिवालय (सेक्रेटेरियट) की दीवारों पर बनाये गए चित्रों मे उसका स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

बम्बई स्कूल आव आर्ट्स

भारतीय चित्रकला में आधुनिकवाद के प्रवर्त्तकों और उन्नायकों में श्री गगेन्द्रनाथ टैगोर, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री जैमिनी राय और श्रीमती

अमृत शेरगिल मुख्य हैं। इन चित्रकारों का उद्देश्य यह था कि केवल प्राचीन विषयों और प्राचीन परम्परा में ही चिपके रहना उचित नहीं है। यद्यपि श्रीमती अमृत शेरगिल भारतीय चित्रकला अजन्ता की चित्रकला की परम प्रशंसक थीं और मैं आधुनिकवाद इसको वे सर्वकालीन चित्रकला का शुद्ध रूप मानती थीं।

आज भारतीय चित्रकला मे ससार की सभी प्रमुख चित्रकला शैलियों का प्रभाव पड़ता दिखलाई देता है।

ईसा से हजारों वर्ष पहले भारत में मूर्त्तिकला विकसित हो चुकी थी। सिंध घाटी मे स्थित मोहनजोदडो (सिंध में) और हरप्पा (पश्चिमीय पजाब) के भग्नावशेषों से यह पता चलता है कि ईसा के हजारों वर्ष पूर्व भी मूर्त्तिकला का इस देश में भारत म मूर्तिकला विकास हो चुका था। इन प्राचीन नगरो की खुदाई से जो हमें घर मे प्रतिदिन काम आनेवाली वस्तुएँ मिली हैं, उनकी सुन्दरता और बनावट से उनके बनानेवालों की सुन्दर रुचि और कला का आभास मिलता है। मोहनजोदडो तथा हरप्पा की खुदाई मे जो सुन्दर मिट्टी के बर्तन मिले हैं, उनकी बनावट और उनपर बनी हुई सुन्दर चित्रकारी इस बातका सबल प्रमाण है। मिट्टी के अतिरिक्त पत्थर पर खुदाई करने और धातु की मूर्त्ति बनाने की कला भी उस समय विकसित हो चुकी थी। नाच की बनी हुई नर्त्तकी की मूर्त्ति जो मोहन जोदड़ो से प्राप्त हुई है, और हरप्पा से मिले पुरुष के धड की मूर्त्ति, तत्कालीन मूर्त्तिकला के सुन्दर प्रमाण हैं। सिंध की घाटी के इन प्राचीन नगरों की खुदाई मे मिली हुई मुद्रों पर जिन पशुओं के चित्र अकित हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में ईसा से पाँच हजार वर्ष पहले मूर्त्तिकला यथेष्ट विकास पा चुकी थी।

दुर्भाग्यवश सिंध नदी की घाटी की इस कला का क्रम हमे आगे नहीं मिलता। मोहनजोदड़ो के पश्चात् यदि हम मूर्त्तिकला के सुन्दर अवशेष मिलते हैं, तो वे मौर्यकाल (ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व के हैं। मौर्यकाल में मूर्त्तिकला बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी। उस काल की मूर्त्ति कला में सौंदर्य भावप्रदर्शन और कारीगरी का इतना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है कि उसका भारतीय कला के इतिहास मे बहुत ऊँचा स्थान है।

सारनाथ के स्तम्भ पर बने हुए चारों सिंह (जो आज भारत का राजचिह्न है) मौर्यकाल की मूर्त्तिकला का उत्कृष्ट नमूना है। यह ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी महान् कलाकार ने पत्थर पर कविता अंकित की है। इसमें चार सिंह बने हैं, जो शक्ति के महान् प्रतीक हैं। उसके नीचे चार दौड़ते हुए पशु हैं और उनके बीच में चक्र हैं वे मानव जीवन के उतार चढ़ाव के अन्दर छिपे हुए एकत्व को व्यक्त करते हैं। यह दौड़ते हुए पशु, चक्र और ऊपर चार सिंह एक कमल के ऊपर स्थापित हैं, जिसकी पखुड़ियाँ नीचे की ओर हैं – जो जीवन के आदि स्रोत और रचनात्मक भावना का द्योतक है। और इस समस्त स्तम्भ के ऊपर 'धर्मचक्र' है।

बिहार में स्थित रामपुरवा में जो सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित बड़ा स्तम्भ मिला है और जिस पर एक विशाल पत्थर का वृषभ बना है, वह भी मौर्यकाल की मूर्त्तिकला का एक अत्यन्त सुन्दर नमूना है।

इन राज्याश्रित मूर्त्तिकला के नमूनों के अतिरिक्त इस काल में धार्मिक मूर्त्तिकला भी बहुत सजीव थी यक्ष और यक्षिणी की मूर्त्तियाँ इस बात की प्रमाण हैं कि उस समय भारतीय जीवन में तेज और स्वतन्त्रता की भावना बहुत बलवती थी। ये देव मूर्त्तियाँ वास्तव में तत्कालीन स्त्रियों और पुरुषों को चित्रित करती हैं। अपने वातावरण पर विजय प्राप्त करने की भावना तथा विघ्न को नष्ट करने का उल्लास तत्कालीन जीवन की विशेषता थी, वही यक्ष और यक्षिणी की मूर्त्तियों में व्यक्त हुई है। पटना ज़िले के अन्तर्गत दीदारगंज में स्थित यक्षिणी की मूर्त्ति जिसका मुख अत्यन्त चमत्कार है, इस भाव को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करती है। भारत की इस प्राचीन मूर्त्तिकला में वैराग्य की भावना देखने को नहीं मिलती, वरन् उसमें व्यवस्था, शक्ति, आशा और सौंदर्य का प्रदर्शन मिलता है।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व बुद्ध धर्म के प्रभाव से भारत में मूर्त्तिकला और अधिक सजीव हो उठी। साँची और भारहुट के स्तूपों और परकोटे पर, और गुफाओं में जो हमें विभिन्न प्रकार का चित्रण (राजाओं, साधारण किसानों पशुओं और पौधों का) मिलता है, वह इस कला के उत्कृष्टतम नमूने हैं। अमरावती के स्तूप के सुन्दर संगमर्मर के पत्थरों की खुदाई (ईसा से तीन सौ वर्ष बाद) भी इसी कला का सुन्दर उदाहरण है।

ईसा की मृत्यु के सौ वर्ष बाद मथुरा में भी मूर्तिकला का विकास हुआ और मथुरा की कला गुप्तकाल (ईसा से ४००–५०० वर्ष बाद) में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इस काल की कला के उत्कृष्ट नमूने मथुरा सारनाथ और अजंता की भगवान बुद्ध की मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों का मुख आध्यात्मिक ज्योति से प्रकाशित प्रतीत होता है। गुप्तकाल की यह एक विशेषता है। गुप्तकाल की कला की एक विशेषता यह भी है कि उसमें धार्मिक भावना का सौंदर्य के साथ सुन्दर समन्वय किया गया है।

मध्य-युग ईसा के बाद आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक) की मूर्ति कला में यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में बौद्ध धर्म का प्रभाव कम हो गया था और हिन्दू धर्म का प्रभाव बढ़ गया था। इलोरा और ऐलीफैंटा के मंदिरों में जो मूर्तियाँ हैं और समुद्र तट पर स्थित महाबालीपुरम् की चट्टानों को काटकर बने हुए मंदिरों में बनी मूर्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं। महाबालीपुरम् में तपस्या करते हुए भागीरथ और अर्जुन की जो मूर्तियाँ बनी हैं, वे इस कला की शक्ति और सौन्दर्य के उत्तम उदाहरण हैं। इन मंदिरों में देवासुर-संग्राम की कथा का सुन्दर चित्रण किया गया है, जिसमें शिव और विष्णु द्वारा देवताओं की रक्षा करने की दैवी घटनाएँ बहुत सुन्दर ढंग से अंकित की गई हैं।

धार्मिक भावनाओं और कथाओं को अंकित करने के अतिरिक्त मध्य-युग के मूर्तिकारों ने सौन्दर्य और प्रेम को भी मूर्ति में अङ्कित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। उड़ीसा के भुवनेश्वर के मंदिर में जो एक तरुण सुन्दरी प्रेम पत्र लिखती हुई, माता बालक को खिलाती हुई, और युवती अपने सौन्दर्य को दर्पण में देखती हुई बनाई गई हैं, वे भारतीय मूर्तिकला के सुन्दरतम नमूने हैं।

इस काल में दक्षिण में भी मूर्तिकला में प्रेम, सौन्दर्य संगीत और नृत्य को अंकित किया गया। शिकार करती हुई सुन्दर स्त्री और कृष्ण की मूर्ति इस कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। सरस्वती की संगमर्मर की सुन्दर मूर्ति राजस्थान की तत्कालीन कला का उत्कृष्ट नमूना है।

कालान्तर में भारत की यह मूर्तिकला भी गिर गई। जो भी मूर्ति कला आज जीवित है, वह देवताओं की मूर्तियों और प्रसिद्ध महापुरुषों की मूर्तियाँ बनाने तक सीमित है।

भारतीय स्थापत्य कला
(Indian Architecture)

किसी भी देश की स्थापत्य-कला उस देश के जीवन, सामाजिक स्तर और संस्कृति का प्रतिबिम्ब होती है। हम किसी भी देश की इमारतों को देखकर उस देश के उस काल के सामाजिक जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जान सकते हैं। प्राचीन-काल में भारत की स्थापत्य-कला बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी, इससे यह प्रतीत होता है कि भारत उस समय समृद्धशाली और उन्नत देश था। अब हम भारत की स्थापत्य-कला के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

वैदिक काल

भारत में आज वैदिक-काल की स्थापत्य-कला के कोई भी चिह्न अवशेष नहीं हैं। अतएव बहुत से विद्वानों का मत है कि उस काल में स्थापत्य-कला अविकसित दशा में थी और भवन-निर्माण में सम्भवतः चिकनी मिट्टी का पलास्तर, बाँस और लकड़ी काम में लाई जाती थी। इस कारण आज वैदिक काल की स्थापत्य-कला का कोई चिन्ह शेष नहीं रहा।

आज तो भारतीय प्राचीन स्थापत्य-कला के नमूने मौजूद हैं और जो कुछ प्राचीन साहित्य में हमें प्राचीन स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में लिखा मिलता है उसके आधार पर हम भारतीय स्थापत्य-कला का नीचे लिखे अनुसार काल विभाजन कर सकते हैं।

(१) बौद्ध-स्थापत्य-कला (ईसा से २५० वर्ष पूर्व से ईसा से ७५० वर्ष बाद तक)

(२) जैन स्थापत्य-कला (ईसा से १००० वर्ष बाद से लेकर १३०० वर्ष बाद तक)

(३) हिन्दू स्थापत्य-कला।

(४) उत्तरीय हिन्दू-स्थापत्य-कला।

(५) चालुक्य स्थापत्य-कला।

(६) द्राविड़ स्थापत्य-कला।

(७) मुस्लिम (सारसेनिक) स्थापत्य-कला।

आज बौद्ध-स्थापत्य कला का कोई नमूना पूरे भवन अथवा मन्दिर के रूप में मौजूद नहीं है। परन्तु उस समय की स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुमान पहाड़ी चट्टानों को काटकर बनाई गई गुफाओं के मंदिरों को देखकर बौद्ध-स्थापत्य-कला लगाया जा सकता है। कारण यह है कि इन गुफाओं की चट्टानों को काटकर बनाए गए मंदिर केवल अभिमुख हैं और चट्टानों के सामने के हिस्से को काटकर बनाए गए हैं। इनको देखकर यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि ये लकड़ी के काम की नकल हैं, जो कि पत्थरों पर बनाया गया है। इनमें अन्दर के स्तम्भों और छतों पर अत्यन्त सुन्दर कारीगरी का काम है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्तम्भों और छतों को सुन्दर आभूषणों से सजाया गया हो। स्तम्भ मोटे तथा अधिक ऊँचे नहीं हैं और उन पर अत्यन्त सुन्दर कारीगरी की गई है। छतें अर्द्धगोलाकार हैं।

इस काल के जो स्थापत्य-कला के नमूने मिलते हैं, उनका नीचे लिखे अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है, (१) स्तम्भ, (२) स्तूप, (३) रेल, (४) चैत्य, (५) विहार।

स्तम्भ

प्रयाग का प्रसिद्ध स्तम्भ जो कि ईसा के २५० वर्ष पूर्व का बना हुआ है, इस काल की स्थापत्य-कला का सुन्दर नमूना है। इन स्तम्भों पर लेख खोदे जाते थे और शेर अथवा हाथी अंकित किए जाते थे।

स्तूप

नर्मदा नदी के उत्तर में इस प्रकार के बहुत से स्तूप बनाए गए थे। इन स्तूपों को उन पवित्र स्थानों को महत्त्व देने के लिए बनाया गया था, जिनका बौद्ध धर्म से गहरा सम्बन्ध था। इन स्तूपों का सबसे सुन्दर और महत्त्वपूर्ण नमूना साँची का स्तूप है। यह स्तूप १४ फीट ऊँचे एक विशाल प्लैटफार्म पर बनाया गया है। इसके चार फाटक हैं। यह ठोस ईंटों का बना हुआ है, जिसके बाहरी तरफ पत्थर जड़ा हुआ है। इसका व्यास १०६ फीट है और ऊँचाई ४२ फीट है।

रेल

साँची के स्तूप के चारों ओर जो रेल बनाई गई है, वह स्तूप को घेरे हुए है। उससे भी यह स्पष्ट ज्ञात होता है, मानो यह लकड़ी के काम की नकल हो। इसके प्रवेश द्वार ३५

फीट ऊँचे और ३० फीट चौडे हैं। इस पर बुद्ध भगवान् के जीवन के सुन्दर दृश्य अंकित हैं।

चैत्य

नासिक, कारली, इलोरा और ऐलीफैन्टा मे चैत्य मिलते हैं। यह ठोस चट्टानों को काटकर गुफा के रूप मे बनाए गए हैं। इन चैत्यों में अन्त मे बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति स्थापित है। छतें अर्द्ध गोलाकार और गहरी हैं। इन चैत्यों का प्रवेश द्वार घोडे के नाल के समान धनुषाकार बना है।

विहार

विहार अथवा भिक्षुगृह भवन-निर्माण के सुन्दर नमूने हैं। यह सम्भवतः सन् ४०० ईसवी मे निर्मित हुए। इनमे से कुछ मे बुद्ध भगवान् की मूर्ति के सामने बड़ा आँगन है, कुछ चैत्यों के पास बने हुए हैं, जिन्हें चट्टानों को काट कर बनाया गया है, और मध्य मे चौकोना बडा स्थान बैठने के लिए बना है।

जैन स्थापत्य-कला

जैन-स्थापत्य-कला का आधार बौद्ध स्थापत्य-कला है। अधिकांश जैन-स्थापत्य-कला के नमूने धार्मिक स्थानों और मंदिरों के रूप मे मिलते हैं। इन मन्दिरों मे बडे-बडे स्तम्भों पर पोर्च बने हुए हैं और अन्त में विमानगृह अर्थात् देवगृह होता है, जहाँ महावीर भगवान की मूर्ति स्थापित होती है। उसके ऊपर स्तूप के आकार के शिखर होते हैं।

माऊंट आबू पर अत्यन्त सुन्दर जैन (दिलवारा के) मन्दिर बने हुए हैं। जैन-स्थापत्य-कला के वे सुन्दरतम नमूने हैं। माऊंट आबू के अतिरिक्त पालिताना, पारसनाथ, ग्वालियर, ऋषभदेव और खाजिनाहों के मन्दिर भी जैन-स्थापत्य कला के मुख्य और सुन्दर नमूने हैं।

माऊंट आबू के दिलवारा के मंदिर १०३२ ईसवी में विमल शाह निर्मित हुए। दिलवारा के मंदिर सगमर्मर के बने हुए हैं। इन मन्दिरों में बहुत विशाल खुले हुए हाल बने हैं, जिनमें सुन्दर स्तम्भ हैं, जिन पर सुन्दर कारीगरी अंकित है। शिखर के अन्दरूनी भाग मे भी कल्पनातीत सुन्दर कारीगरी अंकित है। इसमें १६ मूर्त्तियाँ बनी हैं और बीच में सुन्दर गोल चक्र अंकित है।

मेवाड़ में मादड़ी के समीप रनपुर में जो प्रसिद्ध जैन मन्दिर है, वह अरावली पर्वत श्रेणी के एक ओर बना हुआ है। इसको १४३९ ईसवी में बनाया गया। सम्भवत भारत में यह सबसे विशाल और पूर्ण जैन मन्दिर है। इसमें ८६ देवगृह हैं, जिन पर शिखर बने हैं। इसमें पाँच देवमन्दिर हैं। केन्द्रीय मन्दिर में श्री आदिनाथ की मूर्ति स्थापित है। मन्दिर में ४०० स्तम्भों पर बीस गोलाकार स्तूप बने हैं, जिनका व्यास ३१ फीट है। बीच के स्तूप में तीन मंजिल बनी है और इसका व्यास ३६ फीट है। अन्दर जो अद्भुत कारीगरी की गई है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानों बनानेवाले ने उसको पत्थर पर अंकित नहीं किया है वरन् कागज पर या वस्तु पर अंकित किया है। इतनी सुन्दर कारीगरी बहुत कम देखने को मिलती है।

हिन्दू स्थापत्य कला

हिन्दू स्थापत्य कला के तीन नमूने हमें देखने को मिलते हैं। इनमें स्थानीय भेद होते हुए भी साम्य है। प्रत्येक मन्दिर में एक छोटा विमान होता है और प्रवेश मार्ग के लिए पोर्च बना होता है। इन पर इतनी अधिक नक्काशी और कारीगरी अंकित होती है जो कि और कहीं मिलना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारीगरों ने तन्मय होकर अपने श्रम और कारीगरी की भेंट देवता को चढ़ाई हो। प्रत्येक हिन्दू मन्दिर में कारीगरी की बहुलता दिखलाई पड़ती है। इतना साम्य होते हुए भी हिन्दू स्थापत्य कला के तीनों नमूनों में स्थानीय भेद हैं। (१) उत्तरीय हिन्दू कला में छत पिरामिड के आकार की कुछ गोलाकार होती है। द्रविड कला में छत सीढ़ियों के समान बनी होती है। (२) चालुक्य कला में उत्तर हिन्दू-कला और द्रविड कला का सम्मिश्रण है। (३) द्रविड़ कला में विमान के ऊपर सीढ़ी के समान पिरामिड के आकार की छत होती है। प्रत्येक मंजिल में छत को कारीगरी से अंकित करके बनाया गया है। मन्दिर का प्रवेशद्वार छोटा होता है।

उत्तरीय हिन्दू-कला के मंदिरों (ईसवी ८०० से १२०० तक) चौकोर होते हैं। विमान की छत गोलाकार पिरामिड के आकार की होती है। इन मंदिरों का मुख्य आकर्षण प्रत्येक पत्थर पर अंकित सुन्दर नक्काशी

या खुदाई का काम है, जो वर्णनातीत है। वास्तव में यह इन कारीगरों की कुशलता, भक्ति और श्रद्धा मिश्रित श्रम से ही सम्भव हो सका होगा।

उत्तरीय हिन्दूकला

खजुराहो का प्रसिद्ध कंडरिया महादेव का मंदिर ३० मंदिरों के समूह का अत्यन्त प्रसिद्ध मन्दिर है, जो ईसवी ६५० में बनाया गया। जिस प्रकार से अन्य हिन्दू मंदिरों के दो भाग होते हैं; एक देवगृह तथा एक बाहरी भाग, इसी प्रकार इसमें भी दो भाग हैं, जो कि ऊँचे चबूतरे पर बने हुए हैं। इसमें लगभग एक हजार मूर्त्तियाँ जो तीन पंक्तियों में विभाजित हैं, बनाई गई हैं। इन मूर्त्तियों की कारीगरी बहुत सुन्दर है। ऊपर लिखे हुए मंदिरों के अतिरिक्त इस शैली के मंदिरों में पुरी, चंद्रावती, पट्टादक्ल और उदयपुर के मंदिर मुख्य हैं।

चालुक्य स्थापत्य-कला

इस शैली के मंदिरों में अम्बर, हुलाबिद और बेलूर के मठ मुख्य हैं। इनमें तारे के समान विमान का आकार होता है और कोण के समान सीधी पर्दावाली छत होती है, जिस पर अत्यन्त सुन्दर खुदाई अङ्कित है। मंदिर की दीवारों पर हाथी, शेर तथा घुड़सवार के सुन्दर चित्र अङ्कित किए गए हैं।

द्रविड स्थापत्य-कला

महावल्लीपूर (ईसवी ५५० से ६५० के बीच में बना) और इलोरा के मंदिर वास्तव में चट्टानों को काटकर बनाए गये हैं। परन्तु इनमें तथा अन्य चट्टानों के कटे मंदिरों में अन्तर यह है कि इसमें समीपवर्ती सारी चट्टान काट दी गई है, अतएव मूर्त्ति चट्टान से जुड़ी नहीं है। मंदिर चारों ओर से खुला हुआ दृष्टिगोचर होता है। इन मंदिरों के विमान चौकोर हैं और इन पर कई मंजिल की पिरामिड के आकार की छतें हैं, जिन पर सुन्दर खुदाई है।

तंजौर के मंदिर (ईसवी १३००) का शिखर १३ मंजिल का है और मदुरा के मंदिर (ईसवी १६०३) का गोपुरम् ३३३ फीट लम्बा और १०५ फीट चौड़ा है। शरिंघम के मंदिर में १५ विशाल गोपुरम् हैं।

मुस्लिम स्थापत्य-कला भारत में ईरान से आई और तत्कालीन हिन्दू स्थापत्य-कला के प्रभाव से उसकी यथेष्ट उन्नति हुई। भारत में हिन्दू स्थापत्य-कला के प्रभाव के कारण उसका बहुत विकास
भी हुआ। मुस्लिम स्थापत्य-कला अथवा सारसेनिक मुस्लिम स्थापत्य-कला
स्थापत्य-कला का काल ११९३ से १८५७ तक माना
जाता है। जब ११९३ ईसवी में पठान वंश इस देश में सत्तारूढ़ हुआ तब से लेकर मुगल साम्राज्य के पतन काल के समय तक देश की स्थापत्य-कला में मुस्लिम स्थापत्य कला की प्रधानता रही।

पठान-काल की इमारतें बहुत बड़ी हैं और उनको देखने से यह ज्ञात होता है कि उस समय के कारीगरों ने भवन निर्माण की समस्याओं को हल करने में आश्चर्यजनक क्षमता दिखलाई थी। इसमें देहली स्थित कुतुब उद्दीन की मस्जिद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके बड़े आँगन में प्रसिद्ध कुतुबमीनार खड़ी है जिसकी ऊँचाई २४० फीट है। इसकी विशेषता यह है कि ऊपर यह पतली होती गई है, और इसकी डिजाइन बहुत सुन्दर है। कोई भी दूसरी मीनार इसकी प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकती।

इस काल की दूसरी महत्त्वपूर्ण इमारतें नीचे लिखी हैं :—जौनपुर की जामा मस्जिद, अहमदाबाद चम्पानेर, माण्डू, बीजापुर, गोलगुम्बज की मस्जिदें और इब्राहीम का रोजा (बीजापुर)।

मुगल सम्राटों ने जो इमारतें बनाईं, उनमें सारसेनिक स्थापत्य-कला का ऐसा सुन्दर प्रदर्शन हुआ कि पिछली सारसेनिक स्थापत्य-कला के नमूने इनके सामने फीके और धुँधले पड़ गये। मुगल
सम्राटों के मकबरे उनके जीवन-काल में उनकी मुगल-काल
मजलिसों के काम आते थे और मृत्यु के उपरान्त (१५२६-१८५७)
उनका शव उनमें रख दिया जाता था। यही कारण था की स्थापत्य-कला
कि वे इतने भव्य बनाए जाते थे।

फतहपुर सीकरी की मस्जिद बहुत सुन्दर और महत्त्वपूर्ण इमारतों का एक समूह है। यह इस काल की स्थापत्य-कला का एक सुन्दर नमूना है। यह २९० फीट लम्बी और ८० फीट चौड़ी है जिस पर अत्यन्त भव्य तीन गुम्बज बने हुए हैं। इसका विशाल फाटक १७० फीट ऊँचा है जो दर्शक को चकित कर देता है। सारी इमारत बहुत आकर्षक और शानदार है।

इस काल की स्थापत्य-कला का एक अत्यन्त सुन्दर नमूना देहली के महल हैं। ये महल ३२०० फीट लम्बे और १६०० फीट चौड़े क्षेत्र में बने हुए हैं। सम्भवत ये महल भारत के सभी बादशाही महलों से अधिक आकर्षक और शानदार हैं।

ताजमहल (ईसवी १६३०-५३) ससार की अत्यन्त सुन्दर और प्रसिद्ध इमारतों मे से है। यह एक ऊँचे और चौकोर प्लैटफार्म पर बनी हुई है। इस प्लैटफार्म का क्षेत्रफल ३१५ वर्ग फीट और ऊँचाई १८ फीट है। इसके चारों किनारों पर चार मीनारें हैं, जिनकी ऊँचाई १३३ फीट है। ताजमहल की इमारत १८६ वर्गफीट की चौकोर भूमि पर बनी हुई है। ताजमहल के बीच का गुम्बज ८० फीट ऊँचा है और उसका व्यास ५८ फीट है। ताजमहल सगमर्मर का बना हुआ है और उसमे पच्चीकारी और खुदाई का काम अद्भुत है। ताजमहल की सुन्दरता उसके प्रवेशद्वार तथा सामने के फव्वारों से और भी बढ गई है, और पूर्व तथा पश्चिम की ओर जो आँगन छूटा हुआ है तथा उसके अन्त मे जो इमारते बनी है उससे वह और भी भव्य दिखलाई देता है। ताजमहल वास्तव मे मानवीय कारीगरी का उत्कृष्ट नमूना है।

उस समय की दूसरी महत्त्वपूर्ण इमारतें नीचे लिखी हैं —शेरशाह की मस्जिद (ईसवी १५४१), हुमायूँ का मकबरा (ईसवी १५०५) जामा मस्जिद देहली, दीवान खास, फतहपुर सीकरी और मोती मस्जिद आगरा।

मुगलों के पराभव के उपरान्त भारतीय स्थापत्य-कला का पतन हो गया, क्योंकि मुगलो के बाद यहाँ का शासन अग्रेजों के हाथ मे आ गया और यहाँ की स्थापत्य-कला पर भी अग्रेजी प्रभाव पडा। आजकल की इमारतों मे वह कारीगरी और सुन्दरता दृष्टिगोचर नहीं होती।

आज की इमारतें सादी और उपयोगिता का ध्यान रखकर बनाई जाती हैं। सीमेण्ट, ईंट, पत्थर और लोहे का अधिक उपयोग होता है। आज की इमारतों मे विक्टोरिया मैमोरियल, देहली का सैक्रेटेरियट आदि मुख्य हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारत की स्थापत्य-कला का विकास बौद्धकाल म इतना अधिक क्यो हुआ ? कारण सहित लिखिए।

२—बौद्ध स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त नोट लिखिए।
३—हिन्दू-स्थापत्य-कला की क्या विशेषताएँ हैं ? व्याख्या कीजिए।
४—मुगल स्थापत्य कला की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
५—अजन्ता-शैली की विशेषता का वर्णन कीजिए।
६—राजस्थानी चित्रकला की क्या विशेषताएँ हैं ?
७—मुगलकाल में चित्रकला की स्थिति पर प्रकाश डालिए।
८—आधुनिक भारत में चित्रकला की क्या स्थिति है ? संक्षेप में लिखिए।
९—भारत में मूर्तिकला के विकास पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।
१०—धर्म का मूर्तिकला पर क्या प्रभाव पड़ा ? उसको संक्षेप में लिखिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Indian Architecture Islamic Period-by Percy Brown
2. Indian Architecture (Buddhist & Hindu Period) by Percy Brown.
3. Indian Art Through Ages,-Govt. of India Publication
4. Studies in Indian Painting-by N C. Mehta
5 Fine Arts in India & Ceylon-by Vincent Smith
6. Inbian Architecture by Havell.
7. Indian Arcoitecture by G. C. Gongoly

अध्याय १८

भारतीय साहित्य

साहित्यिक-जागृति का अर्थ यह है कि हमारी भाषा में उपयोगी साहित्य का निर्माण हो, उससे हमे जीवन और स्फूर्ति मिले, हम संसार मे फैली हुई विचार-धाराओं का परिचय प्राप्त करें तथा मानव-समाज के ज्ञान के आदान-प्रदान मे भाग लें।

साहित्यिक-जागृति

भारतवर्ष ने प्राचीन काल में अत्यन्त गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया था। भारत मे साहित्य का निर्माण भी खूब हुआ था। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य अत्यन्त धनी और उन्नतिशील है। संस्कृत साहित्य मे काव्य या नाटक ही नहीं, वरन् सभी उपयोगी विषयों पर उत्तम ग्रन्थों की रचना हुई, किन्तु भारत के पतन के साथ साथ साहित्य सृजन की यह धारा सूख गई।

भारत का प्राचीन इतिहास

जब अंग्रेजों का भारत पर आधिपत्य स्थापित हो गया तो थोड़े समय के लिए भारत का प्राण स्पदनरहित हो गया। साहित्य निर्माण का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। परन्तु क्रमश भारत मे जागृति के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे। जागृति-काल के आरम्भ मे यहाँ आर्य समाज का जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा। इससे आदमियों मे स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा आदि के प्रति भक्ति भावना बढ़ी और पुरानी बातों के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र मे तनिक सजीवता आई और प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर भाषाओं मे साहित्य-रचना होने लगी। परन्तु उस समय के साहित्य में भारत के प्राचीन वैभव, महत्ता तथा गौरव का ही अधिक वर्णन होता था।

साहित्यिक-जागृति का उदय

भारत में कालान्तर में अंग्रेजी शिक्षा का आरम्भ हुआ और नई-नई बातों को भारतवासी ग्रहण करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के रहन-सहन तथा विचारधारा पर
पश्चिम का प्रभाव पड़ने लगा। भारत के विद्वानों पर नई शिक्षा का प्रभाव भी विदेशी विद्वानों का गहरा प्रभाव पड़ा। हमारे
शिक्षित वर्ग ने यूरोपीय मनीषी की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया था।

भारतवर्ष में १८५७ के असफल विद्रोह के उपरान्त जो भयंकर-दमन हुआ उसने हमारे स्वतन्त्र साहित्य का गला घोंट दिया। लेखकों की लेखनी कुण्ठित हो गई। १९०५ में बङ्ग भङ्ग आन्दोलन
से जनता में अपूर्व जागृति हुई स्वदेशी और विदेशी राजनैतिक स्थिति बहिष्कार के फलस्वरूप अंग्रेजी बातों के प्रति अंध-श्रद्धा का प्रभाव कम हो गई विचारधारा में परिवर्त्तन होने लगा। हमारे
साहित्य में तेज की वृद्धि हुई। सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध के समय संसार भर में 'आत्म निर्णय' और छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता का नारा लगाया गया। महायुद्ध में भारत में यूरोपीय श्रेष्ठता की भावना क्षीण हो गई। महायुद्ध के बाद भारत अपनी स्वतन्त्रता की आशा लगाए हुए था, परन्तु उसको मिला दमनकारी रोलेट ऐक्ट और जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड, फौजी कानून और गोलीकाण्ड आदि। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यन्त उग्र हो उठा और उसने राष्ट्र पिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग और सत्याग्रह का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप राष्ट्रीय साहित्य का तेजी से निर्माण हुआ और गांधीवादी साहित्य का प्रकाशन भी खूब हुआ। १९३५ के शासन-विधान के अनुसार यह सन १९३७ में 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना हुई। इससे जनता में नई नई आशाओं का उदय हुआ। विश्वविद्यालयों में भी उच्च शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जावे, इसकी माँग होने लगी। अभी तक जो देशी भाषाओं में मुख्यत काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, धार्मिक और राजनैतिक साहित्य ही प्रकाशित होता था, उसके अतिरिक्त भिन्न भिन्न गम्भीर तथा उपयोगी साहित्य भी प्रकाशित होने लगा। १९४७ में भारत स्वतन्त्र हो गया। अब देशी भाषाओं को तथा मुख्यत हिन्दी को राष्ट्रभाषा होने के नाते राज्याश्रय प्राप्त है। स्कूल तथा उच्च शिक्षा में भी अंग्रेजी का स्थान हिन्दी लेती जा रही है। इसके

परिणामस्वरूप हिन्दी में उपयोगी तथा गम्भीर विषयों पर तेजी से साहित्य प्रकाशित होने लगा है।

सच तो यह है कि सात्विक और लोकोपयोगी साहित्य के लिए लेखक में विद्वत्ता, तप और त्याग के भावों की आवश्यकता होती है, तभी साहित्य सृजन के अनुकूल वातावरण उत्पन्न होता है।

राष्ट्रभाषा का प्रभाव

अठारहवीं सदी में यहाँ देश के विभिन्न भागों में भिन्न भिन्न भाषाएँ प्रचलित थीं। कोई राष्ट्रभाषा न थी। शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी का मोह जागृत हो गया था कुछ लोग शासकों का सहयोग पाकर इसको ही देश की राष्ट्रभाषा बनाने का स्वप्न देखते थे। कोई कोई भारतीय विद्वान् संस्कृत को फिर राष्ट्रभाषा बनाने की कल्पना करते थे। फारसी को राजाश्रय प्राप्त था। संस्कृत में प्राचीन और अंग्रेजी में नवीन ज्ञान भंडार भरा हुआ था। उस समय हिन्दी अपेक्षाकृत अत्यन्त निर्धन थी, हिन्दी के गद्य का विकास भी नहीं हुआ था, केवल काव्य साहित्य पर्याप्त था। अन्य उपयोगी विषयों पर तो हिन्दी में कोई साहित्य था ही नहीं। किन्तु हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती थी, इस कारण कुछ नेताओं ने उसको राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन किया। स्वतन्त्र होने के बाद हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली गई।

हिन्दी गद्य का विकास

हिन्दी गद्य बहुत विकसित होने के बाद हमें इस रूप में प्राप्त हुआ है। इसका सबसे प्राचीन रूप ब्रजभाषा काव्य की टीका टिप्पणियों तथा वार्त्ताओं में मिलता था। हिन्दी गद्य को परिमार्जित रूप देनेवाले मुख्य चार व्यक्ति थे जिन्होंने सन १८६० के लगभग खड़ीबोली के गद्य को आरंभ किया। वे थे मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ लल्लूलाल और सदल मिश्र। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने उर्दू मिश्रित हिन्दी गद्य लिखा और उसका पाठशालाओं में प्रचार कराया। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणप्रसाद ने शुद्ध हिन्दी का प्रचार किया। किन्तु हिन्दी गद्य का विशेष विकास करने और उसको परिमार्जित करने का श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को है। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी और उन्होंने अपना समस्त जीवन और धन साहित्य सेवा तथा हिन्दी प्रचार में लगा दिया। उन्होंने अपनी सुन्दर रचनाओं से हिन्दी की एक विशेष

गद्य शैली का निर्माण किया, जो आज तक प्रचलित है। आगे चलकर जिन साहित्य सेवियों ने इस भाषा को परिमार्जित, सजीव, सतेज और निश्चित बनाने में भाग लिया, उनमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मुख्य हैं। आपने भाषा का संस्कार, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा, शुद्ध वाक्य विन्यास, सरल भाषा में भावव्यंजना आरम्भ कर उसे परिमार्जित कर जनता के सामने रखा। द्विवेदीजी के उपरान्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने एक विशिष्ट आलोचना शैली को जन्म दिया, उनकी भाषा शुद्ध तथा साहित्यिक थी।

भारत के नवीन जीवन के साहित्य का स्वरूप व्यापक, सजीव और नवस्फूर्ति पूर्ण है। सामयिक साहित्य में केवल देश की राष्ट्रीय भावना, उसकी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दशा का
ही विवेचन और मनन नहीं हुआ, वरन् विश्व की साहित्यिक प्रगतियों समस्याओं का भी इसमें समावेश हुआ है। विश्व प्रेम
और विश्व-बंधुत्व की भावना भी भारतीय साहित्य में यथेष्ट देखने को मिलती ।

आजकल हिंदी काव्य में विशेषकर तीन प्रकार की रचनाएँ होती हैं रहस्यवादी, छायावादी और प्रगतिवादी। आधुनिक हिंदी काव्य पर पश्चिमीय साहित्य का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। अब कविता भाव प्रधान हो गई है। छंद, अलंकार, और रस, ध्वनि आदि के संबंध में आचार्यों ने जो मार्ग बनाया था, वह अब अनादृणीय सा
हो गया है। विभिन्न रूप आकार और स्वर, हिन्दी काव्य यति तथा रागात्मक छंद छोटी-छोटी मर्मस्पर्शिनी
समझी जानेवाली कविताओं में मिलते हैं। अलंकारों का भी प्रयोग होता है परन्तु वह केवल अलंकारों के ही लिए नहीं होता, वरन् उन्हें भाव प्रकाशन द्वारा समझा जाता है। कला पक्ष इस युग के काव्य में अपना मूल्य खो बैठा है। काव्य के विषय भी बदल गए हैं। अब नायक-नायिकाओं पर काव्य नहीं होते। कुछ महाकाव्यों की ओर भी प्रवृत्ति हुई है और खंडकाव्य भी लिखे गए हैं। महाकाव्यों में प्रधानता धार्मिक तथा ऐतिहासिक विषयों की है। बौद्ध साहित्य और भावना ने भी साहित्यकारों को प्रभावित किया है। पिछले दिनों प्रगतिशील रचनाओं का वेग कुछ अधिक बढ़ा है। इनमें भौतिक जीवन का ही

चित्रण होता है तथा सामाजिक भावना प्रधान होती है। उनमे समाज को बदल डालने की तीव्र आकांक्षा होती है और वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था पर कठोर प्रहार होता है। प्रगतिवादी साहित्य की व्यंजना भावात्मक न होकर आलोचनामक और बौद्धिक होती है। परन्तु प्रगतिशील साहित्य के नाम पर निम्नकोटि की रचनाओं की भी बाढ़ सी आ गई है।

कहानी

विदेशी पहले पहल बंगाल मे आये। उनके यहाँ आने से भारतीय कहानी साहित्य पर भी पश्चिमीय प्रभाव पडा और वहाॅ आधुनिक ढंग की कहानियों का प्रचार हुआ। वैसे तो भारत में कहानी लिखने की प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही है, परन्तु पहले कहानी का दूसरा ही रूप था। वह उपदेशों का माध्यम सी थी। उसका विषय काल्पनिक होता था। पश्चिमीय प्रभाव से उसमे सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक समस्याओं का दिग्दर्शन होने लगा। इस प्रगति के प्रथम काल मे हिन्दी मे मुन्शी इंशाअल्लाखाँ की रानी केतकी की कहानी प्रधान है। श्री गिरजाकुमार घोष ने भी 'सरस्वती' मे कहानियाँ लिखकर पथ-प्रदर्शक का काम किया। इसके बाद श्री प्रेमचन्द ने मौलिक कहानियों की रचना कर उनमे चरित्र-चित्रण और मनोभावों का दिग्दर्शन कराकर उन्हें कलापूर्ण बनाया। श्री जयशंकरप्रसाद ने कहानियों को सीधेसादे ढग से आरभ कर दार्शनिकता की कोटि मे पहुँचाया। इसके उपरान्त जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद वाजपेयी, अश्क, यशपाल इत्यादि कहानीकारों ने कहानियों के द्वारा हमारे बदलते हुए सामाजिक जीवन का दिग्दर्शन कराया। हिन्दी साहित्य का यह अंग अब पुष्ट हो गया है।

उपन्यास

साहित्य का आधुनिक काल उपन्यास और नाटकों का युग कहा जाता है। यों तो हिन्दी मे कुछ उपन्यास जैसे चंद्रकांता इत्यादि पहले भी लिखे गए, किन्तु आधुनिक ढग के उपन्यासों का चलन विशेष कर बगला उपन्यासों की प्रेरणा से हुआ। सन १६१६ में श्री प्रेमचंद का सेवासदन उपन्यास निकला, उसे छोड़कर १६२० तक हिन्दी का कोई अच्छा उपन्यास नहीं मिलता। उस समय तक विशेषकर हिन्दी मे अन्य भाषाओं के उत्तम उपन्यासों का अनुवाद ही होता रहा है। इसके बाद

इसमें मौलिक उपन्यासों की रचना मिलती है और श्रेष्ठ उपन्यासोंका अनुवाद किया जाता है। इस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री प्रेमचंदजी हैं। इनके उपन्यासों में हमें आदर्शवाद और यथार्थवाद की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के कंकाल और तितली, भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा तथा श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक का 'माँ' उच्च कोटि के उपन्यास हैं। आज की पीढ़ी के श्री यशपाल, अश्क तथा अज्ञेय उत्तम उपन्यासोंकी रचना कर रहे हैं। इस समय उपन्याससामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखे गये हैं। इनमें चरित्र चित्रण, कथन की स्वाभाविकता, अन्तर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाई जाती है।

उपन्यास की भाँति नई शैली के नाटक भी बंगला नाटकों से प्रभावित हुए। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने चन्द्रावली, नीलदेवी आदि मौलिक नाटकों की रचना कर तथा कुछ बंगला तथा संस्कृत नाटकों का अनुवाद कर इस दिशा में नाटय नया कदम रक्खा। इसके बाद हमारे सामने प्रसाद के नाटक आते हैं। इनमें प्राचीन संस्कृति और सामाजिक परिस्थिति का विशेष ध्यान रक्खा गया। इनमें कलात्मक पक्ष से भी अधिक काव्य की उड़ान है। आधुनिक नाटककारों की रचना में पाश्चात्य नाटककार, इब्सन, बर्नार्ड शा और एच जी. वेल्स इत्यादि की शैलियों का काफी प्रभाव पड़ा है। आज का नाटककार परिपाटीयुक्त नियमों की उतनी चिन्ता नहीं करता। उसे अपनी भावोन्मुक्त अवस्था के अनुकूल नया रूप खड़ा करने की स्वतन्त्रता मिल गई है। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार के नाटक लिखे गए हैं।

पिछले दिनों हिन्दी में आलोचनात्मक साहित्य का भी तेजी से विकास हुआ। स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचनात्मक साहित्य की व्यवस्था और दिशा दी।

हिन्दी की खड़ीबोली में फारसी और अरबी शब्दों को मिलाकर बोली जानेवाली और फारसी लिपि में लिखी जानेवाली भाषा उर्दू कहलाती है। यों यह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है, हिन्दी की एक शैली मात्र है। इसके साहित्य की उर्दू उत्पत्ति अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग से आरम्भ हुई। मीर अमन की प्रसिद्ध 'बागो बहार' नामक पुस्तक १८०२

में बनी। महाकवि गालिब अकबर, हाली, इकबाल, जोश, चकबस्त, सुरूर जहानाबादी सागर निजामी और बिसमिल ने उर्दू कविता साहित्य की खूब ही वृद्धि की। गद्य लिखने की चाल पीछे पड़ी। उर्दू में उपन्यास और नाटकों की कमी है। आलोचनात्मक साहित्य अच्छा लिखा गया है। उर्दू का इतिहास, कवियों के ग्रन्थों पर अलग अलग पुस्तकें तथा पत्र साहित्य भी खूब प्रकाशित हुआ है। इस दिशा में उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने बहुत काम किया है। उसके द्वारा विविध विषयों के अनुवादित और मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित किए गए। इस संबंध में अंजुमने-तरक्की ए-उर्दू (दिल्ली), जामिया मिलिया (दिल्ली) आदि के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। देश का विभाजन हो जाने से भारत संघ में उर्दू की प्रगति को धक्का लगा।

बँगला

बँगला भाषा में गद्य का प्रचार ईसाई पादरियों ने किया। सन् १८०० ईसवी में अंग्रेज सिविलियनों को देशी भाषा सिखाने के वास्ते कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना होने पर बँगला की शिक्षा देने के लिए गद्य में पाठ्य पुस्तकों की रचना की गई। क्रमशः ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों ने बंग भाषा की खूब ही उन्नति की। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से से बँगला के सभी विषयों का साहित्य बढ़ने लगा। सन् १९०५ में बंगाल विभाजन के कारण जो जन आन्दोलन हुआ, उससे बँगला भाषा के साहित्य में आधुनिकता का प्रभाव बढ़ा। साथ ही नाटकों और उपन्यासों के द्वारा देश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना गाँव-गाँव में फैल गई। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त प्राचीन धारणाएँ क्षीण हो गई और अधिकांश लेखकों ने नवीनता का स्वागत किया। कथा साहित्य में पहले नैतिकता प्रधान थी अब आर्थिक संघर्ष और सामाजिक विद्रोह का चित्रण होने लगा है। नाटकों में, पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के बाद सामाजिक नाटकों का उदय हुआ है। शरत्चन्द्रजी ने बहुत उत्तम कोटि के उपन्यासों की रचना की जिनका अनुवाद कई भारतीय भाषाओं में हुआ है। इनके अतिरिक्त श्री बंकिम बाबू तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी बँगला साहित्य को बहुत ऊँचा उठाया। बंकिम बाबू के उपन्यासों में 'आनन्द-मठ' ने भारत की तरुण पीढ़ी में देश प्रेम की ज्योति जगाई तथा

हमें मौलिक उपन्यासों की रचना मिलती है और श्रेष्ठ उपन्यासोंका अनुवाद किया जाता है। इस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री प्रेमचंदजी हैं। उनके उपन्यासों में हमें आदर्शवाद और यथार्थवाद की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के कंकाल और तितली, भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा तथा श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक का 'माँ' उच्च कोटि के उपन्यास हैं। आज की पीढ़ी के श्री यशपाल, अश्क तथा अज्ञेय उत्तम उपन्यासोंकी रचना कर रहे हैं। इस समय उपन्याससामाजिक, राजनैतिकऔरऐतिहासिक विषयों पर लिखे गये हैं। उनमें चरित्र चित्रण, कथन की स्वाभाविकता, अन्तर्द्वंद्व की अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाई जाती है।

उपन्यास की भाँति नई शैली के नाटक भी बंगला नाटकों से प्रभावित हुए। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने चन्द्रावली, नीलदेवी आदि मौलिक नाटकों की रचना कर तथा कुछ बंगला
तथा संस्कृत नाटकों का अनुवाद कर इस दिशा में नाट्य
नया कदम रक्खा। इसके बाद हमारे सामने प्रसाद के
नाटक आते हैं। इनमें प्राचीन संस्कृति और सामाजिक परिस्थिति का विशेष ध्यान रक्खा गया। इनमें कलात्मक पक्ष से भी अधिक काव्य की उड़ान है। आधुनिक नाटककारों की रचना में पाश्चात्य नाटककार, इब्सन, बर्नार्ड शा और एच जी वेल्स इत्यादि की शैलियों का काफी प्रभाव पड़ा है। आज का नाटककार परिपाटीयुक्त नियमों की उतनी चिन्ता नहीं करता। उसे अपनी भावोन्मुख अवस्था के अनुकूल नया रूप खड़ा करने की स्वतन्त्रता मिल गई है। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार के नाटक लिखे गए हैं।

पिछले दिनों हिन्दी में आलोचनात्मक साहित्य का भी तेजी से विकास हुआ। स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचनात्मक साहित्य की व्यवस्था और दिशा दी।

हिन्दी की खड़ीबोली में फारसी और अरबी शब्दों को मिलाकर बोली जानेवाली और फारसी लिपि में लिखी जानेवाली भाषा उर्दू कहलाती है। यों यह कोई स्वतन्त्र भाषा नहीं है,
हिन्दी की एक शैली मात्र है। इसके साहित्य की उर्दू
उन्नति अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में आरम्भ
हुई। मीर अमन की प्रसिद्ध 'बागो बहार' नामक पुस्तक १८०२

में बनी। महाकवि गालिब अकबर, हाली, इकबाल, जोश, चकबस्त, सुरूर जहानाबादी सागर निज़ामी और बिसमिल ने उर्दू कविता साहित्य की खूब ही वृद्धि की। गद्य लिखने की चाल पीछे पड़ी। उर्दू में उपन्यास और नाटकों की कमी है। आलोचनात्मक साहित्य अच्छा लिखा गया है। उर्दू का इतिहास, कवियों के ग्रन्थों पर अलग अलग पुस्तकें तथा पत्र साहित्य भी खूब प्रकाशित हुआ है। इस दिशा में उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने बहुत काम किया है। उसके द्वारा विविध विषयों के अनुवादित और मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित किए गए। इस सबंध मे अजुमने-तरक्की ए उर्दू (दिल्ली) जामिया मिलिया (दिल्ली) आदि के प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। देश का विभाजन हो जाने से भारत सघ मे उर्दू की प्रगति को धक्का लगा।

बँगला

बँगला भाषा मे गद्य का प्रचार ईसाई पादरियो ने किया। सन् १८०० ईसवी मे अग्रेज सिविलियनों को देशी भाषा सिखाने के वास्ते कलकत्ते मे फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना होने पर बँगला की शिक्षा देने के लिए गद्य मे पाठ्य पुस्तकों की रचना की गई। क्रमश ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और वकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों ने वग भाषा की खूब ही उन्नति की। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से से बँगला के सभी विषयों का साहित्य बढ़ने लगा। सन् १९०५ में बगाल विभाजन के कारण जो जन आन्दोलन हुआ, उससे बँगला भाषा के साहित्य मे आधुनिकता का प्रभाव बढ़ा। साथ ही नाटकों और उपन्यासों के द्वारा देश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना गाँव गाँव में फैल गई। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त प्राचीन धारणाएँ क्षीण हो गई और अधिकाश लेखकों ने नवीनता का स्वागत किया। कथा साहित्य में पहले नैतिकता प्रधान थी अब आर्थिक सघर्ष और सामाजिक विद्रोह का चित्रण होने लगा है। नाटकों मे, पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के बाद सामाजिक नाटकों का उदय हुआ है। शरत्‌चन्द्रजी ने बहुत उत्तम कोटि के उपन्यासों की रचना की जिनका अनुवाद कई भारतीय भाषाओं में हुआ है। इनके अतिरिक्त श्री वकिम बाबू तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी बँगला साहित्य को बहुत ऊँचा उठाया। वकिम बाबू के उपन्यासों में 'आनन्द-मठ' ने भारत की तरुण पीढ़ी में देश प्रेम की ज्योति जगाई तथा

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य, उपन्यास तथा कहानियों से बँगला-साहित्य की श्रीवृद्धि की। श्री रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी थे और शिक्षा-शास्त्री तथा विचारक भी थे। वे औपन्यासिक भी थे। नाट्यकार और गायक, कलाकार, गल्पलेखक और अन्तिम रूप मे विश्व के लिए भारत के प्रतिनिधि थे। रवीन्द्रबाबू की छाया वग-साहित्य के सभी अंगों पर पड़ी है। भारतीय साहित्यकारों मे केवल रवीन्द्रबाबू को ही नोबिल-पुरस्कार प्राप्त हुआ। ऐसे उच्चकोटि के साहित्य-सेवियों के कारण ही बँगला-भाषा का साहित्य उन्नत हो सका है।

मराठी

महाराष्ट्र प्रदेश में भारतीयता के अतिरिक्त हिन्दुत्त्व की प्रगाढ़ भावना विद्यमान है। यदि लोकमान्य तिलक ने देश को "स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है" का नारा दिया, तो क्रान्तिकारी वीर सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र के विचार का प्रचार किया। यही नहीं, स्वर्गीय डॉक्टर हेडगेवर द्वारा स्थापित राष्ट्रीय स्वयं सेवक-संघ भी हिन्दुत्त्व की भावना से ओत-प्रोत है। महाराष्ट्र प्रदेश की इस भावना की अभिव्यक्ति मराठी साहित्य में भी प्रचुर मात्रा में देखने को मिली है। मराठी का नाटक साहित्य बहुत उन्नत है। इसका कारण है वहाँ की रंगमंच परम्परा। मराठी भाषा में इतिहास पर बहुत काम हुआ है, इससे धार्मिक साहित्य मे भी अच्छी प्रगति हुई है। इसके कुछ लेखकों की रचनाएँ अन्य भाषाओं के उत्तम ग्रन्थों से टक्कर ले सकती हैं। लोकमान्य तिलक जैसे महापुरुषों ने इस भाषा मे अपनी सुविख्यात रचनाएँ लिखकर इसका मान बढ़ाया।

गुजराती

गुजरात की सांस्कृतिक परम्परा अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक भारतीय है। इसका कारण यह है कि इस युग के दो महापुरुष महर्षि दयानन्द और महात्मा गाधी को इस प्रान्त ने दिए। प्रथम यूरोपीय महायुद्ध के बाद गुजरात में दो प्रकार की जागृति हुई। सांस्कृतिक जागृति के जनक गांधीजी हैं और साहित्यिक जागृति के जनक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी हैं। आधुनिक गुजराती साहित्य में यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद भी यथेष्ट है। नैतिक आदर्शवाले साहित्य में महात्मा गांधी की रचनाओं का विशेष स्थान है। काका कालेलकर, स्व० मश्रूवाला, स्वर्गीय महादेव देसाई इस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। मेघाणी 'तरुणों का कवि' नाम

से बहुत प्रसिद्ध हैं। गुजराती में इस समय दो प्रकार के लेखक और साहित्यकार हैं। कुछ प्राचीनता को प्रधानता देते हैं, तो कुछ नवीनता को। पद्य की अपेक्षा गुजराती का गद्य साहित्य अधिक विकसित है। गुजराती में बाल-साहित्य बहुत सुन्दर लिखा गया है। इस दिशा में स्वर्गीय गीजुभाई का कार्य उल्लेखनीय है। गुजरात के वर्तमान साहित्य-कारों में श्री कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके उपन्यास सर्वप्रिय हैं।

द्रविड़ भाषाएँ

द्रविड़ भाषाओं का विकास भी बहुत कुछ उत्तर भाषाओं के ढंग पर ही हुआ है। इसका कारण यह है, समस्त भारत एक राष्ट्र है और राष्ट्रीय-आन्दोलन देश-व्यापी हुआ, अतः द्रविड़ भाषाओं के साहित्य पर भी वही प्रभाव पड़े जो कि उत्तर भारत की भाषाओं पर पड़े थे।

इन भाषाओं में तमिल का साहित्य अधिक सम्पन्न है। प्रथम महा-युद्ध के उपरान्त इसकी बहुत उन्नति हुई। पहले इसमें सामाजिक और धार्मिक साहित्य की ही प्रधानता थी, अब राष्ट्रीय साहित्य की प्रधानता हो गई है। इसमें कथा-साहित्य का भी अच्छा विकास हुआ है। इस भाषा का पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उन्नत है।

गद्य का विकास समाज-सुधार आन्दोलन के कारण हुआ। अब उसमें राजनैतिक और वैज्ञानिक यथार्थताओं की अच्छी अभिव्यक्ति हो रही है। मलायम भाषा में प्रथम महायुद्ध के बाद छोटे-छोटे विषयों पर अंग्रेजी ढग की कविताओं का खूब ही प्रचार हुआ। इस भाग में कहानी की अपेक्षा उपन्यास कम लिखे गए हैं। निबन्धों का बहुत विकास नहीं हुआ है।

तेलगू

नाटकों के प्रति जनता की रुचि बढ़ रही है। गद्य शैली को सरल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। कन्नड़ में प्रथम महायुद्ध के पहले से ही कविता की नवीन धारा बह रही है। कन्नड़ में गीत-काव्य की ओर अधिक रुचि है। कन्नड़ में नाटक तो हैं किन्तु रंगमंच नहीं है। वैसे हाल में जन-नाटक बहुत लिखे गए हैं। उनसे आम जनता का मनोरंजन और शिक्षण दोनों हुआ है।

प्रान्तीय भाषाओं में उत्तर में उड़िया, आसामी, नेपाली, पंजाबी

और दक्षिण की कोंकणी आदि भाषाओं में भी साहित्य-निर्माण की गति पहले से तीव्र है।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारतीय भाषाओं के साहित्य की गति उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में अवरुद्ध हो गई ?

२—राष्ट्रीय आन्दोलन का भारत की भाषाओं के साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा ?

३—प्रगतिशील साहित्य से आप क्या समझते हैं ? उसकी व्याख्या कीजिए।

४—हिन्दी-साहित्य के विकास का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

५—स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बंगला-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा ? समझाइए।

६—हिन्दी में आपकी रुचि के कौन-कौन से कवि और उपन्यासकार हैं ? कारण सहित लिखिए।

७—गुजराती साहित्य के आधुनिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय लिखिए।

विशेष अध्ययन के लिए

हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री रामचन्द्र शुक्ल।

अध्याय २०

भारतीय संस्कृति

संस्कृति क्या है, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों का भिन्न-भिन्न मत है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "निष्काम भाव से मनुष्य की पूर्णता के लिए प्रयत्न करना ही संस्कृति है।"

संस्कृति का अर्थ क्योंकि सभी मनुष्य एक बड़ी समष्टि के सदस्य हैं और मानव प्रकृति में जो सहानुभूति है, वह समाज के एक सदस्य को न तो शेष के प्रति उदासीन रहने देगी और न वह चाहेगी कि वह शेष लोगों से अलग केवल अपने लिए पूर्ण कल्याण प्राप्त करे, अतः हमारी मानवता का प्रसार व्यापक रूप से होना अनिवार्य है। यही संस्कृति में निहित पूर्णता की भावना के उपयुक्त भी होगा। 'संस्कृति' के अर्थ में पूर्णता उस दशा में सम्भव नहीं है, जब व्यक्ति दूसरों से पृथक् बना रहे। इससे स्पष्ट है कि 'संस्कृति' मनुष्य को पूर्ण बनाती है, और मनुष्य की पूर्णता का अर्थ ही यही है कि वह अपनी शक्तियों का विकास करे और विकसित शक्तियों का उपयोग लोकहित में करे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'संस्कृति' में विविध मानवीय गुणों का समावेश होता है। जिन गुणों के विकसित करने से मनुष्य में पाशविक वृत्तियों का लोप होता है और मानवता का विकास होता है, वे सभी संस्कृति के अंग हैं। कुछ विद्वानों ने संस्कृति को सूत्र के रूप में "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" भी कहा है।

'संस्कृति' क्या है, इस सम्बन्ध में विचार करने के उपरान्त हम अब भारतीय 'संस्कृति' की विशेषता क्या है, इस पर विचार करेंगे।

भारत का मुख्य अवलम्ब धर्म रहा है और संसार की इसकी प्रमुख देन आध्यात्मिक प्रकाश है। प्रायः अन्य देशों में आदमियों के लिए

धर्म बहुत से सामाजिक कार्यों में से एक कार्य है। वहाँ राजनीति, अर्थनीति या अन्य नीतियों और वादों की चर्चा में तथा सामाजिक कृत्यों में मनुष्यों का बहुत समय लग जाता है और उन कार्यों के साथ एक आध काम धर्म सम्बन्धी भी होता है। परन्तु भारत में खान, पान, सोना बैठना, शौच, स्नान, यात्रा, जन्म, मरण विवाह पर्व त्योहार उत्सव, विद्यारम्भ सभी बातों में धर्म की भावना प्रधान है। जीवन का कोई कार्य ऐसा नहीं जिसका धर्म से कुछ सम्बन्ध न माना जाता हो।

धर्म और उसका व्यापक रूप

भारत में धर्म का रूप सकुचित या सकीर्ण नहीं है। अपने मुख्य अंश में वह मानव मात्र के लिए है। वैदिक धर्म को चलानेवाला कोई महात्मा, पैगम्बर या महापुरुष नहीं है। वह मानव मात्र के लिए है। इसमें धीरे धीरे अनेक मत मिलते गए और यह वर्तमान हिन्दू धर्म बन गया। इस धर्म में सभी विचारधाराओं का समावेश है। इसमें अनेक देवी देवताओं को माना जाता है, परन्तु सब देवी देवताओं को एक ही सर्वोच सर्वशक्तिमान ईश्वर का रूप समझा जाता है। इस दृष्टि से यह धर्म एके श्वरवादी है। इस धर्म में कोई चाहे तो ईश्वर को साकार मान सकता है, और चाहे उसे निराकार समझ सकता है। साकार माननेवाले उसकी मूर्त्ति किसी विशेष प्रकार की बनाने के लिए बाध्य नहीं हैं, वे ईश्वर को चाहे जिस रूप में पूज सकते हैं। तुलसीदासजी ने इस सम्बन्ध में कहा है 'जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी'। श्री कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है— "जो जिस रास्ते से चलकर ईश्वर तक पहुँचने की कोशिश करता है, उसे ईश्वर उसी रास्ते से मिल जाता है।" हिन्दू धर्म में विचार भेद, आचार भेद, उपासना भेद की पूर्ण स्वतन्त्रता है। यहाँ तक स्वतन्त्रता है कि ईश्वर को न माननेवालों, उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करनेवालों अर्थात् 'नास्तिकों' का भी इसमें बहिष्कार नहीं है। नास्तिकों को भी यहाँ यथेष्ट सम्मान मिला है। विचार स्वातन्त्र्य की हिन्दू धर्म में पराकाष्ठा है। संसार का कोई धर्म इतना उदार नहीं है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण निम्नलिखित हैं—धैर्य, क्षमा, संयम चोरी न करना, मन और शरीर की सफाई, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य और अक्रोध। ऊपर लिखे धर्म के लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ मनुष्य के उन गुणों और कर्मों को ही धर्म माना

गया है, जिनसे समाज का सङ्गठन हितकर होता है और व्यक्ति का विकास होता जाता है। भारत ने धर्म का एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया है, जो किसी व्यक्ति विशेष या ग्रन्थ पर आधारित न होकर जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रचारक रहा है और इस प्रकार वह वास्तव में मानव धर्म है।

धार्मिक सहिष्णुता

मानवीय धर्म के इस उदार स्वरूप को मानने का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि यहाँ चिरकाल तक दूसरे देशों और विविध जातियों के जो व्यक्ति आये, सबका सहर्ष स्वागत किया गया, उन्हें अपनाया गया, यहाँ तक कि वे विशाल भारतीय समाज में इस तरह मिल गए, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं। भिन्न-भिन्न धर्मवालों के प्रति जैसी सहिष्णुता का व्यवहार यहाँ हुआ, वैसा संसार के अन्य देशों के इतिहास में कहीं नहीं मिलता। अन्य देशों में इसके विपरीत धार्मिक असहिष्णुता का ऐसा ताण्डव नृत्य हुआ है और धर्म के नाम पर ऐसा नरसंहार और विनाश हुआ है कि उसको देखकर मनुष्य के हृदय में धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। यूरोपीय देशों में धर्म के नाम पर जो भयंकर अत्याचार हुए हैं और एक ही ईसाई धर्म की दो ईसाई शाखाओं के अनुयायियों जो मारकाट सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक हुई, उसे सब इतिहास के पाठक जानते हैं। धर्म के नाम पर मुस्लिम धर्म को माननेवाले शासकों ने अन्य धर्मावलम्बियों के साथ जो बुरा व्यवहार किया, उनके धार्मिक स्थानों को नष्ट किया, उन्हें मुस्लिम धर्म स्वीकार करने पर विवश किया, सब इतिहास के पाठकों को विदित है। इसके विपरीत भारत ने अद्भुत उदारता का परिचय दिया। यहाँ पारसी आये और उनका स्वागत हुआ। एक ही घर में लोग बुद्ध जैन और हिन्दू होते थे। हिंदुओं में भी यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि के भक्त होते हैं, परंतु उनमें कोई द्वेष नहीं होता। सभी देवताओं को एक ही भगवान् का रूप माना गया। हिन्दू भी भगवान् बुद्ध और महावीर को मानते हैं। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि भारतीय यह समझते हैं कि यद्यपि नाम भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु वस्तु वास्तव में एक ही है। इस विचारधारा के कारण भारत सब धर्मों, सम्प्रदायों और सब जातियों के आदमियों से प्रेम करता रहा। यहाँ लोगों ने मिलकर हिन्दुओं के लिए मन्दिर

मुसलमानों के लिए मस्जिद और ईसाइयों लिए गिरजाघर बनवाने में योग दिया है।

ज्ञान-प्रेम

प्राचीन काल में ज्ञान-प्रेम का परिचय देनेवाले देशों में भारत अग्रणी रहा है। यहाँ के धार्मिक साहित्य में चार वेद, अठारह पुराण, छः दर्शन, विविध उपनिषद्, गीता और स्मृतियाँ आदि हैं। यह विशाल रत्न भण्डार है, जिसमें जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार और अन्वेषण किया गया है, और मनुष्य के मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास की बहुत उच्च भूमि के दर्शन होते हैं। यह साहित्य ज्ञानप्रधान ही नहीं, भावप्रधान भी है, जिससे जन जन को पूर्णता प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। भारतीय धार्मिक साहित्य पर संसार मुग्ध है।

उपनिषदों के रहस्यवाद ने संसार के विद्वानों को बहुत आकर्षित किया है। यहाँ तक कि उन्हें धार्मिक साहित्य का भक्त बना दिया है। औरङ्गजेब के भाई दाराशिकोह ने कुछ उपनिषदों का अनुवाद फारसी में किया था। इस फारसी अनुवाद का लेटिन भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार लेटिन भाषा की यह रचना अनुवाद की भी अनुवाद थी, और बहुत अच्छा अनुवाद न थी, तो भी इसे पढ़कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने उपनिषदों के सम्बन्ध में नीचे लिखे उद्‌गार प्रकट किए —

"उपनिषद् मनुष्य के श्रेष्ठतम मस्तिष्क की उपज है। मुझे अपने जीवन काल में इससे शान्ति मिली है, और संभवतः मृत्यु के बाद भी मिलेगी।"

उसने यह भी कहा कि यूनानी-साहित्य के पुनः अभ्युदय से संसार के विचारों में जो उथल-पुथल मची, उससे भी अधिक शक्तिशाली और बहुत दूर-व्यापी भाव-क्रान्ति इस साहित्य से होगी।

दाराशिकोह ने भगवद्‌गीता का भी, जो उपनिषदों की भी उपनिषद् है, फारसी में अनुवाद किया। चार्ल्स विलकिन्स ने गीता का सीधे संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसके सम्बन्ध में वारेन हेस्टिंग्स ने लिखा था कि 'जो धन और शक्ति भारत से ब्रिटेन पाता था, जब उसकी धुँधली सी स्मृति रह जावेगी, उस समय भी गीता का यह अंग्रेजी अनुवाद अंग्रेजों को प्रेरणा देता रहेगा।'

भारत के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त नाटक, निबन्ध, महाकाव्य, गीतिकाव्य, कथा, साहित्य का भी विदेशों में खूब आदर हुआ। कितने ही ग्रन्थों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ और वे विश्व-साहित्य के अङ्ग बन गए। भारतीय साहित्यकारों की एक विशेषता यह रही है कि वे आत्मविज्ञप्ति से बचते रहे हैं। उन्होंने अपने बारे में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। हमारे अनेक ग्रन्थों के निर्माताओं का समय, नाम और पता भी संसार को विदित नहीं है।

विद्वान् और मननशील व्यक्ति जानते हैं कि भारतीय विचारों के इस शान्त किन्तु अविराम प्रवाह का संसार के विद्वानों पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीय विचारों के प्रचार की एक विशेषता रही है। भारतीय प्रचारकों ने अपने विचारों और भावों को दूसरों पर जबरदस्ती कभी नहीं लादा। उन्होंने अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए कभी तलवार नहीं उठाई, और न उन्होंने कभी किसी को धन या मान-प्रतिष्ठा का ही प्रलोभन दिया। जब भारतीय प्रचारक अन्य देशों को जाते थे, तो वे सेना या धन लेकर नहीं, वरन् मानव जाति के प्रेम और कल्याण की भावना लेकर जाते थे।

भारतीय विचारधारा का समय समय पर विदेशों में बहुत अधिक प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म वास्तव में हिन्दू धर्म का एक सुधार आन्दोलन था। बौद्ध धर्म ने भारतीय जीवन के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया और प्राणी मात्र के प्रति प्रेम का भाव बढ़ाया। इस धर्म से भारत तथा अन्य देशों में मूर्ति-निर्माण और चित्रकला को बहुत प्रोत्साहन मिला। जिन जिन देशों में इसका प्रचार हुआ, वहाँ के साहित्य पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके द्वारा संसार में दूर-दूर तक शान्ति और अहिंसा का प्रचार हुआ। दक्षिण पूर्व एशिया, बर्मा, चीन, श्याम, लंका, जापान आदि देशों में तो आज भी इसका प्रभाव है। बुद्ध धर्म ने भारत की देन होने के कारण भारत का इन देशों से गहरा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया, जो आज भी टूटा नहीं है।

बौद्ध धर्म

सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध प्रचारक श्याम, मिस्र, मेसीडोनिया, सायरीन और एपिरों में भी पहुँच गए थे। यह प्रचारक पश्चिमीय एशिया को पारकर कम से कम एक हजार मील आगे उत्तर अफ्रीका तक

फैले हुए थे। जब हजरत ईसा का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय सैकड़ों बौद्ध भिक्षु अपने उच्च जीवन से समस्त ईराक, श्याम और फिलिस्तीन के निवासियों को प्रभावित कर रहे थे।

उस समय के इतिहास से ज्ञात होता है कि पश्चिमीय एशिया, यूनान, मिस्र और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों हजारों बौद्ध, हिन्दू और जैन भिक्षु, सन्त और महात्मा भारत से जाकर बसे हुए थे। यह लोग वहाँ बिलकुल साधुओं की तरह रहते थे और अपने त्याग, तपस्या और विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। संसार की मानवता को यह भारतीय संस्कृति की महान् देन थी।

शुद्ध आचरण, शुद्ध भाव और निष्काम कर्म

यद्यपि भारत में ज्ञान के प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा, किन्तु भारतीय ऋषियों ने उसके साथ ही वों और आचरण को शुद्ध रखने पर बहुत बल दिया। प्राचीन काल में ही वैदिक ऋषियों ने यह घोषणा कर दी थी कि अविद्या तो मनुष्य को अंधकार ने डालती ही है, परन्तु कोरी विद्या उससे भी अधिक गहरे गड्ढे मे डालनेवाली होती है। विद्या या ज्ञान के साथ भाव शुद्ध अर्थात् हृदय का विकास आवश्यक है। हृदय की शुद्धि के अभाव में विद्या मानव-समाज के लिए अहितकर हो सकती है।

ज्ञान और भाव-शुद्धि तभी सार्थक होगी, जब उसके अनुसार आचरण भी हो। इसीलिए भारतीय विचारकों ने आचरण पर बहुत बल दिया है। मनु ने कहा है कि "आचारः परमो धर्मः" अर्थात् सबसे ऊँचा धर्म मनुष्य का सद्व्यवहार है। इस प्रकार भारत में कर्म का महत्त्व माना गया, साथ ही यह आदेश भी किया गया कि कर्म मे आसक्ति न होनी चाहिए, वह निष्काम भाव से फल की बिना आशा किया जाना चाहिए, जिससे वह सांस्कृतिक विकास में बाधक न हो। अनासक्त व्यक्ति उदार हृदय होता है, वह अपने पराये का भेद नहीं मानता, वह परिवार, जाति, रंग या देश की सीमाओं में बँधा नहीं रहता। वह सबसे भाईचारा रखता है। उसमे विश्व-बन्धुत्व अर्थात् संसार हित की भावना रहती है।

हृदय के उत्कर्ष की भावना यहाँ के सुन्दर साहित्य के अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, संगीत-कला में भी खूब प्रकट हुई है। दक्षिण भारत के ऊँचे शिखरोंवाले मंदिरों, उत्तर भारत का प्रसिद्ध ताजमहल और

अन्य मकबरे, प्राचीन, देवताओं और 'तथागत' (बुद्ध) की मूर्त्तियाँ, अजन्ता के चित्र और काँगड़ा, राजपूत, मुगल और आधुनिक टैगोर शैली के चित्र जिनमें 'अन्तर' (हृदय या अन्तःकरण) की अभिव्यक्ति प्रधान है; यहाँ के नृत्य और संगीत जिनमें असीम-ससीम के मिलन और विरह की भावना मुख्य है, यह सब ऐसे सौन्दर्यमय संसार की रचना करते हैं जिसमें व्यक्ति शेष सृष्टि के साथ मिलकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है।

प्रकृति से अपनापन और सरल जीवन

अन्य देशों में जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की भावना अधिक बलवती रही है, वहाँ भारत ने उसके साथ अपनापन स्थापित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। यहाँ केवल साधु, संन्यासी और महात्मा ही नहीं, अन्य व्यक्ति भी प्रकृति की गोद का आनन्द लेते रहे हैं। वे उसमें दासी की कल्पना न कर माता के रूप में देखते रहे हैं। प्रकृति के वन, लता, पर्वत, नदी, झील, पशु पक्षी के साथ उन्होंने कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं किया। भारत में नदी और पर्वत पूज्य माने गए हैं, इसी कारण उनके निकट ही तीर्थों और मन्दिरों की स्थापना हुई है। वन, पर्वत, नदी और गाँव यहाँ की संस्कृति के सुन्दर प्रतीक रहे हैं।

प्रकृति से इस सामीप्य और अपनेपन का यह परिणाम हुआ कि भारतीय जीवन में आडम्बर रहित सादे और सरल जीवन का महत्त्व स्थापित हो गया।

ऊँचे और उदार चरित्र के व्यक्ति

मानव संस्कृति के लिए किसी देश की सबसे बड़ी देन ऊँचे चरित्र के व्यक्ति होते हैं। भारत ने अपने लम्बे इतिहास में हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी, रामचन्द्र जैसे आदर्श शासक, कृष्ण जैसे योगी, कर्ण जैसे दानी, भीष्म जैसे दृढ़प्रतिज्ञ, गौतम-बुद्ध जैसे मानव प्रेमी और सुधारक, कणादि और पतंजलि जैसे दार्शनिक, महाराणा प्रताप और शिवाजी जैसे वीर और स्वतंत्रता-प्रेमी, शङ्कराचार्य और दयानन्द जैसे बाल-ब्रह्मचारी, विक्रमादित्य, अशोक और अकबर जैसे प्रजाप्रेमी शासक, वाल्मीकि, वेदव्यास, सूर, तुलसी जैसे महान् कवि, असंख्य नर-रत्न, और सीता, गार्गी, सावित्री, अहिल्याबाई, रानी लक्ष्मीबाई जैसी अनेक नारियाँ प्रदान की हैं।

हमारी इस पीढ़ी में भी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द, महर्षि रमन जैसे महान् लोकसेवकों ने मानव कल्याण के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करके सुन्दर आदर्श उपस्थित किया है। भारत में मानवता के प्रचारकों का एक अटूट क्रम प्राचीन काल से चलता आ रहा है। हम मानवता की एक उच्च परम्परा के उत्तराधिकारी हैं, इसलिए मानव संस्कृति में योग देने के लिए हमारा उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक है।

अभ्यास के प्रश्न

१—संस्कृति से हमारा क्या तात्पर्य है, समझाकर लिखिए।

२—भारतीय संस्कृति की क्या विशेषता है, संक्षेप में उसका वर्णन कीजिए।

३—भारतीय जीवन पर धर्म का प्रभाव कितना है, इसकी विवेचना कीजिए।

४—"धार्मिक सहिष्णुता" भारत की देन है, इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

५—शुद्ध आचरण, शुद्ध भाव, निष्काम-कर्म के दर्शन का भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव है, लिखिए।

६—"भारत का ज्ञान प्रेम" अभूतपूर्व था। इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

७—भारत की मानवता को जो सांस्कृतिक देन है, उसका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. मानव संस्कृति—श्री भगवानदास केला
2. मानव की कहानी—श्री रामेश्वर गुप्त
3. A History of World Civilisation by I. E. Swan.
4. An Cutline of History of the World by H. A. Davis,
5. विश्व संस्कृति का विकास—श्री कालिदास कपूर

अध्याय २१

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कल्पना मानव-समाज के इतिहास में एक नई कल्पना है। प्राचीन काल मे मनुष्य अपने कुटुम्ब, जाति, गाँव अथवा समाज की सीमाओ मे बँधा रहता था। इन सीमाओं के बाहर उसके सम्पर्क बहुत कम थे। राज्य नाम की अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग संस्था का जन्म कब हुआ, यह कहना कठिन है। परन्तु का विकास प्रारम्भ मे राज्य भी छोटे छोटे होते थे और बाद म जब इनमे से कुछ राज्यों ने फैलकर साम्राज्य का रूप लेना आरम्भ किया तब साम्राज्य बनानेवाले और उनके अधीनस्थ देशों मे जो सम्बन्ध होता था वह शासक और शासित का सम्बन्ध था। दो देशों अथवा दो राष्ट्रों के समान व्यवहार की गुंजाइश उसमे नहीं थी। प्राचीन भारत अथवा चीन अथवा यूनान मे राज्यों के सम्बन्ध की कल्पना हमें मिलती है। कभी-कभी उनके पारस्परिक सम्बन्धों के संचालन के लिए कुछ नियम और परम्पराएँ भी दिखाई देती हैं। परन्तु इन सम्बन्धों की परिधि बहुत ही छोटी थी। मध्यकालीन यूरोप मे राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से बड़ी बड़ी इकाइयाँ बनीं, परन्तु इनका आधार समाज के सामन्तवादी ढाँचे पर स्थित था। राष्ट्रीयता की कल्पना का विकास तो तभी संभव हो सका जब 'पवित्र रोमन साम्राज्य' और 'रोमन कैथोलिक चर्च' और सामन्तवाद का सारा सामाजिक ढाँचा टूटने लगा।

राष्ट्रीयता के विकास के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का जन्म सम्भव नहीं था। परन्तु यह कहा जा सकता है कि एक क्षेत्र ऐसा था जिसमे एक राज्य और दूसरे राज्य के निवासियों के सामीप्य की भावना का विकास हो सका। वह धर्म का क्षेत्र था। बौद्ध धर्म और इस्लाम, ईसाई मत और जोरोआस्टर के सिद्धान्त देशों और राज्यों की सीमाओं को लाँघकर चारों ओर फैलने की क्षमता रखते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन धर्मों के माननेवालों मे उन देशों और क्षेत्रों के लिए एक

विशेष आकर्षण बन गया जिनमें उनके द्वारा माने जानेवाले धर्मों का जन्म हुआ था। परन्तु इस भावना को ही हम अन्तर्राष्ट्रीयता का नाम नहीं दे सकते। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोप में उस राज्य-व्यवस्था ने जन्म लिया जिसका आधार राष्ट्रीयता की भावना पर था। मध्य-यूरोप में १६१८-१६४८ तक लड़े जानेवाले तीसवर्षीय युद्ध (Thirty Years War) में धार्मिक कारणों के होते हुए भी, राष्ट्रीयता की भावना काम कर रही थी। इस युद्ध की समाप्ति पर पहली बार इस सिद्धान्त को माना गया कि अन्य राज्यों से सम्बन्धों की दृष्टि से प्रत्येक राज्य को समानता का अधिकार प्राप्त है। यह सच है कि इसके बाद ही राज्यों की साम्राज्य लिप्सा ने इतना भयकर रूप ले लिया कि अन्तर्राष्ट्रीय की भावना अधिक विकास नहीं कर सकी परन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्त में स्वेच्छाचारी शासकों का पतन हुआ, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने व्यक्ति के महत्त्व पर जोर दिया और जनतंत्र की भावना तेजी के साथ फैलने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी तो जनतन्त्र की शताब्दी ही कहलाती है। जनतन्त्र के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास को प्रोत्साहन दिया।

परन्तु इस भावना को एक शासक रूप देने का श्रेय उन दो प्रवृत्तियों को है जिनका समुन्नत विकास उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में हुआ। वे हैं—औद्योगिक क्रान्ति और महायुद्ध। औद्योगिक क्रांति का परिणाम यह हुआ संसार के सभी देश अपने आर्थिक और सामाजिक जीवन में तेजी से एक दूसरे के समीप आते गए हैं। रेल और समुद्री जहाज तार और टेलीफोन, समाचार पत्र और वायुयान सिनेमा और रेडियो—इन सबने विभिन्न देशों को एक दूसरे के नजदीक लाने में सहायता पहुँचाई है। औद्योगिक क्रान्ति ने पूँजीवाद को प्रोत्साहन दिया और अन्य देशों में अधिक लाभ पर पूँजी लगाने और उनके आर्थिक शोषण की लालसा ने एक ओर तो उन्नीसवीं शताब्दी के महान् साम्राज्यों को जन्म दिया और दूसरी ओर शोषित देशों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। परन्तु, राजनीतिक सघर्षों की सीमाओं से परे, आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक देश अन्य देशों के कच्चे माल अथवा तैयार किए हुए माल पर अधिक से अधिक निर्भर होता जा रहा है। आज तो स्थिति यह है कि यदि कोई नागरिक अपनी भोजन की सामग्री, पहिनने के कपड़ों अथवा कमरे में

औद्योगिक क्रान्ति की देन

जमाए गए सजावट के सामान पर नजर डाले और यह जानने का प्रयत्न करे कि कौन-सी चीज किस देश की बनी हुई है तो उसे यह देखकर हैरानी होगी कि न जाने कितने दूर-पास के अनेक छोटे-बड़े देशों ने उसकी दैनिक आवश्यकताओं की साधारण वस्तुएँ उसके पास तक पहुँचाने मे भाग लिया है। आज यदि कनाडा मे फसल अच्छी हो जाती है तो राजस्थान की मंडियों पर उसका असर पड़ता है और लन्दन के किसी कारखाने मे हड़ताल होती है तो मैक्सिको के बाजारों मे चीजों के भाव बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। भौगोलिक व्यवधान आज इतने तीक्ष्ण हो गए हैं कि चौबीस घण्टे मे दिल्ली से लंदन पहुँचा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से एक-दूसरे पर इतना अधिक निर्भर रहने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आज हम अपने ही देश की बात नहीं सोचते हैं अन्य देशों मे होनेवाली घटनाओं का भी हम पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

आर्थिक दृष्टि से पारस्परिक निर्भरता ने विभिन्न देशों के नागरिकों मे अन्तर्राष्ट्रीयता की जो दृष्टि उत्पन्न की उसे बार-बार उठ खड़े होनेवाले राजनीतिक संकटों और महायुद्धों ने और भी विस्तृत बनाया। युद्धों का रूप अब पहले जैसा नहीं रहा है। महायुद्धो का प्रभाव पहले शत्रु की सेनाएँ खेतों के बीच की पगडण्डियों से निकल जाती थीं और कृषक खेतों मे काम करते रहते थे। आज तो युद्ध का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है, उसका अपना देश युद्ध मे शामिल हो या नहीं। आज तो व्यक्तियों के समान ही राष्ट्रों के लिए भी तटस्थ रहना असम्भव होता जा रहा है। जब युद्ध आता है तब उसमें केवल सैनिकों को ही नहीं, सभी नागरिकों को जुट जाना पड़ता है—वे उद्योगपति हों अथवा व्यापारी, बड़े वैज्ञानिक हों अथवा साधारण क्लर्क, बूढ़े, स्त्रियों और बच्चों को भी युद्ध मे किसी न किसी रूप मे सहायता पहुँचाना अनिवार्य हो जाता है। कोई स्थान बमों के आक्रमण से सुरक्षित नहीं है। हिरोशिमा और नागासाकी के निर्दोष स्त्री, पुरुष और बच्चे उसी निर्दयता से अणु विस्फोट मे भून दिए गए जैसे युद्ध-क्षेत्र में लड़नेवाले सिपाही। युद्ध के इस भयंकर और सर्वव्यापी रूप को देखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि जब तक वह अपनी समस्त भीषणता के साथ सिर पर आ ही नहीं जाता तब तक सभी देश और उनकी जनता उसे रोकने का अधिक से अधिक प्रयत्न करें, अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों को

आपसी बातचीत, समझदारी और सहयोग की भावना से सुलझाने का प्रयत्न करें, युद्ध के कारणों का पता लगाएँ और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें, सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के निर्माण में जुट पड़ें, जिसके अभाव में प्राय: युद्धों का जन्म होता है; युद्ध को रोका नहीं जा सके तो उसे सीमित रखने का प्रयत्न करें। इन सब प्रयत्नों में सफलता प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक हो गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वर्तमान रूप

इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार का सहयोग पिछले वर्षों में लगातार बढ़ता गया है। हम केवल अपने ही देश के नागरिक नहीं हैं और केवल अपने देश की समस्याओं को सुलझाने की जिम्मेदारी ही हम पर नहीं है, विश्व की नागरिकता का उत्तरदायित्व भी हम पर है, यह भावना अब अधिक बढ़ती जा रही है। असंख्य सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के द्वारा हम अन्य देशों के निरन्तर सम्पर्क में आते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता की यह भावना अब संसार के किसी एक प्रदेश अथवा महाद्वीप तक ही सीमित नहीं है। यह ठीक है कि अपने आस पास की समस्याओं के लिए कभी कभी हम प्रादेशिक संगठनों का निर्माण भी करते हैं परंतु जब हम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अथवा संगठन की बात करते हैं तब हमारे सामने यही कल्पना रहती है कि उसमें संसार के छोटे बड़े सभी राष्ट्रों का समावेश किया जा सके। इसके साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की हमारी आज जो भावना है उसका आधार विभिन्न राष्ट्रों के स्वेच्छापूर्ण सहयोग पर है। विभिन्न राष्ट्रों पर, उनकी इच्छा के विरुद्ध ऊपर से कोई सत्ता नहीं थोपी जा सकती। इसमें संदेह नहीं कि यदि हम अन्तर्राष्ट्रीयता का अधिक से अधिक विकास करना चाहते हैं तो हमें अपनी निष्ठा को राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच में बाँटना होगा और अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति अपनी निष्ठा को सबल बनाने के लिए राष्ट्रीयता में अपनी निष्ठा को कम करना होगा। जब तक राष्ट्रीयता को हम अपना एकमात्र लक्ष्य मानते रहेंगे और राष्ट्रीय शक्ति और सामर्थ्य के ही विकास पर हमारा समस्त आग्रह रहेगा तब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को दृढ़ और सबल नहीं बनाया जा सकेगा। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रांति और महायुद्धों का प्रभाव बढ़ता जाता है हम निश्चित रूप से राष्ट्रीयता की सीमाओं से मुक्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

की दिशा मे आगे बढ़ते जा रहे है। इसमे सन्देह नहीं कि हमारे कदम अभी धीमे है और हमारी मंजिल अभी दूर है, परन्तु इतिहास की जो शक्तियॉ हमे प्रेरित कर रही है उनका लक्ष्य स्पष्टत उसी दिशा मे है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की पहली कल्पना छठी अथवा सातवीं शताब्दी मे की गई। इसके बाद तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी मे इटली में दान्ते (Dante) और फ्रास मे पायरे दुबॉय (Peirre-Dubois) ने इसके सम्बन्ध मे अपने विचार प्रकट अन्तर्राष्ट्रीय संगठन किए। दाते ने राष्ट्रों के एक ऐसे सगठन का स्वप्न हमारे भा पूर्व इतिहास सामने रखा जिसमे उनके पारस्परिक सबंधों का आधार न्याय पर स्थापित हो। दुबॉय ने यूरोप के राजाओं के एक संघ की कल्पना की, जिसका अपना कार्यकारी मण्डल और न्यायालय हो और जो अपने संगठित प्रयत्न से यूरोप की पवित्र भूमि को मुस्लिम आक्रमण-कारियों से बचा सके। सत्रहवीं शताब्दी मे हेनरी चतुर्थ की योजनाएँ हमारे सामने आईं। इसके बाद विलियम पेन और सेण्ट पायरे के एबे ने इसी प्रकार की योजनाएँ बनाई और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे फ्रास मे रूसो, ब्रिटेन मे बेन्थम और जर्मनी में काट ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की विभिन्न रूप रेखाएँ तैयार कीं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से तो अनेकों साहित्यिकों, दर्शन शास्त्रियों और स्वप्नद्रष्टाओं ने विश्व-शाति की सुरक्षा के लिए योजनाएँ सामने रखना आरभ किया। इसकी संख्या इतनी अधिक है कि इन सबका वर्णन असम्भव होगा।

प्राय प्रत्येक युद्ध के बाद इस प्रकार की योजनाओं का निर्माण अधिक तेजी के साथ हुआ। इन सभी योजनाओं मे शान्ति की सुरक्षा के लिए सुझाव दिए गए, सभी मे किसी न किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सगठन सम्मेलन अथवा सममौते की कल्पना की गई। जिसका आधार चुने हुए प्रतिनिधियों के किसी सम्मेलन पर रखा गया और एक सामान्य बात यह है कि प्राय. इन सभी योजनाओं को व्यावहारिक राजनीतिज्ञों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रयत्नों की एक विशेषता यह रही कि उसमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों मे विचार विनिमय करने की प्रथा का काफी अच्छा विकास हुआ। इस प्रथा का आरम्भ शक्ति-संतुलन (Balance of Power) के उस सिद्धान्त की रक्षा मे हुआ था जिसे नैपोलियन की अनवरत विजयों ने

खतरे मे डाल दिया था। नैपोलियन पर अन्तिम विजय प्राप्त करने के बाद ब्रिटेन, जर्मनी आस्ट्रिया और रूस ने एक चतुर्देशीय सगठन (Quadruple Alliance) का निर्माण किया। बाद मे फ्रास के सम्मिलित कर लिए जाने पर इस सगठन ने एक यूरोपीय सगठन का रूप ले लिया। बाद के कुछ वर्षों मे जब कभी कोई अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सामने आई इस सगठन की बैठक बुलाई गई। इस प्रकार की बैठकें १८२० १८२१ और १८२३ मे हुई। १८२६ मे यूनान की स्वाधीनता के प्रश्न को लेकर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। बाद मे इस प्रकार के सम्मेलन कभी-कभी ही होने लगे। १८५६ मे पेरिस और १८७८ मे बर्लिन मे टर्की की समस्याओं को लेकर इस प्रकार के सम्मेलन बुलाए गए। बीसवीं शताब्दी मे भी यह प्रथा चलती रही। १९०६ मे मारक्को के प्रश्न पर, १९०८ मे आस्ट्रिया के सम्बन्ध में और १९१२ में बलकान युद्धों को लेकर इस प्रकार के सम्मेलन होते रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्य

परतु राजनीतिक प्रश्नो को लेकर विभिन्न देशों में जो विचार विनिमय होता था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से उससे कहीं अधिक उपयोगी काम उन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा ही रहा था, जिनका निर्माण आधुनिक युग की विज्ञान प्रदत्त सुविधाओं के उपयोग की दृष्टि से हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई अन्तर्राष्ट्रीय सगठनों की नींव डैन्यूब, राइन, कागो एल्ब अथवा यासली नदियो स सबध रखने वाले शासन के उन प्रश्नों को लेकर डाली गई जिनका सम्बन्ध एक से अधिक राज्यों से था। १८५० में पेरिस में होनेवाले एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में, जिसमें बीस राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था, अन्तर्राष्ट्रीय तार सघ की नींव डाली गई। तार के द्वारा एक देश से दूसरे देश को भेजे जानेवाले सदेशों के आने-जाने की व्यवस्था की देख रख के लिए समय-समय पर विभिन्न शासन विभागों का सगठन होता गया और इस सारे काम के समुचित सचालन के लिए नियम बनाए जाते रहे। रेडियो के आविष्कार के बाद रेडियो और तार के मिले जुले सम्मेलन होने लगे। १८७४ में अन्तर्राष्ट्रीय डाक सघ (Universal Postal Union) की स्थापना हुई। इसके पहले डाक के सबध की बहुत सी बातें विभिन्न देशों के आपसी विचार विनिमय से

तय कर ली जाती थीं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय डाक-संघ बन जाने के बाद संसार भर के लिए एक ही प्रकार की डाक की दरें और चिट्ठियों, रजिस्ट्री, मनीआर्डर आदि के आने-जाने के सामान्य नियम निर्धारित किए जा सके। स्वास्थ्य, सफाई, व्यापार, अर्थनीति और मानववादी सुधारों के सम्बन्ध में समय समय पर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बनती रहीं। वजन और माप, ट्रेडमार्क और कॉपीराइट आदि की अपनी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। रेडक्रॉस मानवी आदर्शों को लेकर चलनेवाला एक बड़ा उपयोगी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इन सभी संस्थाओं के संचालन विभिन्न राष्ट्रों और उनकी सरकारों का सहयोग आवश्यक होता है परंतु उनमें सुलझाए जानेवाले प्रश्न राजनीतिक उतने नहीं हैं जितने शासनिक, सारा काम बड़े सहयोग और सुरुचि के वातावरण में सपन्न हो जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

२—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के कुछ आरम्भिक प्रयत्नों का वर्णन कीजिए।

३—औद्योगिक क्रांति और महायुद्धों ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता को किस प्रकार बढ़ाया ?

४—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के वर्तमान स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

५—अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के पूर्व-इतिहास पर प्रकाश डालिए।

६—राजनीति के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में काम करनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्यों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Eagleton Clyde International Government.
2. Hemleben, S J . Plans of World Peace through S x Centuries
3. Willkis W : One World

अध्याय २२

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में राष्ट्रसंघ (League of Nations) का संगठन

पहला महायुद्ध जब चल रहा था तभी विभिन्न देशों में बहुत-सी ऐसी योजनाएँ बनाई जा रही थीं जिनका लक्ष्य एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन को जन्म देना था जिसका उद्देश्य युद्ध को रोकना हो। स्विटजरलैण्ड, हॉलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन और अमरीका सभी देशों के विचारशील व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट कर रहे थे। अमरीका में बननेवाली योजनाओं को वहाँ के अध्यक्ष वुड्रो विल्सन का भी पूरा समर्थन प्राप्त था। उन्होंने कहा, "हम चाहें या न चाहें पर हम सभी संसार के जीवन में साझीदार हैं।" सभी देशों, और विशेषकर छोटे देशों की सार्वभौम सत्ता में उनका पूरा विश्वास था परन्तु उसकी सुरक्षा के लिए वह यह आवश्यक समझते थे कि एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन का विकास किया जाए जो युद्ध को असंभव बना दे। १६१७ में अमरीका जब महायुद्ध में सम्मिलित हुआ तब वह यही मान कर सम्मिलित हुआ था कि यह युद्ध 'युद्ध को समाप्त करने और संसार को जनतन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने' के लिए लड़ा जा रहा है।

युद्धकालीन योजनाएँ

युद्ध के समाप्त होने पर विशेषतः प्रेसीडेंट विलसनट की प्रेरणा से राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना हुई। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में ही इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ क्योंकि उक्त सम्मेलन की कार्यवाही के आधार रूप में इस बात को मान लिया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने, संधियों पर हस्ताक्षर करने वाले विभिन्न देशों के द्वारा उनके अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों को पूरा किए जाने और भविष्य में युद्ध को न होने देने के उपाय निकालने के लिए इस

राष्ट्रसंघ की स्थापना

प्रकारकी संस्था की बड़ी आवश्यकता थी। इस संस्था के निर्माण में विल्सन का बहुत बड़ा हाथ था, और उसे एक अधिक शक्तिशाली संस्था नहीं बनाया जा सका, इसका कारण भी यही था कि उसके निर्माता उसमें कोई ऐसी बात नहीं रखना चाहते थे जिसके कारण अमरीका का लोकमत से अस्वीकार कर दे। परन्तु इन सब सावधानियों के लिए जाते हुए भी जब लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना हो गई तब अमरीका बड़े देशों में पहला ऐसा देश था जिसने उसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की और वही अकेला ऐसा देश था जो अन्त तक कभी भी उसका सदस्य नहीं बना। इसका कारण यह नहीं था कि अमरीका का लोकमत इस प्रकार की संस्था में विश्वास नहीं रखता था। इसका कारण तो केवल यही था कि अमरीका की 'सीनेट' के कुछ सदस्य विल्सन और उनके राजनीतिक दल की प्रतिष्ठा को कम करने के लिए 'सीनेट' में लीग ऑफ नेशन्स के सम्बन्ध में झूठे और निराधार आक्षेप रखने में नहीं हिचकिचाए।

अमरीका के शामिल न होतेहुए भी लीग ऑफ नेशन्स का निर्माण तो हुआ ही। यह सच है कि इसकी नींव विजयी राष्ट्रों के द्वारा डाली गई परन्तु इसका निर्माण किसी ऐसी राज सत्ता के रूप में नहीं हुआ था जो अन्य राज्यों से उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ करा सके। यह तो सत्ता-सम्पन्न राज्यों का स्वेच्छा से निर्माण किया गया एक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन था। नैतिक बल से अधिक कोई शक्ति उसके पास नहीं थी। उसके आदेशों को मानने या न मानने को पूरी स्वाधीनता प्रत्येक सदस्य को थी। वह एक विश्वव्यापी संस्था इस अर्थ में तो नहीं थी कि संसार के सब देश उसके सदस्य हों परन्तु अधिकांश देश तो उसके सदस्य थे ही और किसी देश को जान-बूझकर बाहर रखने की कोई चेष्टा कभी उसके द्वारा नहीं की गई। युद्ध को रोकने और शान्ति का वातावरण बनाने की दृष्टि से वह एक बहुत सफल संस्था बन पाई क्योंकि उसका जन्म ही विभिन्न दृष्टिकोणों में कठिनाई से स्थापित किए गए समझौते से हुआ था। उसका उद्देश्य-पत्र (Covenant) ही इस समझौते का एक उदाहरण था। उद्देश्य पत्र में दिए गए आदर्शों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अधिकृत मत देने का अधिकार किसी संस्था को नहीं था। प्रत्येक सदस्य उसमें से अपना मनमाना अर्थ निकाल सकता था। सदस्यता दो

राष्ट्रसंघ की विफलताएं

प्रकार की थी। सन्धियों पर हस्ताक्षर करनेवाले और उनकी चर्चा में भाग लेने के लिए आमंत्रित देशों को मूल सदस्य माना गया था, इसके अतिरिक्त अन्य देशों को भी उसमें प्रवेश करने का अधिकार था। सदस्यता से त्याग पत्र देने अथवा उससे वंचित किए जाने की व्यवस्था थी। संस्था के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व असेम्बली (League Assembly) को दिया गया था। उसका केन्द्रीय कार्यालय जेनेवा (Geneva) में रखा गया। आनेवाले कई वर्षों तक युद्ध पीड़ित मानवता की सभीत दृष्टि जेनेवा के एक महान् प्रासाद में, जिसकी लागत में कई करोड़ रुपया खर्च हुआ था, काम करनेवाली लीग ऑफ़ नेशन्स की विभिन्न संस्थाओं पर गड़ी रही। परन्तु अन्त में इसे निराश होकर बैठ रहना पड़ा। जब दूसरे महायुद्ध का बवण्डर उठा तो उसे रोकना तो दूर रहा उसके बहते हुए प्रवाह में लीग ऑफ़ नेशन्स का सारा ढाँचा चकनाचूर होकर बहता हुआ दिखाई दिया।

लीग ऑफ़ नेशन्स की स्थापना, जैसा कि उसके उद्देश्य-पत्र से विदित होता है, तीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गई थी। उसका पहला उद्देश्य शान्ति-सन्धियों और अन्य समझौतों की शर्तों को अमल में लाना था। इस दृष्टि से लीग का काम शान्ति-सम्मेलन में निश्चित की हुई अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं का निर्वाह करना था। लीग का दूसरा उद्देश्य स्वास्थ्य, सामाजिक प्रश्न, अर्थनीति, यातायात के साधन, सन्देश-वाहन आदि की सुविधाओं का विकास करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का निर्माण करना था। लीग का तीसरा उद्देश्य युद्ध को रोकना और विभिन्न देशों के आपसी झगड़ों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाना था। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लीग के विशाल ढाँचे की सृष्टि की गई थी।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य

असेम्बली (League Assembly), कौंसिल (Leagu Council) और सचिवालय (League Secretariat) उसकी प्रमुख संस्थाएँ थीं। असेम्बली अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिज्ञों का एक सम्मेलन थी। उसमें भाग लेनेवाले प्रतिनिधि अपनी राष्ट्रीय सरकारों के मत को वहाँ रख सकते थे। स्वतन्त्र रूप से अथवा बातचीत और विचार विनिमय के परिणाम स्वरूप कोई निर्णय देने का अधिकार नहीं था। असेम्बली की तुलना

प्रमुख संस्थाएँ
सम्बन्धी

किसी धारा सभा से नहीं की जा सकती। कानून बनाने का कोई अधिकार उसे नहीं था। असेम्बली से किसी भी विषय के सबंध में वैज्ञानिक, तर्क सम्मत अथवा पक्षपातहीन निर्णय की आशा नहीं की जा सकती थी क्योंकि वह राजनीतिज्ञों की एक समिति थी, विशेषज्ञों की नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें जिन विषयों पर विचार किया जाता था उनके सम्बन्ध में सही और निष्पक्ष परिणाम निकलने की कोई आशा ही नहीं की जा सकती थी। प्राय ऐसा होता था कि विभिन्न देशों के द्वारा उन्हीं प्रतिनिधियों को असेम्बली के विभिन्न अधिवेशनों में भेजा जाता था। इस प्रकार अन्य देशों के प्रतिनिधियों से निकट के सम्पर्क स्थापित करने का उन्हें अवसर मिलता था। एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उनमे जिज्ञासा होती थी और आपसी सहयोग के लिए वे प्रयत्नशील होते थे। अपने देश की सरकारों पर भी उनका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही था तथापि इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश की सरकार प्रत्येक प्रश्न पर अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से ही निर्णय लेती थी और उसके प्रतिनिधियों को इस सीमा के भीतर रहकर ही काम करना होता था। असेम्बली की बैठक साधारणत वर्ष में एक बार होती थी और कभी कभी उसके विशेष अधिवेशन भी बुलाए जाते थे। उसका कार्यक्रम महामन्त्री (Secretary General) के द्वारा पहले से तय कर लिया जाता था, परन्तु असेम्बली को उसमें परिवर्त्तन करने का अधिकार था। कौंसिल और सचिवालय के काम के सम्बन्ध में रिपोर्टें उसके पास आती रहती थीं और उनपर वाद विवाद, आलोचना, प्रत्यालोचना, सुझाव और संशोधन, उसका मुख्य काम था। इस प्रकार संसार की सभी समस्याओं पर विचार करने का उसे अवसर मिलता था। असेम्बली अपने अध्यक्ष का चुनाव स्वयं ही करती थी। छः स्थायी समितियों और छः उपाध्यक्षों का चुनाव भी वह करती थी। दो तिहाई मत से नए सदस्यों का चुनाव करने का भी उसे अधिकार था। बहुमत से वह कौंसिल के ६ अस्थायी सदस्यों में से प्रत्येक वर्ष तीन का चुनाव करती थी। महामन्त्री की नियुक्ति कौंसिल के द्वारा की जाती थी परन्तु उसकी स्वीकृति असेम्बली के बहुमत से प्राप्त की जाती थी। संविधान के संशोधन में भी असेम्बली का प्रमुख हाथ था। कौंसिल और अन्य संस्थाओं के कामों का निरीक्षण तो वह करती ही थी,

उनका वजन भी उसके द्वारा ही स्वीकृत किया जाता था। इन सब अधिकारों के कारण असेम्बली ही लीग ऑफ नेशन्स की सर्वप्रमुख सस्था बन गई थी।

कौंसिल एक छोटी समिति थी। इसमें बड़े राष्ट्रों की स्थायी सदस्यता मिली हुई थी, और अस्थायी पदों के लिए छोटे राष्ट्रों में से चुनाव होता था। आरम्भ में इसमें अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान, इन पाँच देशों के लिए स्थायी सदस्यता और इनके अतिरिक्त छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के रूप में चार अस्थायी सदस्यों की व्यवस्था की गई थी।

[illegible] की सब और उसके काम

परन्तु अमरीका के असहयोग के कारण इन दोनों प्रकार की सदस्याओं का अनुपात ४ : ४ रह गया। १९२२ में अस्थायी सदस्यों में दो की वृद्धि की गई। १९३६ में अस्थायी सदस्यों की सख्या बढ़ाकर ९ कर दी गई और जर्मनी को स्थायी सदस्य बना लिया गया। बाद में इन सख्याओं में फिर थोड़े बहुत परिवर्तन हुए। दूसरे महायुद्ध के पहले इसमें ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ये तीन स्थायी सदस्य और ग्यारह अस्थायी सदस्य थे। कौंसिल की बैठकें वर्ष में कम से कम चार बार तो होती ही थीं, पर विशेष अधिवेशन भी बुलाए जा सकते थे। लीग के कार्यक्षेत्र और विश्व शान्ति से सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी प्रश्न पर वह विचार विमर्श कर सकती थी। अल्पसख्यकों, शरणार्थियों, सरक्षित प्रदेशों और कुछ विवादग्रस्त समस्याओं के सम्बन्ध में इसे निरीक्षण के विशेष अधिकार प्राप्त थे। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का सुलझाना इसका प्रमुख काम था असेम्बली के सुझावों को कार्यान्वित करना निःशस्त्रीकरण की योजनाएँ बनाना महामन्त्री का चुनाव आदि भी उसके कार्यक्षेत्र में आते थे इसकी बैठकों में प्राय विदेश-मन्त्री अथवा प्रधान मन्त्री भाग लेते थे— और इस कारण उनमें एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और सहयोग की भावना का निर्माण करने में इनका बड़ा हाथ था। अध्यक्ष का चुनाव वर्णमाला के क्रम से किया जाता था। कौंसिल अपने काम के लिए समितियों का निर्माण और उपयोग करती थी। वह एक राजनीतिक सस्था थी, इस कारण उसके निर्णय न्याय के आधार पर नहीं राजनीतिक आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं के आधार पर ही अधिक किए जाते थे। न्याय-सम्बन्धी मामलों में वह

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से राय ले सकती थी। निर्णयों के लिए सभी सदस्यों का एकमत होना आवश्यक था। जहाँ तक असेम्बली मे उसके सम्बन्धों का प्रश्न था उनकी तुलना किसी देश की कार्यकारिणी और धारा सभा के आपसी सम्बन्धो से नहीं की जा सकती। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कौंसिल और असेम्बली एक ही मशीन के दो पुर्जों के समान थीं जो आपस मे मिल-जुलकर काम करते थे। अधिकारों की दृष्टि से कौंसिल के अधिकार कुछ बढे चढे थे। परन्तु असेम्बली को बहुत से मामलों मे उसके कार्यों पर निरीक्षण का अधिकार था। व्यावहारिक रूप से इन दोनों सस्थाओं मे कभी कोई सघर्ष नहीं हुआ।

सचिवालय तथा अन्य सस्थाएँ

सचिवालय को लीग ऑफ नेशन्स की रीढ की हड्डी माना गया है। लीग का सारा काम उसके द्वारा ही सचालित होता था। महामत्री की अध्यक्षता मे उसके कई सौ कर्मचारियों पर कौंसिल असेम्बली और अन्य सबद्ध सस्थाओं की बैठकों को सयोजित करने और उनके निर्णयों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व था। महामत्री की सहायता के लिए कुछ उप मन्त्री और सहायक-मन्त्री होते थे। ये पद प्राय राजनीतिक होते थे और इस कारण उनके सम्बन्ध मे कई बार झगडे भी उठ खडे होते थे। सचिवालय कई विभागों मे बँटा हुआ था जिनके अपने निर्देशक होते थे। कर्मचारियों की नियुक्ति में यह प्रयत्न किया जाता था कि वे अधिक से अधिक देशों में से चुने जाएँ। लीग ऑफ नेशन्स के सगठन में असेम्बली और कौंसिल के अतिरिक्त अन्य विशेष सस्थाओं के लिए भी स्थान था। शस्त्रीकरण और सरक्षित प्रदेशों के सम्बन्ध में कमीशन, आर्थिक और वित्तीय सगठन, यातायात सम्बन्धी सगठन, स्वास्थ्य सगठन आदि कई सस्थाएँ थीं जिन्हें एक दूसरे से सबद्ध रखने का काम भी सचिवालय के द्वारा ही किया जाता था। इनमें से कुछ स्थायी और कुछ अस्थायी सगठन थे। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष सस्थाएँ थीं। असेम्बली और कौंसिल के अतिरिक्त लीग ऑफ नेशन्स की मुख्य सस्थाओं मे अतर्राष्ट्रीय मजदूर सघ (International Labour Organisation) और अतर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) की भी गणना की जानी चाहिए, परन्तु ये दोनों सस्थाएँ, बहुत कुछ अपने मूल रूप में ही, आज भी सयुक्त

राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में काम कर रही हैं, इस कारण उनका विस्तृत उल्लेख संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्ययन के साथ किया जा सकेगा।

लीग ऑफ नेशन्स की असफलता और उसके कारण

इस विशाल संगठन को लेकर काम करने वाली लीग ऑफ नेशन्स के बीस वर्ष के जीवन पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उसमें आशा और निराशा, सफलता और असफलता आश्वासन और आशंकाओं का एक विचित्र इतिहास हमें मिलता है और उसका अन्त होता है एक ऐसी दयनीय निष्क्रियता में जिसे देखकर क्रोध भी आता है और ग्लानि भी। यह सच है कि अमरीका का असहयोग उसकी सफलता के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ परन्तु अन्य देशों ने बहुत ईमानदारी के साथ अथवा बड़े साहस के साथ उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिए कुछ किया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। बेचारे छोटे राष्ट्र तो उसे अन्त तक अपना सहयोग देते ही रहे परन्तु बड़े राष्ट्रों ने, जिनमें ब्रिटेन और फ्रांस की गिनती सबसे पहले की जानी चाहिए, अपने संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों पर अपनी दृष्टि अधिक रखी और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की चिंता इन्होंने कम ही की। जब कभी छोटे राष्ट्रों के आपसी झगड़ों के सुलझाने का प्रश्न आया—वह आलैंड द्वीप का झगड़ा हो अथवा विलना का विवाद, मेमल का मामला हो अथवा उत्तरी साइलेशिया की समस्या, उसका सम्बन्ध अलबानिया की सीमाओं से हो अथवा मोसल के भविष्य से—लीग ऑफ नेशन्स उसे सुलझा सकी, कॉर्फू की घटना, यूनान और बल्गेरिया के मतभेद, दक्षिणी अमरीका के झगड़े, सार का प्रशासन और डैंजिग का नियंत्रण, इन सभी मामलों में इसे सफलता मिली, क्योंकि इनका सम्बन्ध छोटे राष्ट्रों से था। परन्तु जब किसी बड़े राष्ट्र से सम्बन्ध रखनेवाली कोई समस्या इसके सामने आई इसकी दयनीय असमर्थता प्रकट हो गई। मंचूरिया पर जापान का आक्रमण, अबीसीनिया पर अधिकार करने की इटली की साम्राज्यवादी लिप्सा और अन्त में जर्मनी के द्वारा संधियों को एक के बाद एक भंग करते हुए जर्मन साम्राज्य को केन्द्रित और पूर्वीय यूरोप पर फैला देने की योजनाएँ जब सामने आईं तब लीग ऑफ नेशन्स कुछ भी न कर सकी। फासिस्ट आक्रमणों को रोकने के लिए लीग एक सशक्त संस्था बन सकती थी। इसके लिए साम्यवादी रूस ने बार बार जनतांत्रिक ब्रिटेन और फ्रांस के

सहयोग को आमन्त्रित किया परन्तु पश्चिमी यूरोप के ये दोनों ही देश अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के आगे कुछ भी न देखने के निश्चय पर दृढ़ता से जमे रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरा महायुद्ध आरम्भ हुआ और उसके साथ ही लीग के कंकाल को भी दफ्ना दिया गया। लीग की अन्त्येष्टि क्रिया के समय किसी ने उसकी स्मृति मे दो बूँद आँसू भी गिराना आवश्यक नहीं समझा। परन्तु उसके अवसान के साथ ही साथ संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ और आज फिर दूसरे महायुद्ध से जर्जरित और तीसरे महायुद्ध के भय से संत्रस्त विश्व आशा और विश्वास की दृष्टि से उसकी ओर देख रहा है।

अभ्यास के प्रश्न

१—राष्ट्रसघ का जन्म किन परिस्थितियो म हुआ ?

२—राष्ट्रसघ के सगठन की विशेषताएँ बताइए और उसके मुख्य दोषों का उल्लेख कीजिए।

३—राष्ट्रसघ के उद्देश्य क्या थे ? इन उद्देश्यों की प्राप्ति में उसे कहाँ तक सफलता मिली ?

४—राष्ट्रसघ की प्रमुख सस्थाओं और उनके कार्यों का सक्षिप्त विवरण दीजिए।

५—राष्ट्रसघ की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Howard Ellis, C. · The Origin, Structme and Working of the League of Nitions.
2 Marburgh Theodore . Development of the League of Nations Idea.
3. Eagleton, Clyde · International Government.

अध्याय २३

संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N.O) की स्थापना

युद्ध मे मित्र राष्ट्रों को सहयोग की भावना से काम करना पड़ता है। प्राय यह देखा जाता है कि युद्ध के दिनों मे एक पक्ष के राष्ट्रों मे जितना निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है शान्ति के दिनों मे वैसा नहीं हो पाता। दूसरे महायुद्ध मे भी धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध जिन राष्ट्रों ने अपना एक सगठन बना लिया था वे इसी निकटतम सहयोग की भावना मे काम करते रहे थे। इस कारण यह स्वाभाविक था कि युद्ध के बाद सहयोग की इस भावना को स्थायी रूप देने का प्रयत्न किया जाता। युद्ध से उत्पन्न होने वाली समस्याओं को सुलझाने, पराजित राष्ट्रों के साथ की जानेवाली सधियों को क्रियात्मक रूप देने और पराजित देशों मे से कोई देश अथवा उनका कोई संगठन भविष्य में मित्र-राष्ट्रों के लिए खतरा न बन सके, इसका प्रबन्ध करने के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की आवश्यकता थी। इसके साथ ही सभी देशों में यह भी अनुभव किया जा रहा था कि एक विश्व व्यापी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन, लीग ऑफ नेशन्स के एक परिवर्तित और अधिक परिपक्व स्वरूप की स्थापना भी आवश्यक है। इस प्रकार एक ओर तो मित्र-राष्ट्रों को अपना एक स्थायी सगठन बना लेने की जरूरत थी और दूसरी ओर विश्व शान्ति की रक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को निपटाने के लिए एक विश्व-व्यापी सस्था का निर्माण भी आवश्यक था। मित्र-राष्ट्रों ने इस विश्वास के आधार पर कि वे ससार भर का प्रतिनिधित्व करते हैं, अपने युद्ध-कालीन सगठन को ही एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्था का रूप देने का निश्चय किया। सयुक्त राष्ट्रों ने ही इस प्रकार अपने को सयुक्त राष्ट्रसघ के रूप मे सगठित किया।

विषय प्रवेश

महायुद्ध मे विजय प्राप्त कर लेनेपर मित्र राष्ट्र किस प्रकार की दुनिया का निर्माण करेंगे इसके सम्बन्ध मे प्रेज़ीडेंट रूजवेल्ट ने ७जनवरी १६४१ को अपने विचार प्रकट किए। उन्होंने कहा, 'हम एक ऐसी दुनिया का निर्माण करना चाहते हैं जिसका आरम्भिक प्रबल आधार चार आवश्यक मानवी स्वतत्रताओं पर हो।"
उन्होंने अपने इस वक्तव्य मे चार स्वतत्रताओं पर जोर दिया (१) वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतत्रता, (२) प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढग से ईश्वर की उपासना करने की स्वतत्रता, (३) आर्थिक अभाव और निर्धनता से स्वतत्रता और (४) भय से स्वतत्रता। इन विचारों को एटलाटिक महासागर के मध्य मे रूजवेल्ट और चर्चिल की आपसी बातचीत के बाद, अगस्त १६४१ मे प्रकाशित किए जानेवाले प्रसिद्ध एटलाटिक घोषणापत्र मे और भी विस्तार के साथ रखा गया। इस घोषणा मे कहा गया कि मित्र-राष्ट्र किसी व्यक्तिगत लाभ अथवा साम्राज्य विस्तार की आकाक्षा से युद्ध का सचालन नहीं कर रहे थे, उनके इस विश्वास को अभिव्यक्त किया गया कि सभी देशों की जनता को अपने ढग की सरकार चुनने का पूरा अधिकार है और उनके द्वारा इस निश्चय को दोहराया गया कि वे ससार में एक ऐसी व्यवस्था ले आना चाहते हैं जिसमें मनुष्य मात्र को आर्थिक अभाव और भय से मुक्त रखा जा सके और जिसमे राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों का आधार आर्थिक सहयोग और मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों पर हो। १ जनवरी १६४२ को सयुक्त राष्ट्रों द्वारा एक घोषणा प्रकाशित की गई जिसमे सपूर्ण विजय की इसलिए माँग की गई थी कि मानवी अधिकारों और न्याय को सुरक्षित रखा जा सके और साथ ही धुरी राष्ट्रों को यह आश्वासन दिया गया कि यद्यपि सपूर्ण आत्म समर्पण से कम किसी भी शर्त पर उनसे सधि नहीं की जाएगी परन्तु युद्ध समाप्त हो जाने के बाद उनके विरुद्ध प्रतिशोध की कोई भावना भी काम मे नहीं ली जाएगी। अक्तूबर १६४३ मे मॉस्को मे रूस ब्रिटेन और अमरीका के विदेश मत्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमे युद्ध समाप्त करने की शर्तों की घोषणा के साथ एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के निर्माण सम्बन्ध मे भी विचार प्रकट किए गए। नवम्बर १६४३ मे रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने तेहरान में आपस मे बातचीत की। बाद मे इसी प्रकार की बातचीत फरवरी १६४५मे याल्टा मे और जुलाई १६४५

में पोट्सडम में हुई। इस बीच, अधिकांश विपक्षी राष्ट्रों ने, जिनमें जर्मनी भी था आत्म-समर्पण कर दिया था और उनके साथ बातचीत के लिए विदेश-मंत्रियों के सम्मेलन होने लगे थे। सितम्बर १९४५ में लन्दन में विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। दिसम्बर १९४५ में मास्को में और अप्रैल १९४६ में पेरिस में। उनके तैयार किए गए पाँच संधियों के मसविदे जुलाई से अक्तूबर तक होनेवाले युद्ध में प्रमुख भाग लेनेवाले राष्ट्रों के एक सम्मेलन में रक्खे गए। पर मित्र राष्ट्र ज्यों ज्यों समझौते की शर्तों की गहराई में घुसते गए उनके आपसी मतभेद अधिकाधिक तीव्र होते गए।

इस दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ कि एक विश्वव्यापी संस्था के निर्माण-कार्य को इन मतभेदों से अलग रखा गया। पहले महायुद्ध के बाद की जानेवाली सन्धियों में लीग ऑफ नेशन्स के उद्देश्यों को भी समाविष्ट कर लिया गया था, परन्तु इस बार विजयी और पराजित राष्ट्रों के बीच की जानेवाली सन्धियों के प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के प्रश्न से अलग रखा गया। सन्धियों का काम पाँच बड़े राष्ट्रों के हाथ में सौंप दिया गया। सन्धियों के तैयार करने का काम निःसन्देह एक बड़े झगड़े का काम था और संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपने उस झगड़े से मुक्त रखने में एक बड़ा लाभ यह था कि उसे युद्ध में भाग लेनेवाले अनेक राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों और संघर्षों वैमनस्य और विद्वेषों से दूर, और ऊपर रखा जा सका। बड़े राष्ट्रों के विदेश-मंत्री जब संधियों की शर्तों में उलझे हुए थे तब भी अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के निर्माण का काम बड़ी तेजी के साथ चल रहा था। १९४४ के २१ अगस्त से ७ अक्टूबर तक अमरीका के वाशिंगटन राज्य में डम्बार्टन ओक्स नाम के स्थान पर चार बड़े राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ इस सम्मेलन में रूस, ब्रिटेन, अमरीका और चीन, ये चार बड़े राष्ट्र सम्मिलित हुए थे। सभी अपनी अपनी योजनाएँ लाए थे, जिनपर सम्मेलन में विचार किया गया और उस विचार विनिमय के बाद उन सिद्धान्तों की एक रूप रेखा तैयार की गई जिनके अनुसार प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को काम करना था। डाम्बर्टन ओक्स में स्वीकार किए गए प्रस्तावों का काफी प्रचार हुआ। संसार के प्रत्येक देश में गहराई के साथ उनका अध्ययन किया गया और

निर्माण का इतिहास

समाचार पत्रों मे उन पर काफी आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। २५ अप्रैल १९४५ को इन प्रस्तावों को कार्यरूप में परिणत करने के उद्देश्य में, सेनफ्रांसिस्को मे सयुक्त राष्ट्रों का एक बडा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन मे ५० राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले २८२ सदस्य सम्मि-लित हुए, और दो महीने के अनवरत परिश्रम के बाद उन्होंने प्रस्तावित सयुक्त राष्ट्रसघ के उद्देश्यों का एक घोषणा पत्र तैयार किया। २६ जून को इन राष्ट्रों ने घोषणा-पत्र पर अपने हस्ताक्षर किए, और इस प्रकार सयुक्त राष्ट्रसंघ की नींव पडी। प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन मे कहा—"संयुक्त राष्ट्रसघ का घोषणा-पत्र जिसपर आपने अभी हस्ताक्षर किए हैं एक ऐसा सशक्त आधार है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकेंगे।" १० जनवरी १९४६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की पहली बैठक लन्दन के प्रसिद्ध वेस्ट-मिनिस्टर हॉल मे हुई।

सयुक्त राष्ट्रसघ : कुछ विशेष बातें

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध मे पहली बात जो हमें ध्यान मे रखना चाहिए वह यह है कि लीग आफ नेशन्स के समान ही, उसका प्रादुर्भाव भी युद्ध के बीचोबीच और युद्ध की आशंका में हुआ, और विजयी पक्ष के द्वारा उसकी नींव डाली गई। सेनफ्रांसिस्को के सम्मेलन मे उन्ही देशों को निमत्रण दिया गया था जिन्होंने सयुक्त राष्ट्र की जनवरी १९४१ की घोषणा पर दस्तखत किये थे। न तो हारने वाले देश उसमे निमंत्रित थे, और न वे देश जिन्होंने युद्ध मे कोई सक्रिय भाग नहीं लिया था। जो देश युद्ध में हरा दिए गये थे वे फिर उभर न सकें और विजयी राष्ट्रों के लिए खतरा न बन जाएँ, एक प्रकार से, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस सङ्गठन की नींव डाली गई थी। परन्तु जहाँ तक पराजित राष्ट्रों पर नियंत्रण रखने का काम था उसका सीधा उत्तरदायित्व सयुक्त राष्ट्रसघपर नहीं परंतु पॉच बडे राष्ट्रों पर था। यहाँ तक तो ठीक था, पर इस प्रकार का उत्तरदायित्व उन्हें सौंप देने के बाद सयुक्त राष्ट्रसंघको अपनी सारी शक्तियाँ युद्ध मूलभूत कारणों को, जिनका उद्गम आर्थिक विषमताओं और सामाजिक असमानताओं में है, दूर करने, समानता और न्याय के आधार पर एक नए विश्व का निर्माण करने में लगा देनी चाहिए थीं। उसके लिए यह आवश्यक था कि सभी राष्ट्रों को इस प्रयत्न में समान

अवसर दिया जाता। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी उन्हीं पाँच बड़े राष्ट्रों का प्राधान्य रखा गया जिन्हों ने युद्ध में विजय प्राप्त करने में प्रमुख भाग लिया था। सुरक्षा परिषद् में उन्हें स्थायी स्थान दिया गया, और उनमें से प्रत्येक को अपने निषेधाधिकार के द्वारा बड़े से बड़े निर्णयों को रद्द करने की शक्ति दी गई। उनकी स्वीकृति के बिना किसी नए देश को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बनाया जा सकता था। महामंत्री के चुनाव और घोषणा-पत्र के संशोधन में भी उन्हीं का निर्णय अन्तिम है। किन बड़े राष्ट्रों को यह प्रभावपूर्ण पद प्राप्त हो सकता था, इसका कोई आधार नहीं रखा गया था। घोषणा-पत्र में पाँच बड़े राष्ट्रों के नाम गिना दिए गए थे और सदा के लिए उन्हें गौरव के इस ऊँचे शिखर पर बिठा दिया गया था, जहाँ से बिना स्वयं उनकी स्वीकृति के, उन्हें हटाया नहीं जा सकता था।

पक्ष और विपक्ष के मत

इस व्यवस्था के पक्ष में यह कहा जाता है कि इसका आधार ठोस यथार्थवाद पर रखा गया था। वस्तुस्थिति यह थी कि यदि ये राष्ट्र मिलकर कुछ करना चाहें तो वे सब कुछ कर सकते थे—इतनी शक्ति उनके पास थी पर यदि उनमें से कोई किसी बात के लिए तैयार न हो तो उस पर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता था। उस पर दबाव डालने का अर्थ होता एक दूसरे महायुद्ध को निमन्त्रण देना और यह निश्चित था कि इस प्रकार के महायुद्ध को रोकने अथवा उसका मुकाबिला करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ सर्वथा अक्षम और असमर्थ था। यह कहा जाता है कि एक ऐसे राजनीतिक वातावरण में जब कोई भी बड़ा राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का तनिक-सा भी प्रतिक्रमण सहने के लिए तैयार नहीं है, संयुक्त राष्ट्रसंघ से अधिक से अधिक यही आशा की जा सकती थी कि वह पराजित देशों को सिर न उठाने दे अथवा छोटे-छोटे आक्रान्ताओं को कुचल सके। विश्व शान्ति को आज यदि खतरा हो सकता है तो दूसरे महायुद्ध के इन पराजित संत्रस्त और सभीत राष्ट्रों अथवा छोटे मोटे राष्ट्रों से नहीं किसी बड़े राष्ट्र से ही हो सकता है, पर संकट का सामना करने के लिए कोई व्यवस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास नहीं है। किसी बड़े राष्ट्र के विरुद्ध वह कोई कदम नहीं उठा सकता। इस प्रकार की परिस्थिति का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि छोटे छोटे राष्ट्रों ने

किसी न किसी बडे राष्ट्र और विशेषकर दो सबसे बडे राष्ट्रोंमे से एक के, पीछे चलना ही अपने लिए श्रेयस्कर समझा है, और सयुक्त राष्ट्र सघ के दो गुटों मे बँट जाने का एक बडा कारण यह भी रहा है।

लीग ऑफ नेशन्स के समान ही सयुक्त राष्ट्रसघ मे भी इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि सदस्य राज्यों की प्रभु-सत्ता पर किसी प्रकार की आँच न आने पाए। घोषणा पत्र और सविधान की बहुत सी धाराओं मे इस तथ्य को बार बार दोहराया गया है। कानून बनाने का कोई अधिकार सयुक्त राष्ट्रसघ की किसी भी सस्था को नहीं है और किसी सदस्य पर, अपनी सहमति के बिना, सयुक्त राष्ट्रसघ के किसी भी नियम को मानने की बाध्यता नहीं है। यहाँ एक बात हमे ध्यान मे रखना है कि सयुक्त राष्ट्रसघ का आधार राजनैतिक है। उसे एक कानूनी व्यवस्था मानना उचित नहीं होगा। प्रारम्भिक प्रस्तावों मे तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून नाम का कोई शब्द था ही नहीं। बाद में इस शब्द का प्रयोग किया गया परन्तु इसकी उपयोगिता केवल आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए मानी गई। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को मानने के लिए भी कोई सदस्य बाधित नहीं है, जब तक वह स्वय ही उसके लिए तैयार न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि लीग ऑफ नेशन्स के समान, सयुक्त राष्ट्रसघ के काम का आधार भी सदस्यों की सहयोग की इच्छा और क्षमता पर निर्भर है, यह बात केवल अन्य क्षेत्रों मे ही नहीं सुरक्षा के क्षेत्र में भी उतनी ही सच है। सुरक्षा के सम्बन्ध मे पाँच बडे राष्ट्रों की सहमति के बिना कोई कदम नहीं उठाया जा सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि लीग ऑफ नेशन्स के समान ही सयुक्त राष्ट्रसघ से भी आर्थिक सहयोग और सामाजिक सुधार के क्षेत्रों मे बडे और उपयोगी कामों की अपेक्षा की जा सकती है परन्तु राजनीति के क्षेत्र मे, जहाँ बड़े राष्ट्रों का सहयोग कम ही सभव हो सकता है, वह किसी बडी सफलता के प्राप्त करने मे सर्वथा असमर्थ रहेगी।

लीग आफ नेशन्स से तुलना

सयुक्त राष्ट्रसघ को इसके लिए तो बधाई दी जानी चाहिए कि अमरीका और रूस जैसे दो सबसे बडे राज्योंको, जो लीग ऑफ नेशन्स

मे शामिल नहीं थे वह अपने साथ रख सका। यह ठीक है कि उसमें आपस मे बहुत गहरा मतभेद रहता है, पर यह अच्छा है कि यह मतभेद संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठक मे ही जोर पकड़ता है उसके बाहर किसी बड़े संघर्ष का रूप वह अभी तक नहीं ले सका है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के पक्ष में दूसरी बात यह कही जा सकती है कि इसमें लीग ऑफ नेशन्स के समान, निषेधाधिकार प्रत्येक सदस्य को नहीं दे दिया गया है, केवल पाँच बड़े राष्ट्रों को दिया गया है और यह भी विशेषकर सुरक्षा के क्षेत्र मे। तीसरी बात इसके सम्बन्ध मे यह कही जा सकती है कि आक्रमणकारी के विरुद्ध, बशर्ते कि वह पाँच बड़े राष्ट्रों में से न हो, शस्त्र का प्रयोग करने की व्यवस्था इसके पास है, चाहे वह कितनी सीमित क्यों न हो, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र मे तो, लीग की तुलना मे, जहाँ अवरोध स्पष्ट करने के कहीं बड़े साधन इसके पास हैं, उसकी विशेष संस्थाओं मे पिछड़े हुए देशों की स्थिति को सुधारने की कहीं अधिक क्षमता भी वह रखता है। इन सब सुधारों के होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सुरक्षा और विश्व शान्ति की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक पूर्ण और शक्तिशाली संस्था नहीं माना जा सकता।

घोषणा पत्र की प्रस्तावना और पहली व दूसरी धाराओं मे संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य व सिद्धान्त दिए गए हैं। प्रस्तावना का आरम्भ इन शब्दों से होता है—"हम संयुक्तराष्ट्रों की जनता निश्चय करती है ।" परन्तु जनता के नाम पर कुछ कहने के दावे का खोखलापन घोषणा-पत्र के निर्माताओं पर बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है, और इस कारण उसके अन्त मे हमारी सरकारें " आदि शब्दों का ही अधिक प्रयोग होता है। उद्देश्यों के सम्बन्ध में चार बातें कही गई हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का निर्वाह, (२) राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास, (३) व्यापक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना और व्यक्तिगत रूप से मनुष्य-मात्र के अधिकारों के लिए प्रयत्न, और (४) इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण। इन उद्देश्यों का निर्धारण डम्बार्टन ओक्स के प्रस्तावों

उद्देश्य और सिद्धान्त

में ही किया जा चुका था, पर घोषणा-पत्र में उनकी अधिक स्पष्ट व्याख्या कर दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वे "शांतिपूर्ण उपायों और न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुसार" सुलझाए जाएँगे। राष्ट्रों के बीच मित्रता-पूर्ण सम्बन्धों के विकास के साथ यह जोड़ दिया गया कि उनका आधार "जनता के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रति आदर की भावना" पर होगा। मानवी अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं के विकास और प्रोत्साहन के सम्बन्ध के "जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना" शब्द जोड़ दिए गए। इसके साथ ही "समान अनुसत्ता" के सिद्धान्त और सुरक्षा-परिषद् के बाहर सभी राष्ट्रों के कानूनी और मतदान सम्बन्धी अधिकारों की समानता पर जोर दिया गया। सदस्यों को अपने कर्त्तव्यों को निबाहने की प्रार्थना की गई। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटारे के सम्बन्ध में यह कहा गया कि यह काम केवल शान्तिपूर्ण रूप में ही नहीं, परन्तु इस ढंग से किया जाएगा कि उसमें तटस्थ राष्ट्रों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। संयुक्त राष्ट्र-संघ के उद्देशों के विपरीत शक्ति के प्रयोग को बुरा बताया गया और उन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए बल-प्रयोग की सभी देशों से अपेक्षा की गई। शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह गैर-सदस्यों के लिए भी निर्णय कर सकेगा, और गैर-सदस्यों को अपने आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेवाओं का उपयोग करने का आवाहन किया गया। इसके साथ ही सिद्धान्तों की सूची में ही यह भी जोड़ दिया गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी राष्ट्र के 'घरेलू' मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा। इस धारा का प्रभाव संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र पर बहुत बुरा पड़ा। लीग ऑफ़ नेशन्स की कौंसिल को यह अधिकार था कि वह, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से, यह निर्णय करे कि कौन सा मामला 'घरेलू' विशेषण की परिधि में लाया जा सकता है। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार मिल गया है कि वह स्वयं यह निर्णय कर ले कि वह किन मामलों को 'घरेलू' समझता है और किन्हें अन्तर्राष्ट्रीय। स्पेन के तानाशाही शासन और दक्षिण अफ्रीका में

भारतीयों के साथ किए जानेवाले दुर्व्यवहार को दूर करनेमे सयुक्त राष्ट्रसघ सर्वथा असमर्थ रहा है।

सयुक्त राष्ट्रसघ की सदस्यता दो प्रकार की है। जो राष्ट्र सेन फ्रासिस्को के सम्मेलन में शामिल हुए थे अथवा जिन्होंने सयुक्त राष्ट्रसघ की प्राथमिक घोषणापर हस्ताक्षर किए थे और अब नए घोषणा-पत्र को अपनी स्वीकृति दे दी थी वे 'मौलिक सदस्य, कहलाते हैं। इनमे ५१ राष्ट्रों की गिनती की जाती है। किसी भी अन्य 'शान्तिप्रिय राज्य को सदस्य बनाया जा सकता है, यदि उसमें सदस्यता के कर्त्तव्यों को निबाहने की सामर्थ्य और इच्छा' है। नए सदस्यों को सुरक्षा परिषद् की सिफारिश और महासभा की सहमति से ही लिया जा सकता है। सुरक्षा परिषद् मे कोई भी बड़ा राष्ट्र अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से किसी भी नए सदस्य के प्रवेश को रोक सकता है, और महासभा मे दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। किसी भी सदस्य को उसकी सदस्यता से तो पृथक् नहीं किया जा सकता परन्तु 'सदस्यता के अधिकारों और सुविधाओं के उपयोग' से वंचित किया जा सकता है। इस प्रकार का निर्णय, पाँच बड़े राष्ट्रों की सहमति से सुरक्षा परिषद् द्वारा ही दिया जा सकता है, और उसके लिए महासभा के दो तिहाई बहुमत के समर्थन की आवश्यकता है। परन्तु उस सदस्य को इन सुविधाओं के लौटाने का पूरा अधिकार सुरक्षा-परिषद् को है। किसी भी सदस्य को सयुक्त राष्ट्रसघ से 'निकाला' भी जा सकता है, परन्तु यह सजा केवल उन्हीं राष्ट्रोंके लिए है जो 'घोषणा पत्र मे दिए हुए सिद्धान्तोंकी लगातार अवहेलना' करते रहे हों। सदस्यों को 'त्याग-पत्र' देने का अधिकार है या नहीं इसके सबध मे घोषणा-पत्र कुछ नहीं कहता, पर यह स्पष्ट है कि जब सयुक्त राष्ट्रसघ किसी सदस्य को अपने निर्णय को मानने के लिए विवश नहीं कर सकता तो वह उसकी सदस्यता छोड़ भी सकता है, सयुक्त राष्ट्रसघ के किसी भी सदस्य ने अभी तक अपनी सदस्यता से त्याग-पत्र नहीं दिया है।

सदस्यता

सयुक्त राष्ट्रसघ का अपना कानूनी अस्तित्व है। उसे समझौता करने और अपनी जायदाद के सम्बन्ध में वे सब अधिकार तो प्राप्त हैं ही जो किसी भी देश के कानून में प्रत्येक कानूनी व्यक्तित्व को प्राप्त होते हैं,

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भी उसके व्यक्तित्व को मान लिया गया है। कुछ मामलों मे उसे विभिन्न देशों से सन्धियाँ
अथवा समझौते करने का अधिकार भी दिया गया है। कानूनी स्वरूप,
उसकी 'विशेष संस्थाओं' को भी, महासभा की स्वीकृति केन्द्रीय कार्यालय,
से, इस प्रकार के समझौते करने का अधिकार है। आर्थिक प्रबन्ध और
सदस्य-देशों की भौगोलिक सीमाओं मे संयुक्त राष्ट्रसंघ संशोधन-सम्बन्धी
को वे सब सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त हैं जो उसके नियम
उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। सदस्यों के
प्रतिनिधि और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकारी इन सुविधाओं का उपयोग कर सकते हैं, यदि वे संयुक्त राष्ट्र के किसी काम से किसी देश मे जाएँ। संयुक्त राष्ट्रसंघ का केन्द्रीय कार्यालय न्यूयॉर्क मे रखा गया है, जहाँ उसके लिए एक बहुत बडे भवन का निर्माण किया गया है। आर्थिक प्रबन्ध पूरी तौर से महासभा के हाथ मे है। संयुक्त राष्ट्र का खर्चा उसके सब सदस्य मिलकर उठाते हैं, किस सदस्य से कितना रुपया लिया जाए, इसका निर्णय महासभा, अपनी एक विशेष समिति की राय से करती है। बजट उसके द्वारा ही पास किया जा सकता है। संविधान मे संशोधन भी महासभा के द्वारा ही किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए सभी सदस्यों के दो तिहाई मतों की आवश्यकता है और इन दो-तिहाई मतों मे पाँचों बड़े राष्ट्रों का मत होना अनिवार्य माना गया है। संशोधन के क्षेत्र में भी पाँच बडे राष्ट्रों को निषेधाधिकार देने का काफी विरोध हुआ। जान पडता है कि इस विरोध को संतुष्ट करने के लिए संशोधन के नियमों मे एक यह धारा जोड़ दी गई है कि यदि महासभा के दो तिहाई सदस्य, जिनमें सुरक्षा-परिषद् के कोई सात सदस्य सम्मिलित हों, चाहें तो संविधान में आवश्यक परिवर्तन के लिए एक सभा बुलाई जा सकती है और यदि महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन तक इस प्रकार की सभा न बुलाई जाए तो यह अधिवेशन साधारण बहुमत, और सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यों की सहमति से इस प्रकार की सभा बुलाने का निश्चय कर सकता है। परन्तु इस सभा के द्वारा स्वीकृत किए गए प्रस्ताव भी कार्यान्वित तो तभी किए जा सकेंगे जब उन्हें पाँचों बड़े राष्ट्रों की भी स्वीकृति मिल जाए। संविधान मे किसी भी प्रकार के संशोधन में उनके निषेधाधिकार को इस प्रकार सर्वथा सुरक्षित रखा गया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

२—संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण के लिए किए जानेवाले कुछ प्रारम्भिक प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।

३—संयुक्त राष्ट्रसंघ और लीग आफ नेशन्स की तुलना कीजिए।

४—संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

५—संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में निम्न बातें समझाइए—
(अ) सदस्यता के नियम, (आ) आर्थिक प्रबन्ध, (इ) संविधान में संशोधन के नियम।

६—संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान में 'बड़े राष्ट्रों' को क्या विशेष सुविधाएँ और अधिकार दिए गए हैं ?

विशेष अध्ययन के लिए

1 Bentwich, N. From Geneva to San Francisco.
2. Bentwich and Martin : A Commentary on the Charter of the United Nations.
3 Dotnict Louis . The United Nations.

में बहुत कुछ करने की स्वाधीनता है। सुरक्षा के अतिरिक्त और सब कार्यों का निरीक्षण और नियंत्रण अन्तिम रूप से महासभा के अधिकार में है। सब संस्थाएँ उसके प्रति उत्तरदायी हैं, और उनके बीच कार्य का बँटवारा भी महासभा ही करती है। संयुक्त राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य महासभा का सदस्य है, और प्रत्येक को एक मत देने का अधिकार है, यद्यपि प्रत्येक अपने पाँच प्रतिनिधि महासभा के अधिवेशन में भेज सकता है और आवश्यकता के अनुसार उनमें हेर फेर भी कर सकता है। महासभा को प्रत्येक वर्ष एक अधिवेशन करना पड़ता है और नियम के अनुसार, इस अधिवेशन का आरम्भ सितम्बर के तीसरे मंगलवार को होना है। आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा परिषद् की प्रेरणा से अथवा सदस्यों के बहुमत से विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। महासभा के अधिवेशन, लीग असेम्बली की तुलना में, काफी लम्बे अर्से तक चलते हैं, क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा है।

महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए एक अध्यक्ष और सात उपाध्यक्ष चुनती है। महासभा के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए कई समितियों का निर्माण किया जाता है। इनमें छः समितियाँ मुख्य हैं—(१) राजनीतिक और सुरक्षा-समिति, (२) आर्थिक और वित्तीय समिति, (३) सामाजिक मानवी और सांस्कृतिक प्रश्नों से सम्बन्ध रखने वाली समिति, (४) संरक्षण समिति, (५) शासन और बजट सम्बन्धी समिति और (६) कानून समिति। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थायी समितियाँ भी हैं जिनका काम विविध समस्याओं आदि के सम्बन्ध में सलाह देना है और एक बड़ी समिति है जो इन समितियों के काम में तालमेल बनाये रखती है। प्रमुख समितियों में संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य देशों को अपना एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। जब कोई बड़ा प्रश्न महासभा के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो वह इनमें से किसी एक समिति को सौंप दिया जाता है। समिति उस पर गहराई से मनन करती है और अपनी सम्मति महासभा के सामने रखती है। इन समितियों में सभी देशों का प्रतिनिधित्व होने के कारण प्रायः ऐसा होता है कि समिति जो निर्णय देती है वह महासभा के द्वारा भी मान्य होता है। महासभा की कार्यवाही के लिए पाँच भाषाओं को स्वीकार किया गया है—अंग्रेज़ी,

फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश और चीनी। प्रत्येक भाषण का इन सभी भाषाओं मे तात्कालिक अनुवाद कर दिया जाता है और जो व्यक्ति जिस भाषा मे उसे सुनना चाहे सुन सकता है। लीग की तुलना मे संयुक्त राष्ट्र ने एक जो बड़ी प्रगति की वह यह है कि महासभा के निर्णयों के लिए यह आवश्यक नहीं माना गया है कि उनमे सभी सदस्य एकमत हों। जो सदस्य उपस्थित हों और अपना मत देने के लिए तैयार हों उनके बहुमत से कोई भी प्रश्न तय किया जा सकता है। कुछ विशेष प्रश्न अवश्य ऐसे हैं जिनमे दो-तिहाई बहुमत को आवश्यक माना गया है और यदि संविधान मे संशोधन करना हो तो केवल उपस्थित सदस्यों का बहुमत ही नहीं महासभा सब सब सदस्यों का दो-तिहाई मत आवश्यक माना गया है। प्रत्येक सदस्य को एक मत दिए जाने का अर्थ यह है कि इज-रायल और लिबेरिया जैसे छोटे देशों को भी महासभा मे उतना ही अधिकार प्राप्त है जितना रूस अथवा अमरीका को। किसी सदस्य को महासभा के निर्णयो मे अवरोध उत्पन्न करने का अधिकार नहीं है परन्तु, इसका कोई विशेष प्रभाव इस कारण नहीं पड़ता कि महासभा के किसी निर्णय को बिना उसकी स्वीकृति के किसी सदस्य पर लादा नहीं जा सकता। परन्तु इसके साथ ही हमे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अपने निर्णयों को किसी भी सदस्य से उसकी स्वीकृति के बिना मनवाना चाहे महासभा के अधिकार के बाहर हो परन्तु महासभा यदि किसी प्रश्न पर अपना निर्णय दे देती है तो अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत पर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

महासभा का कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत है जितना संयुक्त राष्ट्र का उद्देश्य-पत्र। सुरक्षा के सम्बन्ध मे कुछ मर्यादाओं को छोड़ कर कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं है जिस पर विचार करके वह अपना निर्णय नहीं दे सकती। यह अपने आप मे बहुत बड़ा काम है। सुरक्षा-परिषद् और महासभा के बीच कार्यों के विभाजन का प्रयत्न तो किया गया है परन्तु वह बहुत स्पष्ट नहीं है। सुरक्षा-परिषद् को "शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह का प्रमुख उत्तरदायित्व" सौंपा गया है, परन्तु इस क्षेत्र मे भी महासभा बहुत कुछ कर सकती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह की दृष्टि से सहयोग के व्यापक सिद्धान्तों की चर्चा तो कर ही

महासभा का कार्य-क्षेत्र

सकती है। विशिष्ट प्रश्नों, जैसे सदस्यों आदि के निपटारे के सम्बन्ध में विचार विमर्श कर सकती है। "कोई भी प्रश्न" किसी भी राज्य के द्वारा, वह चाहे सदस्य हो या न हो, अथवा सुरक्षा-परिषद् के द्वारा महासभा के सामने लाया जा सकता है, और महासभा उसके सम्बन्ध में सिफारिश कर सकती है। इस सम्बन्ध में केवल एक मर्यादा यह लगा दी गई है कि वह ऐसे प्रश्न तभी चर्चा कर सकती है जब वह सुरक्षा-परिषद् के कार्यक्रम में न हो। इस सम्बन्ध में दूसरी बात हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसे प्रश्नों पर चर्चा और सिफारिश तो महासभा कर सकती है पर उसके सम्बन्ध में कोई कार्यवाही सुरक्षा-परिषद् ही कर सकती है, यद्यपि इस स्थिति में भी कार्यवाही के सम्बन्ध में अपनी सिफारिश तो वह दे ही सकती है।

शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह को छोड़कर कुछ विशेष काम महासभा को सौंपे गए हैं। राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग की भावना को बढ़ाने के लिए सभी सम्भव साधनों का अध्ययन करते रहना और अपने सुझाव प्रस्तुत करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाएँ बनाना, जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना मानवी अधिकारों और बुनियादी स्वतन्त्रताओं को सबको उपलब्ध कराने का प्रयत्न करना—ये सब काम भी महासभा को सौंपे गए हैं। इन सबका सम्बन्ध अध्ययन और योजना-निर्माण से है। इनके अतिरिक्त चुनाव, शासन और निरीक्षण के अधिकार भी महासभा को हैं। वह सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर नए सदस्यों को प्रवेश की अनुमति दे सकती है। और पुराने सदस्यों को स्थगित अथवा निष्कासित कर सकती है। इसके अतिरिक्त महामंत्री की नियुक्ति की स्वीकृति भी वही देती है। तीनों प्रमुख परिषदों के चुने जानेवाले सदस्यों का चुनाव भी महासभा ही करती है और, सुरक्षा परिषद् के सहयोग से, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के सदस्यों के चुनाव में भाग लेती है। सब परिषदें और विशेष समितियाँ और संस्थाओं को अपने काम की रिपोर्ट महासभा को देनी पड़ती है और उसे उनके काम की आलोचना करने और उनके कार्यक्षेत्रों पर नियन्त्रण रखने का पूरा अधिकार है। उनके द्वारा किए जाने वाले समझौतों के लिए भी महासभा की स्वीकृति आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के

सम्पूर्ण बजट पर महासभा का अधिकार है। इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सबसे अधिक प्रतिष्ठित और महत्त्वपूर्ण संस्था है।

सुरक्षा-परिषद् (Security Council)

प्रतिष्ठा और महत्त्व की दृष्टि से महासभा को चाहे जितना भी आदर क्यों न प्राप्त हो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सर्वोच्च सत्ता के अन्तिम सूत्र सुरक्षा परिषद् (Security Council) के हाथ में है। सुरक्षा-परिषद् में ग्यारह राज्यों के प्रतिनिधि हैं, जिनमें रूस चीन ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस तो स्थायी सदस्य हैं और शेष ६ अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा के द्वारा दो तिहाई मत के आधार पर किया जाता है। इनमें से तीन सदस्य प्रति वर्ष दो वर्ष के कार्यकाल के लिए चुने जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि सुरक्षा परिषद् में दो श्रेणियों के सदस्य हैं। पहली श्रेणी के पाँच सदस्यों के महत्त्व को उनके हाथ में निषेधाधिकार (Veto Power) देकर और भी बढ़ा दिया गया है। इस पाँच सदस्यों की नियुक्ति का कोई तर्क-सम्मत आधार नहीं था और यदि यह मान लिया जाए कि संयुक्त राष्ट्रसंघ बनने के समय वे विजयी राष्ट्रों में सबसे महान् और शक्तिशाली थे तो भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि राजनीति की शक्ति सदा बदलती रहती है और इस परिवर्त्तन के अनुरूप इन सदस्यों में भी परिवर्त्तन करने की कोई व्यवस्था नहीं रखी गई है।[1]

सुरक्षा-परिषद् के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई है कि उसके अधिवेशन लगातार होते रहें, जिससे किसी भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समस्या के सम्बन्ध में वह शीघ्र ही विचार विनिमय कर सके और

१—उदाहरण के लिए पिछले आठ वर्षों में जब कि रूस और अमरीका की शक्ति और प्रभाव लगातार बढ़ते गए हैं ब्रिटेन और फ्रांस की प्रतिष्ठा कम होती चली गई है और कुओमिन्तांग चीन का जिसे बड़े राष्ट्रों की गिनती में रखे जाने का गौरव दिया गया था आज नामोनिशाँ भी मिट गया है, यद्यपि उसकी गिनती संयुक्त राष्ट्र की दृष्टि में आज भी बड़े राष्ट्रों में की जा रही है और उसके प्रतिनिधि को वही विशेष अधिकार प्राप्त हैं जो रूस और अमरीका को ?

अपना निर्णय दे सके। सदस्यों से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपने किसी प्रमुख राजनीतिज्ञ, जहाँ तक सम्भव हो अपने विदेश-मन्त्री को, उसकी कार्यवाही में भाग लेने के लिए नियुक्त करें। सुरक्षा-परिषद् को विशेष समितियों को नियुक्त करने का अधिकार भी है। उसके अध्यक्ष का चुनाव विभिन्न सदस्यों में से बारी-बारी से किया जाता है। सुरक्षा परिषद् में प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। साधारण प्रश्नों का निर्णय किन्हीं सात सदस्यों के मत से किया जाता है परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए विशिष्ट बहुमत की आवश्यकता होती है। विशिष्ट बहुमत का अर्थ है कि इन सात सदस्यों में पाँचों स्थायी सदस्यों का मत भी होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि स्थायी सदस्यों में से प्रत्येक को किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न से सम्बन्ध रखनेवाले निर्णय को, यदि वह उसकी इच्छा और स्वार्थों के प्रतिकूल हुआ, रोक देने का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह निषेधाधिकार यदि बड़े और महत्त्वपूर्ण निर्णयों तक ही सीमित रखा जाता तो भी ठीक था। उसके पक्ष में तब यह दलील दी जा सकती थी कि बड़े राष्ट्र इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि अनुत्तरदायी छोटे राष्ट्रों के बहुमत से कोई ऐसा महँगा और खतरनाक निर्णय करा लिया जा सके जिसका परिणाम स्वयं उन्हें ही भुगतना पड़ता। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि यह अधिकार केवल सुरक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है उसका प्रयोग नए सदस्यों के प्रवेश, पुराने सदस्यों के अधिकारों को स्थगित करने अथवा उन्हें संयुक्त राष्ट्र से बहिष्कृत करने, संविधान में संशोधन न्यायाधीशों के चुनाव क्षुद्र संरक्षित प्रदेशों के शासन और महामन्त्री के चुनाव में भी किया जाता है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council) की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसका निर्माण इस बात का द्योतक है कि संयुक्त राष्ट्र के कर्णधार यह अच्छी तरह समझते थे कि विभिन्न राष्ट्रों में मित्रता और सहयोग, एक बड़ी सीमा तक, इस बात पर भी निर्भर रहता है कि सभी देशों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के स्तर को ऊँचा उठाया जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक और सामाजिक परिषद् की स्थापना की गई। इस परिषद् में १८ सदस्य होते हैं, जिनका

चुनाव महासभा के दो-तिहाई बहुमत से होता है। इन सदस्यों में से ६ का चुनाव प्रति वर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए होता है। बड़े और छोटे राज्यों का भेद यहाँ नहीं रखा गया है। सदस्यों के चुनाव पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अपनी अवधि समाप्त हो जाने पर वे दुबारा भी चुने जा सकते हैं। परिषद् को अपनी आवश्यकता के अनुसार समितियाँ नियुक्त करने का भी अधिकार है। मानवी अधिकारों के लिए एक समिति नियुक्त करने का अधिकार तो उसे संविधान के द्वारा ही दिया गया था। इन समितियों के सदस्य विभिन्न देशों की सरकारों के द्वारा चुने जाते हैं परन्तु उनसे अपेक्षा यह की जाती है कि वे विशेषज्ञों को ही चुनेंगे। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का ही अधिकार है और निर्णय उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यों के बहुमत के आधार पर किया जाता है। निषेधाधिकार का कोई प्रश्न यहाँ नहीं उठता और न 'साधारण' और 'विशेष' समस्याओं के बीच कोई भेद किया गया है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic anb Social Council)

सुरक्षा-परिषद् में सदस्य देशों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विशिष्ट समितियों (Specialized Agencies) के प्रतिनिधियों को भी बैठने का अधिकार है और विचार-विमर्श के लिए गैर सरकारी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को भी उसमें निमंत्रित किया जा सकता है। अपनी बैठकों की संख्या और तिथियाँ निश्चित करने का पूरा अधिकार आर्थिक और सामाजिक परिषद् को है। अधिकांश सदस्यों की माँग पर कभी भी बैठक बुलाई जा सकती है। परिषद् का मुख्य काम समस्याओं का अध्ययन करना, उन पर रिपोर्ट तैयार करना, अपनी सिफारिशें देना, समझौते के मसविदे आदि तैयार करना और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की व्यवस्था करना है। समझौतों अथवा सन्धियों का महासभा के सामने रखा जाना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन परिषद् के द्वारा ऐसे ही विषयों के सम्बन्ध में बुलाए जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध उसके कार्यक्षेत्र से हो। जहाँ तक परिषद् के कार्यक्षेत्र का सम्बन्ध है उससे यह अपेक्षा की गई है कि वह विश्व-शान्ति के लिए प्रयत्न करे, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्न बातों को प्रोत्साहन दे—(अ) जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने, सबको काम दिलाने की व्यवस्था करने

और सामाजिक और आर्थिक प्रगति और विकास के लिए उचित वातावरण का निर्माण करना (ग) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सामाजिक स्वास्थ्य सम्बन्धी और अन्य सम्बन्धित समस्याओं के समाधान और अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शैक्षणिक सहयोग के लिए प्रयत्न करना और (घ) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सबके लिए मानवी अधिकारों और बुनियादी स्वतन्त्रताओं की प्राप्ति के प्रति सार्वभौम आदर के भाव की सृष्टि और उन्हें कार्यान्वित कराने का प्रयत्न करना। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए परिषद् जो निर्णय दे उनका पालन करने के लिए सदस्यों पर कोई बाध्यता तो नहीं है परन्तु उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे उन्हें व्यावहारिक रूप देने का पूरा प्रयत्न करें।

विशिष्ट समितियां से सम्बन्ध

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए कुछ विशिष्ट समितियाँ (Specialized Agencies) का निर्माण किया गया है जो अपने आपमें स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं जिनका आधार अपनी स्वतन्त्र सन्धियाँ हैं, जिनके अपने अधिकारी हैं और जो अपने विशिष्ट क्षेत्रों में काम करती हैं। ये विशिष्ट समितियाँ जिनका विवरण आगे दिया जायगा। एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्रसंघ से बाहर काम करती हैं, यद्यपि उनके निर्माण के लिए उचित वातावरण तैयार करने का काम परिषद् के द्वारा किया जाता है और परिषद् के साथ किए गए समझौते के द्वारा संयुक्त राष्ट्र से उनका सम्बन्ध रहता है। संयुक्त राष्ट्र का उनपर कितना नियन्त्रण रहे, यह इन समझौतों पर निर्भर रहता है जो परिषद् उनके साथ करती है। परिषद् इन विशिष्ट समितियों को समय समय पर सलाह और प्रेरणा भी देती रहती है। इन विशिष्ट समितियों के अतिरिक्त परिषद् अनेक प्रकार के कमीशन, स्थायी समितियाँ, अस्थायी समितियाँ और विशेष समितियाँ बनाती रहती है। इन अनेकों साधारण और असाधारण समितियों द्वारा किए जाने वाले कामों का क्षेत्र लगातार बढ़ता जा रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक दूसरी आवश्यक परिषद् संरक्षण परिषद् (Trusteeship Council) है। पहले महायुद्ध के बाद जिन प्रदेशों को कुछ बड़े राष्ट्रों के संरक्षण (Mandate) में रख दिया गया था

उनके भविष्य का प्रश्न तो था ही, दूसरे महायुद्ध में शत्रु से प्राप्त होनेवाले प्रदेशों के शासन के लिए एक उचित व्यवस्था के निर्माण का कार्य भी सयुक्त राष्ट्र के सामने था। सरक्षण परिषद् की जब स्थापना हुई तब उसके कार्यक्षेत्र में इन दो प्रकारों के प्रदेशों के अतिरिक्त ऐसे प्रदेशों को भी शामिल किया गया जिनका शासन अन्य प्रदेशों के अधिकार में था। इन प्रदेशों के सम्बन्ध में यह अपेक्षा की गई कि उन पर शासन करनेवाले देशों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे "सूचना मात्र देने के लिए" उनके सबध में महामत्री को नियमित रूप से रिपोर्ट देते रहें। इन रिपोर्टों पर सयुक्त राष्ट्र की विभिन्न सस्थाओं में विचार विमर्श और आलोचना होती है और अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के निर्माण पर उसका काफी असर पड़ता है। सक्षेप में सरक्षण परिषद् का मुख्य उद्देश्य उन प्रदेशों के शासन के सम्बन्ध में व्यवस्था करना है जो (१) पहले महायुद्ध के बाद किसी विजयी राष्ट्र के अन्तर्गत रखे गए थे, (२) जो द्वितीय महायुद्ध के बाद किसी पराजित राष्ट्र से प्राप्त किए गए, और (३) जिन्हें किसी ऐसे साम्राज्यवादी देश ने स्वेच्छा से उसके हाथ में सौंप दिया हो जो पहले से उनपर शासन कर रहा था। अन्तिम श्रेणी के प्रदेशों को शासनकर्त्ता राष्ट्रों की सहमति से और उनके साथ लिखित समझौतों के आधार पर ही, सरक्षण-परिषद् के तत्त्वावधान में रखा जा सकता है।

सरक्षण-परिषद् (Trusteeship Council)

इन समझौतों की शर्तों को निश्चित और स्वीकार करने का पूरा अधिकार उन राष्ट्रों को है जिनके हाथ में इस प्रकार के प्रदेशों का शासन रहा है। अपेक्षा तो यह की गई थी कि सभी साम्राज्यवादी देश अपने सभी अधीनस्थ प्रदेशों को, यदि उन्हें वे पूर्ण स्वाधीनता के लिए परिपक्व न मानते हों तो, सरक्षण-परिषद् के निरीक्षण में इस लक्ष्य तक पहुँचने में सहायता दें। परन्तु इस प्रकार की तत्परता किसी भी साम्राज्यवादी देश ने नहीं बताई। कुछ राज्यों ने, जैसे दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सम्बन्ध में, इस प्रकार के प्रदेशों को अपने राज्य का अग बना लेने की प्रार्थना भी की। परन्तु उसे नहीं माना गया। दस वर्ष के बाद इन समझौतों को दुहराने की गुजाइश रखी गई है। दूसरे महायुद्ध के बाद प्राप्त किए गए प्रदेशों

की स्थिति इतनी स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के लिए जापान और उसके समीपस्थ द्वीपों को संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में न रखते हुए अमरीका ने कई वर्ष तक अपने अधिकार में रखा। इसके अतिरिक्त कई ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण घोषित करके कोई भी बड़ा राष्ट्र अनिश्चित काल के लिए अपने अधिकार में रख सकता है। उत्तरी प्रशान्त के असंख्य द्वीप इसी कोटि में आते हैं और उनके साथ अमरीका ने जो समझौते किए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें अमरीका ने अपने राष्ट्रीय हितों को प्रधानता दी है न कि अन्तर्राष्ट्रीय हितों को। इन द्वीपों पर अमरीका का लगभग वैसा ही अधिकार है जैसा उसके अपने प्रदेशों पर। इस कारण कई आलोचकों ने उसे "साम्राज्यवाद का प्रच्छन्न रूप" माना है।

संरक्षण परिषद् अन्य दो परिषदों के समान ही महासभा का एक मुख्य अंग है। अन्य परिषदों के समान उसके सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं की गई है। उसमें संरक्षित प्रदेशों के शासक-राष्ट्र (२) पाँच बड़े राष्ट्रों में से वे राष्ट्र जो इस सूची में नहीं आ जाते, और (३) महासभा के द्वारा तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने गए इतने अन्य सदस्य कि परिषद् के ऐसे सदस्यों से जिनके पास शासन का काम है उनकी संख्या कम न हो। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह किसी विशेषज्ञ को ही अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजे। संविधान में परिषद के कामों का पूरा ब्योरा दिया गया है। उसके प्रत्येक संरक्षित प्रदेश में जनता के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास की वास्तविक स्थिति जानने के लिए प्रश्नों की एक सूची तैयार करनी पड़ती है और उस सूची के आधार पर प्रत्येक देश के शासक-राष्ट्र को महासभा के पास अपनी वार्षिक रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। महासभा इन रिपोर्टों के आधार पर शासक-राष्ट्र को अपनी सिफारिशें दे सकती है, यद्यपि यह अपेक्षा की जाती है कि वे सिफारिशें समझौते की शर्तों के अनुकूल हों। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court) की स्थापना के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र में आरम्भ से दो मत थे। कुछ लोगों का

कहना था कि लीग ऑफ नेशन्स के तत्त्वावधान में चलनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत (P. C. I J) को, जो बड़ी योग्यता के साथ काम कर रही थी, संयुक्त राष्ट्र का न्यायालय मान लिया जाए। बाद में इस नए नाम से पुराने न्यायालय को पुनर्गठित किया जाना शायद इसलिए आवश्यक समझा गया कि अमरीका और रूस को, जो पुराने न्यायालय के सदस्य नहीं थे, उसमें सम्मिलित होने में कोई आपत्ति न हो परन्तु नाम को छोड़कर सभी बातों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पुराने न्यायालय का ही एक नया रूप है—केवल चुनाव की पद्धति और कुछ छोटी-मोटी बातों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर दिया गया है। संयुक्त राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य इस न्यायालय के नियमों से बँधा हुआ है। गैर-सदस्यों के लिए भी इसका उपयोग करने की व्यवस्था है। सदस्यों से उसके निर्णयों का पालन करने की अपेक्षा की गई है। अपने सामने लाए गए मामलों के सम्बन्ध में अपना निर्णय देने के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह भी कर्त्तव्य है कि वह सुरक्षा परिषद्, महासभा और संयुक्त राष्ट्र की अन्य संस्थाओं और विशिष्ट समितियों के द्वारा माँगे जाने पर अपनी राय दे।

अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय (International Court)

संयुक्तराष्ट्र के मुख्य अवयवों में अन्तिम सचिवालय (Secretariat) है। इसका अध्यक्ष महामंत्री (Secretary General) होता है, जिसका चुनाव सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा के द्वारा किया जाता है। नार्वे के श्री ट्रिग्वे ली (Trigvie Lie) को पाँच वर्ष की अवधि के लिए पहिला महामंत्री चुना गया। महामंत्री का काम महासभा और तीनों प्रमुख परिषदों की व्यवस्था करना और उनसे संबंध रखनेवाले भाषणों और वक्तव्यों को शीघ्र से शीघ्र मुद्रण और प्रकाशन करना है। इस काम में उसकी सहायता के लिए उसके पास एक बहुत बड़ा कार्यालय है जिसके द्वारा वह सदस्य राष्ट्रों, संयुक्तराष्ट्र की विभिन्न संस्थाओं और विशिष्ट समितियों और गैर-सरकारी संगठनों से अपना सम्बन्ध रखता है। महामंत्री को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह आवश्यकता पड़ने पर किसी भी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद् का

सचिवालय (Secretariat)

ध्यान आकर्षित कर सके जो उसकी सम्मति में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से खतरनाक हो। महामंत्री को संयुक्त राष्ट्र के कार्मों के सम्बन्ध में एक वार्षिक रिपोर्ट भी तैयार करनी होती है। सचिवालय को काम की दृष्टि से आठ विभिन्न भागों में बाँटा गया है, जिनमें से प्रत्येक का अध्यक्ष एक सहायक महामंत्री (Assistant Secretory General) होता है। सचिवालय के कर्मचारियों के सम्बन्ध में यह अपेक्षा रखी गई है कि वे सभी राष्ट्रों में से लिए जाएँ, यद्यपि भौगोलिक कठिनाइयों के कारण यह सम्भव नहीं हो पाया है। संयुक्त राष्ट्र के कार्यों में सचिवालय का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि विभिन्न राष्ट्रों के द्वारा निर्धारित की गई नीतियों के अनुसार निर्णयों का मसविदा तैयार करना और उन्हें कार्य-रूप देना सचिवालय का ही काम है। सचिवालय केवल सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा के लिए ही नहीं है। संयुक्त राष्ट्र को सभी संस्थाएँ और समितियाँ उसका पूरा उपयोग करती हैं। यद्यपि परिषदों और विशिष्ट समितियों के अपने स्वतन्त्र कार्यालय भी हैं। सचिवालय एक प्रकार से उस सूत्र के समान है जो सभी संस्थाओं को अपने में पिरोए हुए है और जिसके द्वारा वे सब, एक दूसरे से सबद्ध हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख कीजिए।

२—महासभा के कार्यक्षेत्र व अधिकारों का विवरण देते हुए उसका महत्त्व समझाइए।

३—महासभा और सुरक्षा-परिषद् के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए। आप इन दोनों में से किसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था मानते हैं?

४—सुरक्षा-परिषद् में 'बड़े राष्ट्रों' का क्या स्थान है? अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से उसे आप हितकर मानते हैं अथवा अहितकर?

५—आर्थिक और सामाजिक-परिषद् के कार्यों का उल्लेख कीजिए। अपने उद्देश्यों में इसे कहाँ तक सफलता मिली है?

६—संरक्षण-परिषद् की स्थापना किस उद्देश्य से की गई थी? यह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुई है?

७—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संगठन और कार्यों का विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1 Dolphint Louis The United Nations

अध्याय २५

विशिष्ट समितियाँ (specalized agencies)

विशिष्ट समितियां का स्वतन्त्र महत्व

विशिष्ट समितियों (Specialized Agencies) का निर्माण संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपनी एक विशेषता है। लीग ऑफ नेशन्स के समस्त कार्यक्षेत्र पर एक केन्द्रीभूत अनुशासन था, परन्तु उसमें कई कठिनाइयाँ सामने आती थीं, और कई बार ऐसा होता था कि सदस्यों के राग द्वेष और मनोमालिन्य का प्रभाव, जिसका उद्भव राजनीति में होता था उनके सामाजिक और आर्थिक कार्यों पर भी पड़ता था। इस कारण दूसरे महायुद्ध के बाद, जब एक नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया गया तब यह उचित समझा गया कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्नों से सम्बन्ध रखनेवाले क्षेत्रों में काम करने के लिए ऐसी समितियाँ बनाई जाएँ जिनका संचालन विशेषज्ञों के हाथ में हो, राजनीतिज्ञों के नहीं। इन समितियों को संयुक्त राष्ट्रसंघ से स्वतंत्र माना जाए और इनका सदस्य बनने या न बनने की स्वाधीनता प्रत्येक राष्ट्र को हो। इन समितियों का काम निर्णय देना उतना नहीं माना गया जितना सलाह देना और उस सलाह को मानने या न मानने के सम्बन्ध में सदस्य राष्ट्र का पूरा अधिकार स्वीकार कर लिया गया। जहाँ तक संयुक्त राष्ट्र से इन समितियों के सम्बन्ध का प्रश्न है आर्थिक और सामाजिक परिषद् के साथ किए जानेवाले समझौतों के द्वारा वे उससे सम्बद्ध हैं ही, परन्तु अपनी सदस्यता और कार्यविधि में वे संपूर्णतः स्वाधीन भी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय - मजदूर - संगठन (International Labour Organisation) का निर्माण प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ था। तब उसका स्वरूप लीग ऑफ नेशन्स के एक अंग का था। लीग और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की सदस्यता और उसका बजट एक ही थे। उसका उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना था। इस उद्देश्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक व्याख्या दी गई थी जिसमें निम्नलिखित

बातें आती थीं—काम के घण्टों की मर्यादा, बेकारी की रोकथाम, कम से कम मजदूरी नियत करना स्वास्थ्य की देखभाल, बीमारी अथवा चोट लग जाने के कारण बेकार हो जानेवाले मजदूरों को मरक्षण, समागम करने की स्वाधीनता आदि। इन अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सगठन (Intarnational Labour Organisation) मजदूर सगठन को तीन भागों में बाँटा गया था—

(१) साधारण सभा (General Conference)
(२) प्रबंधक-मण्डल (Governing Body) और
(३) अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय (International Labour Office)

साधारण सभा में सभी सदस्य देशों के प्रतिनिधि रहते थे। उनके चुनाव के लिए एक विशेष पद्धति का उपयोग किया गया था। प्रत्येक सदस्य साधारण सभा में अपने चार प्रतिनिधि भेजता था जिनमें से दो सरकार के प्रतिनिधि, एक पूँजीपतियों का प्रतिनिधि और एक मजदूरों का प्रतिनिधि होता था। इन सब प्रतिनिधियों की नियुक्ति उस देश की सरकार ही करती थी परन्तु उससे अपेक्षा यह की जाती थी कि वह उनका चुनाव देश के प्रमुख औद्योगिक सगठनों और मजदूर-संघों के परामर्श से करे, और साधारण सभा को यह भी अधिकार था कि वह ऐसे प्रतिनिधियों को चुनने से इन्कार कर दे जिनके चुनाव के संबंध में उसे आशंका हो कि इस सिद्धांत का पालन नहीं किया गया है।

चुनाव का यही त्रिकोणात्मक-ढंग समितियों के लिए भी चुनाव में लाया जाता था। साधारण सभा बहुमत से जिस निर्णय पर पहुँचती थी उसके सम्बन्ध में सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने देश की धारा-सभाओं के द्वारा उसे जल्दी से जल्दी कार्यान्वित करने का प्रयत्न करेंगे। एक विशेष समिति को यह अधिकार दिया गया कि वह इस बात को देखे कि सदस्य कहाँ तक इस प्रकार के कानूनों को बनाने के संबंध में प्रयत्नशील हैं, और यदि वे प्रयत्नशील न हों तो उन पर दबाव डाला जा सकता था। प्रबंधक-मंडल के ३२ सदस्यों में से १६ विभिन्न सरकारों के, ८ पूँजीपतियों के और ८ मजदूरों के प्रतिनिधि होते थे। उन्हीं देशों को अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था जो औद्योगिक दृष्टि से आगे बढ़े हुए हों। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर कार्यालय जो जेनेवा में स्थित था, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ के सचिवालय का काम करता था।

इसमें कई सौ कर्मचारी थे, जिनमें से अधिकतर विशेषज्ञ व वैज्ञानिक थे। यह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संगठन १६३६ तक काम करता रहा। दूसरे महायुद्ध के समाप्त होने पर इस संस्था ने निश्चय किया कि यह अपना सम्बन्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ से स्थापित कर लेगी और इस दृष्टि से उसने संविधान में आवश्यक परिवर्तन भी कर लिए। तब से यह संयुक्त राष्ट्र की विशिष्ट समितियों में से एक है। इसके सदस्यों की संख्या अब ६४ है और उनका चुनाव अब भी उसी त्रिकोणात्मक पद्धति से होता है जैसे पहले होता था।

खाद्य और कृषि संगठन(Food and Agriculture Organisation)

विशिष्ट समितियों में दूसरी प्रमुख संस्था खाद्य और कृषि सङ्गठन (F. A. O.) है। खाद्य और कृषि की समस्या सामाजिक हित के साथ किस प्रकार सम्बद्ध है, इसका अनुभव दूसरे महायुद्ध में बड़ी तीव्रता के साथ किया गया। १६४२ में, युद्ध के दिनों में ही, अमरीका और इंग्लैंड ने मिल कर एक समिति इस उद्देश्य से बनाई थी कि संयुक्त राष्ट्रों के खाद्य साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग किया जा सके। शान्ति के दिनों में यह उद्देश्य किस प्रकार पूरा किया जा सकता है इसपर विचार करने के लिए अमरीका ने वर्जीनिया राज्य में हौट स्प्रिंग्स नाम के स्थान पर १६४३ के ग्रीष्म में एक खाद्य और कृषि सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में एक आन्तरिक समिति की नियुक्ति की जिसे एक स्थायी सङ्गठन बनाने का काम सौंपा गया। इस समिति की सिफारिशों के आधार पर खाद्य और कृषि सङ्गठन की नींव डाली गई। इस सङ्गठन का उद्देश्य (१) भोजन और जीवन-निर्वाह के स्तरों को ऊँचा उठाना, (२) कृषि-संबंधी उत्पादन और वितरण के साधनों में सुधार करना, (३) इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए दूसरे राष्ट्रों के साथ यथासम्भव सहयोग करना और(४) एक स्थायी सङ्गठन के द्वारा अन्य साथी देशों को इस दिशा में किए जानेवाले काम और उसकी प्रगति के सम्बन्ध में समय-समय पर सूचनाएँ देना। प्रत्येक सदस्य से इन उद्देश्यों को पूरा करने की अपेक्षा की जाती है। इस संस्था के तीन भाग हैं—(१) साधारण सभा (Conference), (२) कार्यकारिणी (Executive Committee) और (३) प्रमुख निर्देशक (Director General) और उनका कार्यालय। सदस्यों की संख्या ६६ है।

प्रत्येक सदस्य साधारण सभा में अपना एक प्रतिनिधि भेजता है। साधारण सभा का काम नीति निर्धारित करना, सदस्यों को सुझाव आदि देना और सरकारों तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के साथ विचार-विमर्श की व्यवस्था करना। कार्यकारिणी का काम साधारण सभा के आदेशों को कार्यान्वित करना है। यह संस्था अपना काम विभिन्न स्थायी सलाहकारी समितियों और अधिकारियों के द्वारा करती है। इसका प्रमुख काम खाद्य सम्बन्धी अन्वेषण, उससे प्राप्त होनेवाले ज्ञान का प्रसार उसके आधार पर सदस्यों को सलाह आदि देना है। कृषि के सुधार के लिए कर्ज आदि प्राप्त करने के सम्बन्ध में भी इस संस्था से सहायता प्राप्त की जा सकती है।

शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्रों में उन्नति को प्रोत्साहन देने के लिए संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (UNESCO) का संगठन किया गया है, युद्ध के दिनों में मित्र राष्ट्रों के मन्त्रियों में शिक्षा के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए प्रायः सम्मेलन होते रहते थे। इनका उद्देश्य शिक्षा के सम्बन्ध में एक सामान्य नीति का विकास करना था। संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र में भी 'शैक्षणिक और सांस्कृतिक सहयोग" का उद्देश्य रखा गया था। उसे प्राप्त करने के लिए 'यूनेस्को' की स्थापना की गई। इसका केंद्रीय कार्यालय पेरिस में रखा गया। शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्रों के अतिरिक्त इस संस्था से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से संबंध रखनेवाले सभी क्षेत्रों में प्रयत्नशील रहे, और विशेषकर जनमत को अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में मोड़ने के लिए समाचार-पत्र, पुस्तकालय, रेडियो, सिनेमा आदि जितने भी साधन हो सकते हैं उन सबका उपयोग करे। अन्य विशिष्ट समितियों के समान 'यूनेस्को' में भी एक साधारण सभा (General Conference), एक कार्यकारिणी (Executive Board) और एक सचिवालय (Secretariat) है। सदस्यों की संख्या ६४ है। साधारण सभा में प्रत्येक सदस्य को पाँच प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है, जिनका चुनाव शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के

संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन (United Nations Educational Scientific and Cultural Organization)

क्षेत्र मे प्रमुख काम करनेवाली सस्थाओं की सहायता से किया जाता है। साधारण सभा का काम नीति निर्धारित करना, सभाएँ करना और सदस्यों को सुझाव अथवा आवश्यक कानूनों के मसविदे तैयार करके देना है। इसके अतिरिक्त वह कार्यकारिणी और प्रमुख निर्देशक (Director General) का चुनाव भी करती है। कार्यकारिणी मे १८ सदस्य होते हैं, जिन्हे तीन वर्ष के लिए चुना जाता है। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने देश मे शिक्षा विज्ञान और सस्कृति के क्षेत्रों मे होनेवाली प्रगति का लेखा जोखा साधारण सभा के सामने प्रस्तुत करे। यह सभा भी अपना काम बहुत सी समितियों के द्वारा करती है।

संयुक्त राष्ट्रीय पुनर्वास और सहायता प्रशासन (United Nations Relief and Rehabilitation Administration) तथा अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी सघ (International Refugee Organisation)

यह सस्था वाशिंगटन मे १९४३ मे स्थापित की गई थी। इस सस्था का उद्देश्य यह था कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त यूरोप और सुदूर पूर्व मे जो देश विमुक्त किए जावें उनके बे घरबार व्यक्तियों को बसाने का प्रबन्ध किया जावे और उनकी आर्थिक सहायता की जावे। इसके कुछ समय उपरान्त इथोपिया, कोरिया फारमोसा, आस्ट्रिया और इटली को भी इसके कार्यक्षेत्र के अन्दर ले लिया गया। इस सगठन ने युद्ध के कारण जो बहुत बडी सख्या मे व्यक्ति बे घरबार हो गए थे और उनके धधे नष्ट हो जाने के कारण वे आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त दयनीय दशा मे पहुँच गये थे उनको बसाने और उनको आर्थिक दृष्टि से स्वावलबी बनाने का प्रशसनीय कार्य किया। जब इस सस्था को स्थापित किया गया था तो यह अनुमान था कि यूरोप मे पुनर्वास का कार्य १९४६ तक और सुदूर पूर्व में १९४७ तक समाप्त हो जावेगा और फिर इस सगठन को बद कर दिया जावेगा। १९४७ मे जब कि इस सगठन की अवधि समाप्त हुई यह प्रतीत हुआ कि बहुत से पिछडे तथा आर्थिक दृष्टि से जर्जर राष्ट्रों

की स्थिति इतनी खराब है कि अभी इस प्रकार की संस्था की अधिक समय के लिए आवश्यकता है। अस्तु इसको समाप्त करके दिसम्बर १९४६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ (International Refugee Organisation) की स्थापना की।

पुनर्वास कार्य के सम्बन्ध में यह जान लेना आवश्यक है कि दिसम्बर १९४९ तक इस संगठन ने लगभग ६० लाख बेघरबार व्यक्तियों को अपने देश में बसाया और उनके कारबार को जमाने के लिए आर्थिक सहायता दी। १९४८ तक इस संगठन ने ३९ राष्ट्रों को एक करोड़ चालीस लाख टन खाद्य पदार्थ तथा अन्य आवश्यक सामग्री भेजी और इस सहायता पर लगभग ३ अरब ७० करोड़ डालर व्यय किए। १९४७ में संयुक्तराज्य अमरीका ने इस संगठन के लिए धन की सहायता देना अस्वीकार कर दिया। संयुक्त राज्य अमरीका ही इस कार्य में सबसे अधिक सहायता देता था इस कारण इस सङ्गठन को समाप्त करना पड़ा। इस सङ्गठन की सेवा कार्य के फलस्वरूप साठ लाख बेघरबार व्यक्तियों को बसाया गया था किन्तु फिर भी लगभग दस लाख ऐसे व्यक्ति बच गए थे जिनके घरबार नहीं था और जिनकी दशा अत्यन्त शोचनीय थी।

अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ ने पिछले वर्षों में ८,६०,००० शरणार्थियों को बसाया। इन सबों को वापस अपनी मातृभूमि में भेज दिया जो कि वहाँ वापस जाना चाहते थे और १५,००,००० शरणार्थियों को अन्य प्रकार की सहायता दी।

भोजन और कृषि संघ (Food and Agriculture Organisation)

इस संघ की स्थापना १९४० के हॉट स्प्रिंग के सम्मेलन में हुई थी। परन्तु वास्तव में अक्टूबर १९४५ में इसकी स्थापना हुई। यह संघ देशों को तत्कालीन सहायता देने का कार्य नहीं करता है वरन् यह भिन्न भिन्न पिछड़े देशों के कृषि की उन्नति करने और उन देशों के भोजन में पौष्टिक तत्व कितने हैं और उनके भोजन में किस प्रकार सुधार किया जा सकता है इस बात का प्रयत्न करता है।

जिस समय इस संघ की स्थापना हुई थी। इससे बहुत अधिक आशा की जाती थी। इस बोर्ड के संचालक सर जाते थे जो कि इस विषय के माने हुए विशेषज्ञ थे। संचालक ने इस संघ का एक विस्तृत

कार्यक्रम बनाया जिससे कि संसार भर में पौष्टिक तत्त्वों का स्तर ऊँचा उठाया जा सके। इस प्रस्ताव का आरम्भ में संयुक्तराज्य अमरीका तथा खाद्य-पदार्थ उत्पन्न करनेवाले देशों ने गहरा स्वागत किया। प्रस्ताव यह था कि एक वर्ल्ड फुड-बोर्ड स्थापित किया जावे जिसको इस बात के लिए विस्तृत अधिकार दिए जावें कि वह खाद्य-पदार्थों की संसार के भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में पैदावार को बढ़ाये और उत्पादक देशों और उपभोग करनेवाले देशों के हितों को ध्यान में रखकर एक न्यायोचित कीमत निर्धारित कर दे और उसको स्थिर बनाने का प्रयत्न करे। इसके लिए वर्ल्ड फुड बोर्ड की अधीनता में "कमोडिटी काउन्सिलों" की स्थापना पर बल दिया गया था जिन पर खाद्य पदार्थ निर्यात और आयात करनेवाले देशोंका प्रतिनिधित्व हो। संघ के पास इतने साधन आवश्यक थे कि यदि किसी वर्ष संसार में आवश्यकता से अधिक खाद्य पदार्थ उत्पन्न हो गए हों तो उनको खरीद कर भर ले जिनका उपयोग उन वर्षों में किया जावे जब कि फसलें नष्ट हो जावें अथवा पैदावार आवश्यकता से कम हो। इस "सुरक्षा भण्डार" को रखने के लिए जितने अर्थ की आवश्यकता हो उसे संसार के सभी राष्ट्र दें और उसका नियन्त्रण सभी राष्ट्रों के द्वारा किया जावे। इसके अतिरिक्त प्रस्तावित योजना में इस बात का भी उल्लेख था कि जिन देशों को पदार्थों की फसल नष्ट हो जाने के कारण विशेष आवश्यकता हो उन्हें विशेष रियायती कीमत पर खाद्य-पदार्थ दिए जावें।

आरम्भ में तो ऐसा प्रतीत हुआ कि संयुक्तराज्य अमरीका तथा अन्य देश इस योजना का स्वागत करते हैं और उसके पक्ष में हैं। परंतु १९४६ में संयुक्तराज्य अमरीका में अनियन्त्रित अर्थनीति के पक्ष में बहुमत हो जाने से अमरीका का इस योजना के प्रति रुख बदल गया। इसका कारण यह था कि इस योजना के अन्तर्गत राज्यका आर्थिक जीवन में बहुत अधिक हस्तक्षेप बढ़ जाने की संभावना थी, दूसरे संयुक्त-राज्य अमरीका को ही इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए अधिकतर अर्थ प्रबन्ध करना होगा। अस्तु संयुक्त राज्य अमरीका ने इस योजना को अस्वीकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि अन्य राष्ट्रों का यह उत्साह मन्द हो गया।

अतएव जनवरी १९४७ में एक नवीन योजना बनाई गई जो पहली योजना से बहुत भिन्न थी। इस योजना में खाद्य-पदार्थों के सुरक्षा-

भण्डार को खरीदने और रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के विचार को छोड़ दिया गया। इसके स्थान पर प्रत्येक खाद्य-पदार्थ निर्यात करने-वाले देश के ऊपर यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि यह जब संसार में खाद्य-पदार्थों की कीमतें एक स्तर के नीचे जाने लगें तो अतिरिक्त स्टाक को स्वयं खरीद कर रख लें और जब कि संसार में खाद्य-पदार्थों की कमी अनुभव हो तो फिर उस स्टाक में से बेच दें। कमीवाले क्षेत्रों को खास रियायती कीमतों पर इस सुरक्षित भण्डार में से खाद्यान्न बेचा जावे। परन्तु इसमें यह शर्त ब्रिटेन के प्रतिनिधि के कहने पर रख दी गई कि जो राष्ट्र नियमित रूप से खाद्य पदार्थ मँगाते हैं उनसे इस घाटे को पूरा करने के लिए ऊँची कीमत न ली जावे।

इस सब के द्वारा भिन्न भिन्न पिछड़े राष्ट्रों में खेती की उन्नति के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं और वहाँ के भोजन में पौष्टिक तत्त्वों को किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है इस दृष्टि से अनुसन्धान किया जा रहा है। यह संगठन कृषि के सम्बन्ध में अनुसन्धान भी करता है। पशुओं और पौधों की बीमारी से रक्षा करने के लिए उपाय ढूँढ़ता । भूमि के कटाव को रोकने के लिए, बाढ़ों को रोकने के लिए तथा वनों की रक्षा करने में सदस्य राष्ट्रों की सहायता करता है।

जुलाई १९४४ में संयुक्त राज्य अमरीका में ब्रेटन वुडस नामक स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य सम्मेलन हुआ जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय द्रव्य-कोष तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अन्तर्राष्ट्रीय बैंक स्थापना का निश्चय हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति उसके पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाना है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास के लिए उन्हें ऋण देगा और अन्य देशों द्वारा दिए गए ऋण की गारण्टी देगा। इस प्रकार सदस्य राष्ट्रों के औद्योगिक विकास के पूँजी की व्यवस्था करेगा। यही इसका मुख्य कार्य होगा।

साधारणतः जब कोई सदस्य-राष्ट्र अपने प्राकृतिक साधनों का औद्योगिक उन्नति के लिए उपयोग करना चाहेगा और आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए पूँजी चाहेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय बैंक को अपनी योजना बनलाकर या तो बैंक से सीधा ऋण प्राप्त करेगा अथवा बैंक उस ऋण की गारंटी दे

देगा और वह सदस्य-राष्ट्र संसार के प्रमुख द्रव्य बाजारों में ऋण प्राप्त करने की व्यवस्था करेगा। यद्यपि सिद्धान्ततः अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारण्टी भी कर सकता है परन्तु व्यवहार में अभी तक बैंक ने सदस्य राष्ट्रों को सीधा ऋण दिया है।

किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ऋण की गारंटी तभी करेगा या स्वयं ऋण तभी देगा जब वह उस योजना की जाँच कर लेगा और ऋण लेनेवाले देश की अदायगी की जाँच कर लेगा। साथ ही वह ऋण लेनेवाले देश के केंद्रीय बैंक या सरकार से उस ऋण की अदायगी की गारंटी ले लेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की अधिकृत पूँजी १० अरब डालर है। प्रत्येक राष्ट्र को इस पूँजी मे हिस्सा दिया गया है जिसका केवल २० प्रतिशत ही सदस्य राष्ट्रों ने चुकाया है, शेष ८० प्रतिशत सुरक्षित गारटी के तौर पर है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इससे ही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की सदस्य राष्ट्रों को ऋण देने की शक्ति सीमित हो जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय बैंक आवश्यकता पड़ने पर ससार के द्रव्य बाजार (Money Market) में अपने बौंड (ऋण पत्र) बेचकर धन प्राप्त कर सकता है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की ऋण देने की शक्ति केवल उसकी पूँजी से ही सीमित नहीं है। १६५३ तक बैंक ने ७५६,७६,३५२ डालर के बौंड बेचे थे।

१६५३ तक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने कुल एक अरब ५६ करोड़ १० लाख डालर के ऋण २६ सदस्य राष्ट्रों को दिए।

सदस्य-राष्ट्रों के आर्थिक विकास की योजनाओं के लिए ऋण देने के अतिरिक्त बैंक सदस्य राष्ट्रों को अपने आर्थिक साधनों की उन्नति करने के लिए परामर्श भी देता है जो राष्ट्र बैंक की इस दिशा मे सहायता चाहता है उसकी आर्थिक जाँच के लिए सर्वे मिशन भेजता है और उस देश की आर्थिक जाँच करवाता है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष समस्या के बारे मे भी बैंक सदस्य-राष्ट्रों को सलाह देता है। जिन योजनाओं के लिए बैंक ऋण देता है उनके बारे मे टैकनिकल सलाह बैंक के विशेषज्ञ सदस्य राष्ट्रों को देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक अपने से संबन्धित एक अन्तर्राष्ट्रीय फाइनैंस कारपोरेशन स्थापित कर रहा है। बात यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय बैंक किसी भी देश के व्यक्तिगत उद्योग धंधे को इसी दशा मे ऋण दे सकता है कि

जब उस देश की सरकार उसकी गारंटी दे। अन्तर्राष्ट्रीय फाइनेंस कारपोरेशन व्यक्तिगत उद्योग धंधों को बिना सरकार की गारंटी दे सकेगी। परन्तु अभी पूँजी के अभाव में इसकी स्थापना नहीं हो पा रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने फ्रांस बेलजियम, डेनमार्क, हालैंड, लक्समबर्ग, यूरोपीय देशों को महायुद्ध के विनाश के उपरान्त अपना आर्थिक पुन निर्माण करने के लिए ऋण दिए हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण अमेरिका के देशों को बिजली, कृषि और यातायात की उन्नति के लिए ऋण दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रीका को भी रेलों के विस्तार तथा बिजली उत्पन्न करने के लिए ऋण दिए गए हैं।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अभी तक पाँच ऋण मिल चुके हैं। पहला ऋण ३ करोड़ ४० लाख डालर रेलवे एञ्जिन तथा अन्य रेलवे सामग्री खरीदने को लिया गया था (अगस्त १९४९), दूसरा ऋण कृषि की उन्नति के लिए ट्रैक्टर तथा कृषि यन्त्रों को खरीदने के लिए (एक करोड़ डालर) लिया गया।

तीसरा ऋण (एक करोड़ ८५ लाख डालर) दामोदर घाटी योजना के द्वारा जल-विद्युत् उत्पन्न करने के लिए लिया गया।

चौथा ऋण स्टील के उत्पादन को बढ़ाने के लिए इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी को भारत-सरकार की गारण्टी पर दिया गया। यह ऋण ३ करोड़ १५ लाख डालर का था।

पाँचवाँ ऋण दामोदर घाटी योजना के द्वारा जल विद्युत् उत्पन्न करने और बाढ़ का नियन्त्रण करने के लिए दिया गया। यह ऋण १ करोड़ ६५ लाख डालर का था।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो जावेगा कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से अपना आर्थिक निर्माण करने के लिए समुचित सहायता मिल रही है।

संयुक्त राष्ट्रीय बालक सहायता कोष (United Nations International Childrens Emergency Fund)

संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल एसेम्बली ने इस कोष की ११ दिसम्बर १९४६ को स्थापना की। इसका एकमात्र उद्देश्य बालकों की सहायता

करना था। इस संस्था का उस भयंकर स्थिति में जन्म हुआ कि जब इसकी बहुत बड़ी आवश्यकता थी। यूरोप और एशिया के देशों की स्थिति महायुद्ध के कारण अत्यन्त जर्जर और भयावह हो उठी थी विशेषकर बच्चों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। उसी समय संयुक्त राष्ट्र सहायता और पुनर्वास प्रशासन (यूनाइटेड नेशन्स रिलीफ एण्ड रिहैबीलिटेशन एण्ड मिनिस्ट्रेशन) को समाप्त किया जा रहा था उस समय बच्चों की सहायता के लिए इस संस्था को जनरल एसेम्बली ने स्थापित किया।

इस संस्था का उद्देश्य पहले तो उन देशों के बच्चों को सहायता देना था जिनकी स्थिति युद्ध के कारण भयावह हो गई थी और जिन पर शत्रु का आक्रमण हुआ था। इसके उपरान्त इस संस्था का उद्देश्य संसार के पिछड़े और निर्धन देशों में बच्चों के स्वास्थ्य की उन्नति करना था।

दिसम्बर १९५० में इस संस्था का मुख्य कार्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में बच्चों के स्वास्थ्य का सुधार करना निश्चित हुआ और तब से यह संस्था बच्चों की सहायता करने का प्रशंसनीय कार्य कर रही है।

इस समय इस संस्था के द्वारा अमरीका, एशिया, पूर्वीय भूमध्यसागर के प्रदेश तथा यूरोप के वे देश जो युद्ध के कारण क्षत विक्षत हो गए हैं, उनके बच्चों के स्वास्थ्य-सुधार का कार्य हो रहा है। भारत में भी इस संस्था के द्वारा कार्य किया जा रहा है।

यह कोष अपने कार्य क्षेत्र में स्कूलों के बच्चों को पौष्टिक भोजन, दूध इत्यादि देने का प्रयत्न करता है। अस्पतालों में माताओं और नवजात शिशुओं को उचित भोजन और दूध इत्यादि की व्यवस्था करता है। बच्चों के स्वास्थ्य को ठीक रखने के उद्देश्य से क्लिनिक स्थापित करता है जहाँ माताएँ बच्चों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध से डाक्टरों से परामर्श करती हैं और दवा कराती हैं। इस कोष के विशेषज्ञ इन देशों में जाकर अनाथालयों, स्कूलों बालक स्वास्थ्य केन्द्रों, औषधालयों, सैनिटोरियमों तथा अन्य संस्थाओं द्वारा बच्चों की सेवा करते हैं। यह संस्था बच्चा पैदा करानेवाली नर्सों को शिक्षा देती है, बच्चों का लालन पालन किस प्रकार करना चाहिए इसकी जानकारी का प्रचार करती है, बच्चों के

रोगों को रोकने का उपाय करती है। अब विशेषकर यह संस्था गाँवों के तथा निर्धन परिवारों के बच्चों की ओर अधिक ध्यान दे रही है।

भारत में इस संस्था ने अब तक ५० लाख डालर से अधिक व्यय किया है। इसमें मुख्यत: दूध बाँटने पर, तथा मलेरिया और क्षय को रोकने के लिए डी० डी० टी० और बी० सी० जी० आन्दोलन पर तथा पेंसिलीन तथा डी०डी०टी० उत्पादन में सहायता देने पर व्यय हुआ है।

ऊपर जिन विशिष्ट समितियों का उल्लेख किया गया है वे सभी अपने-अपने क्षेत्रों में काफी उपयोगी काम कर रही हैं। उनके सगठन का आधार प्राय: एक सा ही है। प्रत्येक में एक साधारण सभा, एक कार्यकारिणी और मुख्य निर्देशक द्वारा सचालित सचिवालय है। इन सभी संस्थाओं का अस्तित्व आर्थिक और सामाजिक परिषद् के साथ समय-समय पर होनेवाले समझौतों के द्वारा हुआ है।

संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य और विशिष्ट समितियाँ

संयुक्त राष्ट्र के घोषणा पत्र में इस बात की व्यवस्था की गई है कि आवश्यकता के अनुसार इस प्रकार की विशिष्ट समितियों की सख्या बढ़ाई जा सकेगी। समझौते भी लगभग एक ही प्रकार के हैं। उनमें यह बताया गया है कि संयुक्त राष्ट्र से विशिष्ट समिति का सम्बन्ध क्या है। इन समझौतों के अतिरिक्त दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक सम्बन्धों में संयुक्त राष्ट्र और इन विशिष्ट समितियों की अभिन्नता स्पष्ट होती रहती है। संयुक्त राष्ट्र को अनेक समस्याओं में उलझे रहना पड़ता है। इन समस्याओं के विस्तृत और वैज्ञानिक अध्ययन का वह काम इन समितियों से लेता है। दूसरी ओर समितियों को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विभिन्न देशों की सरकारों की सहायता की आवश्यकता होती है जिसे प्राप्त करने का काम वह महासभा अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ की किसी परिषद के द्वारा कर सकती है। आर्थिक और सामाजिक परिषद से उसका सीधा सम्पर्क रहता ही है, परन्तु सुरक्षा-परिषद और सरक्षण-परिषद से भी सम्पर्क के अवसर आते रहते हैं। संयुक्त राष्ट्र के अतिरिक्त आपस में एक दूसरी से और अन्य गैर-सरकारी संस्थाओं से भी इन समितियों का काम पड़ता रहता है। यह सारा काम सुरुचि और सुन्दरता से, सहयोग और सद्भावना के आधार पर, चलता रहे, इसके लिए नियमों और परम्पराओं का विकास होता जा रहा है, और इसका परिणाम यह

हुआ है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का कार्य एक ऐसे विशाल वटवृक्ष के समान हो गया है जिसकी शाखाएँ और प्रशाखाएँ चारों ओर फैलती जा रही हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—विशिष्ट समितियों का संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बन्ध निर्धारित कीजिए।
२—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन के विधान और कार्यों का उल्लेख कीजिए।
३—संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संगठन के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए और बताइए कि उसे अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में कहाँ तक सफलता मिलती है।
४—खाद्य तथा कृषि-संघ के कार्य क्या हैं ?
५—स्वास्थ्य संघ के उद्देश्य और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
६—अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के उद्देश्य और कार्यों पर प्रकाश डालिए।
७—प्रमुख विशिष्ट समितियों का संक्षिप्त विवरण दीजिए। संयुक्त राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में उनसे कहाँ तक सहायता मिली है ?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Dolivet, Louis : The United Nations
2. Evatt, H. V. The United Nations.
3. Finer, H. The United Nations Economic and Social Council.

अध्याय २६

संयुक्त राष्ट्रसंघ : एक सिंहावलोकन

संयुक्त राष्ट्रसंघ : सफल अथवा असफल

प्रश्न यह है कि परिषदों, समितियों, कमीशन और विशेष संस्थाओं के इस व्यापक समारोह को लेकर पिछले आठ वर्षों से काम में सदा निरत रहनेवाले इस विशाल संयुक्त राष्ट्रसंघ को सफल माना जाए अथवा असफल। संयुक्त राष्ट्र के एक कटु आलोचक ने लिखा है, ''यदि किसी दूसरे नक्षत्र का कोई प्राणी अचानक संयुक्त राष्ट्र के न्यूयार्क-स्थित भवन में आ उतरे तो वह असंख्य व्यक्तियों को एक ऐसे विशाल यन्त्र के पास काम करते हुए देखेगा जिसमें असंख्य पहिए हैं और इन पहियों के भीतर और अनेक पहिए हैं, और उन सबका संचालन करने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यंत्र हैं। उसकी पहली धारणा तो यही बनेगी कि सारा काम बड़े ढंग से चल रहा है परन्तु तब वह अचानक देखेगा कि यंत्रों की खटर-पटर भाप की फुसफुसाहट, घण्टियों की झनझनाहट और कान के पर्दे फाड़ देनेवाली सीटियों की चीख के मारे शोर-गुल के होते हुए भी वह महान् यंत्र बिल्कुल स्थिर गति से अपने स्थान पर ज्यों का त्यों खड़ा है। भीतर के पहियों का बाहर के पहियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ पहिए चल अवश्य रहे हैं, पर वे जमीन पर नहीं हैं। जो पहिए जमीन पर हैं, वे कीचड़ में फँस गए हैं। गाड़ी के आगे बढ़ने के लिए जो पटरियाँ डाली गई थीं वे उखाड़ कर फेंक दी गई हैं। एंजिन के ड्राइवर खलासी और कोयला झोंकनेवाले चीखते और चिल्लाते हुए एक दूसरे को गालियाँ देने और एक दूसरे पर गरम सलाखें और अन्य औजार फेंकने में लगे हुए हैं, और बेतहाशा एक दूसरे का पीछा कर रहे हैं। मुसाफिरों ने गुटबन्दियाँ बनाकर लड़नेवालों को प्रोत्साहित अथवा निरुत्साहित करने का काम अपने हाथ में ले लिया है, वे आपस में गाली-गलौज

कर रहे हैं, और यात्रा और लक्ष्य के सम्बन्ध में उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं।"[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ की यह एक बड़ी आलोचना है। इस आलोचक का विश्वास है कि इस असफलता के दो बड़े कारण हो सकते हैं, और

असफलता के कारण

संयुक्त राष्ट्र के सम्बन्ध मे ये दोनों ही कारण मौजूद हैं। एंजिन भी खराब है, और उसके चलानेवालों मे इच्छा और योग्यता दोनों का ही अभाव है। संगठन की दृष्टि से संयुक्त-राष्ट्र लीग ऑफ नेशन्स का ही एक नया रूप है, और उसकी सब कमियाँ इसमे मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त इस संगठन का सारा आधार इस विश्वास पर रखा गया है कि बड़े राष्ट्रों मे सदा ही सद्भावना और मैत्री रहेगी। जब तक वह मैत्री रही तब तक संयुक्त राष्ट्र से किसी ठोस काम की आशा भी की जा सकती थी, परन्तु बड़े राष्ट्रों में मनोमालिन्य के बढ़ते ही और उसकी प्रच्छन्न चिनगारियों के शीत-युद्ध के रूप मे भभक उठते ही संयुक्त राष्ट्र की असफलता का आरंभ हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि अमरीका और रूस के बढ़ते हुए मनोमालिन्य और उनके बीच चलनेवाले शीत-युद्ध ने संयुक्त-राष्ट्र को बहुत अधिक निर्बल बना दिया है। इस सघर्ष का आरम्भ संयुक्त राष्ट्र के बाहर हुआ और यह अच्छा होता कि उसे संयुक्त राष्ट्र की सीमाओं मे प्रवेश नहीं करने दिया जाता। परंतु यह संभव नहीं हो सका। अमरीका और रूस दोनों ही संयुक्त-राष्ट्र को अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए और राजनीतिक दाँव-पेंचों के अखाड़े के रूप मे काम मे लाना चाहते थे। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र का उपयोग पहले अमरीका और ब्रिटेन ने किया, रूस ने नहीं। परंतु रूस भी उसे अपने प्रचार का माध्यम बनाने के आकर्षण को नहीं रोक सका। इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ दोनों गुटों की राजनीति का एक संघर्ष-स्थल बन गया। इसका स्पष्ट परिणाम यह निकलता है कि किसी भी बड़े संघर्ष को निष्पक्षता के साथ सुलझाने की संयुक्त राष्ट्र की शक्ति कम हो गई है

---

1 Frederick Schuman: International Politics, 4th Edition, pp. 333-334.

और बहुत से लोग यह मानने लगे हैं कि शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए यह अधिक उपयोगी संस्था नहीं है। कुछ लोगों का तो विश्वास है कि अब समय आ गया है जब इस कीमती प्रदर्शन को बन्द कर दिया जाए, जब कि कुछ अन्य लोग यह मानते हैं कि आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना के लिए और विभिन्न राजनीतिक समस्याओं के संबंध में लोकमत तैयार करने के लिए उसका उपयोग किया जा सकता है परन्तु शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह के लिए तो अन्य साधनों का सहारा ही टटोलना होगा।

इसमें संदेह नहीं कि शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र ने अपने आपको एक प्रभावशाली संस्था सिद्ध नहीं किया है परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि इसे तोड़ देना चाहिए वे यह
भूल जाते हैं कि संयुक्त राष्ट्र की स्थापना जहाँ रूस अमरीका और रूस
आधार पर हुई थी कि पाँच बड़े राष्ट्र मिलकर सहानु- की बढ़ती हुई
भूति और सहयोग की भावना में संसार की सम प्रतिस्पर्धा
स्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करेंगे। उसकी स्थापना
का यही एकमात्र कारण नहीं था। उसकी स्थापना तो उस युग की माँग का एक उत्तर है जिसमें पिछले पचास वर्षों से एक ऐसी वैज्ञानिक और यान्त्रिक क्रान्ति का क्रम चलता आ रहा है जिसने भूगोल की सीमाओं को तोड़ दिया है, देशों के आर्थिक जीवन को एक दूसरे के निकट संपर्क में गूँथ दिया है और संस्कृतियों के संपर्क और संघर्षण की गति को शीघ्र बना दिया है, और साथ ही राज्यों की आक्रमण-शक्ति को भी एक भयंकर गति दे दी है। दूसरा महायुद्ध इस महान् क्रान्ति का एक विस्फोट था। उसमें विजयी होनेवाले राष्ट्रों के लिए यह सोचना अनिवार्य था कि उन विषमताओं को दूर करने के लिए, जिनसे उन महायुद्धों की सृष्टि होती है, वे संगठित हों। परन्तु एक संगठन बना लेना ही काफी नहीं था। संगठन तो एक आधार मात्र था जिसके माध्यम से राष्ट्रीय स्वार्थों, आकांक्षाओं, संस्कृतियों और विश्वासों के संघर्ष और अन्तर मिटाए अथवा रोके जा सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र इस मार्ग पर आगे बढ़ना चाहता था परन्तु उसके बनते ही पूर्व और पश्चिम, रूस और अमरीका और उनके साथियों और विचार-धाराओं के बीच जो भयंकर प्रतिस्पर्धा चल पड़ी उसमें संयुक्त राष्ट्र के काम को कठिन बना

दिया। इस कारण से ही उसके कई महत्त्वपूर्ण काम अधूरे रह गये। जर्मनी के साथ अभी भी सधि नहीं की जा सकी है, और जापान के साथ की सधि भी सभी राष्ट्रों के सहयोग से नहीं हो सकी। शस्त्रीकरण की गति कम नहीं हुई है, और भय और आशकाएँ बढ़ती जा रही हैं। कोरिया में युद्ध और अन्य क्षेत्रों मे तनाव अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी के ही परिणाम है। बडे राष्ट्रों मे सहयोग के अभाव का ही यह फल है कि अभी तक सुरक्षा परिषद् न तो अपनी सेनाओं का सगठन कर सकी है और न उसका उपयोग करने की शक्ति उसके पास है। अणुशक्ति के नियत्रण के असफल प्रयत्न और अन्य शस्त्रों के नियन्त्रण और कमी कराने की अक्षमता सयुक्त राष्ट्र की अक्षमता के प्रतीक हैं। सच तो यह है कि अमरीका और रूस की प्रतिस्पर्धा का प्रभाव केवल राजनीतिक कार्यों पर ही नहीं पडा है परन्तु आर्थिक पुनर्निर्माण और विकास के काम को भी इसने नुकसान पहुँचाया।

परन्तु हमें यह नहीं सोच लेना चाहिए कि पिछले आठ वर्षों मे ससार की प्रमुख समस्याएँ केवल राजनीतिक ही रही है। इन वर्षों मे कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई है और उन्होंने केवल राजनीतिक ही नहीं ऐसी आर्थिक और सामाजिक समस्याओं को जन्म दिया है जिन्हें सयुक्त राष्ट्र के कार्यक्षेत्र के बाहर नहीं माना जा सकता। इस छोटे से समय मे ससार के बहुत से राष्ट्रों ने स्वाधीनता प्राप्त की जिनमे हिन्दुस्तान, पाकिस्तान बर्मा, सीलोन, इडोनेशिया और फिलीपीन मुख्य हैं, और बहुत से अन्य देशों मे, मलाया और हिन्द चीन, मोरक्को और ट्युनीसिया, केनिया और ब्रिटिश गायना मे स्वाधीनता के सघर्ष सफलता के क्षितिज का स्पर्श करते हुए दिखाई दे रहे हैं। निकट भूतकाल मे, अथवा निकट भविष्य मे, स्वाधीनता प्राप्त करनेवाले इन देशों के अतिरिक्त और भी ऐसे असख्य देश हैं जो आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछडे हुए हैं और जिन्हें यदि सहारा देकर ऊपर न उठाया गया तो थोडे से समृद्ध देशों की शक्ति व सुरक्षा को वे आसानी से खतरे में डाल सकते है। उन्हें सहारा देने के इस काम को सयुक्त राष्ट्र के द्वारा किया जा सकता है और किया जा रहा है।

सयुक्त राष्ट्र का विस्तृत कार्य क्षेत्र

राजनीतिक प्रश्नों को ही लें तो भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के द्वारा सफलतापूर्वक सुलझाए जानेवाले कामों की सूची निराशाजनक नहीं है। यह सच है कि अमरीका और रूस के संघर्ष को मिटाने की क्षमता संयुक्त राष्ट्र में नहीं है, और न इन दो सीमराय राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रों के बीच युद्ध को रोक देने के लिए उसका जन्म उसकी सफलताएँ ही हुआ था। परन्तु इस बड़े प्रश्न को—जिसके भयंकर परिणामों के महत्त्व को कम करके दिखाना हमारा उद्देश्य नहीं है—थोड़ी देर के लिए अलग रख दिया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि अन्तर्राष्ट्रीय संधियों में प्रश्न को छोड़कर, पिछले आठ वर्षों में उठनेवाले संसार के सभी राजनीतिक प्रश्न संयुक्त-राष्ट्र के सामने आए और इन्हें सुलझाने में एक हद तक उसे सफलता भी मिली।

सुरक्षा परिषद् के सामने सबसे पहले जो प्रश्न आए वे लेबनॉन और सीरिया में अंग्रेज और फ्रांसीसी फौजों की उपस्थिति और ईरान में सोवियत फौजों के द्वारा हस्तक्षेप से सम्बन्ध रखते थे। इन प्रश्नों पर सुरक्षा-परिषद् के द्वारा विचार किए जाने का परिणाम यह निकला कि लेबनॉन और सीरिया से अंग्रेज और फ्रांसीसी और ईरान से रूसी फौजें हटा ली गईं। इसके बाद ही इंडोनेशिया का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र के सामने आया। बातचीत के द्वारा इस प्रश्न को सुलझाने और इंडोनेशिया की स्वाधीनता को हॉलैंड के द्वारा स्वीकार किए जाने में संयुक्त राष्ट्र का बहुत बड़ा हाथ था। यूनान के उत्तरी देशों पर संयुक्त राष्ट्र ने यदि कड़ी दृष्टि न रखी होती तो यह बहुत संभव था कि रूस की सेनाएँ वहाँ हस्तक्षेप करतीं और उसके कारण एक विस्फोटपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति उत्पन्न हो जाती। फिलस्तीन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों में जो एक दीर्घकालीन संघर्ष चला आ रहा था उसे सुलझाने और इजरायल के स्वतंत्र राज्य का निर्माण करने का श्रेय भी संयुक्त राष्ट्र को ही प्राप्त है। इसमें संदेह नहीं कि आज भी पश्चिमी एशिया के देशों की स्थिति खतरे से खाली नहीं है परन्तु फिलस्तीन की समस्या का भी यदि निपटारा न हुआ होता तो स्थिति के और बिगड़ जाने की सम्भावना थी। कोरिया की एकता और स्वाधीनता का प्रश्न प्रारम्भ से ही संयुक्त राष्ट्र के सामने रहा है। संयुक्त राष्ट्र उसके सुलझाने के प्रयत्नों में लगा हुआ ही था कि १९५० के ग्रीष्म में उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के बीच

युद्ध आरम्भ हो गया। तब संयुक्त राष्ट्र ने, अपने तत्त्वावधान में पहली बार एक सेना का सगठन करके, उत्तरी कोरिया के आक्रमण को पीछे धकेल दिया। चीन के हस्तक्षेप के कारण परिस्थिति एक बार फिर जटिल हो गई परन्तु संयुक्त राष्ट्र में किए जानेवाले प्रयत्नों के फलस्वरूप युद्ध बन्द किया जा सका और स्थायी शान्ति के प्रयत्न आरम्भ किए जा सके। कोरिया के समान ही काश्मीर की समस्या का भी संयुक्त राष्ट्र के हस्तक्षेप का ही यह फल था कि युद्ध स्थगित किया जा सका। बर्लिन की घेराबन्दी और इटली के पुराने उपनिवेशों के प्रश्नों के सम्बन्ध में भी संयुक्त राष्ट्र के प्रयत्न सफल रहे। लीबिया की स्वाधीनता सोमालीलैंण्ड को दस वर्ष के सरक्षण के बाद स्वाधीनता दिए जाने का आश्वासन और इरीट्रिया का इथोपिया के संघ के अन्तर्गत एक स्वयं-शासित राष्ट्र बनाया जाना भी संयुक्त राष्ट्र के प्रयत्नों का परिणाम ही था।

और सफलताएँ

ऊपर जितने कामों का उल्लेख किया गया है वे सब राजनीतिक कार्यों की श्रेणी में ही आते हैं, और इन सभी में संयुक्त-राष्ट्र को अधिक अथवा कम सफलता मिली है। यह सच है कि कोई महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों को सुलझाने मे सयुक्त राष्ट्र असफल भी रहा है। ट्रिएस्ट सम्बन्धी उसका निर्णय संतोषजनक नहीं माना जा सकता। ब्रिटेन और मिस्र का झगड़ा अभी भी चल रहा है। परन्तु इस सम्बन्ध मे सबसे बडा प्रश्न चीन को मान्यता दिए जाने का है। चीन से क्युओमिन्तांग के भ्रष्ट शासन को उखाड़ फेंका गया है और माओत्सेतुंग के नेतृत्व मे संगठित किए गए साम्यवादी चीन को देश की समस्त जनता का सम्पूर्ण सहयोग और विश्वास प्राप्त है। परन्तु चीन को अभी तक संयुक्त राष्ट्र मे स्थान नहीं दिया गया है।

परन्तु इन सब असफलताओं के होते हुए भी यह एक निर्विवाद तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा अब इतनी बढ़ गई है कि सभी राष्ट्र यह मानने लगे हैं कि उनके आपसी मतभेद और झगड़े की सभी समस्याओं का संयुक्त राष्ट्र के सामने लाया जाना आवश्यक है। प्रायः यह देखा गया है कि ऐसे झगड़े भी, जिनका महत्त्व

केवल स्थानीय होता है, संयुक्त राष्ट्र के सामने रखे गए हैं। इसके पीछे जहाँ एक ओर यह उद्देश्य रहता है कि इन झगड़ों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत का निर्माण किया जा सके दूसरी ओर इसके पीछे हम यह विश्वास भी छिपा हुआ पाते हैं कि आज की दुनिया में सभी देश एक दूसरे पर इतने निर्भर हो गए हैं कि कोई समस्या, चाहे आरम्भ में उसका स्वरूप स्थानीय ही क्यों न हो, अन्तर्राष्ट्रीय कलह का कारण बन सकती है। दूसरी बात हम यह देखते हैं कि सुरक्षा परिषद् के बड़े सदस्यों में तीव्र मतभेदों के होते हुए भी संयुक्त राष्ट्र बहुत से गम्भीर प्रश्नों को सुलझाने में सफल हुआ है और जहाँ युद्ध के कारणों को दूर नहीं किया जा सका है वहाँ भी युद्ध को रोक देने में तो वह सफल हुआ ही है। जिन समस्याओं के संबंध में संयुक्त राष्ट्र किसी भी प्रकार का समाधान नहीं दे सका है उनके सम्बन्ध में भी तो यह मानना ही पड़ेगा कि संयुक्त राष्ट्र के बाहर भी उन प्रश्नों का कोई उचित समाधान नहीं मिल सका है। तीसरी बात हमें यह दिखाई देती है कि अब लगभग सभी देश इस बात को मानने लगे हैं कि यदि किसी भी देश में युद्ध छिड़ जाए तो उसे रोकना सभी देशों का कर्त्तव्य हो जाता है। कोरिया इस तथ्य की सचाई का ज्वलन्त उदाहरण है। वहाँ, संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में लड़े जानेवाले युद्ध में, ऐसे देशों ने भी भाग लिया जिनका कोरिया से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। चौथी और अन्तिम बात इस सम्बन्ध में यह कही जा सकती है कि विश्व शांति के उद्देश्य से सुरक्षा के साधनों का सामूहिक संगठन करने में भविष्य में संयुक्त राष्ट्र को और भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मिलने की आशा है। इस आशा का मुख्य आधार यह है कि कोरिया की घटना के बाद से, जिसमें सुरक्षा परिषद् ने सशस्त्र हस्तक्षेप करने का निश्चय किया, राष्ट्रों को धीरे-धीरे यह विश्वास होने लगा है कि उन्हें, सुरक्षा की दृष्टि से, अपनी सेनाओं अथवा प्रादेशिक समझौतों पर निर्भर रहने की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी संयुक्त राष्ट्र के सामूहिक प्रयत्नों पर।

संयुक्त राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

परन्तु, संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों का संबंध राजनीति के अतिरिक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों से भी है। सदस्य देशों की आर्थिक और सामाजिक प्रगति, सभी देशों की जनता को समान नागरिक अधिकार

और राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने मे सहायता पहुँचाना, मानवी अधिकारों और बुनियादी स्वतंत्रताओं के प्रति आदर-भाव का निर्माण करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास, इन सभी क्षेत्रों मे संयुक्त राष्ट्र को अभूतपूर्व सफलता मिली है। यह सच है कि पिछड़े हुए देशों को आर्थिक सहायता पहुँचाने का काम आज भी संयुक्त राष्ट्र के बाहर बहुत अधिक किया जा रहा है, परन्तु संयुक्त राष्ट्र भी इस दिशा मे कुछ कम प्रयत्नशील नहीं है। आर्थिक और सामाजिक परिषद्, उसके अनेक कमीशन और एक दर्जन से अधिक विशेष समितियाँ नियमित रूप मे इस काम मे लगी हुई हैं। इसके अतिरिक्त अस्थायी समितियाँ भी बहुत-सा काम करती हैं। आर्थिक विकास सामाजिक हित और नागरिक प्रशासन के कार्यों मे 'टेकनिकल' सहायता पहुँचाने में संयुक्त राष्ट्र का बहुत बड़ा भाग रहा है। इन सभी योजनाओं का उद्देश्य विभिन्न देशों को अपने आर्थिक साधनों के विकास मे सहायता पहुँचाना है, आर्थिक विकास के अतिरिक्त स्वास्थ्य, शिक्षा और समाज सुधार की अनेकों योजनाओं को आगे बढ़ाने में भी संयुक्त राष्ट्र की इन संस्थाओं ने विशेष भाग लिया है। मानवी अधिकारों का घोषणा-पत्र (Universal Declaration of Human Rights) सभी देशों की जनता के लिए आशा और प्रगति का एक महान् प्रकाश-स्तम्भ है। उसके उद्देश्यों को विभिन्न देशों के संविधानों मे समन्वित किए जाने का प्रयत्न चल रहा है। पराधीन देशों को आत्म निर्णय और स्वाधीनता की ओर आगे बढ़ाने मे संरक्षण-व्यवस्था (Trusteeship System) का बहुत बड़ा हाथ रहा है और जो पराधीन देश उसके कार्य-क्षेत्र से बाहर हैं उनके सम्बन्ध मे भी इस बात पर जोर दिया जा रहा है कि उनके शासन के सम्बन्ध मे नियंत्रित सूचनाएँ समय-समय पर महासभा के सामने रखी जा सकें। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत का निर्माण करने की दृष्टि से इन सूचनाओं और उनके संबंध में किए जानेवाले विचार-विमर्श का बड़ा महत्त्व है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून (International Law) के विकास की दृष्टि से भी संयुक्त राष्ट्र का काम बहुत ही प्रशंसनीय रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice) की उपयोगिता और प्रतिष्ठा पिछले आठ वर्षों में लगातार बढ़ती गई है। यह सच है कि संयुक्त

अन्य राजनीतिक कार्यों का विवरण

राष्ट्र में यदि बड़े राष्ट्रों का पारस्परिक सहयोग होता तो राजनीतिक और अराजनीतिक सभी क्षेत्रों में उसकी उपयोगिता बहुत अधिक बढ़ गई होती परन्तु इस सहयोग के अभाव में भी संयुक्त राष्ट्र ने पिछले वर्षों में जो काम किया है वह उपेक्षणीय नहीं है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इसके बढ़ते हुए संगठन और कार्य-क्षेत्र के साथ उसके कार्य की गति भी बढ़ती गई है और यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई अचानक और अप्रत्याशित विस्फोट न हुआ तो भविष्य में केवल शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से ही परन्तु आर्थिक न्याय और सामाजिक समानता के उन आदर्शों को प्राप्त करने की दृष्टि से भी, जिनके आधार पर ही शांति और सुरक्षा का प्रासाद खड़ा किया जा सकेगा, संयुक्त राष्ट्रसंघ को भी अधिक से अधिक सफलता प्राप्त हो सकेगी।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्त राष्ट्रसंघ को आप सफल मानते हैं अथवा असफल ? उसकी असफलताओं के कारणों का उल्लेख कीजिए। अमरीका और रूस की बढ़ती हुई प्रतिस्पर्धा का कहाँ तक उस पर प्रभाव पड़ा ?

२—संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में अब तक जिन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाया जा सका है उनका संक्षिप्त विवरण दीजिए। साथ ही उन समस्याओं का भी उल्लेख कीजिए जिन्हें संयुक्त राष्ट्र सुलझाने में असमर्थ रहा है।

३—संयुक्त राष्ट्रसंघ को राजनीतिक कार्यों से अधिक सफलता अराजनीतिक कार्यों में मिली है। इसकी विवेचना करते हुए कारणों का उल्लेख कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Eagleton, Clyde : International Government.
2. Bentwich and Martin : A Commentary on the Charter of the United Nations.
3. Goodrich, L. M. and E. Hambro : Charte of the United Nations : Commentary and Documents

अध्याय २७

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा (पिछड़े हुए राष्ट्रों का विकसित करने के कार्य)

आज ससार मे सघर्ष की घटाएँ छाई हुई हैं और प्रत्येक दिन भय और शका के वातावरण से निकल रहा है। अभी कुछ समय हुआ ससार द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका से निकला है और फिर अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी आरम्भ हो गई है। शीत-युद्ध तो चल ही रहा है और रक्त-युद्ध कब आरम्भ हो जावे इस सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि बहुत से लोग संयुक्त राष्ट्रसघ की सफलता पर सन्देह करने लगते हैं। परन्तु राष्ट्रसघ पिछड़े तथा निर्धन राष्ट्रों की उन्नति करने, उनके रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा करने का जो प्रशसनीय कार्य कर रहा है और उस कार्य मे जो सद्भावना और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग मिल रहा है वह आज के अधकार मे एकमात्र प्रकाश की रेखा है। आज सयुक्त राष्ट्रसघ का यह कार्य सर्वसाधारण के ध्यान को अधिक आकर्षित नहीं कर पा रहा है परन्तु इसके द्वारा ससार के विभिन्न राष्ट्रों मे सद्भावना और प्रेम उत्पन्न होगा इसमे तनिक भी सन्देह नहीं है। अब हम यहाँ उन अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नों का सक्षिप्त परिचय देंगे कि जिनके द्वारा पिछड़े और निर्धन राष्ट्रों को उन्नत बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है।

पिछड़े हुए राष्ट्रों का विकसित करने के कार्य

इस सङ्गठन में ६६ राष्ट्र सम्मिलित हैं जो कि इसको आर्थिक सहायता देते हैं। इस सङ्गठन के विशेषज्ञ और कार्यकर्ता सच्चे अर्थों मे अन्तर्राष्ट्रीय हैं क्योंकि वे भिन्न भिन्न देशों के हैं। इस सगठन के पास लगभग दो हजार विशेषज्ञ हैं जो कि भिन्न भिन्न ६४ राष्ट्रों के नागरिक हैं। समस्त ससार उनका कार्यक्षेत्र है। १९५२ मे इस सङ्गठन के कार्यकर्त्ता ८७ देशों में सेवा-कार्य कर रहे थे और उन पिछड़े हुए प्रदेशों को उन्नत करने का प्रयत्न कर रहे थे।

संयुक्त राष्ट्रीय टेकनिकल सहायता कार्यक्रम

ये कार्यकर्ता घने जंगलों में, पहाड़ी प्रदेशों में, आज प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं। ये विशेषज्ञ संगठन की ओर से कहीं नहीं भेजे जाते। वरन वे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्र जो कि आज रोगों से युद्ध कर रहे हैं या कि खनी तथा उद्योग धन्धों की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं जब कि इन विशेषज्ञों को संगठन से माँगते हैं तो यह संगठन अपने विशेषज्ञों को उस देश की सेवा करने के लिए भेजता है। ये विशेषज्ञ इन देशों को अपनी समस्याओं को हल करने में सहायता देते हैं।

यद्यपि यह कार्यक्रम अभी प्रारम्भिक स्थिति में है और इसकी सफलता के लिए कोई लम्बा-चौड़ा दावा नहीं किया जा सकता परन्तु इस कार्यक्रम में, इस शताब्दी की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सामूहिक प्रयत्नों के बीज छिपे हुए हैं। श्री आरनल्ड टायनबी ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि "इतिहास इस युग को उन भयंकर युद्धों के लिए याद नहीं करेगा कि जिनमें असंख्य व्यक्तियों का संहार हुआ है परन्तु इसलिए याद करेगा कि इस काल में प्रथम बार मनुष्य जाति ने इस बात का विश्वास करने का साहस किया कि विज्ञान और सभ्यता के लाभों में पिछड़े देश भी हिस्सा बँटा सकते हैं। इस दृष्टि से इस कार्य का बहुत अधिक महत्त्व है।

यह कार्यक्रम इस बात का प्रतीक है कि जो राष्ट्र आज समृद्धिशाली और उन्नत हैं वे इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि उन्हें अपना ज्ञान और शिल्पकला तथा वैज्ञानिक खोज को उन पिछड़े और निर्धन राष्ट्रों में भी बाँटना चाहिए कि जो आज अपनी समस्याओं को हल करने के लिए प्रयत्नशील हैं। समृद्धिशाली राष्ट्र आज यह अनुभव करते हैं कि पिछड़े और निर्धन राष्ट्रों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना उनके स्वयं के हित में है। इस कार्यक्रम को चलाने के लिए ६० उन्नत और समृद्धिशाली राष्ट्रों ने विशेषज्ञ तथा अर्थ देकर सहायता दी है।

इसके साथ ही जो भौतिक दृष्टि से पिछड़े तथा निर्धन ६७ राष्ट्रों ने इस संगठन से विशेषज्ञों को माँगा है वह इस बात का प्रतीक है कि उन्हें इन विदेशी विशेषज्ञों से कोई भय और शंका नहीं है। नहीं तो पिछड़े हुए राष्ट्रों में विदेशी विशेषज्ञों से बहुत भय और शंका रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि पिछड़े हुए राष्ट्रों को यह भरोसा है कि इन विदेशी

विशेषज्ञों का ध्येय उस देश पर अपना राजनैतिक प्रभाव स्थापित करना नहीं है वरन् उस देश को अपनी समस्याओं को हल करने मे सहायता देना है। इस सगठन की ओर पिछडे राष्ट्रा का विश्वास बढता जाता है। यह ता इसी से स्पष्ट है कि १९५३ म ऐसे भो राष्ट्रों ने जहाँ कि प्लेग और दुर्भिक्ष आय दिन उपस्थित रहता था सयुक्तराष्ट्रों से स्वय आर्थिक सहायता तथा विशेषज्ञो की माँग की थी।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सयुक्तराष्ट्रीय टेक्निकल सहायता कार्यक्रम केवल थोडे से विशेषज्ञ देता है और विशेषज्ञों को माँगनेवाले देश को उस कार्य के लिए अन्य कर्मचारी, सुविधा तथा साधन स्वय अपने व्यय से जुटाने पडते हैं। उदाहरण के लिए यदि कोई राष्ट्र अपनी सडकों का सुधार करना चाहता है तो यह सगठन सडकों के विशेषज्ञ को भेज देगा जिसकी सलाह से वह राष्ट्र अपनी सडकों के निर्माण करने का कार्यक्रम अपने हाथ मे लेगा। वास्तव मे पिछडे राष्ट्रों मे जो भी योजनाएँ है उनको सफल बनाने के लिए विशेषज्ञ सलाहकार भेजने का कार्य यह सगठन करता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि विशेषज्ञ सलाहकार केवल उन्नत राष्ट्रों से ही भेजे जाते हैं। पिछडे राष्ट्रों से भी विशेषज्ञ अन्य पिछडे राष्ट्रों को भेजे जाते हैं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पिछडा राष्ट्र एक समान स्तर पर नहीं है। अत्यन्त पिछडे राष्ट्र मे उस दिशा म अत्यधिक उन्नत राष्ट्र का विशेषज्ञ सम्भवत उतना अधिक उपयोगी न हो जितना कि कम उन्नत राष्ट्र का विशेषज्ञ, क्योंकि उस राष्ट्र की समस्या और परिस्थिति अत्यन्त उन्नत राष्ट्र से बहुत भिन्न होगी।

उदाहरण के लिए दक्षिण पूर्व एशिया में कुछ ऐसे किसान है कि जिन्होंने 'कार्प' जाति को मछली को अपने चावल के खेतों मे उत्पन्न करने की कला को सीख लिया है। कुछ महीनों मे ही यह मछलियाँ बडी हो जाती हैं। अस्तु जिन पूर्वीय देशों मे चावल की खेती होती है वहाँ के किसानों को चावल के खेतों मे मछली उत्पन्न करने की कला सिखाने के लिए इन किसानों को भेजा जा रहा है। आज से कुछ वर्षों पूर्व *यह सम्भव नहीं समझा जाता था* कि एक देश अपने धंधे के रहस्य को सिखाने के लिए अपने देश के आदमी को अन्य देश मे भेजे। परतु आज ईंटी का कहवा उत्पन्न करनेवाला विशेषज्ञ ईथोपिया मे कहवा

के धंधे को उन्नत करने के लिए गया है। आइसलैंड का सामुद्रिक इंजीनियर श्री लंका का सहायता के लिए आया हुआ है। इटी का स्वास्थ्य इंजीनियर अफगानिस्तान में रोगों से युद्ध कर रहा है।

विशेषज्ञों को पिछड़े हुए देशों में सेवा कार्य के लिए भेजने के अतिरिक्त यह संगठन पिछड़े हुए राष्ट्रों के युवकों को अन्य देशों में प्रशिक्षण के लिए भेजता है जिससे कि शिक्षा प्राप्त करके लौटने पर वे अपने देश की समस्याओं का हल करने में सहायक हों। १६५२ में लगभग ७००० फलो पिछड़े देशों में प्रशिक्षण के लिए विदेशों में भेजे गए। यह दो हजार शिक्षार्थी ६२ राष्ट्रों के थे। अधिकांश शिक्षार्थी संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस को गए।

इस कार्यक्रम का उद्देश्य आर्थिक दृष्टि से पिछड़े राष्ट्रों को उस प्रकार की टेकनिकल सहायता देना है कि जिससे उनका जीवन स्तर ऊँचा हो और उनकी राजनैतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे।

इस संगठन को संयुक्तराष्ट्रसंघ द्वारा स्थापित टेकनिकल सहायता बोर्ड और विशेष एजेंसियाँ मिलकर चलाती हैं।

विस्तृत टेकनिकल कार्यक्रम के सम्बन्ध में हम आगे चलकर विस्तार पूर्वक लिखेंगे। यद्यपि अभी उस कार्यक्रम की सफलता का लेखा-जोखा निश्चित करना समय से पूर्व की बात होगी परन्तु कुछ प्रयत्नों का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है जिनमें बहुत शीघ्र सफलता मिली है। उदाहरण के लिए भूगर्भ-जल के विशेषज्ञों के एक दल में ईरान में केवल १५ दिन में वायुयानों से फोटोग्राफ लेकर उस देश में ५० ऐसे क्षेत्र ढूँढ निकाले जहाँ कि कुएँ बनाये जा सकते हैं। कनारी द्वीपसमूह में खाद्य और कृषि संघ के विशेषज्ञों के बतलाए हुए तरीके से किसान अनन्नास की वर्ष भर फसल उत्पन्न करने में सफल हुए हैं। सौदी अरेबिया आज अपने तीन हजार वर्षों के इतिहास में अपने खजूरों को पैक करके विदेशों को भेजने लगा है। पैकिंग के इस तरीके को खाद्य और कृषि-संघ के विशेषज्ञ ने वहाँ प्रचलित किया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी-संघ के विशेषज्ञ के सुझाओं को स्वीकार करने पर भारत में अम्बिका स्पिनिंग और वीविंग मिल्स के मजदूरों की कार्यक्षमता और उत्पादन में वृद्धि हुई है। संयुक्तराष्ट्रीय टेकनिकल मिशन के सुझावों के परिणामस्वरूप पाकिस्तान में एक आइरन फाउंडरी में उत्पादन ४४ प्रतिशत बढ़ गया। खाद्य तथा

कृषि संघ के विशेषज्ञ के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में उत्तरप्रदेश की सरकार की वर्कशापों में उत्पादन बहुत बढ़ा है। लीबिया में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ तथा अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संघ के प्रयत्नों के फलस्वरूप मजदूरों की शिक्षा में बहुत सफलता मिली है। बहुत-से मजदूर आज राजकीय पदों पर कार्य कर रहे हैं। इसी प्रकार इथोपिया में कई मजदूरों को रेडियो इंजीनियरिंग तथा हवाई जहाज के चालकों की शिक्षा दी गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-संघ के प्रयत्नों के फलस्वरूप औषधि निर्माण के कार्य में भी बहुत सफलता मिली है। एशिया में पहली पैंसिलीन फैक्टरी पूना (भारत) में की गई है जो १९५४ में पैंसिलीन बनाने लगी है। इसको संघ के विशेषज्ञों की सलाह से भारत सरकार तैयार कर रही है। डी० डी० टी० बनाने के कारखाने भी देहली (भारत) तथा श्रीलंका में स्थापित किए गए हैं। यह भी अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संघ के विशेषज्ञों की देख-रेख में स्थापित हो रहे हैं। इन कारखानों को स्थापना का परिणाम यह होगा कि दक्षिण-पूर्वीय एशिया डी० डी० टी० तथा पैंसिलीन के लिए लगभग स्वावलम्बी हो जावेगा। और इसके परिणाम-स्वरूप इस भू भाग में मलेरिया को तथा खाज और सिफलिस इत्यादि रोगों को रोका जा सकेगा। इन रोगों को रोकने से इन प्रदेशों की आर्थिक उन्नति हो सकेगी। वर्मा में अभी हाल में ३३५ गाँवों में मलेरिया को रोकने का एक बहुत सफल प्रयोग किया गया है।

यद्यपि ऊपर वर्णित सफलताएँ महत्वपूर्ण हैं, परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इन पिछड़े हुए देशों की आर्थिक उन्नति का कार्य सरल है। सच तो यह है कि पिछड़े हुए राष्ट्रों की आर्थिक उन्नति की समस्याएँ बहुत जटिल हैं और उनको हल करने में बहुत समय लगेगा। अतएव यदि हम चाहते हैं कि इन देशों की स्थायी उन्नति हो तो अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों को वहाँ लगातार काम करना होगा और स्थानीय कार्यकर्ताओं में उस कार्य को करते रहने की योग्यता उत्पन्न करनी होगी। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय टेकनिकल सहायता प्रोग्राम का उद्देश्य प्रत्येक देश में वहाँ के स्थानीय विशेषज्ञों तथा कार्यकर्ताओं को शिक्षित करना है।

इस समय टेकनिकल सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत सैकड़ों योजनाएँ कार्यान्वित की जा रही हैं। परन्तु हम यहाँ केवल थोड़ी सी प्रतिनिधि

योजनाओं का सचित्र विवरण देंगे जिससे कि यह ज्ञात हो सके कि यह कार्य कितना जटिल और महत्त्वपूर्ण है।

थाईलैंड में याज (Yaws) रोग निवारण

याज रोग अधिकतर नम और गरम देशों में होता है जहाँ कि व्यक्तिगत सफाई का स्तर नीचा होता है और नहाने धोने की सुविधाएँ कम होती हैं। इससे मनुष्य मरता नहीं है परन्तु बिलकुल बेकार हो जाता है। यदि यह हथेली पर हो जाता है तो मनुष्य हाथ से कोई काम नहीं कर सकता, यदि होंठों पर हो जाता है तो कोई ठोस चीज खा नहीं सकता और यदि तलवों पर हो जाता है तो चल नहीं सकता। इसका परिणाम यह हो जाता है कि आदमी या औरत कार्य नहीं कर सकते और वह अपने परिवार के लिए एक भार बन जाता है। बहुधा जब खेती में काम अधिक होता है तभी इस रोग का भयंकर प्रकोप होता है। अतएव इससे आर्थिक हानि कल्पनातीत होती है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संघ के विशेषज्ञों ने इसका अचूक इलाज मालूम कर लिया है। पैसिलीन के इंजेक्शन से तथा साबुन से शरीर की सफाई करने से इसका निराकरण किया जा सकता है। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों की देखरेख में थाईलैंड में युद्ध छेड़ दिया गया। लाखों व्यक्तियों को पैंसिलीन के इंजेक्शन देकर इस रोग से मुक्त किया गया। अब यह रोग उस देश में नियंत्रित हो गया है। इस रोग का प्रकोप अब कम हो गया है। १९५४ में १५ लाख से ऊपर व्यक्तियों की जाँच की गई और दो लाख से अधिक को इस रोग से मुक्त किया गया।

यही नहीं कि लाखों व्यक्तियों का इलाज किया गया। वरन् समस्त देश में इस रोग से किस प्रकार बचा जा सकता है, इसकी शिक्षा दी गई। साबुन के उपयोग का प्रचार किया गया तथा स्वच्छ जल की आवश्यकता बतलाई गई जिससे कि यह रोग फिर न फैल सके।

१९३० में ईरान सरकार ने सूती वस्त्र व्यवसाय को स्थापित किया था और उसका विकास भी किया था। ईरान सरकार ने सूती वस्त्र के कारखाने उत्तर के प्रदेश मजानदारान में स्थापित किए थे। इसके लिए सरकार ने विदेशों से मशीनरी तथा विशेषज्ञ बुलाये थे। द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप इस धंधे की प्रगति रुक गई और विशेषज्ञों ने ईरान

को छोड़ दिया। मशीन पुरानी हो गई थी तथा विशेषज्ञों के अभाव में वस्त्र उद्योग गिरने लगा। विदेशों से सस्ते वस्त्र आकर ईरान के बाजार में बिकने लगे। ईरान सरकार ने एक सप्तवर्षीय योजना बनाकर वस्त्र व्यवसाय को पुन विकसित करने का कार्यक्रम बनाया। सरकार ने सयुक्त राष्ट्रसघ की एजेंसियों से सहायता की प्रार्थना की। फलस्वरूप आज सयुक्त राष्ट्रसघ क खाद्य और कृषि सघ के विशेषज्ञ ईरान मे कपास की खेती की उन्नति करने का प्रयत्न कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सघ ने ईरान के वस्त्र व्यवसाय के लिए फोरमैन तैयार करने का उत्तर दायित्व लिया है। सयुक्त राष्ट्रसघ ने बारह वस्त्र विशेषज्ञों का एक मिशन ईरान मे १९५१ मे भेजा था। इन विशेषज्ञों ने ईरान के वस्त्र-उद्योग का अध्ययन किया और उसकी कमजोरियों को दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। विशेषज्ञ मिशन की सहायता से ईरान शीघ्र ही अपने धधे की उन्नति करेगा इसमे सन्देह नहीं है।

ईरान म सूती वस्त्र व धधे का विकास

मैक्सिको सरकार की प्रार्थना पर यू० एन० एस० को (अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा तथा सास्कृतिक सघ) ने मैक्सिको म एक ज्ञान-केंद्र स्थापित किया है जो लैटिन अमरीका मे वैज्ञानिक टेकनिकल ज्ञान का प्रसार करता है।। ससार के प्रत्येक देश से प्रतिमास यहाँ १६०० पत्रिकाएँ आती हैं। इसके अतिरिक्त रिपोर्टें तथा पुस्तकें बहुत बड़ी सख्या मे आती हैं। यहाँ के विशेषज्ञ कर्मचारी उपयोगी सामग्री को भिन्न भिन्न विषयों के अनुसार बाँट देते हैं और फिर उसका अनुवाद करके इन देशों मे भेजते हैं। इस ज्ञानकेन्द्र के द्वारा ससार भर के वैज्ञानिकों के विचारों का इन देशों में प्रचार किया जाता है।

मैक्सिको का ज्ञान केन्द्र

एक समय था कि लीबिया उत्तरी अफ्रीका का बहुत उपजाऊ प्रदेश था किन्तु दासता के कारण वह अत्यन्त निर्धन और साधनहीन देश बन गया। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के उपरान्त लीबिया के सामने सबसे बड़ी समस्या यह उपस्थित हुई कि वह अपने देशवासियों को अपना शासन-कार्य चलाने के लिए किस प्रकार शिक्षा दे। जिस समय लीबिया को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी उस समय एक भी लीबिया निवासी डाक्टर नहीं

ट्रिपोली म प्रशिक्षण कार्य

था केवल एक लीबियन वकील था। प्रशासन कार्य में सभी ऊँचे पदों पर विदेशी नियुक्त थे। व्यापार व्यवसाय तथा अन्य पेशों में भी लीबियन प्राय नहीं थे। अतएव लीबिया की उन्नति के लिए यह आवश्यक था कि पहले लीबिया निवासियों को उचित वैज्ञानिक, टेक्निकल प्रशासनिक शिक्षा दी जावे जिससे कि वे अपने देश का कार्य स्वयं चला सकें।

इस उद्देश्य से यूनैस्को (अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षणिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संघ) ने ट्रिपोली में टेक्निकल शिक्षा केन्द्र स्थापित किया। शीघ्र ही इसको एक बड़े महाविद्यालय में परिणित कर दिया गया। यह शिक्षा केन्द्र लीबिया के लिए सभी प्रकार के कुशल शिक्षित युवक तैयार कर रहा है जो कि भविष्य में सरकारी पदों को सँभालेंगे। इस केन्द्र में उद्योग धन्धों व्यापार प्रशासनिक कार्य, इन्जीनियर, डाक्टर, टेक्नीशियन इत्यादि की शिक्षा दी जाती है। १९५२ में इस शिक्षा-केन्द्र का प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ ने ले लिया है। अब वही उसका सचालन करता है।

ब्राजील में महानद अमेजन की बेसिन में संसार के अद्वितीय वन खड़े हैं। इन वनों मे १५०० भिन्न भिन्न प्रकार के वृक्ष पाये जाते हैं। अभी तक बाहरी ससार इस बहुमूल्य लकड़ी के सबध
में कुछ नहीं जानता था। वहाँ से केवल थोड़ी मैगहानी ममजन की लकड़ी
लकड़ी बाहर जाती थी। ब्राजील की सरकार इस
प्रदेश में वनों पर आधारित धन्धों तथा कृषि की उन्नति करना चाहती थी अस्तु ब्राजील सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य और कृषि सघ से सहायता के लिए प्रार्थना की। खाद्य और कृषि-सघ के तीन विशेषज्ञ इस प्रदेश की जाँच करके अमेजन बेसिन में लकड़ी के धंधे की उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है कि शीघ्र ही इस प्रदेश में प्लाईवुड कागज, कागज की लुग्दी का धन्धा पनप उठेगा और यहाँ से बढ़िया लकड़ी बाहर भेजी जावेगी। वनों की उन्नति के फलस्वरूप इस भाग में अधिक जन-संख्या निवास कर सकेगी। और अमेजन बेसिन ब्राजील का एक उन्नत भाग बन जावेगा।

इंडोनेशिया यद्यपि एक देश है परतु उसमे लगभग ३००० द्वीप हैं। पश्चिम में सुमात्रा से लेकर पूर्व में सबसे अन्तिम द्वीप की दूरी ३०००

था केवल एक लीबियन वकील था। प्रशासन कार्य में सभी ऊँचे पदों पर विदेशी नियुक्त थे। व्यापार व्यवसाय तथा अन्य पेशों में भी लीबियन प्राय नहीं थे। अतएव लीबिया की उन्नति के लिए यह आवश्यक था कि पहले लीबिया निवासियों को उचित वैज्ञानिक, टेकनिकल प्रशासनिक शिक्षा दी जावे जिससे कि वे अपने देश का कार्य स्वयं चला सकें।

इस उद्देश्य से यूनेस्को (अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षणिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संघ) ने ट्रिपोली में टेकनिकल शिक्षा केन्द्र स्थापित किया। शीघ्र ही इसको एक बडे महाविद्यालय में परिणित कर दिया गया। यह शिक्षा-केन्द्र लीबिया के लिए सभी प्रकार के कुशल शिक्षित युवक तैयार कर रहा है जो कि भविष्य मे सरकारी पदों को सँभालेंगे। इस केन्द्र मे उद्योग-धन्धों, व्यापार प्रशासनिक कार्य, इन्जीनियर, डाक्टर, टेकनीशियन इत्यादि की शिक्षा दी जाती है। १६५२ में इस शिक्षा-केन्द्र का प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघ ने ले लिया है। अब वही उसका संचालन करता है।

ब्राजील में सघन अमेजन की बेसिन में संसार के अद्वितीय वन पडे हैं। इन वनों में १५०० भिन्न-भिन्न प्रकार के वृक्ष पाये जाते हैं। अभी तक बाहरी ससार इस बहुमूल्य लकड़ी के संबंध
में कुछ नहीं जानता था। यहाँ से केवल थोडी मैंहगानी अमेजन की लकडी
लकड़ी बाहर जाती थी। ब्राजील की सरकार इस
प्रदेश में वनों पर आधारित धन्धों तथा कृषि की उन्नति करना चाहती थी अस्तु ब्राजील सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय खाद्य और कृषि सघ से सहायता के लिए प्रार्थना की। खाद्य और कृषि-संघ के तीन विशेषज्ञ इस प्रदेश की जाँच करके अमेजन बेसिन मे लकड़ी के धंधे की उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। आशा है कि शीघ्र ही इस प्रदेश में प्लाईवुड कागज, कागज की लुब्दी का धन्धा पनप उठेगा और यहाँ से बढ़िया लकड़ी बाहर भेजी जावेगी। वनों की उन्नति के फलस्वरूप इस भाग में अधिक जन-संख्या निवास कर सकेगी। और अमेजन बेसिन ब्राजील का एक उन्नत भाग बन जावेगा।

इडोनेशिया यद्यपि एक देश है परंतु उसमे लगभग ३००० द्वीप हैं। पश्चिम मे सुमात्रा से लेकर पूर्व में सबसे अन्तिम द्वीप की दूरी ३०००

मील है। अतएव इन द्वीपों में आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक एकता स्थापित करने के लिए वायु यातायात की बहुत अधिक आवश्यकता थी। क्योंकि पूर्व से पश्चिम तक समुद्री जहाज से जाने में कम से कम एक सप्ताह लगता था परन्तु हवाई जहाज से केवल १२ घण्टे में ही पहुँचा जा सकता है। स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त इंडोनेशिया की सरकार ने सयुक्त राष्ट्रीय सघ से इस सम्बन्ध मे सहायता माँगी। संयुक्तराष्ट्र-सघ ने वायु यातायात के आठ विशेषज्ञों का एक मिशन इन्डोनेशिया मे भेजा, जिसका मुख्य कार्य वहाँ के निवासियों को हवाई जहाज चलाने, उनकी मरम्मत करने तथा तत्सबधी इंजीनियरिंग आदि की शिक्षा देना था। इस मिशन का एक कार्य वहाँ की सरकार को हवाई अड्डों इत्यादि के सम्बन्ध मे परामर्श देना भी था। इस मिशन की जाँच के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि इस कार्य को करने के लिए इन्डोनेशिया मे एक हवाई यातायात प्रशिक्षिण केन्द्र स्थापित करने की आवश्यकता होगी। अस्तु इन्डोनेशिया सरकार की प्रार्थना पर १२ विशेषज्ञ और भेजे गए। इनमें से एक विशेषज्ञ इन्डोनेशिया सरकार का हवाई यातायात-सम्बन्धी सलाहकार है और शेष बारह उस शिक्षा-केन्द्र मे शिक्षणकार्य करते हैं। आशा है कि शीघ्र ही इन्डोनेशिया मे हवाई यातायात का समुचित विकास हो सकेगा।

इन्डोनेशिया में हवाई यातायात की उन्नति

लेटिन अमरीका की आर्थिक उन्नति में एक सबसे बड़ी बाधा यह है कि यहाँ इस्पात की बहुत कमी है। यही नहीं लेटिन अमरीका मे विदेशी विनिमय की भी कमी है इस कारण विदेशों से इस्पात यथेष्ट मात्रा में नहीं मँगाया जा सकता। इस कारण लेटिन अमरीका के भिन्न-भिन्न देशों मे इस्पात के धंधे को स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। अस्तु लेटिन अमरीका की सरकारों की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा लेटिन अमरीका के आर्थिक (कमीशन) आयोग ने ११७ इस्पात विशेषज्ञों को बुलाया। यह इस्पात विशेषज्ञ संसार के सभी इस्पात उत्पन्न करनेवाले देशों से आये थे। इन विशेषज्ञों ने लेटिन अमरीका के भिन्न-भिन्न देशों मे इस्पात के धंधे को स्थापित करने के

लेटिन अमरीका मे लोहे और इस्पात का धधा

सम्बन्ध में विस्तृत जाँच की और वहाँ की सरकार को इस सम्बन्ध मे अपनी सलाह दी है।

तेवान म मलेरिया का नियन्त्रण

फारमोसा के उत्तरी भाग मे मलेरिया का भयकर प्रकोप होता है। जाँच से ज्ञात हुआ कि इस प्रदेश में लगभग ९० प्रतिशत लोगों के तिल्ली बढ़ी हुई है और पचास प्रतिशत के रुधिर में मलेरिया के कीटाणु हैं। इसका परिणाम यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में मलेरिया के कारण खेती तथा उद्योग धधों का विकास असम्भव हो गया था किसान और कारीगर अत्यन्त निर्बल और अशक्त था। अतएव वह श्रम नहीं कर सकता था। तेवान के समीप २२६ कोयले की खाने हैं जिनमे मलेरिया के कारण खुदाई का काम महीनों बन्द रहता था। अस्तु वहाँ की सरकार ने १९५१ में अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सघ से सहायता की प्रार्थना की। तेवान सरकार की प्रार्थना यह थी कि मलेरिया नियत्रण करने मे, मलेरिया से इस देश को मुक्त करने में तथा मलेरिया के विरुद्ध सघर्ष करने के लिए फारमोसा निवासियों को आवश्यक शिक्षा देने के कार्य में सघ उनकी सहायता करे। अस्तु स्वास्थ्य सघ तीन विशेषज्ञों के एक दल को इस कार्य के लिए फारमोसा भेजा और फारमोसा में मलेरिया के विरुद्ध युद्ध छेड दिया गया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि १९५४ तक इन विशेषज्ञों की सहायता से तेवान मलेरिया से मुक्ति प्राप्त कर लेगा।

इथोपिया म कृषि का उन्नति

इथोपिया प्राकृतिक दृष्टि से धनी देश है किन्तु यह अत्यन्त निर्धन और अविकसित दशा मे पड़ा हुआ है। उस दशा में कृषि तथा पशु-पालन बहुत होता है परतु इस धधे की दशा शोचनीय है। इथोपिया मास खाल चमडा और कहवा विदेशों को भेज सकता है। परन्तु वहाँ के पशुओं मे रिडरपेस्ट की बीमारी है इस कारण कोई देश वहाँ मास नहीं मँगवाता। अतएव वहाँ की सरकार के आमन्त्रण पर खाद्य तथा कृषि-सघ ने एक पशु चिकित्सक को वहाँ भेजा। उसने रिडरपेस्ट रोग को रोकने का प्रयत्न किया। अब इथोपिया मे पशुओं का यह रोग कम हो गया है और मास के धधे के लिए कारखानों की स्थापना के प्रयत्न चल रहे हैं। यही नहीं खाल तथा चमडे को भी अच्छा तैयार करने के लिए एक विशेषज्ञ बुलाया गया है।

वहाँ कहवा अधिकांश जङ्गली अवस्था में उत्पन्न होता है। कुछ किसानों ने कहवे की खेती भी की है, परन्तु कहवे का धन्धा भी बहुत ही अविकसित दशा में है। अतएव खाद्य तथा कृषि संघ ने एक कहवा विशेषज्ञ भेजकर इस धंधे को विकसित करने का प्रयत्न किया है। वह विशेषज्ञ कहवे के बाग लगाने, कहवा तैयार करने तथा कहवे की बिक्री का प्रबन्ध करने की शिक्षा वहाँ के लोगों को दे रहा है।

इथोपिया में सूती वस्त्र की बहुत माँग है और उस देश में जितना आयात होता है उसका पचास प्रतिशत सूती वस्त्र ही होता है। यद्यपि इथोपिया की भूमि और जलवायु कपास उत्पन्न करने के लिए बहुत उपयुक्त है परन्तु वहाँ बहुत कम कपास उत्पन्न होती है। कपास की पैदावार को बढ़ाने के लिए खाद्य और कृषि संघ ने इथोपिया में दो कपास विशेषज्ञ भेजे हैं। जिनकी सलाह से इथोपिया में उत्तम जाति की कपास की खेती का तेजी से विकास हो रहा है।

यूगोस्लाविया में कुशल कारीगरों की समस्या

द्वितीय महायुद्ध के कारण यूगोस्लाविया में दस प्रतिशत जनसंख्या नष्ट हो गई और दस प्रतिशत रोग ग्रस्त या जख्मी होकर बेकार हो गई। अस्तु वहाँ कुशल श्रमजीवियों विशेषकर कारीगरों की बहुत कमी हो गई। युद्ध के उपरान्त यूगोस्लाविया ने देश की आर्थिक उन्नति के लिए एक योजना तैयार की किन्तु कुशल कारीगरों के अभाव के कारण उसको कार्यान्वित कर सकना कठिन हो रहा था। आधुनिक ढङ्ग के कारखानों को अकुशल ग्रामीण मजदूरों के द्वारा चलना कठिन था। यूगोस्लाविया की सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर-संघ से इस सम्बन्ध में सहायता की प्रार्थना की। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ ने संसार के विभिन्न औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों से २४ विशेष कुशल फोरमैन यूगोस्लाविया भेजे। यह फोरमैन ६ विभिन्न धन्धों में यूगोस्लाविया के फोरमैनों को शिक्षा दे रहे हैं। यही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ ने यूगोस्लाविया के ४०० कुशल कारीगरों को औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों के कारखानों में थोड़े दिनों (७ महीने से लेकर १२ महीने तक) रहकर उन धन्धों की शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था की है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी संघ यूगोस्लाविया की कुशल कारीगरों की समस्या को हल करने का सफल प्रयत्न कर रहा है।

यूनैस्को की सहायता से फिलीपाइन्स की सरकार अपने देश मे विज्ञान की शिक्षा तथा विज्ञान - सम्बन्धी सामग्रीको उपलब्ध करने का भगीरथ प्रयत्न कर रही फिलीपाइन्स म है। विदेशी विशेषज्ञों का दल इस कार्य में फिलीपाइन विज्ञान की शिक्षा द्वीपसमूह की प्रशसनीय सहायता कर रहा है।

एक हजार वर्ष पूर्व श्रीलका पूर्व में सबसे अधिक चावल उत्पन्न करता था। यहाँ के प्राचीन इजीनियरों ने मध्य के सूखे प्रदेश को एक हरा भरा जगल बना दिया था और सिचाई के लिए पाँच हजार बाँध बनाए थे जो कि वर्षा के जल को श्रीलका व जगला एकत्रित करते थे और उस जल को नहरों द्वारा का विकास चावल के खेतों को वर्ष भर पहुँचाया जाता था। परतु राजनैतिक पराभव के कारण श्रीलका का यह सुन्दर सिचाई का साधन नष्ट हो गया और यहाँ घना जगल उग गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मध्य का यह सूखा प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अवनत हो गया। केवल नम प्रदेशो मे श्रीलका चाय, रबर और नारियल बहुतायत से उत्पन्न करता है। परन्तु नम प्रदेश समस्त देश का एक तिहाई क्षेत्र है। मध्य के विशाल सूखे प्रदेश मे खेती न होने के कारण श्रीलका को चावल विदेशों से मँगाना पडता है।

श्रीलका इस सूखे मध्य प्रदेश को फिर से लहलहाते खेतों मे परिणत कर देना चाहता है। इस दृष्टि से श्रीलका की सरकार इस प्रदेश की उन्नति करने का अथक प्रयत्न कर रही है।

इसी उद्देश्य से श्रीलका की सरकार ने 'यूनेस्को' (अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा, सामाजिक तथा सास्कृतिक सघ) की सहायता से एक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किया है। इस प्रशिक्षण केन्द्र मे खाद्य और कृषि सघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी-सघ, स्वास्थ्य-सघ तथा यूनेस्को के विशेषज्ञ श्रीलका मे खेती तथा उद्योग धन्धों स्वास्थ्य और शिक्षा की उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। स्वास्थ्य-सघ के विशेषज्ञ जनता को स्वस्थ कैसे रखा जा सकता है, इसकी शिक्षा देते हैं। खाद्य और कृषि-सघ के विशेषज्ञ खेती की उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी सघ के विशेषज्ञ कुटीर धन्धों की उन्नति की ओर सचेष्ट हैं तथा यूनेस्को के विशेषज्ञ साक्षरता का प्रचार कर रहे हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्तराष्ट्रीय टेकनिकल कार्यक्रम का क्या उद्देश्य है ? लिखिए।
२—भारतवर्ष को संयुक्त राष्ट्रसंघ की विशेष एजेंसियों से क्या सहायता मिली है। इसका संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
३—संयुक्त राष्ट्रीय टेकनिकल कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत में क्या कार्य हो रहा है, उसका संक्षिप्त विवरण दीजिए।
४—एशियाई राष्ट्रों में कार्यक्रम के द्वारा कौन-कौन से कार्य किए जा रहे हैं ? उनका उल्लेख कीजिए।
५—कोलम्बो योजना की रूपरेखा का वर्णन कीजिए।

विश्व राज्य की कल्पना

हैं। और जो बड़े राष्ट्र थे वे और भी बड़े होते चले गए हैं और उनकी शक्ति बढ़ती गई है। पहले महायुद्ध में जर्मनी, आस्ट्रिया हंगरी, रूस, और टर्की के महान् साम्राज्यों का तहस नहस हो गया। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने के पहले सात राष्ट्रों की गिनती संसार के बड़े राष्ट्रों में की जाती थी। वे थे—ब्रिटेन, फ्रान्स, जर्मनी, इटली, रूस, जापान और अमरीका। महायुद्ध में जर्मनी, इटली और जापान पराजित राष्ट्रों में थे उनका सर्वनाश स्वाभाविक कहा जा सकता था, परन्तु ब्रिटेन और फ्रांस विजयी होते हुए भी आज प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की गिनती में लिए जाने के अधिकारी नहीं रह गए हैं। आज तो अमरीका और रूस यही दो बड़े राष्ट्र हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक प्रभाव डाल सकते हैं और शेष राष्ट्रों को उनके पीछे-पीछे चलने पर विवश होना पड़ रहा है। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया तब क्या यह सूचित नहीं करती कि भविष्य में इन दो बड़े राष्ट्रों के बीच एक महान् युद्ध होगा—और इस खतरे की घंटियाँ बीच-बीच में बज भी उठती हैं—और इसमें इनमें से एक का पतन हो जायगा और दूसरे की सत्ता और विचारधारा, संसार भर में व्याप्त हो जायगी? रूस और अमरीका की विदेश नीतियों के निकट अध्ययन से कभी-कभी तो यह सन्देह होने लगता है कि वे दोनों क्या इसी विश्वास के आधार पर काम नहीं कर रहे हैं कि इतिहास की अनिवार्यता के कारण अथवा अणु बमों और हाइड्रोजन बमों की सहायता से वे अपने विपक्षी को पराजित कर अपनी एकच्छत्र सत्ता संसार भर में स्थापित करने में सफल होंगे। परन्तु रूस और अमरीका की महत्त्वाकांक्षाओं में मतवाले राजनीतिज्ञ कैसा भी स्वप्न देख रहे हों यह असम्भव जान पड़ता है कि संसार भर में उनमें से किसी एक की अथवा किसी अन्य देश की सत्ता स्थापित हो सकेगी? कितने ही घातक यंत्र क्यों न निकल आएँ, मनुष्य पर केवल पाशविक बल से, सदा के लिए राज्य नहीं किया जा सकेगा। यदि इस प्रकार के विश्व-व्यापी राज्य का संगठन कभी किया भी जा सका तो वह बालू के प्रासाद अथवा ताश के पत्तों के महल के समान थोड़े समय में ढह जाएगा और संसार फिर असंख्य राज्यों में बँट जाएगा। सच तो यह है कि ऊपर से लादी हुई कोई भी व्यवस्था अधिक दिन तक टिक नहीं सकती।

दूसरी ओर वे लोग हैं जो एक विश्वव्यापी संघबद्ध शासन में सुरक्षा और शान्ति को पाने की आशा रखते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका ने जिस प्रकार एक संघबद्ध शासन का विकास किया उसी प्रकार इन लोगों को यह आशा है कि संसार के सभी राष्ट्र मिलकर एक संघ-शासन का निर्माण कर सकेंगे। संघबद्ध संगठनों की अनेकों योजनाएँ समय-समय पर बनती रही हैं और विश्व संघ के विचार का प्रचार करने में बहुत से उदारचेता महापुरुष लगे हुए हैं। समय-समय पर इनकी योजनाएँ प्रकाश में आती रहती हैं। संयुक्त राष्ट्र के भीतर से भी उसे ही एक विश्व-संघ में परिवर्तित करने के प्रयत्न चलते रहते हैं। जो लोग निकट भविष्य में संसार के सभी देशों के संघबद्ध हो जाने की कल्पना को अव्यावहारिक मानते हैं वे अपनी सीमित योजनाओं को लेकर आगे बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। कुछ तो सभी जनतान्त्रिक देशों को लेकर अपना पहला संघ-शासन स्थापित करना चाहते हैं और कुछ एटलांटिक महासागर के आस पास के देशों तक ही इस प्रकार के संघ को सीमित रखना चाहते हैं। उनका यह उद्देश्य कदापि नहीं है कि वे सदा के लिए कुछ देशों को संघ के बाहर छोड़ दें, क्योंकि उनका अन्तिम लक्ष्य विश्व-संघ की स्थापना करना ही है। परन्तु वर्त्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की व्यावहारिक कठिनाइयों से भी वे परिचित हैं। वे जानते हैं कि आज की परिस्थिति में रूस, उसके साथी देशों और सम्भवतः बहुत से अन्य देशों का भी इस संघ में समावेश सम्भव न हो, इस कारण कुछ थोड़े से देशों की ही, जिनके सहयोग की वे अपेक्षा करते हैं, वे अपना काम आरम्भ कर देना चाहते हैं। सबको साथ लेकर वे चलना चाहते हैं पर प्रतीक्षा का समय उनके पास नहीं है। इस कारण वे जनतन्त्र, भौगोलिक सामीप्य अथवा इसी प्रकार के किसी आधार पर अधिक से अधिक देशों को अपने साथ ले लेना चाहते हैं। जो देश इस संघ में शामिल होंगे उनके व्यक्तित्व को वे निर्मूल कर देना नहीं चाहते। संघ-शासन के हाथ में युद्ध और शान्ति, आर्थिक पुनर्निर्माण और सामाजिक न्याय की स्थापना के बड़े-बड़े साधन होंगे परन्तु शेष बातों के सम्बन्ध में राज्यों को एक बड़ी सीमा तक स्वाधीनता होगी और संघ-शासन के

विश्व-संघों की योजनाएँ

उच सदन में उनके समान प्रतिनिधित्व के कारण, उनके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को भी सुरक्षित रखा जा सकेगा।

ये सब योजनाएँ बड़ी आकर्षक हैं और भावनाओं को प्रेरणा, बल और उत्साह देती हैं। हम अपनी छोटी सीमाओं को मिटा डालें और व्यापक में, समष्टि में, अपने आपको आत्मसात् कर देने का प्रयत्न करें, इससे बड़ा आदर्शवाद क्या हो सकता है परन्तु दुर्भाग्यवश, ये योजनाएँ व्यावहारिकता की कसौटी पर बहुत खरी नहीं उतरतीं।

सीमित संघों के अन्तर

सीमित सङ्घों की सभी योजनाएँ चाहे उनका आधार जनतन्त्र में हो या मानववाद में, खतरे से भरी हुई हैं। रूस, उसके साथियों और उसके तथाकथित सह-यात्रियों को बाहर रखकर जो भी सङ्घ बनाया जायगा वह रूस के विरुद्ध एक सगठन का रूप ले लेगा और रूस के खुले सघर्ष में उसकी अन्तिम परिणति होगी। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि जब रूस और उसके साथियों में युद्ध अनिवार्य है तो विभिन्न राष्ट्रों के द्वारा व्यक्तिगत रूप से लड़े जाने से क्या यह अच्छा न होगा कि वह जनतन्त्र अथवा इसी प्रकार की किसी समान विचार धारा रखनेवाले राष्ट्रों के संघ की ओर से लड़ा जाए। इस तर्क से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रकार के संघ के निर्माण की योजना करनेवाले आगामी युद्ध को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से लड़ने में अधिक रुचि रखते हैं, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति उनका प्रधान लक्ष्य नहीं है। जो लोग सारे विश्व को सङ्घबद्ध देखना चाहते हैं उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि वे स्वप्न देखने में ही अधिक विश्वास रखते हैं। विश्व सङ्घ की स्थापना एक बड़ा सुन्दर आदर्श है, परन्तु यह व्यावहारिक रूप तभी ले सकेगा जब इसके लिए सभी देशों में लोकमत का निर्माण किया जा चुकेगा। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्ति की निष्ठाएँ बदलती जा रही हैं। पहले उसके जीवन का ध्येय कुटुम्ब अथवा ग्राम, जाति अथवा समाज तक ही सीमित था। आज उसकी निष्ठा, प्रत्येक देश में, राष्ट्रीयता का स्पर्श करती दिखाई दे रही है। यह बहुत सम्भव है कि भविष्य में अन्तर्राष्ट्रीय और मानवता के प्रति नागरिक की वैसी ही निष्ठा का विकास किया जा सके जैसा आज राष्ट्रीयता के प्रति है। परन्तु इसमें भी सदेह नहीं कि आज तो राष्ट्रीयता की भावना सभी देशों में इतनी दृढ़ और गहरी है कि इसका अतिक्रमण

करना सरल नहीं है। सभी देशों में ऐसे व्यक्ति हैं—और सौभाग्य से उनकी संख्या बढ़ती जा रही है—जिनकी दृष्टि राष्ट्रीयता के सीखचों के बाहर अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षितिज का स्पर्श करती है और उस क्षितिज पर फूट निकलनेवाली प्रभात की किरण जिनके हृदय में आनन्द की हिलोरें उठा देती है और उस पर बिखरे हुए सूर्यास्त के मेघों के उदास रंग जिनके मन में विषाद की सृष्टि कर देते हैं। परन्तु जब तक यह भावना एक लोकव्यापी रूप नहीं ले लेती और प्रत्येक देश के नागरिक अपने को विश्व का नागरिक नहीं मानने लगते तब तक विश्व-संघ की कल्पना को आदर्शवादी अधिक और व्यावहारिक कम माना जाता रहेगा।

संयुक्त राष्ट्र में सुधार के सुझाव

तब रास्ता क्या है ? विश्व-राज्य यदि असंभव है और अवांछनीय है और विश्व संघ दीर्घकाल तक के लिए अव्यावहारिक, तब अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए आज हम क्या कर सकते हैं ? हमारा विश्वास है कि विश्व-संघ के आदर्श को हमें छोड़ना तो नहीं चाहिए, पर इस आदर्श की प्राप्ति के लिए कल्पना-जन्य अव्यावहारिक और एकांगी योजनाएँ बनाने से अधिक अच्छा यह होगा कि संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से इस आदर्श तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाए। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस कार्य में हमें सफलता ही मिलेगी। संयुक्त राष्ट्र में आज हमें दो धाराएँ दिखाई दे रही हैं। उनमें से एक धारा वह है जिस पर आज अमरीका चल रहा है। अमरीका संयुक्त राष्ट्र को अपने उद्देश्यों की पूर्ति का और विशेषकर अपने रूस-विरोधी उद्देश्यों की पूर्ति का साधन बना डालना चाहता है। यदि वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति में सफल हुआ तो संयुक्त राष्ट्र अमरीका के हाथ की कठपुतली बन जायगा। उस दिन बड़े दुःख के साथ हमें उससे विदा लेनी होगी। परन्तु संयुक्त राष्ट्र में एक दूसरी धारा भी हमें दिखाई देती है और जिस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसका निर्माण हुआ था उसे प्राप्त करने की उत्कटता भी हमें उसमें दिखाई देती है। हमें प्रयत्न करना चाहिए कि इस विचार-धारा को हम दृढ़ बनाएँ और संयुक्त राष्ट्र को धीरे-धीरे, एक व्यापक लोकमत के आधार पर, वे अधिकार दिलाने का प्रयत्न करें जो उसे विश्व-संघ का रूप दे सकें।

इस दृष्टि से कुछ सुझाव यहाँ पर देना अनुचित न होगा—

(१) संयुक्त राष्ट्र को अपनी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को और दृढ़ और प्रभावपूर्ण बनाना चाहिए। साथ ही मध्यस्थता और समझौते के साधनों का अधिक साहस के साथ उपयोग करना चाहिए। सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय मतभेद और तनाव की सभी समस्याओं का समय समय पर अध्ययन करते रहना और उनके सम्बन्ध में निष्पक्षता से राय देना चाहिए। इन तीनों बातों का एक दूसरे से बड़ा सम्बन्ध है। संयुक्त राष्ट्र के पास अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिए यदि पर्याप्त बल हुआ तो उसकी मध्यस्थता भी अधिक प्रभावपूर्ण हो सकेगी और बल प्रयोग की कम से कम आवश्यकता पड़ेगी, और यदि मध्यस्थता और समझौते के मार्ग से वह समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयत्न शील होना चाहती है तो उनके सम्बन्ध में सजग और सतर्क रहने की भी उसे आवश्यकता है। सुरक्षा-परिषद् यदि अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों के अध्ययन और निराकरण के उद्देश्य से निश्चित समय पर अपनी बैठकें करती रहे तो उसके बाहर जो प्रधान मंत्रियों आदि के सम्मेलन प्रादेशिक समस्याओं को लेकर किए जाते हैं। और जिनसे समस्या प्राय अधिक उलझती ही दिखाई देती है, वे अनावश्यक हो जाएँ। दूसरे शब्दों में, विश्व शान्ति की सुरक्षा का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व और नेतृत्व सुरक्षा परिषद् को अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

(२) संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता से कोई भी देश, किसी भी आधार पर, वंचित नहीं रखा जाना चाहिए। प्रत्येक देश को उसका सदस्य बनने का अधिकार होना चाहिए। जो देश उसके उद्देश्यों के विरुद्ध जाएँ उनकी समय-समय पर आलोचना और भर्त्सना की जा सकती है, परन्तु यदि वे संयुक्त राष्ट्र के सदस्य हैं तो संयुक्त राष्ट्र उन पर अधिक प्रभाव डाल सकता है, और विश्व शान्ति के अपने उद्देश्य को अधिक सफलता के साथ आगे बढ़ा सकता है।

(३) टेकनिकल सहायता के कार्यक्रम का विस्तार और परिणाम दोनों को ही बढ़ाने की आवश्यकता है। इसके साथ ही यह प्रयत्न करना चाहिए कि विभिन्न राष्ट्रों को जो टेकनिकल सहायता दी जाय वह संयुक्त-राष्ट्र और उसकी विशिष्ट समितियों के द्वारा ही दी जाय। यदि ऐसा किया जा सका तो आज जो बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रों के द्वारा छोटे और निर्बल राष्ट्रों को दी जानेवाली टेकनिकल सहायता के परिणाम-

स्वरूप उनके राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है उसे कम किया जा सकेगा। आज एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका के विस्तृत क्षेत्र में इस प्रकार की सहायता की आवश्यकता है, परन्तु उसके लिए यदि उन्हें बड़े राष्ट्रों पर निर्भर होना पड़ा तो उनकी स्वाधीनता पर निश्चित रूप से खतरा बढ़ता जायगा।

संयुक्तराष्ट्र के सामने आज सबसे बड़ा कार्य अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के मूल कारणों का निराकरण करना है, और इस दृष्टि से सबसे आवश्यक कार्य संसार भर के लोगों के, और विशेषकर पिछड़े हुए देशों के, जीवनस्तर को उठाना है। इसे यह नहीं भूलना चाहिए कि उसका काम "शान्ति का निर्वाह" नहीं "शान्ति का निर्माण" करना है और इसके लिए उन परिस्थितियों का निर्माण करना आवश्यक है जिनमें रहते हुए संसार का अधिकांश भाग आर्थिक और मानसिक सन्तोष का अनुभव कर सके।

विश्व शान्ति के मार्ग में आज सबसे बड़ी बाधा संसार का दो शक्तिशाली गुटों में बँट जाना है जिनमें से प्रत्येक दूसरे से सशंकित और भयभीत है। इन दोनों गुटों के प्रमुख उन्नायक अमरीका और रूस पिछले महायुद्ध में एक दूसरे के साथी थे, पर तब भी एक दूसरे के प्रति संदेह और अविश्वास उनके मन में था ही। युद्ध के समाप्त होने पर अमरीका ने कुछ समय तक सहयोग के मार्ग पर चलना चाहा पर उसे बहुत शीघ्र यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी जगत् और रूस दोनों का शान्ति से साथ साथ रहना असंभव है, और इस कारण उसने रूस की शक्ति के विस्तार को 'सीमित' रखने (Containment) की नीति पर चलने का निश्चय किया। इसके लिए तीव्र गति से शस्त्रीकरण आरंभ किया गया। दूसरी ओर रूस ने प्रचार, भय और षड्यन्त्र के सहारे समीपस्थ देशों में अपने प्रभाव को रोपने का प्रयत्न किया। यह सच है कि ईरान, यूनान आदि जिन देशों में अमरीका ने सफल प्रयोग के द्वारा रूस के प्रभाव को रोकने का प्रयत्न किया रूस पीछे हटने के लिए विवश हुआ। वह युद्ध का खतरा मोल लेना नहीं चाहता था, पर प्रादेशिक दृष्टि से अधिक लाभ रूस को ही मिला। फिनलैंड और बाल्टिक-राज्य, पोलैंड, चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, रूमानिया

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याएं

और बल्गारिया, अलबानिया—यूगोस्लाविया को छोड़कर केन्द्रीय और पूर्वी यूरोप के सभी देश उसके अधिकार में चले गये। बाह्य-मंगोलिया और उत्तरी कोरिया में कम्युनिस्ट सरकारें थीं ही। रूस को सबसे बड़ी सफलता चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के रूप में मिली। कोरिया में रूस ने गलती कर दी, क्योंकि संभवत उसका अनुमान था कि अमरीका दक्षिण कोरिया के लिए युद्ध करने के लिए तैयार नहीं होगा। युद्ध आरंभ हो जाने के बाद उसने अमरीका के युद्ध संचालन के मार्ग में अधिक से अधिक रुकावटें उपस्थित की। रूस में शस्त्रीकरण किस गति से चल रहा है यह जानने का तो कोई साधन हमें उपलब्ध नहीं है, पर पश्चिमी देश, अमरीका के नेतृत्व में, अणुबमों और संभवत हाइड्रोजन बमों और अन्य अस्त्र शस्त्रों के एक विशाल संग्रह को जुटाने में लगे हुए हैं। लगभग पन्द्रह लाख व्यक्ति सेना में भरती किए जा चुके हैं और करोड़ों अन्य व्यक्तियों को सैनिक शिक्षा दी जा चुकी है। राष्ट्रों के विविध सङ्गठन बनाए जा रहे हैं। इनमें 'नॉर्थ एटलांटिक ट्रीटी ऑर्गेनिजेशन' (N A T O) और 'कौन्सिल ऑफ यूरोप के (Council of Europe) मुख्य हैं। इनमें पश्चिमी यूरोप के सभी देश और यूनान और टर्की सम्मिलित हैं। जर्मनी को उसमें लेने का प्रयत्न चल रहा है। विभिन्न देशों की सेनाओं को संयोजित करने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। यह सारा प्रयत्न अमरीका के निर्देशन में चल रहा है। पूर्वी एशिया में, जापान के साथ की जानेवाली १९५१ की सन्धि ने अमरीका की स्थिति को मजबूत बनाया है। फार्मोसा और फिलीपीन में अमरीका की स्थिति मजबूत है। हिन्दचीन और मलाया में अमरीका, फ्रांस और ब्रिटेन की सहायता इस उद्देश्य से कर रहा है कि वहाँ रूस का प्रभुत्व स्थापित न हो सके। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड, किसी भी स्थिति में, अमरीका का साथ अवश्य देंगे— Anzus के रूप में उन्होंने अपने को संगठित भी कर लिया है। इंडोनेशिया, बर्मा, और भारतवर्ष अमरीका के प्रभाव से अपने प्रभाव को मुक्त रखने का प्रयत्न कर रहे हैं। पाकिस्तान और श्रीलंका की सहानुभूति निश्चित रूप से पश्चिमी राष्ट्रों के साथ है। मध्यपूर्व के देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र में लेने के लिए अमरीका और रूस दोनों ही प्रयत्नशील हैं।

धिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में स्वस्थ परम्पराओं का निर्वाह आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र के 'शान्ति निर्माण' के उद्देश्यों को, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, कार्यरूप देने के लिए अधिक प्रभावपूर्ण प्रयत्न करना पड़ेगा। मानवी अधिकारों का घोषणा-पत्र सभी देशों के संविधानों का एक अनिवार्य अंग बन जाना चाहिए। संक्षेप में, संयुक्त राष्ट्रसंघ के भीतर और बाहर सभी स्थानों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न किया जाना आवश्यक है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना के आधार पर ही हम एक विश्व-समाज का निर्माण कर सकेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्तराष्ट्र के अतिरिक्त विश्व शान्ति की कुछ अन्य योजनाओं पर प्रकाश डालिए।

२—विश्व-राज्य की कल्पना को अव्यावहारिक और असम्भव क्यों माना गया है?

३—विश्व-संघों की कुछ योजनाओं का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि सीमित संघों की स्थापना से विश्व-शान्ति के लिए क्या खतरे उत्पन्न हो सकते हैं?

४—संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्य-पत्र और कार्य-प्रणाली में आप क्या सुधार करना चाहेंगे?

५—आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए। आप उन्हें किस प्रकार सुलझाने का प्रयत्न कर सकते हैं?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Carr, E. H. · Conditions of Peace.
2 Regionalism and Security, Published by Indian Council of World Affairs.
3. Clarence, K. Streit ; Union Now.
4. Federal Union, Ed by M. Chaning Pearce.
5. Culbertson Ely Total Peace.
6. Willkie, W ; Our World.

खनिज पदार्थ निकालने में तथा कृषि आदि में रसायन-शास्त्र के ज्ञान का बहुत अधिक उपयोग होता है। रसायन-शास्त्र का ज्ञान युद्ध-अथवा शांति दोनों ही कालों में अत्यधिक उपयोगी है। हमारे दैनिक जीवन पर विशेष रूप से प्रभाव डालने वाले इन विविध प्रकार के उपयोगों का वर्णन यथास्थान किया जावेगा। परन्तु पहले, हमें यह समझना चाहिए कि रसायनशास्त्र है क्या ?

रसायन-शास्त्र की उत्पत्ति—रसायन-शास्त्र की उत्पत्ति उस समय हुई, जब कि मनुष्य कि बुद्धि का इतना विकास हुआ कि वह अपने चारों ओर फैले हुए जड़ संसार (Material world) के विषय में विचार कर सका। उस समय से निरन्तर उसका ज्ञान बढ़ता ही गया है। उसने इस बात को जानने का प्रयत्न किया कि पदार्थ किससे बना है, और उसका प्राकृतिक निर्माण कैसे होता है। फिर उसने स्वयं उन वस्तुओं को बनाने की चेष्टा की। सफलता दोनों से वह शिक्षा ग्रहण करता रहा। शताब्दियों के सतत प्रयत्न के उपरान्त रसायनज्ञ इस योग्य हुआ है, कि वह पदार्थों को नये सिरे से बना सके। इसके साथ ही वह ऐसे पदार्थ भी तैयार करने में सफल हुआ है, जो कि प्रकृति में भी प्राप्य नहीं हैं।

रसायन-शास्त्र की परिभाषा—जड़ पदार्थों के अध्ययन को रसायन-शास्त्र कहते हैं। यह शास्त्र उन पदार्थों से सम्बन्ध रखता है, जिनसे हमारे चारों ओर फैला विशाल संसार बना हुआ है, तथा उन पदार्थों की आपस में एक दूसरे के साथ होने वाली क्रियाओं से भी इसका सम्बन्ध है। साथ ही इसमें उन सिद्धान्तों को जानने का प्रयत्न किया जाता है जिनका पालन विभिन्न प्रकार के पदार्थ आपस में क्रिया करते समय करते हैं। अन्त में इसका उद्देश्य पदार्थ की अन्तिम रचना (Ultimate constitution) का पता लगाना है।

रसायन-शास्त्र की शाखाएँ—इससे पूर्व बतलाया जा चुका है कि मनुष्य आदि काल से ही रसायन-शास्त्र से परिचित रहा है। वह समझकर या अनजान में रासायनिक पदार्थों और क्रियाओं का उपयोग करता रहा है। इसके ज्ञान में सदैव वृद्धि होती रही है और आजकल इसका संग्रह इतना बढ़ गया है कि अध्ययन की सुविधा के लिए इसका विभाजन किया जा चुका है और अब भी इसकी शाखाओं में वृद्धि होती

३—व्यवसायात्मक रसायन (Industrial chemistry)—इस शाखा के अन्तर्गत कल-कारखानों में पदार्थों का निर्माण करने की क्रियाओं का समावेश है।

४—युद्ध विषयक रसायन (Chemistry of War Materials)—आधुनिक युग में रसायन का बहुत प्रयोग हो चुका है। यह युद्ध के प्रयोग में आने वाले तत्वों और यौगिकों के विषय में बतलाता है। अब यह एक मुख्य शाखा है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक शाखा की अनेक उपशाखाएँ हैं किन्तु उनका विस्तृत वर्णन यहाँ संभव नहीं है।

रसायनशास्त्र का वर्गीकरण

प्रश्नावली
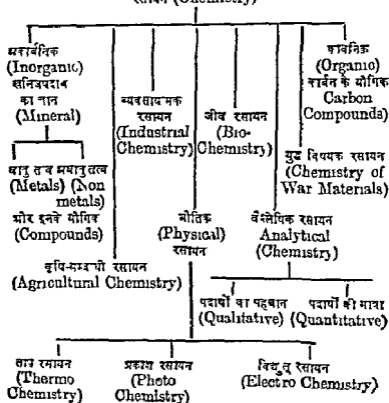
१—रसायन-शास्त्र किसे कहते हैं ? इसका उपयोग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में होता है ?

२—"रसायन विज्ञान मनुष्य-मात्र के लिए लाभप्रद है अथवा हानि-कारक यह उसके उपयोग पर निर्भर है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए। (पंजाब इण्टर १९११)

३—रसायन-शास्त्र की उपयोगिता पर एक निबन्ध लिखिए।

अध्याय २

रसायन-शास्त्र का इतिहास

१—प्राचीन युग (११०० ई० तक)
२—कीमिया (Alchemy) युग (११०० से १५०० ई०)
३—औषधीयरसायन (Iatro-chemical) युग (१५०० १६०० ई०)
४—फ्लॉजिस्टन सिद्धान्त (Phlogiston Theory) युग
(१७००–१८०० ई०)
५—आधुनिक युग (१८०० ई० से)

इससे पूर्व बतलाया जा चुका है कि रसायन शास्त्र का इतिहास आदि काल से ही प्रारम्भ होता है, परन्तु खेद का विषय यह है कि आदिकाल का कोई भी क्रमबद्ध लेख प्राप्त नहीं है। फिर भी रसायन शास्त्र के इतिहास को विभिन्न युगों में विभाजित किया जा सकता है। इन युगों का विभाजन करते समय हमें विशेषतया रसायनज्ञों के ध्येय पर दृष्टिपात करना होगा।

आजकल रसायनज्ञों का क्या ध्येय है, और वे किस अनुसंधान में लगे हुए हैं, इस विषय पर प्रथम अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। पूर्व समय में रसायन शास्त्र का ध्येय कुछ और ही समझा जाता था तथा समय के साथ-साथ ध्येय भी बदलते रहे हैं। ध्येयों की विभिन्नता का ध्यान रखते हुए रसायन शास्त्र का इतिहास पाँच युगों में बाँटा गया है।

१—प्राचीन युग—आदि काल से लेकर कीमिया युग के प्रारम्भ तक इस युग का विस्तार है। इस समय के रसायनज्ञों का उद्देश्य किसी विशेष ध्येय की पूर्ति में तल्लीन होना नहीं था। अतीत काल में अनेक देशों के वैज्ञानिकों ने रसायनशास्त्र के क्षेत्र में ज्ञान उपार्जित किया था, जैसे भारतवासी, चीनवासी, अरबवासी आदि, परन्तु दुर्भाग्यवश हमें इन लोगों के वैज्ञानिक ज्ञान के विषय में बहुत कम ज्ञान प्राप्त हो सका है। इस अपर्याप्त ज्ञान से भी हमें विदित होता है कि उन्हें रासायनिक क्रियाओं

के विषय में बहुत कुछ ज्ञान था, और यह ज्ञान उन्हें अधिकतर अचानक ही प्राप्त हुआ था। इसके साथ वे उन तथ्यों का केवल व्यावहारिक प्रयोग ही करते थे। उनका अध्ययन वे इस दृष्टि से नहीं करते थे कि वे उनको संगठित कर किसी विशेष सीमा तक वैज्ञानिक सत्य के अनुसंधान के लिए प्रयोग में लावें। प्राचीन समय में रसायन-शास्त्र का अध्ययन विशेषतया अनुमान पर ही आधारित था, और कभी भी सुयोजित प्रयोगों द्वारा तथ्य एकत्रित करके उनसे परिणाम निकालने का प्रयत्न नहीं किया जाता था। निगमात्मक पद्धति (Inductive method) से भी वे अनभिज्ञ थे। पूर्व वैज्ञानिक निश्चित धारणा बनाकर उस पर चलते थे और उन्हीं धारणाओं के आधार पर वे विश्व की रचना के विषय में अनुमान लगाने में भी संकोच न करते थे। लगभग ४०० ई० पूर्व दार्शनिक एरिस्टाटिल (Aristotle) ने जो रास्ता दिखाया उसके बाद के वैज्ञानिकों ने उसका अनुसरण किया। एरिस्टाटिल केवल तर्क द्वारा ही परिणाम निकालने की पद्धति (Deductive menthod) का कट्टर समर्थक था, जिसको वह वैज्ञानिक समस्याएँ हल करने में सर्वश्रेष्ठ पद्धति मानता था। यदि हम रसायन-शास्त्र के पूर्व इतिहास का अध्ययन करें तो विदित होगा कि बहुत से ऐसे त्रुटिपूर्ण वृत्तान्तों ने वैज्ञानिक विचारों में स्थान पा लिया था, जो केवल तर्क के द्वारा परिणाम निकालने की पद्धति पर ही आधारित थे और जिनका समर्थन किन्हीं प्रयोगों या अनुभवों से नहीं हुआ था।

हमारे महान् देश में वैदिक काल की सभ्यता के समय से ही भारतीय वैज्ञानिकों ने पदार्थ की अन्तिम रचना के रहस्य को भी समझने की चेष्टा की। महान् ऋषि कणाद ने पदार्थ के मूल गुणों के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और अपना प्रसिद्ध "परमाणु सिद्धान्त" निकाला। उनके अनुसार प्रारम्भिक रूप से परमाणुओं का तथा माध्यमिक रूप से उनके संगठनों का बना हुआ है। यह सिद्धान्त बहुत सी साधारण बातों में एक और अनुसाधक—यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस (Democritus) (४०० वर्ष ईसा पूर्व)-द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से मिलता जुलता था।

ऋषि कपिल के अनुसार संसार केवल पाँच "तत्वों" से निर्मित हुआ है, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। ये पाँचों तत्व पाँच आदि कणों से बने हुए हैं। यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस

"तत्त्व" शब्द का अर्थ हमारे वर्तमान प्रचलित अर्थ से बिलकुल भिन्न था। प्राचीन काल में इसका अर्थ पदार्थ के गुणों से सम्बन्ध रखता था, जैसे ठंडापन, सूखापन आदि जो कि समस्त पदार्थों की विशेषता बतलाते थे। वह सरल अनुभवों का युग था, जब कि निश्चित आंकड़ों, उचित यंत्रों, निरीक्षण की सुविधाओं व संग्रह किये हुए व्यवस्थित ज्ञान के अभाव में सत्य की खोज में संलग्न वैज्ञानिक किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा सरल अनुभव पर ही अधिक निर्भर रहते थे।

पाश्चात्य दार्शनिक (वैज्ञानिकों को उस समय दार्शनिक कहते थे, क्योंकि विज्ञान दर्शन शास्त्र का एक अङ्ग माना जाता था) संसार को केवल चार तत्त्व–वायु, पृथ्वी जल और अग्नि से बना हुआ मानते थे। शायद यह विचार उन्होंने भारतीय दार्शनिकों से ग्रहण किया था। एरिस्टाटिल (Aristotle) के समय में ही संसार चार की अपेक्षा पाँच तत्त्वों का बना हुआ समझा जाने लगा था। यह विचारधारा वही थी जिसका भारतीयों ने उस समय से बहुत पूर्व ही प्रतिपादन किया था। एरिस्टाटिल के अनुसार पदार्थों का सगठन दो या दो से अधिक मूल तत्त्वों के परस्पर मिलने से होता था। इसलिए इससे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि एक से अधिक मूल तत्त्वों को मिलाने से उसके गुण बदले जा सकते हैं। यदि और कुछ नहीं तो इस सिद्धान्त से इतना अवश्य हुआ कि इसने मनुष्य के हृदय में यह इच्छा पैदा की कि वह एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में बदलकर और अंततः सोना बना करके धनवान बने। अभी तक जहाँ विरले व्यक्ति थे, जो ज्ञानोपार्जन के लिए विज्ञान के अध्ययन में लगे हुए थे, वहाँ इस विचारधारा ने धन और शक्ति के उपार्जन के लिए बहुतों को इस अध्ययन के लिए प्रेरित किया। ऐसे सूत्र (Formula) की खोज बराबर जारी रही जिससे अधोश्रेणी (Baser) के धातु जैसे लोहा, सीसा, ताँबा, आदि सोना और चाँदी में बदले जा सकें। इस प्रकार की मियागिरी का श्रीगणेश हुआ। इस विचारधारा ने कुछ त्रुटि-पूर्ण निरीक्षणों तथा उनसे निकाले गये परिणामों से और भी जोर पकड़ा। उदाहरण के लिए यह देखा गया कि जब लोहे के बर्तन तांबे की खानों में इकट्ठे हुए पानी में छोड़ दिये जाते हैं तो लोहे पर ताँबा जम जाता है। इस निरीक्षण से उन्होंने यह परिणाम निकाला कि लोहा पानी के संयोग से ताँबे में बदल गया है।

निश्चित लेख का अभाव होने पर भी हमें ज्ञात होता है कि इसी युग में काँच और उसे बनाने की कला का प्रादुर्भाव चीन और मिस्र में हुआ। प्लिनी (Pliny) ने सबसे प्रथम काँच तैयार करने का निश्चित तरीका बताया, जिसमें सोडा और रेत को साथ-साथ गलाया जाता था। कुछ धातुओं के ऑक्साइड (Oxide) जैसे ताँबे की ऑक्साइड मिलाने पर शीशे को रंगीन भी बनाया जा सकता था। चीनी-मिट्टी (Porcelain) पर काफी समय तक चीनियों का एकाधिकार रहा। जहाँ-तहाँ हम देखते हैं कि प्राचीन लोगों को कार्बनिक रसायन शास्त्र की कुछ जटिल क्रियाओं का भी ज्ञान था। उदाहरण के लिए वे वसा और क्षार (चूने और राख से प्राप्त) को मिलाकर साबुन बनाना भी जानते थे। कपड़ा रँगने की क्रिया भी प्राचीन लोग भली भांति जानते थे।

२—कीमियागिरी (Alchemy) का युग (सन् ११०० से १५०० ई०)—अरबी भाषा में कीमियागिरी का अर्थ गुप्त कला है। इससे पूर्व भी बतलाया जा चुका कि उस समय के विचारकों का मुख्य उद्देश्य अधोश्रेणी के धातुओं को सोने में परिवर्तित करना था और वे अपने इस ज्ञान को गुप्त रखना चाहते थे। उस काल के रसायनज्ञों के निम्नलिखित मुख्य तीन ध्येय थे :—

(१) सबसे पहले वे बहुत ही शीघ्र धनवान् बन जाने के ध्येय से ऐसे गुप्त सूत्र की खोज में थे, जिसकी सहायता से वे ऐसा पदार्थ बना सकें जिसके केवल स्पर्शमात्र से ही अधोश्रेणी के धातु स्वर्ण में परिवर्तित हो सकें। वे जिस पदार्थ की खोज में थे, उसे "पारस पत्थर" (Philosopher's stone) कहते थे।

(२) एक अन्य खोज में भी संलग्न थे। उनका कथन था कि यदि एक अधोश्रेणी के धातु को श्रेष्ठ श्रेणी के धातु में बदला जा सकता है, तो एक वृद्ध और शिथिल शरीर को युवा और स्वस्थ शरीर में क्यों नहीं बदला जा सकता। इससे मनुष्य की आयु में भी वृद्धि की जा सकेगी, और सम्भव है कि उसे अमर भी बनाया जा सके। कीमियागर दत्तचित्त होकर उस पदार्थ की खोज में लग गये, जिसे वे अमृत (Elixir of life) कहते थे।

(३) उनका तीसरा ध्येय था सर्व घोलक (Universal solvent) की खोज। उनका विचार था एक ऐसे द्रव का आविष्कार करें जिसमें संसार की प्रत्येक वस्तु घुल सके।

इस प्रकार की अनेक खोजें होती रहीं, किन्तु कोई परिणाम नहीं निकाला। इसी समय में हमारा परिचय एक ऐसे व्यक्ति से हुआ जिसने सबसे पहले प्रायोगिक रूप से इस दिशा में कुछ पथ प्रदर्शन किया। उस महान व्यक्ति का नाम था रोजर बेकन (Roger Bacon)। यह इंगलैंडवासी अमृत में विश्वास रखता था, फिर भी उसने प्रचलित आकस्मिक निरीक्षणों और जनश्रुति प्रमाणों पर आधारित अन्वेषण के ढंगों को छोड़कर एक नया ही ढंग अपनाया। उसने बहुत से तथ्यों का स्वयं निरीक्षण किया और इन अनुसंधानों के लिए नये प्रयोग काम में लिये। उसी ने बताया कि विचार के साथ अनुसंधान भी आवश्यक है।

भारतीय कीमियागिरी—मनुष्य की सार रूप से प्रकृति व भावनाएँ सब जगह समान हैं। इसीलिए भारतीय प्राचीन पुस्तकों में भी 'पारस पत्थर', 'अमृत' आदि का वर्णन हमें मिलता है। भारत में रसायन शास्त्र ने भेषज विज्ञान तथा हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाजों के सहयोगी के रूप में प्रगति की। उनके विचार में किसी रोग के निवारण के लिए केवल औषधि ही पर्याप्त न थी, उसमें हवन, पूजा व अन्य धार्मिक कार्यों का सहयोग भी आवश्यक माना जाता था। इस प्रकार हम ऋग्वेद में इस बात का विस्तृत विवेचन पाते हैं, जिसमें नेत्रहीनों को नेत्र व अंगहीनों को अंग प्रदान करने के लिए दैवीय चिकित्सक अश्विनीकुमारों का आह्वान किया जाता है। ऐसे धर्म में यह स्वाभाविक था कि वे विभिन्न तत्वों को उनकी आवश्यकतानुसार तथा प्रभाव के अनुसार बड़े या छोटे देवताओं के नाम से सम्बोधित करते। इस प्रकार हम सूर्य, अग्नि, वरुण आदि को उच्च देवता मानते आये हैं। इसी भांति ऋग्वेद में कुछ औषधीय पौधों व जड़ी-बूटियों को देवताओं के स्तर पर पहुँचा दिया गया है, तथा उन्हें देवताओं के नाम से सम्बोधित किया गया है। अमृत वह रसायन माना जाता था जिससे देवताओं को अमरत्व मिलता था।

ईसा से पूर्व समय में हमें दो महान भारतीय कीमियागरों के नाम मिलते हैं। एक नागार्जुन थे जो ईसा से पूर्व चौथी शताब्दी के अन्त में

हुए थे, तथा उनका निवासस्थान सोमनाथ के निकट था। उन्होंने पारे काला सल्फाइड (Sulphide) (जो उस समय कज्जुलि कहलाता था) बनाया और उसका उपयोग किया। दूसरे पातंजलि थे जो पाणिनी के भाष्यकार के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्हें लोह-विज्ञान का विशेष ज्ञान था।

कीमिया युग में रासायनिक योगिकों तथा प्रायोगिक रसायन-शास्त्र का ज्ञान--बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के भारतीय रसायन-शास्त्र के ज्ञाताओं को अपने समकालीन पाश्चात्य विद्वानों की अपेक्षा प्रायोगिक रसायन-शास्त्र का अधिक और उच्च ज्ञान था। उदाहरणार्थ—वे धातुओं की परीक्षा के लिए, उनके जलाने से उत्पन्न होनेवाली लौ का रंग उपयोग में लाते थे। हम यह जानकर उनके आत्मविश्वास तथा प्रतिभा की सराहना किये बिना नहीं रह सकते कि उस समय के भारतीय चिकित्सक संखिया, पारा और लोहा जैसी तीव्र औषधियों का मुक्तहस्त से एवं उचित उपयोग करते थे।

महान् अरब रसायनज्ञ गैबर (Geber) (आठवीं शताब्दी के लगभग) ने गन्धक का अम्ल (Acid) तैयार करने में सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने अपने प्रयोग द्वारा यह देखा कि जब फिटकरी को गर्म किया जाता है, तो यह द्रवस्रावित (Distil) होता है, और यह बहुत अच्छा घोलक है। दूसरी धातुओं के मिश्रण से क्यूपेलेशन *(Cupellation) क्रिया द्वारा शुद्ध सोना प्राप्त किया जाता था। पारे ने सदा से ही कीमियागरों को अपनी ओर आकर्षित कर रखा था। यह बड़ी मात्रा में पारे की खनिज को अधिक गर्म करके तैयार किया जाता था।

यह ध्यान रखना आवश्यक है कि प्रारम्भिक काल से आज तक एक ही विचारधारा विशेष रूप से प्रधान रही, जिसमें ऐसे सूत्र की खोज होती रही जिसके द्वारा अधोश्रेणी धातुओं से श्रेष्ठ श्रेणी के धातु प्राप्त किये जा सकें। स्विट्जरलैंडवासी वैद्य पेरासेल्सस (Paracelsus) वह मनुष्य था, जिसने रसायन शास्त्र के अध्ययन को वैज्ञानिक आधार दिया। उसने रासायनिक प्रयोगों के परिणाम का उपयोग औष-

*उचित ताप पर एक विशेष प्रकार की प्याली में गरम करने की क्रिया को क्यूपेलेशन कहते हैं।

धीय शास्त्र मे किया। पेरासेलसस से पूर्व रसायनशास्त्र पर कीमियागिरी विचारों ने अपना अधिकार जमा रखा था। अब रसायनशास्त्र ने उस विचारधारा से मुक्त होकर नये युग में पदार्पण किया।

३—औषधीय रसायन-शास्त्र का युग (Intro-chemical period) (१५००-१६००ई०) जैसा कि कहा जा चुका है पेरासेलसस ने रसायन-शास्त्र का उपयोग औषधीय शास्त्र में किया। यह प्रोत्साहन उन्हें अपने गुरु बेसिल वैलेन्टाइन (Basil Valentine) से प्राप्त हुआ, जो कि अपने समय के माने हुए औषधिय शास्त्र के ज्ञाता थे। उन्होंने रसायन-विज्ञान और औषधि-विज्ञान के क्षेत्र को मिलाकर वैज्ञानिकों के लिए नया पथ-प्रदर्शन किया। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि रसायन शास्त्र का उद्देश्य सोना बनाना नहीं बल्कि औषधि बनाना है। इसके बाद पेरासेलसस के अनुयायियों ने भी यही मार्ग अपनाया। यह वह युग था जिसमें विभिन्न विचारधाराओं को वास्तविक एवं प्रयोगिक रूप दिया गया, तथा कुछ ऐसी काल्पनिक विचारधाराओं को रद्द किया गया, जो वास्तविकता से परे थीं।

भारतीय रसायनज्ञों नागार्जुन, पातंजलि और पश्चिमी विद्वानों पेरासेलसस, वॉन हैल्मोन्ट (Von Helmont) और सिलविअस (Silvius) ने इसी विचारधारा पर कार्य किया। "रस-रत्न समुच्चय" इस औषधीय रसायन-शास्त्र युग की देन है। रोगों की चिकित्सा के लिए पारे के यौगिकों तथा खनिज पदार्थों के उपयोग पर "रस-रत्न समुच्चय" बहुत ही उत्तम तथा वृहद् पुस्तक है। इसमें पारे के विषय में तथा शुद्ध रूप में इसे तैयार करने के तांत्रिक (Mystic) उपाय बताये गये हैं। साथ ही इत्रों का तैयार करना, द्रवीकरण (Melting), पदार्थों को जलाकर भस्म तैयार करना, आदि कई क्रियाएँ विस्तारपूर्वक समझाई गई हैं। प्राचीन हिन्दुओं के मतानुसार पूर्व जन्म में किये हुए पाप के कारण से ही रोग उत्पन्न होते थे और पारा या उससे तैयार की हुई औषधियों के खाने से, उसके पाप नष्ट हो जाने से रोग दूर हो जाता था।

इसी युग में पारे और क्लोरीन (Chlorine) के एक यौगिक कैलोमल (Calomel)का साधारण तथा व्यापारिक रूप में तैयार करने का रास्ता निकाला गया। यह एक श्वेत चूर्ण होता है, और इसे हमारे

हिन्दू पूर्वज "रस कपूर" के नाम से पुकारते थे, और औषधि के रूप में उपयोग करते थे।

हेलमोंट (Helmont) ने गैसों के अध्ययन द्वारा रसायन विज्ञान को एक नया मार्ग प्रदर्शित किया। हेलमोंट गैस सम्बन्धी रसायन शास्त्र (Pneumatic Chemistry) का जन्मदाता कहा जा सकता है। उससे पूर्व विभिन्न गैसें, जैसे हाइड्रोजन (Hydrogen) कार्बन डाईआक्साइड (Carbondioxide) सल्फर डाईआक्साइड (Sulphur dioxide) आदि सभी साधारण हवा ही समझी जाती थीं। यही सबसे प्रथम व्यक्ति था, जिसने इनके गुणों और विशेषताओं का समुचित रूप से विवेचन करके यह बताया कि वे वास्तव में भिन्न भिन्न पदार्थ हैं। उसने इन सब के लिए सर्व प्रचलित नाम गैस (Gas) दिया।

पश्चिम में औषधि विज्ञान के इतिहास में सिलवियस (Silvius) का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। वह युग अन्धविश्वास रूढ़िवाद व जन-श्रुतिवाद का था। उसने शरीर की रचना का अध्ययन कर धमनियों (Artery) व शिराओं (Vein) के रक्त का भेद बताया और यह भी बताया कि शिरा का रक्त सारे शरीर में भ्रमण कर चुकने के कारण दूषित हो जाता है, और दूषित रक्त का रंग नीला हो जाता है, और यह साँस द्वारा वायु खींच लेने पर फिर शुद्ध लाल रक्त में बदल जाता है तथा यह रक्त धमनिक रक्त (Arterial Blood) कहलाता है।

ग्लोबर (Glauber) ने उद्योगों के विकास के लिए रसायन शास्त्र का उपयोग किया और यह विज्ञान वर्त्तमान काल में औद्योगिक रसायन-शास्त्र के नाम से रसायन शास्त्र की एक शाखा के रूप में अपना अलग ही महत्त्व रखता है। इस विज्ञान का श्रीगणेश उसने धातुओं के शोधन (Purification) के लिए प्रयोग करके किया। उसने बहुत सी धातुओं को द्रावण विधि (Smelting) द्वारा तैयार किया।

पूर्वी द्वीप समूह से अमेरिका के लिए नील के निर्यात ने रंग उद्योग में नये अन्वेषण करने के लिए प्रेरणा दी कपड़े पर स्थायी रंग (पक्का-रंग) बनाने के लिए नये और सुधरे हुए तरीके निकाले गये। काँच और बर्तन के उद्योग भी पीछे नहीं रहे। द्विविच्छेदन (Double decomposition) और "मरक्यूरिकक्लोराइड (Mercuric Chloride) और

एण्टीमनी सल्फाइड (Antimony Sulphide) की पारस्परिक क्रिया" जैसे शब्द और क्रियाओं का (जो कि आधुनिक रसायन शास्त्र में अधिकतर उपयोग में लाई जाती हैं) ग्लोबर ने स्पष्टीकरण किया। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ग्लोबर के समय में ही औषधीय रसायन युग का अन्त हुआ।

इस युग में हमारे देश में जो कार्य हुआ उसका कुछ वर्णन हमें "रस प्रदीप" नामक पुस्तक में मिलता है। इसमें खनिजों से उत्पन्न अम्लों को स्रावण विधि से तैयार करने की विधि विस्तारपूर्वक समझाई गई है। उनके गुणों का तथा धातुओं इत्यादि को घोलने की शक्ति का भी वर्णन इस पुस्तक में है। इस युग का एक अन्य प्रसिद्ध भारतीय ग्रन्थ भावमिश्र द्वारा लिखित "भाव प्रकाश" है। उसमें रोगों का आयुर्वेदिक प्रणाली से उपचार करने का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

भारतवासी बहुत प्राचीन समय से ही हीरों को मूल्यवान समझते थे, तथा वे उन्हें ऐसे असाध्य रोगों के लिए बहुमूल्य और प्रभावशाली औषधि तैयार करने के काम में लाते थे जो रोग अन्य किसी औषधि से अच्छे न होते थे। वे जवाहिरातों की परख के लिए विशेष प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। जैसे —

(१) उनके आपेक्षिक घनत्व (Relative Density) की तुलना।

(२) उनकी कठोरता (Hardness) की परीक्षा।

(३) उनकी चमक (Lustre) पारदर्शकता (Transparency) तथा रंग की परीक्षा।

(४) उनके गलने की शक्ति की परीक्षा—विशेषतया उस समय जब कि वे क्षारों के साथ मिलाकर गर्म किये जाते थे।

इस युग के अन्त में हमें दो विचारों का समर्थन स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। प्रथम लवणों के संगठन के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना और रासायनिक यौगिक (Chemical compound) और रासायनिक आकर्षण (Chemical affinity) आदि शब्दों को समझना। दूसरा धातुओं के जलने व उनके भस्म होने को और साँस लेने को एक ही क्रिया के दो रूप समझना।

४—फ्लाजिस्टन सिद्धान्त का युग (Period of Phlogiston-Theory) (१६००-१८००)—सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ तथा उसके बाद से रसायनज्ञों ने रसायन-शास्त्र को विज्ञान की एक आत्म-निर्भर व स्वतन्त्र शाखा बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। इस युग में एक अँगरेज विचारक फ्रांसिस बेकन (Francis Bacon) का अभ्युदय हुआ, जिन्होंने एक वैज्ञानिक न होते हुए भी एक ऐसी कार्य-प्रणाली बताई जिसे हम आधुनिक कार्य-प्रणाली कह सकते हैं। उनके मतानुसार प्रयोग और उस पर विचार एक दूसरे पर अवलम्बित होने चाहिए, जैसा कि इससे पूर्व पहले अध्याय में वर्णन किया गया है। अर्थात् नियन्त्रित अनुमान को प्रणाली अपनाई जानी चाहिए। बेकन की कार्य-प्रणाली का अनुसरण करते हुए रॉबर्ट बॉयल (Robert Boyle) ने पदार्थों की प्रकृति और उनके संगठन पर प्रयोग किये और उन प्रयोगों के पश्चात् ही वास्तव में विज्ञान की एक स्वतन्त्र शाखा के रूप में रसायन शास्त्र का इतिहास प्रारम्भ होता है।
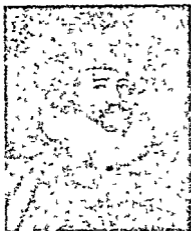
फ्रांसिस बेकन

धातुओं को जलाकर भस्म बनाने तथा जलने की क्रिया का सिद्धान्त उस युग के रासायनिक अन्वेषण का मुख्य भाग था। उस युग के महान् रसायनज्ञों ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति इस समस्या को प्रायोगिक तथा सैद्धान्तिक रूप से हल करने में लगा दी। स्टाह्ल (Stahl) ने अपने फ्लॉजिस्टन सिद्धान्त (Phlogiston Theory) का वर्णन किया। उनके अनुसार प्रत्येक जलने वाली वस्तु का मुख्य अंश "Phlogiston" था, और उस पर ही प्रत्येक पदार्थ का जलना निर्भर था। स्टाह्ल का विश्वास था कि प्रत्येक जलनेवाली वस्तु फ्लॉजिस्टन और उस वस्तु की भस्म से मिलकर बनी थी, और जलने के पश्चात् केवल वह भस्म रह जाती थी, और फ्लॉजिस्टन बाहर निकल जाता था। इससे किसी वस्तु को जलाने

पर उस वस्तु का भार घटना चाहिए था, लेकिन होता इसके बिल्कुल विपरीत है। अर्थात् जलाने पर वस्तु का भार घटने की अपेक्षा बढ़ जाता है। किसी ने भी इस तथ्य पर ध्यान नहीं दिया कि किसी भी वस्तु को जलाने पर उसका भार बढ़ता है। प्रीस्टले (Priestley) का इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित हुआ, किन्तु दुर्भाग्यवश उसने इसका गलत रूप में समाधान किया। उसने इस सिद्धान्त का समर्थन इस तर्क को देते हुए किया कि फ्लॉजिस्टन पदार्थ का भार ऋण भार (Negative weight) होता है। इस तरह वस्तुओं के जलने पर फ्लॉजिस्टन के निकल जाने से उनका भार बढ़ जाता है।
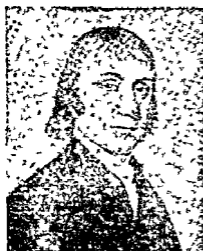
प्रीस्टले

इस युग के कुछ सैद्धान्तिक विचार—जलने की क्रिया की अशुद्ध धारणा ही तत्त्व के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में बाधक सिद्ध हुई। राबर्ट बॉयल (Robert Boyle) प्रथम व्यक्ति था, जिसने "तत्त्व" शब्द का वही अर्थ दिया जो आधुनिक काल में स्वीकार किया जाता है। उसके अनुसार तत्त्व एक सरल पदार्थ है जिसके मिलने से संयुक्त पदार्थ बनता है लेकिन किसी भी प्रकार से उससे भी अधिक सरल पदार्थ प्राप्त करने के लिए उसे तोड़ा नहीं जा सकता है।

उसके "रासायनिक यौगिक" शब्द का स्पष्ट अर्थ दिया और पहले से अधिक स्पष्ट रूप में उसकी परिभाषा दी। उसने सरल और संयुक्त पदार्थों की प्रकृति में भेद बताया। अन्य कई रसायनज्ञों का भी यही विचार था कि जब पदार्थ आपस में रासायनिक विधि द्वारा मिलते हैं, तब उनके विशेष प्रकार के गुण इस नये बने हुये पदार्थ में नहीं रहते। वे पदार्थ नष्ट नहीं हो जाते हैं बल्कि नये पदार्थ में विद्यमान रहते हैं।

राबर्ट बायल ने अपने कणवाद (Corpuscular Theory) के

आधार पर पदार्थ के बनने और विच्छेदन होने की किया की व्याख्या की। उसके विचारानुसार सब पदार्थ बहुत छोटे-छोटे कणों से बने हुए हैं, और विभिन्न पदार्थों के छोटे-छोटे कणों के पारस्परिक आकर्षण से यौगिक बनते हैं। यदि कोई अन्य पदार्थ किसी यौगिक के सम्पर्क मे लाया जाय और यदि यौगिक के अवयवों के पारस्परिक आकर्षण की अपेक्षा उस पदार्थ का किसी एक अवयव के प्रति अधिक आकर्षण हो तो उस यौगिक का विच्छेदन हो जायेगा उदाहरण के लिए दो पदार्थों A और B के कण परस्पर मिलकर A B यौगिक बनाते हैं। अब यदि तीसरे पदार्थ C का कण इस AB यौगिक के सम्पर्क मे लाया जाये और यदि C का आकर्षण A या B के प्रति A और B के पारस्परिक आकर्षण से अधिक हो तो A B यौगिक का विच्छेदन हो जायेगा और A C या B C बन जायेगा।

$$AB + C = AC + B \text{ या } AB + C = BC + A$$
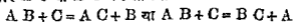
इस युग में बहुत सी गैसों और विशेषत ऑक्सीजन (Oxygen) का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया। भिन्न भिन्न विशेषताओं या गुणोंवाले बहुत से गैसीय (Gaseous) पदार्थों के आविष्कार ने रसायन ससार मे एक हलचल मचा दी। बॉयल ने अपने प्रयोगों द्वारा यह परिणाम निकाला कि हवा में एक पदार्थ उपस्थित है, जो श्वास-क्रिया के लिए व जलने के लिए अति आवश्यक है, परन्तु वह उस पदार्थ को अलग न कर पाया।

शीले (Scheele) और प्रीस्टले (Pristley) ने एक ही समय में (१७७४) एक दूसरे से अलग-अलग कार्य करते हुए इस समस्या को सुलझाया। उन्होंने पारे की लाल आक्साइड (Red Oxide of Mercury) को गर्म करके आक्सीजन (Oxygen) प्राप्त की। तथा उसके गुणों का परीक्षण किया। प्रीस्टले ने इसे फ्लॉजिस्टन रहित वायु (Dephlogisticated air) के नाम से

शीले

सुशोभित किया। एक और गैस नाइट्रोजन (Nitrogen) हवा से प्राप्त की गई जो न श्वास-क्रिया में सहायक होती है और न जलने में। नाइट्रोजन को प्रीस्टले ने "फ्लॉजिस्टन युक्त हवा" (Phlogisticated-air) और शीले ने "शक्तिहीन वायु" (Spent air) के नाम से पुकारा।

इसी युग में बहुत से प्रसिद्ध रसायनज्ञों के कार्यों से औद्योगिक रसायन शास्त्र की उन्नति हुई। उन्होंने रासायनिक क्रियाओं को तथा अपने वैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग उद्योग की किसी विशेष शाखा को उन्नत करने में किया। इस युग के मुख्य रसायन-उद्योग आधुनिक काल के रसायन उद्योग की उन्नति में बहुत लाभदायक सिद्ध हुए हैं। जिस प्रकार इससे पूर्व के युग में औषधि के रूप में उपयोग करने के लिए रसायनज्ञ रासायनिक यौगिकों का परीक्षण किया करते थे, उसी प्रकार वास्तव में इस युग के रसायनज्ञ यह देखते थे कि यह पदार्थ औद्योगिक दृष्टि से उपयोगी है अथवा नहीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसायन शास्त्र और औषधि विज्ञान के उभयपक्षी स्वार्थों ने दोनों की ही उन्नति करने में पारस्परिक रूप से सहायता दी।

आधुनिक युग का इतिहास—(१८०० ई० से .)—— लगभग एक शताब्दी तक जलने के सिद्धान्त का त्रुटिमय दृष्टिकोण "फ्लॉजिस्टन सिद्धान्त" रसायनज्ञों पर अपना प्रभुत्व जमाये रहा। लारन्ट लैवॉइज़ियर (Laurent-Lavoisier) ने टीन और पारे को वायु की उपस्थिति में अधिक गर्म किया। उसने पारे की तुली हुई मात्रा को वायु की तुली हुई मात्रा के साथ गर्म करने पर यह देखा कि पारे में कुछ परिवर्तन होकर उसकी मात्रा में कुछ वृद्धि हो गई है साथ ही वायु की मात्रा में उतनी ही कमी हुई। इन महत्त्वपूर्ण प्रयोगों के परिणामस्वरूप उसने जलने के सिद्धान्त की निम्न व्याख्या की।

लैवॉइज़ियर

जलने पर पदार्थ हवा के एक अंश अर्थात् आक्सीजन के साथ रसायनिक संयोग करता है। इस क्रिया के होते समय गर्मी तो सदैव ही, परन्तु कभी कभी प्रकाश भी बाहर निकलता है।

जलने के सिद्धान्त की यथार्थ व्याख्या करने में लैवाइजियर ने तुला (Balance) का प्रयोग किया। तुला के उपयोग से ही वह रासायनिक क्रियाओं का परिणाम सम्बन्धी अध्ययन कर सका, इस उपयोग के फल स्वरूप ही वह जलने के सिद्धान्त की व्याख्या कर सका और इस प्रकार से उसने बताया कि रासायनिक अन्वेषण में तुला का उपयोग अति आवश्यक है।

उन्नीसवीं शताब्दी में रसायनशास्त्र के क्षेत्र में अधिक ज्ञान-वृद्धि हुई। तुला के उपयोगों के साथ साथ इसका एक अन्य मुख्य कारण पदार्थ की रचना के विषय में डाल्टन का परमाणु सिद्धान्त (Dalton's Atomic Theory) भी था। इतिहास साक्षी है कि अतीतकाल से ही मनुष्य पदार्थ की यथार्थ रचना ज्ञात करने के लिए उत्कंठित रहा है। परमाणु रचना के विषय में डाल्टन के परमाणु सिद्धान्त तथा वर्त्तमान दृष्टिकोण का भी विस्तारपूर्वक वर्णन अगले अध्यायों में विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायेगा। इसके साथ साथ वर्त्तमान काल के ऐसे आश्चर्यजनक अविष्कारों का वर्णन भी जिन्हें देखकर दाँतों तले ऊँगली दबानी पड़ती है तथा जो सभ्यता के विकास में हितकर सिद्ध हुए हैं अगले अध्यायों में उचित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जायेगा।

प्रश्नावली

रसायन शास्त्र के इतिहास में मुख्य युग कौन से हैं और हर युग के मुख्य ध्येय क्या थे ?

अध्याय ३

पदार्थ की रचना—अणु (Molecule) और परमाणु (Atom)

परिभाषा—यदि हम किसी भी सरल पदार्थ पर दृष्टिपात करें तो वह हमें साधारणतः समान ही ज्ञात होगा, किन्तु अनुकूल परिस्थितियों में उचित उपकरणों से यदि उसका निरीक्षण किया जावे तो प्रतीत होगा कि वह ऐसे बहुत छोटे छोटे कणों को मिलने से बना है, जिनकी सूक्ष्मता का हम अनुमान भी नहीं कर सकते। यही सूक्ष्म कण परमाणु कहलाते हैं। इन परमाणु को हम रासायनिक क्रियाओं की इकाई मानते हैं।

यह विचार बहुत प्राचीन है कि पदार्थ परमाणुओं से बना है। लेकिन प्राचीन वैज्ञानिकों के पास इस अनुमान का कोई प्रयोगिक प्रमाण न था, साथ ही वे यह भी कल्पना न कर सके कि पदार्थ के इन छोटे अन्तिम कणों की भी अपनी रचना है, जो कि उनसे भी छोटे कणों से होती है।

इस रूप मे परमाणु अस्थायी हैं अर्थात् वह अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते। साधारणत: एक से अधिक समान या असमान परमाणुओं के संयोग करने से पदार्थ का एक अन्य अदृश्य कण बनता है, जो अणु (Molecule) कहलाता है, इस अणु मे उस पदार्थ के सभी गुण विद्यमान रहते हैं। उदाहरणार्थ, हाइड्रोजन (Hydrogen) के दो परमाणु मिलकर हाइड्रोजन का एक अणु बनाते हैं और सोडियम (Sodium) का एक परमाणु क्लोरीन (Chlorine) के एक परमाणु से मिलकर साधारण नमक का एक अणु बनाता है।

हाइड्रोजन (Hydrogen) या नमक के इन अणुओं में उन परमाणुओं के गुण नहीं हैं, जिनके द्वारा ये बने हैं अर्थात् उन्होंने नये गुण ग्रहण कर लिये हैं, जिनसे इनकी विशेषता प्रकट होती है और इन गुणों से ही ये अणु पहिचाने जाते हैं। अणुओं के सगठन से पदार्थ का नमूना बनता है।

उपरोक्त जिन दो उदाहरणों पर हमने विचार किया है उनमे अणु समान अथवा असमान परमाणुओं के मिलने से बने हैं। हर प्रकार के पदार्थ को दो मे से किसी एक श्रेणी मे रक्खा जा सकता है। प्रथम प्रकार के पदार्थ तत्त्व (Element) दूसरे प्रकार के पदार्थ यौगिक (Compound) कहलाते हैं। इनका वर्णन हम आगे करेंगे। इन्हीं कुछ वर्षों में परमाणु बम के आविष्कार ने मनुष्य के हृदय को बरबस अणु और परमाणु की ओर आकर्षित किया है और इनके बारे में जानने की उसकी इच्छा तीव्र कर दी है। इसलिए आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के परमाणु-इतिहास पर हम यहाँ दृष्टिपात करेंगे।

परमाणु के विषय में प्राचीन दृष्टिकोण—पदार्थ की अन्तिम रचना और परमाणु की प्रकृति अतीत काल से अनुमान के विषय रहे हैं। पातंजलि, कपिल, कणाद और अन्य भारतीय ऋषि इस प्रश्न पर अपने विचार विस्तारपूर्वक प्रकट कर चुके हैं। पदार्थ के विकास (Evolution) के सम्बन्ध में इन ऋषियों के विभिन्न दृष्टिकोणों का वर्णन करना न तो इस पुस्तक का ध्येय ही है और न यह सम्भव ही है। केवल उदाहरणार्थ हम इनके विचारों का बहुत ही संक्षेप मे वर्णन करेंगे।

इनके विचार अधिकांश में प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक डेमोक्रिटस (Democritus) के सिद्धान्त से मिलते थे। कुछ प्राचीन विचारधाराओं

के अनुसार भौतिक पदार्थ प्रारम्भ में परमाणु से बना होता है और फिर इन परमाणु के समूह बन जाते हैं।

इन विचारधाराओं के अनुसार प्रकाश किरणों में चमकते हुए धूलि-कणों को मिट्टी का अणु माना गया है और वह इससे भी छोटे हिस्सों अर्थात् परमाणुओं का बना माना गया है। कणाद के कथनानुसार यह परमाणु अविभाज्य था। इसी प्रकार उस समय के माने हुए तत्त्व (जल वायु इत्यादि) भी अणु और परमाणुओं के बने हुए माने जाते थे।

डेमोक्रिटस ने इस विचार को सामने रखकर एक कदम और आगे बढ़ाया और कहा कि संसार में जितने भी परिवर्तन होते हैं, वे सब इन परमाणुओं के पृथक् होने तथा उनके संयोग के कारण होते हैं, तथा ये परमाणु निरन्तर चलित अवस्था में रहते हैं। यह सिद्धान्त वर्त्तमान रासायनिक परमाणुवाद से मिलता-जुलता है।

प्राचीन भारतीय दार्शनिकों की विचारधारा केवल परमाणु को ही पदार्थ का अन्तिम कण मानकर नहीं रुक गई। उनके विचार से पदार्थ का विकास शक्ति के परिवर्त्तन तथा पदार्थ पर उसके प्रभाव के कारण हुआ। विष्णु पुराण में पारासर, पातञ्जलि और अन्य दार्शनिकों कि विचार दिए हुए हैं। उनके विचारानुसार "प्रकृति" पदार्थ का मूल आधार है, जिसका न कोई रूप और न कोई आकार है। जिसको न क्षीण ही किया जा सकता है न जिसका विनाश ही, तथा जो नियन्त्रण से बाहर है। वे 'प्रकृति" में "भूतादि" का भी होना मानते थे जो उनके अनुसार पदार्थ का प्रारम्भिक कण है। इसका पृथक् अस्तित्त्व होता है फिर भी उसकी मात्रा अनिश्चित और अपरिवर्त्तनशील है। भूतादि पर शक्ति के प्रभाव से विभिन्न प्रकार के परमाणु बनते हैं, तथा इन परमाणुओं के परस्पर मिलने से विभिन्न प्रकार के पदार्थ बनते हैं।

कुछ यूनानी दार्शनिकों ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये थे। उनके अनुसार सारे तत्त्व एक ही प्रकार के पदार्थ से बने हुए हैं और उस पदार्थ को वे "आदि पदार्थ" (Prima Materia) कहते थे। इस प्रकार इनके विचारानुसार विश्व में विभिन्न प्रकार के पदार्थ एक ही अक के पर्यान्तर से बने हैं। फिर भी इनको केवल चार या पाँच तत्त्वों का

अस्तित्व मानने के कारण से ही पदार्थ के ज्ञान और रसायन शास्त्र की प्रगति रुकी रही।

डाल्टन का परमाणु सिद्धान्त (Dalton's Atomic Theory)—यद्यपि अभी तक केवल अनुमान के आधार पर ही कार्य हो रहा था फिर भी परमाणु के विषय मे कुछ ऐसे विचार प्रगट किये गये थे, जो कि कुछ संशोधनों के पश्चात् आज भी सत्य माने जाते हैं।

जॉन डाल्टन

उन्नीसवीं शताब्दी के लगभग इँगलैंड में जॉन डाल्टन (John Dalton) (१७६६-१८४४) हुए जो एक प्राचीन शान्तिप्रिय मन्डली के सभासद (Quaker) और एक अध्यापक थे। उन्होंने परमाणु को अविभाज्य और बहुत ही छोटा वृत्ताकार कण बताया। उनके अनुसार किसी एक तत्त्व के सब परमाणु गुण मे एक से होते हैं और किसी भी दूसरे तत्त्व के परमाणुओं से भिन्न होते हैं। उन्होंने यह भी बताया कि "संयुक्त परमाणु" (Compound atom) तत्त्वों के परिणामों का परस्पर रासायनिक संयोग होने से बनते हैं तथा ये परमाणु छोटी पूर्ण संख्याओं मे ही परस्पर संयोग करते हैं। इस 'संयुक्त परमाणु को हम आजकल "अणु" (Molecule) के नाम से पुकारते हैं। उदाहरण के लिए इस प्रकार पानी का एक अणु हाइड्रोजन के दो परमाणु तथा ऑक्सीजन के एक परमाणु का बना है। डाल्टन का सिद्धान्त किसी सीमा तक ही पूर्ण था। आजकल ऐसे तथ्यों का पता चल चुका है जिससे कि यह सिद्धान्त अनेकों प्रकार से अपूर्ण पाया गया है। पर फिर भी यह नहीं समझना चाहिए कि डाल्टन के परमाणु सिद्धान्त का महत्व कम हो गया है।

प्राउट का अनुमान (Prout's Hypothesis)—अभी तक परमाणु पदार्थ का मूल कण माना जाता था और एक तत्त्व का परमाणु अन्य तत्त्व के परमाणु से बिलकुल भिन्न समझा जाता था और एक तत्व के परमाणु का दूसरे तत्व के परमाणु में बदलना असम्भव समझा जाता था, और यह समस्या केवल कल्पना का विषय थी,

विलियम प्राउट (William Prout) (1785–1850) ने "आदि पदार्थ" के प्राचीन विचार को पुनर्जन्म दिया। प्रारम्भ मे तत्वों के जो परमाणु भार (AtomicWeight) ज्ञात किये गये,उससे यह ज्ञात होता था, कि हाइड्रोजन के परमाणु भार को इकाई मानने पर दूसरे तत्वों के परमाणु भार हाइड्रोजन के परमाणु भार के पूर्ण गुणक थे। इस तथ्य को सामाने रखते हुए प्राउट ने यह अनुमान किया कि सारे तत्वों के परमाणु हाइड्रोजन परमाणुओं के बने होते हैं, और इस हाइड्रोजन परमाणु को उसने प्राचीन दर्शनिकों का माना हुआ 'आदि पदार्थ' कहा। उन्नीसवीं शताब्दी में बिल्कुल शुद्ध परमाणु भार ज्ञात करना असम्भव था परन्तु बाद में यह देखा गया कि तत्वों के परमाणु भार हमेशा ही हाइड्रोजन के परमाणु भार के पूर्ण गुणक नहीं होते इसीलिए प्राउट (Prout) का अनुमान त्रुटिपूर्ण माना गया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अब समस्थानिकों (Isotopes) (वे परमाणु जिनके गुण समान होते हैं, परन्तु परमाणु भार विभिन्न होते हैं) के पता लगाने से प्राउट का अनुमान सामान्यत शुद्ध मान लिया गया है, जैसा कि आगे परमाणु के आधुनिक विचार के अध्ययन से स्पष्ट होगा।

परमाणु के विषय में आधुनिक विचार—आधुनिक विचारानुसार परमाणु साधारण रासायनिक क्रियाओं की इकाई है। इन क्रियाओं में तत्वों के परमाणुओं के परस्पर मिलने से दूसरे पदार्थ की रचना होती है। इसीलिए परमाणु साधारण रासायनिक क्रियाओं के लिए मूलकण माना जाता है। साधारण रासायनिक परिवर्तनों में तो परमाणु मूल कण है, पर यह प्रोटोन (proton), न्यूट्रोन (Neutron), इलैक्ट्रान (Electron) तथा अन्य छोटे कणों की विषम रचना है, जो कि विशेष शक्तियों द्वारा परस्पर एक दूसरे से गुथे रहते हैं। इसके केन्द्र में धन विद्युत युक्त (positively Charged), मात्रिक (Massive) अन्तर्भाग

होता है, जिसे केन्द्रक (Nucleus) कहते हैं और यह केन्द्रक चारों ओर से इलैक्ट्रोनों (Electrons) से घिरा होता है, जो कि सम्पूर्ण परमाणु को विद्युत् उदासीन (Electrically neutral) बना देते हैं। परमाणु की इस रचना से किसी तत्त्व के चुम्बकीय, विद्युतीय रासायनिक तथा अन्य गुणों की सतोषजनक रूप से व्याख्या की जा सकती है। परमाणु का आकार १० = सें० मी० के वर्ग का होता है और केन्द्रक (Nucleus) का आकार १०-१२ सें० मी० के वर्ग का। यह परमाणु न स्थिर होता है और न स्थिर होगा। इसका रूप बदल सकता है और इसके टुकडे भी किये जा सकते हैं।

केन्द्रक—(Nucleus) स्वय प्रोटोनों (Protons) न्यूट्रोनों (Neutrons) और कुछ अन्य मूल कणों का बना होता है, जैसा कि उपरोक्त पंक्तियों म बताया जा चुका है। परमाणु केन्द्रक और इलैक्ट्रोनों का बना होता है और यह इलैक्ट्रोन विशेष सिद्धान्तों के अनुसार केन्द्रक को चारों ओर से घेरे हुए कक्षों (Shells) में रहते हैं और वे केन्द्रक (Nucleus) के चारों ओर कुछ उसी प्रकार चक्कर लगाते रहते हैं, जिस प्रकार से सूर्य के चारों ओर नक्षत्र ग्रह हैं।

विलियम क्रुक्स

इलेक्ट्रोन (Electron)—परमाणु के विषय मे आधुनिक विचारों का प्रादुर्भाव इलेक्ट्रान (Electron) के पता लगाने से हुआ। विलियम क्रुक्स और प्लकर (William Crookes and Plucker) ने बहुत कम दबाव पर गैसों पर विद्युतस्फुलिंग (Electric discharge) के प्रभाव का अध्ययन करते हुए, यह देखा कि ऋण-विद्युत द्वार (Negative Electrode) या कैथोड (Cathode) से प्रकाश का नीला प्रवाह (Stream) निकलता है। क्रुक्स ने इसे कैथोड रश्मियों (Cathode rays) के नाम

से सम्बोधित किया। उसने यह भी दर्शाया कि यह प्रकाश प्रवाह ऋण-विद्युतीय-कणों (Negatively charged particles) के प्रवाह के कारण से होता है। इन कणों को विद्युत् नापने की इकाई के अभिप्राय से इलैक्ट्रोन (Electron) कहा गया। प्रत्येक इलैक्ट्रोन में १·८×१०^{१८} कूलम्ब (Coulombs) विद्युत मात्रा (नापने की इकाई) ऋण विद्युत (Negative charge) होती है, और इसका भार हाइड्रोजन के एक परमाणु के भार का लगभग १८४० वाँ भाग होता है।
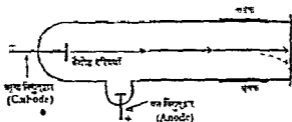
विद्युत स्फुलिंग नली—कैथोड रश्मियाँ और उस पर चुम्बक का प्रभाव

इसके उपरान्त और अधिक निरीक्षणों से यह प्रतीत हुआ कि विभिन्न गैसों से प्राप्त इलैक्ट्रोनों (Electrons) में कोई भिन्नता नहीं होती। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इलैक्ट्रोन प्रत्येक पदार्थ का आवश्यक भाग है। अब तक के ज्ञात सबसे भारी परमाणु में लगभग १०० इलैक्ट्रोन होते हैं।

प्रोटोन(Proton)धन विद्युत् युक्त रश्मियाँ(Positive rays)—उपरोक्त वर्णित स्फुलिंग नली (Discharge tube) में छिद्रयुक्त कैथोड (Perforated Cathode) का उपयोग करने पर यह देखा गया कि विद्युत् स्फुलिंग के प्रभाव के समय कैथोड रश्मियों के साथ ही साथ धन-विद्युत युक्त कणों की रश्मियाँ भी निकलती हैं। ये रश्मियाँ कैथोड के छिद्र में से होकर ऋण-विद्युतयुक्त रश्मियों के विपरीत दिशा में जाती हैं। इस प्रवाह को धन विद्युत्युक्त रश्मियाँ (Positive rays) कहते हैं। इन कणों पर साधारणतया इलैक्ट्रोन के बराबर ही विद्युत-मात्रा होती है। लेकिन इनमें इलैक्ट्रोन से भिन्न प्रकार की विद्युत् धन-विद्युत होती है। एक धन विद्युत युक्त कण जिसमें इकाई विद्युत-मात्रा (Unit Electric

Charge) हो और इकाई भार (Unit mass) (हाइड्रोजन परमाणु के बराबर) हो वह प्रोटोन कहलाता है। एक स्वतन्त्र प्रोटोन (Proton) की एक ऐसे हाइड्रोजन परमाणु से तुलना की जा सकती है, जिसमें इलैक्ट्रोन न हों।
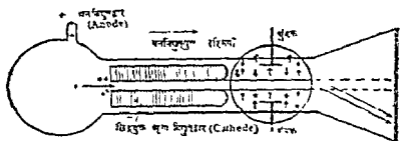
स्फुलिंग नली धन-विद्युत युक्त रश्मियाँ

a-कण (a-Particles)—हीलियम एक तत्त्व होता है जो हाइड्रोजन से भारी परन्तु अन्य तत्त्वों से हलका होता है। इसके परमाणु में से दो इलैक्ट्रोन निकलने पर जो दो धन-विद्युत् युक्त कण बचता है, उसे a-कण (a-Particles) कहते हैं

परमाणु केन्द्रक (Nucleus)—रदरफोर्ड (१९११) ने यह दर्शाया कि यदि अति तीव्र गति से a कणों की बौछार किसी तत्त्व पर डाली जाती है तो कण अपने पथ पर सीधे ही आगे बढ़ जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है, कि परमाणु अद्भुत रूप से खाली है; परन्तु उनमें से कुछ कणों का पथ काफी तिरछा हो जाता है, और कुछ अपने पूर्व पथ पर ही वापिस लौट आते हैं। उनका पूर्व पथ से वापिस लौटना या तिरछे पथ पर चलना यह प्रकट करता है कि वे किसी ऐसी वस्तु से टकराये होंगे जो उनसे भारी है और जो धन-विद्युत युक्त है और इससे प्रतीत होता है कि सब धन विद्युत युक्त कण केन्द्रक (Nucleus) कहे जानेवाले अत्यन्त ही छोटे केन्द्र में एकत्रित रहते हैं। तथा परमाणु को विद्युत्-उदासीन (Electrically neutral) बनाने के लिए, यह केन्द्रक चारों ओर अपेक्षाकृत अधिक दूरी पर आवश्यक संख्या में ऋण-विद्युत् युक्त इलैक्ट्रोनों से घिरा हुआ होना चाहिए।

परमाणु-संख्या (Atomic number)–परमाणु विद्युत उदासीन होता है, इसलिए केन्द्रक में उतने ही प्रोटॉन (Protons) होने चाहिए, जितने कि केन्द्र को घेरे हुए इलैक्ट्रोन हों। किसी तत्त्व के परमाणु केन्द्रक में जितनी धन-विद्युत्-मात्रा की इकाइयाँ (Units of Positive Electric charge) होती हैं, वह संख्या उस परमाणु की परमाणु-संख्या (Atomic number) कहलाती है, और यह संख्या अंगरेजी अक्षर "Z" से प्रदर्शित की जाती है तथा इस संख्या से परमाणु के रासायनिक
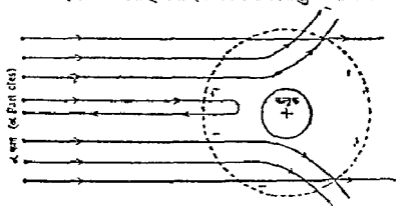
भारी केन्द्रक परमाणु-α-कणों का पथ बदलना

गुण ज्ञात होते हैं। इस प्रकार एक तत्त्व के सभी परमाणुओं की परमाणु संख्या समान होनी चाहिए या इसके विपरीत, समान परमाणु-संख्या के सभी परमाणु एक ही तत्त्व के परमाणु होने चाहिए। (अर्थात् उनके रासायनिक गुण एक समान होने चाहिए), भले ही उन परमाणुओं के केन्द्रक की रचना में कुछ भी अन्तर क्यों न हो। किसी परमाणु में इलैक्ट्रोन स्वयं क्रमबद्ध कक्षों (Successive shells) में सुव्यवस्थित नियमों के अनुसार भ्रमण करते हैं। सामान्य-रासायनिक क्रियाओं से परमाणु के केन्द्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

न्यूट्रोन (Neutron)—अब तक परमाणु केन्द्रक में केवल प्रोटोन की ही उपस्थिति विदित थी। यदि केन्द्रक में और किसी प्रकार का कण न हो तो परमाणु-संख्या ही परमाणु-भार होना चाहिए, परमाणु-मापदण्ड (Atomic scale) में प्रोटोन के भार को इकाई

माना गया है। परन्तु यथार्थ में हाइड्रोजन को छोड़कर किसी अन्य परमाणु में परमाणु-भार व परमाणु-संख्या एक नहीं हैं। इससे यह स्पष्ट है कि केन्द्रक रचना में प्रोटान के अतिरिक्त एक ऐसा कण और होना चाहिए जिसमें भार तो हो परन्तु जो विद्युत्-उदासीन हो (नहीं तो यह परमाणु-संख्या में परिवर्तन कर देगा)।

इस समस्या को प्रयोगशाला में हल करने का श्रेय प्राप्त है शैडविक (Shadwick) को। इन्होंने सन् १९३२ में प्रोटोन के समान भारवाले किन्तु विद्युत्-उदासीन मूलकण न्यूट्रोन की उपस्थिति परमाणु-केन्द्रक में साबित कर दिखाई।

विद्युत्-उदासीन होने के कारण यह परमाणु के अन्य मूल-कणों से भिन्न है। अपितु इस पर बहुत ही कम क्षेत्र तक असर करने वाली शक्ति (Short range force) का प्रभाव होता है और यह शक्ति तभी कार्यशील होती है, जब न्यूट्रोन वास्तव में किसी परमाणु केन्द्रक के बहुत समीप पहुँच जाता है। यह वह शक्ति है जो कि धन-विद्युतीय कणों के पारस्परिक अनाकर्षण (Mutual repulsion) के होने पर भी केन्द्रक को संगठित रखती है। विद्युतीय या चुम्बकीय शक्ति द्वारा विद्युन्मय (Charged) कणों की गति बढ़ाई अथवा कम की जा सकती है या इन कणों के पथ को फिरता भी किया जा सकता है, परन्तु न्यूट्रोन पर इन शक्तियों का कोई प्रभाव नहीं होता। स्वतन्त्र न्यूट्रोन को केवल कार्बन-

का वियोजन (Nuclear disintegration) करने पर ही प्राप्त किया जा सकता है। इसका कोई प्राकृतिक रूप त नहीं है।

अन्य मूल कण—प्रोटोन और न्यूट्रोनों की अतिरिक्त केन्द्रक में अन्य मूलकण जैसे पोजीट्रोन (Positron) न्यूट्रिनो (Neutrino) और मेसॉन (Meson) का होना भी माना जाता है। यह बहुत ही छोटे कण (प्रोटोन से भी छोटे) होते हैं और केन्द्रक के परिवर्तनों (Nuclear transformations) में जो मात्रा परिवर्तन होता है, वह इनके कारण से होता है।

परमाणु-रचना (Atomic Structure) बोहर और सोमरफील्ड का परमाणु का प्रतिरूप (Bohr Sommerfield Atomic model)—

केन्द्रक से बाहर स्थित इलैक्ट्रानों के विषय में अब तक यही विचार किया जा चुका है कि उनकी संख्या परमाणु संख्या के बराबर होती है और वे केन्द्रक के चारों ओर अपेक्षाकृत अधिक दूरी पर स्थित रहते हैं। अब हमारे सम्मुख यह प्रश्न आता है कि ये इलैक्ट्रोन किस तरह चक्कर लगाते हैं इस विषय में हम बोहर और सोमरफिल्ड के विचारों को मानते हैं। उनके विचारानुसार प्रत्येक

नील्स बोहर

इलैक्ट्रान निश्चित चक्र (Orbits) में घूमता । कुछ अन्य तथ्यों पर विचार करते हुए सोमरफील्ड ने माना कि इलैक्ट्रोनों के चक्र (Orbits) अण्डाकार (Elliptical) होने चाहिए न कि वृत्ताकार (Circular) जैसा कि बोहर ने अनुमान किया था और परमाणु का केन्द्रक (इलैक्ट्रोन) के अण्डाकार चक्रों (Elliptical orbits) के केन्द्र (Focus) में स्थित

होना चाहिए। ये चक्र स्वयं भी केन्द्र के चारों ओर घूमते हैं। इसके साथ ही इलैक्ट्रोन का अपनी धुरी (Axis) पर लट्टू की भांति घूमना भी माना गया है।

इसलिए परमाणु का अन्तिम प्रतिरूप सौरमण्डल की भांति है, जैसे कि पृथ्वी और अन्य ग्रह सूर्य चारों ओर चक्कर लगाते हुए अपनी धुरी पर घूमते रहते हैं।

अब यह समस्या उत्पन्न होती है कि केन्द्रक के चारों ओर इलैक्ट्रोन समूहों (Groups) में किस प्रकार संगठित रहते हैं और इन समूहों में क्या पारस्परिक सम्बन्ध है

अनेक वैज्ञानिकों ने जिनमें लैंगम्यूर (Langmuir) बोहर (Bohr) एवं पाली (Pauli) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, विभिन्न मत प्रकट किये हैं। उनके द्वारा बतायें गये इलैक्ट्रोनों के स्थिर सम्बन्धी अनुमान आजकल सर्वमान्य हैं। इस विषय में निम्नलिखित मुख्य विचार का ध्यान रखना-परम आवश्यक है —

(१) केन्द्रक के चारों ओर स्थित प्याज के छिलकों जैसे अण्डाकार कक्षों (Shells) में इलैक्ट्रोन संगठित रहते हैं।

(२) एक विशेष कक्षवाला इलैक्ट्रोन उसी कक्ष में रहता हुआ केन्द्रक के चारों ओर चक्कर लगाता है।

(३) किसी विशेष कक्ष में इलैक्ट्रोनों की अधिकतम संख्या $2n^2$ होती है जब कि n कक्ष संख्या बतलाता है। उदाहरणार्थ, पहिले कक्ष में अधिकतम संख्या $२\times१^2=२$ होगी। दूसरे कक्ष में अधिकतम $२\times२^2=८$ इलैक्ट्रोन होंगे। तीसरे कक्ष में $२\times३^2=१८$ इलैक्ट्रोन होंगे।

इसी प्रकार अन्य कक्षों में इलैक्ट्रोनों की अधिकतम संख्या ज्ञात की जा सकती है।

(४) जब प्रथम कक्ष में इलैक्ट्रोनों की संख्या २ और अन्य कक्षों में ८ हो जाती है तो दूसरे शेष इलैक्ट्रोन अगले कक्ष में पहुँचते हैं तथा यदि कोई कक्ष अपूर्ण रह जाता है तो बाद में वह पूर्ण होता है।

(५) वे तत्व जिनके परमाणु इलैक्ट्रोनों की रचना साधारणतः एक समान होती है, समान गुण रखते हैं। सबसे बाहरी कक्ष (Outer)

most shell) में स्थित इलैक्ट्रोन की संख्या से निर्णयात्मक रूप से उस तत्व के गुण का पता चलता है।

इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए अब हम कुछ विशेष परमाणुओं की रचना का अध्ययन करेंगे।

पहिले तत्व हाइड्रोजन (Hydrogen), जिसकी परमाणु-संख्या १ है—की परमाणु रचना निम्न प्रकार की है -

– = इलेक्ट्रोन
+ = प्रोटोन n = न्यूट्रोन
हाईड्रोजन परमाणु

यह अपना विशेष महत्व रखता है।

दूसरे तत्व हीलियम (Helium), जिसकी परमाणु-संख्या २ तथा परमाणु भार ४ है—की परमाणु-रचना निम्न है:—

हीलियम परमाणु

तीसरे तत्व लीथियम (Lithium), जिसकी परमाणु-संख्या ३ तथा परमाणु-भार ७ है—की परमाणु-रचना निम्न है। इसमें तीसरा इलैक्ट्रोन दूसरे कक्ष में स्थित है।

लीथियम परमाणु

चौथे तत्व बेरीलियम (Beryllium), जिसकी परमाणु-संख्या ४ तथा परमाणु भार ९—की परमाणु-रचना निम्न है:—

बेरिलियम परमाणु

और इसी प्रकार बोरन (Boron) परमाणु-संख्या ५ और परमाणु-भार ११, कार्बन (Carbon) परमाणु-संख्या ६ और परमाणु-भार १२, नाइट्रोजन (Nitrogen) परमाणु संख्या ७ और परमाणु-भार १४: और आक्सीजन (Oxygen) परमाणु-संख्या ८ और परमाणु भार १६, की परमाणु रचनाएँ हैं।
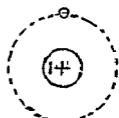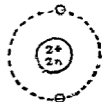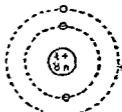
फ्लोरीन (Fluorine)—परमाणु संख्या ९ और परमाणु भार १९ की निम्न रचना है —

फ्लोरीन परमाणु

निऑन (Neon)—परमाणु संख्या १० और परमाणु भार २० की निम्न परमाणु-रचना है ।

निऑन परमाणु

इस परमाणु में दूसरा कक्ष (Shell) भर चुका है । अतः ग्यारहवें तत्त्व सोडियम (Sodium) के परमाणु के तीसरे कक्ष में एक एलैक्ट्रोन होगा। बारहवें तत्त्व मैगनीशियम (Magnesium) के परमाणु के तीसरे कक्ष में दो इलैक्ट्रोन होंगे । यह क्रम एल्यूमीनियम (Aluminium) सिलिकॉन (Silicon), फॉसफोरस (Phophorus), गन्धक (Sulphur), क्लोरीन (Chlorine) और आरगन (Argon) में इसी प्रकार चालू रहेगा और पिछले क्रम की भाँति ही इन परमाणुओं की रचना होगी ।

ये ऊपर बताये हुए तत्त्व लाक्षणिक (Typcial) तत्त्व हैं। इनके उपरान्त चौथे कक्ष का भरना शुरू होगा। हम इनका और वर्णन यहाँ पर नहीं करेंगे क्योंकि सबसे बाहरी (Outermost) कक्ष के साथ-साथ आंतरिक कक्ष (Inner shell) भरने के कारण उलझनें उत्पन्न हो जाती हैं।

यहाँ हम देखते हैं कि लीथियम और सोडीयम (Lithium and Sodium) बेरीलियम और मैगनीशियम (Beryllium and Magnesium) ऑक्सीजन और गन्धक (Oxygen and Sulphur) ऐसे तत्त्व हैं, जिनके सबसे बाहरी कक्षों (Outrmost shell) की रचना एक सी है और इसलिए इन तत्त्वों के गुण भी समान हैं।

प्रश्नावली

१—निम्नलिखित की परिभाषा लिखो.—

अणु, परमाणु एलेक्ट्रोन, न्यूट्रोन, केन्द्रक, परमाणु सख्या।

२— परमाणु की रचना के विषय मे आधुनिक विचार स्पष्ट करो।

अध्याय ४

तत्व—यौगिक (Compound) और मिश्रण (Mixture)

१—तत्व की परिभाषा।
२—तत्वों का नामकरण।
३—तत्वों की उपस्थिति।
४—तत्वों का वर्गीकरण।
५—यौगिक और मिश्रण।
६—यौगिकों की उपस्थिति।
७—यौगिकों का वर्गीकरण।

तत्व की परिभाषा—हमें ज्ञात हो चुका है कि विश्व का सम्पूर्ण पदार्थ अणु और परमाणुओं का बना है। अब प्रश्न यह कि सम्पूर्ण विश्व जिन पदार्थों से बना है, उन पदार्थों में कितने प्रकार के परमाणु हैं तथा वे किस अनुपात में परस्पर मिले हुए हैं, एक प्रकार के परमाणु हैं और अणु अन्य प्रकार के अणुओं में किस प्रकार परिवर्तित किये जा सकते हैं। अभी तक हम विभिन्न प्रकार के लगभग १०० परमाणु ज्ञात कर चुके हैं। यह पदार्थ जिसमें केवल एक ही पदार्थ के परमाणु होते हैं रासायनिक तत्व (Chemical Element) कहलाता है क्योंकि साधारण रासायनिक क्रियाओं के द्वारा एक प्रकार का परमाणु अन्य प्रकार के परमाणु में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इसलिए हमें किसी भी एक रासायनिक तत्व के परमाणु से उस तत्व के सिवाय और कुछ प्राप्त नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ—लोहा, पारा, ताँबा, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन तत्व हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः लोहे, पारे, तांबे, ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के ही परमाणु मिलते हैं। इसके विपरीत पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक (Compound) है। जब हम उचित दशा में पानी के अन्दर विद्युत धारा प्रवाहित करते हैं तो ये दोनों गैसें (हाइड्रोजन और ऑक्सीजन) निकलती हैं।

इससे यह विदित होता है कि वर्तमान काल में पाये जाने वाले तत्व प्राचीन काल के तत्त्वों से बिलकुल भिन्न हैं। प्राचीन काल मे माने जाने वाले पाँच तत्वों में पृथ्वी और वायु कई तत्वों और यौगिकों के मिश्रण सिद्ध हो चुके हैं: जल दो तत्वों-हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक है और अग्नि और आकाश पदार्थ ही नहीं हैं।

तत्वों का नामकरण—अनेक ऐसे तत्व हैं, जिनसे कि हम अतीत काल से ही परिचित हैं और उनके नाम के विषय मे यह बताना बहुत ही कठिन या असम्भव भी है कि उनको इस नाम से क्यों सम्बोधित किया गया। सोना, लोहा और ताँबा आदि इस प्रकार के तत्व हैं। अधिकांशत: किसी तत्व के आविष्कार को उस तत्व का नामकरण करने का अधिकार होता है। फिर भी तत्वों का नामकरण करने के लिए कई ढङ्ग काम में लाये गये हैं। केवल आविष्कारक की इच्छा-मात्र से काम नहीं किया गया है। कुछ नाम उस तत्व के विशेष गुण को प्रदर्शित करते हैं, जैसे ब्रोमीन (Bromine) शब्द यूनानी भाषा के शब्द ब्रोमस (Bromus) से बना है जिसका अर्थ दुर्गन्ध है, जिससे तत्व के दुर्गन्धित होने का बोध होता है। क्लोरीन (Chlorine) नाम यूनानी भाषा के शब्द क्लोरस (Chlorus) से लिया गया है, जिससे इस तत्व का "पीलापन लिए हरा" रंग होना विदित होता है। सोडियम और पोटेशियम (Sodium and Potassium) को ये नाम शायद क्रमश सोडा (Soda) और पोटाश (Potash) से प्राप्त हुए हैं जो इन तत्त्वों के यौगिक हैं, तथा जो इन तत्त्वों के पता लगने से भी बहुत पूर्व ज्ञात थे। हीलियम (Helium) एक निष्क्रिय गैस (Inertgas) है। इसको यह नाम इसलिए दिया गया कि सबसे पहले सूर्य के वायुमंडल में इसकी उपस्थिति का आविष्कार हुआ था। एक अन्य ढंग यह भी है कि जिस देश में जिस तत्व का सबसे पहले अनुसंधान हुआ हो उसी देश के आधार पर उसका नामकरण किया जाता है। जैसे स्कैन्डियम (Scandium) का आविष्कार स्कैन्डिनेविया (Scandinavia) में हुआ था। फ्रान्सियम (Francium) का अनुसंधान फ्रांस में हुआ था। इसी प्रकार से जर्मेनियम (Germanium) का आविष्कार जर्मनी में हुआ था।

इतनी विभिन्नताएँ होते हुए भी वर्तमान प्रणाली के अनुसार अधिकतर धातुओं के नाम के अन्त में "ईयम" (Ium) होता है, जैसे

सोडियम (Sodium) थोरियम, (Thorium)। अधातुओं के नाम के अन्त में "अन" (on) "जन" (gen) "ईन" (ine) होता है। जैसे कारबन (Carbon), नाइट्रोजन (Nitrogen) क्लोरीन (Chlorine)।

तत्वों की उपस्थिति (Occurrence of Elements)—अब तक पहचाने गये और पृथ्वी के सम्पूर्ण पदार्थ को बनाने वाले लगभग १०० तत्त्व हैं। पृथ्वी पर पाये जानेवाले तत्त्व समान मात्रा में नहीं मिलते।

यह जानकर अवश्य ही आश्चर्य होगा कि विश्व मे सम्पूर्ण पदार्थ की लगभग आधी मात्रा आक्सीजन द्वारा बनी है और केवल १५० वर्ष पूर्व ही वैज्ञानिक ऑक्सीजन का पता लगाने में सफल हुए हैं। आक्सीजन पृथ्वी की बाहरी परत (Crust) का लगभग ५०% अश है। इसके बाद की श्रेणी मे सिलीकॉन (Silicon) की बारी आती है जो पृथ्वी की बाहरी सतह के लगभग २६% में विद्यमान है। शेष सारे तत्त्व मिलकर हमारे चारों ओर के पदार्थ का २४% अश हैं। फिर भी तत्व की उपयोगिता विशेषत उसकी अधिकता से प्राप्त होने में नहीं है। उदाहरणार्थ, कार्बन (Carbon) जो कि पृथ्वी की सतह का केवल ०·२% अश है, पृथ्वी पर जीवन के लिए नितात आवश्यक है

कुछ तत्व प्रकृति मे असयुक्त अवस्था मे प्राप्त होते हैं। जैसे सोना, गन्धक, आक्सीजन आदि। परन्तु अधिकाश तत्त्व अन्य तत्वों के साथ सयुक्त अवस्था में मिलते हैं। इस प्रकार सोडियम, क्लोरिन के साथ सयुक्त होकर साधारण नमक के रूप मे प्राप्त होता है। लोहा आक्सीजन के साथ मिलकर मोरचा (Rust) के रूप मे मिलता है। फासफोरस (Phosphorus), कैलशियम (Calcium), ऑक्सीजन, कार्बन आदि के साथ हड्डियों में मिलता है। ताँबा, नाइट्रोजन आदि कुछ ऐसे तत्व हैं जो इसके विपरीत दोनों दशाओं में (स्वतत्र और सयुक्त) मिलते हैं।

साधारण तापक्रम पर अधिकाश तत्व ठोस अवस्था मे मिलते हैं, दस गैसीय अवस्था मे और केवल दो (पारा और ब्रोमीन) द्रव रूप मे प्राप्त होते हैं। इनमे से कुछ (जैसे लोहा, सोना, ताँबा, चाँदी, गन्धक, पारा) से हम प्राचीनकाल से ही भलीभाति परिचित हैं, जब कि अन्य बहुत से तत्त्वों का हाल ही मे पता लगा है। ये अल्प मात्रा में मिलते हैं। इनमे से भी कोई तो बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। इसी कारण से ये

बहुमूल्य है। उदाहरण के लिए—रेडियम (Radium), यूरेनियम (Uranium), थोरियम (Thorium) और प्लैटीनम (Platinum)।

तत्वों का वर्गीकरण (Classifcation) of Elements)—अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तत्वों को विशेष गुणों के आधार पर श्रेणीबद्ध किया गया है। इस प्रकार एक श्रेणी में वे तत्व रखे जाते हैं जिनके गुण अधिकतर समान होते हैं, और इनके गुण दूसरे समूह के तत्वों को गुणों से भिन्न होते हैं। जिन गुणों के आधार पर तत्वों का वर्गीकरण किया जाता है वे अनेक हैं। उदाहरणत घनत्व (Density), चमक (Lustre), संचालकता (Conductivity)। अभी तक इनका वर्गीकरण करने की कोई नितान्त निर्दोष पद्धति नहीं है। फिर भी "आवर्त वर्गीकरण" (Periodic classification) अधिक विस्तृत, शुद्ध और सबसे उत्तम पद्धति है। इसका विस्तृत वर्णन अन्य अध्याय में किया जायगा।

इस सुव्यवस्थित वर्गीकरण के अतिरिक्त, हम तत्वों को दो मुख्य भागों मे विभाजित कर सकते हैं—

१—धातु (Metals)

२—अधातु (Non-metals)

वे तत्व, जो ठोस (पारे को छोड़कर) अपारदर्शक, वर्द्धनीय (Malleable) ताप तथा विद्युत के सुसचालक (Good conductors of heat and electricity) तथा अधिक घनत्व के हों, धातु कहलाते हैं। धातु और ऑक्सीजन (Oxygen) मिलकर क्षारीय आक्साइड (Basic oxides) बनाते हैं, जो अम्लों में (Acids) घुलकर लवण (Salts) देते हैं। अधातुओं में यह गुण नहीं पाये जाते और ये अम्लीय ऑक्साइड (Acidic oxide) बनाते हैं जो पानी में घुल कर अम्ल बनाते हैं। लेकिन इन दो श्रेणियों को बिलकुल प्रथक् नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के अनेक तत्व हैं जिनको निश्चित रूप से किसी एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। बल्कि वे दोनों मे रखे जा सकते हैं और इसलिए उनको एक अन्य श्रेणी—उपधातु (Metalloids) में रखा जाता है इस प्रकार उदाहरण के लिए—आर्सेनिक (Arsenic) एन्टीमनी (Antimony) के कुछ गुण धातुओं के समान होते हैं और अधिकांश गुण अधातुओं के समान होते हैं। इसी प्रकार धातु जिंक

(zinc), टिन (Tin) और एल्यूमीनियम (Aluminium) आदि में अधातुओं के भी गुण पाये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त तत्वों के कुछ ऐसे समूह हैं जो अधिक प्रचलित हैं तथा इनमें विशेष प्रकार के गुण होते हैं और जिनका यहाँ वर्णन करना उचित होगा।

१—क्षारीय धातु (Alkali metals)—ये संख्या में कुल ६ होते हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं लीथियम (Lithium), पोटैशियम (Potassium), सोडियम (Sodium), रूबिडियम (Rubidium), सीजियम (Caesium) और फ्रांसियम (Francium)। ये सभी मुलायम होते हैं, हवा में जलते हैं और पानी के साथ क्रिया करके हाइड्रोजन देते हैं। अति क्रियाशील होने के कारण ये स्वतन्त्र दशा में नहीं मिलते।

२—हैलोजन (Halogens)–यह संख्या मे कुल ५ होते हैं।
इनके नाम ये हैं (फ्लोरीन) (Flourine) क्लोरीन (Chlorine), ब्रोमीन (Bromine), आयोडीन (Iodine) और एस्टेटीन (Astatine) यह सभी बहुत ही क्रियाशील अधातु हैं। अति क्रियाशील के कारण ये भी स्वतन्त्र देश में प्राप्त नहीं होते।

३—निष्क्रय गैसें (Inert gases)—इनकी संख्या कुल ६ है। इनके नाम इस प्रकार हैं हीलियम (Helium), नीऑन (Neon) आर्गन (Argon), क्रिप्टॉन (Krypton), जीनॉन (Xenon) और रेडॉन (Radon)। ये ऐसे तत्व हैं, साधारण जिनके परमाणु न तो परस्पर मिलते हैं और न किसी प्रकार के परमाणुओं से क्रिया करते हैं। ये निष्क्रिय गैसें विद्युत दीप और नलिका (Tube) के भरने के काम मे आती हैं। हीलियम बहुत ही हल्की एव न जलने वाली गैस होने के कारण हवाई जहाज (Air ship)मे भरने के उपयोग में आती है।

४—रेडियो सक्रिय तत्व (Radioactive Elements)—रेडियम (Radium), यूरेनियम(Uranium) रेडॉन (Radon) थोरियम (Thorium) आदि तत्त्व रेडियो सक्रिय तत्व हैं। इनका उपयोग कैंसर (Cancer) आदि जैसे घातक रोगों के लिए औषधि रूप मे किया जाता है और परमाणु शक्ति प्राप्त करने के लिए भी इनका उपयोग किया जाता है।

५—लैन्थेनाइड या असाधारण भूमिज तत्व (Lanthanides or Rare Earth Elements)- ये सख्या में कुल १४ हैं। इनके गुण समान हैं और इनको एक दूसरे से पृथक करना अति कठिन है। (Gas mantle) के बनाने के काम में लाये जाते हैं।

६—यूरेनियम परे तत्व (Trans Uranium Elements-) यह अति तीव्र रेडियो सक्रिय अस्थायी तथा प्रकृति में प्राप्त न होनेवाले पदार्थ हैं। इनमें प्लूटोनियम (Plutonium) परमाणु-बम बनाने के काम में आता है।

यौगिक और मिश्रण-कुल तत्वों की सख्या लगभग सौ (१००) है, लेकिन इनके अलावा लाखों पदार्थ, जिनसे विश्व बना है, क्या हैं? ये पदार्थ या तो 'रासायनिक यौगिक' हैं या 'मिश्रण'।

प्राचीन काल के मनुष्य को बहुत से यौगिकों का ज्ञान था, लेकिन उनका ज्ञान केवल साधारण अनुभव पर आधारित था। वे पदार्थों की पहचान उसके रासायनिक व्यवहार से नहीं करते थे अपितु बहुधा उसके स्रोत अथवा बाहरी दिखावट से करते थे। यदि इनकी बाहरी दिखावट में अन्तर होता था तो वे एक ही यौगिक (उदाहरण स्वरूप सोडा) के दो नमूनों को भिन्न भिन्न मानते थे। बॉयल (Boyle) ने सबसे पहले यौगिकों की प्रकृति का अध्ययन किया। और सरल पदार्थ (तत्वों) और यौगिकों के अन्तर को स्पष्ट किया। उसने रासायनिक यौगिक और भौतिक मिश्रण में भिन्नता बताई। उसने कहा कि यौगिक में मूल पदार्थ (तत्व) भार के विचार से निश्चित अनुपात में मिलते हैं। इनको साधारण विधियों से अलग नहीं किया जा सकता, जबकि भौतिक मिश्रण में पदार्थ किसी भी अनुपात में मिले होते हैं तथा सामान्य विधियों से अलग किये जा सकते हैं। मिश्रण के बनने में गर्मी या प्रकाश न तो निकलता है और न इसकी आवश्यकता ही होती है, जब कि अधिकतर यौगिकों के बनाने में ताप और कभी-कभी प्रकाश प्राप्त होते हैं अथवा इनकी आवश्यकता होती है इसीलिए हवा ऑक्सीजन नाइट्रोजन आदि का मिश्रण है जब कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का यौगिक है।

किसी रासायनिक यौगिक में केवल एक ही तरह के अणु होते हैं लेकिन दो या दो से अधिक प्रकार के परमाणु अर्थात् दूसरे शब्दों में

तत्व होते हैं। उदाहरण के लिए पानी एक प्रकार के अणुओं का समूह होता है और इन अणुओं में से प्रत्येक दो हाइड्रोजन तथा एक ऑक्सीजन के परमाणु का बना है। साधारण नमक का एक अणु सोडियम (Sodium) तथा क्लोरीन (Chlorine) के एक एक परमाणु से मिलकर बना है। यौगिक पानी में ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के अणु स्वतंत्र अवस्था में नहीं मिलते हैं लेकिन वे एक निश्चित अनुपात में ऐसे दृढ़ रूप से संयुक्त हैं कि वे बिना किसी विशेष शक्ति (जैसे विद्युत) को काम में लाये बिना पृथक नहीं किये जा सकते।

इस प्रकार एक रासायनिक यौगिक पदार्थ का वह रूप है, जिसका हर नमूना समान (Homogeneous) हो तथा जो दो या दो से अधिक तत्वों के निश्चित अनुपात मे मिलकर रासायनिक क्रिया होने से बना हो। इस तरह लोहा और गंधक मिलकर रासायनिक क्रिया होने से आइरन सल्फाइड (Iron Sulphide) बनाते हैं। इसके गुण अपने मूल पदार्थों लोहा और गंधक से बिलकुल भिन्न होते हैं, जैसा कि पानी हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के सम्बन्ध मे होता है। इसके विपरीत मिश्र दो या दो से अधिक पदार्थों के इस प्रकार मिलाने से बनता है, जिसमें मूल पदार्थों के गुण विद्यमान रहते हैं।

चूंकि एक यौगिक के सब अणु एक समान होते हैं, इसलिए यह निश्चित तापक्रम पर जमता या पिघलता है, तथा निश्चित तापक्रम पर उबलता है।

यौगिकों की उपस्थिति (Occurrence)—रासायनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण, बहुत से यौगिक प्रकृति में नहीं मिलते, परन्तु प्रयोगशाला में क्रिया कराकर तैयार किये जाते हैं। प्रयोगशाला में तैयार किये जाने वाले यौगिकों का विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता, परन्तु प्रकृति मे पाये जाने वाले यौगिकों की उपस्थिति यहाँ बताई जा रही है। बहुत से अकार्बनिक लवण प्रकृति में बहुतायत से पाये जाते हैं। जैसे साधारण नमक विभिन्न खारी झीलों में, सोडियम कार्बोनेट (Sodium Carbonate) और शोरा (Potassium Nitrate) पंजाब में, कॉपर कार्बोनेट (Copper Carbonate) सिंहभूमि और हजारीबाग (बिहार) में, कैलशियम सल्फेट (Calcium Sulphate) राजस्थान में, सुहागा (Borax) तिब्बत में। उच्च श्रेणी और मूल्यवान् धातुओं जैसे, चाँदी

रेडियम (Raidum), प्लैटिनम (Platinum) आदि के यौगिक केवल थोड़ी मात्रा में ही मिलते हैं।

सारे महत्वपूर्ण अकार्बनिक और कार्बनिक यौगिक विशेषतया अम्ल रंग, मुख्य औषधियाँ आदि प्रकृति में नहीं मिलते परन्तु प्रकृति में मिलने-वाले साधारण पदार्थ से ही व्यापारिक मात्रा में तैयार किये जाते हैं।

यौगिकों का वर्गीकरण— यौगिकों का शुद्ध वर्गीकरण तो उनके निर्माण के आधार पर होना चाहिए, जो कि इस पुस्तक के क्षेत्र के बाहर होगा। इसी प्रकार से यौगिकों का नामकरण उनमें उपस्थित तत्वों के आधार पर किया जाता है।

प्रश्नावली

१—तत्व किसे कहते हैं ? उदाहरण के साथ बताओ।

२—धातु, अधातु और उपधातु किसे कहते हैं ?

३—तत्व और यौगिक में क्या अन्तर है ?

———

अध्याय ५

रसायन-शास्त्र की भाषा (Language of Chemistry)

१—संकेत (Symbol)
२—परमाणु भार (Atomic Weight)
३—सूत्र (Formula) और अणु भार (Molecular Weight)
४—योजनीयता (Valency)।
५—रासायनिक समीकरण (Chemical Equation)

रसायन शास्त्र का अध्ययन करते समय विशेषत सूत्र (Formula) और समीकरण (Equation) की रचना करते समय पदार्थों का पूरा नाम लिखने में असुविधा अनुभव होती है। इसीलिए रसायनज्ञों ने तत्वों एव यौगिकों के लिए एक सर्वमान्य प्रणाली अपनाई है। वर्त्तमान समय मे जो प्रणाली कार्य मे लाई जाती है, उसको प्रचलित करने का श्रेय बर्जीलियस (Berzelius, 1814) को है। इस समय से पूर्व डाल्टन के तथा और दूसरे के चिन्ह उपयोग में लाये जाते थे। बर्जीलियस के सुझावों को मान्यता देते हुए वे चिन्ह शीघ्र त्याग दिये गये।

संकेत (Symbol)—तत्त्वों को प्रदर्शित करने के लिए संकेत (Symbol) उपयोग मे लाये जाते हैं। अधिकतर तत्त्व के नाम का पहला अक्षर उस तत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए उपयोग मे लाया जाता है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन (Hydrogen) के लिए H, ऑक्सीजन (Oxygen) के लिए O, कार्बन (Carbon) के लिए C, बोरन (Boron) के लिए B, काम मे लाया जाता है। जब किसी तत्त्व के नाम का पहला अक्षर वही होता है, जो किसी दूसरे तत्त्व के नाम का होता है तो ऐसे तत्वों को प्रदर्शित करने के लिए उनके नाम का पहला अक्षर तथा एक और विशेष अक्षर उपयोग मे लाया जाता है। उदाहरण के लिए बेरियम (Barium) के लिए Ba बिस्मथ (Bismuth) के लिए Bi, क्रोमियम (Chromium) के लिए Cr, लिखते हैं। बहुत से संकेत तत्वों के प्राचीन भाषा मे उनके नामों के संक्षिप्त चिह्न हैं, उदाहरणत, लोहे के फेरम (Ferrum) से Fe,

सीसे के लिए प्लम्बम (Plumbum) से Pb, चाँदी के लिए आरजेंटम् (Argentum) से Ag, लिया गया है।

परमाणु भार (Atomic Weight)—संकेत (Symbol) गुणात्मक (Qualitative) एवं परिमाणात्मक (Quantative) दोनों ही अर्थ रखता है। इस प्रकार 'O' ऑक्सीजन के एक परमाणु को बताता है, जो हाइड्रोजन परमाणु से सोलह गुणा भारी है। चूँकि हाइड्रोजन के परमाणु का भार अब तक ज्ञात समस्त तत्वों के एक परमाणु के भार से कम है इसलिए, दूसरे तत्वों के परमाणुओं के भार को नापने के लिए हाइड्रोजन के एक परमाणु के भार को इकाई मान लिया गया है। किसी तत्व के एक परमाणु के भार हाइड्रोजन के एक परमाणु के भार से तुलना करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, वह उस तत्व का परमाणु भार कहलाती है। इस प्रकार ऑक्सीजन का परमाणु भार १६ है, और चाँदी का १०७·६ है। इस प्रकार 'O' ऑक्सीजन के एक परमाणु को प्रदर्शित करता है, जो हाइड्रोजन के एक परमाणु से १६ गुणा भारी होता है।

सूत्र (Formula)—जिस प्रकार तत्व के परमाणु संकेतों से प्रदर्शित किये जाते हैं, उसी प्रकार यौगिक और तत्व के अणु सूत्र (Formula) से प्रदर्शित किये जाते हैं। किसी यौगिक के सूत्र (Formula) में उस यौगिक में स्थित विभिन्न तत्वों के संकेत होते हैं, और इन संकेतों के अन्त में कुछ संख्याएँ होती हैं, जो यह प्रदर्शित करती हैं कि उस यौगिक के एक अणु (Molecule) में विभिन्न तत्वों के कितने-कितने परमाणु स्थित हैं। इस प्रकार H O पानी के एक अणु को प्रदर्शित करता है, जो हाइड्रोजन के दो परमाणु तथा ऑक्सीजन के एक परमाणु से मिलकर बना है। H_2SO_4 गंधक के अम्ल (Sulphuric Acid) का सूत्र है, जिसके एक अणु में हाइड्रोजन के गंधक का एक और ऑक्सीजन के चार परमाणु होते हैं, इस तरह सूत्र किसी एक अणु का सांकेतिक प्रदर्शन है। संकेत की तरह यह भी गुणात्मक एवं परिमाणात्मक दोनों अर्थ रखता है।

'H_2O' केवल पानी के एक अणु को ही नहीं प्रदर्शित करता अपितु यह अणु के भार को भी बताता है। अणु, जिसका भार १८ होगा ऑक्सीजन के १६ भागों तथा हाइड्रोजन के २ भागों से मिल कर

बना है, और यह पानी की वह न्यूनतम मात्रा है, जो प्रकृति में स्वतन्त्र रह सकती है। यह संख्या "१८" पानी का अणु भार (Molecular Weight) कहलाती है। किसी पदार्थ का अणु-भार वह संख्या है जो यह बतलाती है कि उस पदार्थ का एक अणु हाइड्रोजन के एक परमाणु (atom) से कितने गुणा भारी है। यह इस पदार्थ के अणु में स्थित समस्त परमाणुओं के भार के बराबर होती है।

योजनीयता (Valency) सूत्र लिखते समय संयुक्त होने वाले तत्त्वों की योजनीयता (Valency) का ज्ञान होना आवश्यक है। शब्द 'योजनीयता' अणु बनाते समय तत्त्व के एक परमाणु की दूसरे तत्त्व के परमाणु से संयुक्त होने की शक्ति का द्योतक है। गणित के आधार पर योजनीयता वह संख्या है जो यह प्रदर्शित करती है कि किसी तत्त्व का एक परमाणु हाइड्रोजन के कितने परमाणु से संयोग कर सकता है। उदाहरणत क्लोरीन की योजनीयता (HCl) के एक है और ऑक्सीजन की योजनीयता पानी (H_2O) में दो है। क्योंकि क्लोरीन का एक परमाणु हाइड्रोजन के एक परमाणु से संयुक्त होता है और ऑक्सीजन का एक परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से संयुक्त होता है। यदि कोई तत्त्व हाइड्रोजन से संयोग नहीं करता, तो उस तत्त्व की योजनीयता उस तत्व के किसी ऐसे दूसरे तत्व के साथ बने यौगिक का परीक्षण करने पर ज्ञात की जा सकती है, जिसकी योजनीयता मालूम हो। उदाहरण के लिए चाँदी (Silver) हाइड्रोजन के साथ यौगिक नहीं बनाती, लेकिन क्लोरीन के साथ सिलवर क्लोराइड (AgCl) बनाती है। इसलिए चाँदी की योजनीयता भी एक होती है।

रासायनिक समीकरण (Chemical Equation)—रासायनिक समीकरण किसी रासायनिक परिवर्तन का सांकेतिक प्रदर्शन है। इसमें क्रिया करने वाले और क्रिया के पश्चात् बनने वाले यौगिकों के सूत्र उचित चिन्हों के साथ होते हैं। निम्नलिखित समीकरण हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन के परस्पर क्रिया करने पर पानी बनना दिखाता है।

$$_2H_2 + O_2 = _2H_2O$$
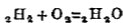
रासायनिक समीकरण का भी परिमाणात्मक महत्व होता है। उदाहरणार्थ ऊपर लिखा हुआ समीकरण यह भी बताता है कि हाइड्रोजन

के दो अणु (भार के अनुसार ४ भाग) ऑक्सीजन के एक अणु (भार के अनुसार ३२ भाग) से क्रिया करके पानी के दो अणु (भार के अनुसार ३६ भाग) बनाते हैं।

किसी रासायनिक समीकरण की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं :—

(१) यह वास्तविक रासायनिक परिवर्तन दिखाता है।

(२) यह सन्तुलित (Balanced) होना चाहिए, अर्थात् क्रिया करने वाले पदार्थों का कुल भार बनने वाले पदार्थों के कुल भार के बराबर होना चाहिए।

(३) यह आणविक (Molecular) होना चाहिए, अर्थात् क्रिया करने वाले और उससे बनने वाले पदार्थ अणु के रूप में दिखाये जाने चाहिए, न कि उनके अंशों के रूप में, जो वास्तव में होते नहीं।

रासायनिक भाषा इस लिए महत्त्वपूर्ण है कि यह रसायनज्ञ को किसी क्रिया के संक्षिप्त एवं शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने में सहायता प्रदान करती है। साथ ही इस भाषा की कोई प्रादेशिक सीमा नहीं अर्थात् समस्त विश्व में यह एक सी ही भाषा है। प्रत्येक रसायनज्ञ के लिए, भले ही वह भारतीय हो या दक्षिणी अफ्रीका वासी हो, चाहे जर्मन हो या फ्रांसीसी, एक रासायनिक संकेत, सूत्र अथवा समीकरण का एक ही गुणात्मक एवं परिमाणात्मक अर्थ होगा।

प्रश्नावली

१—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखो :—

संकेत, सूत्र, योजनीयता, अणुभार, परमाणुभार।

२—समीकरण किसे कहते हैं और इससे क्या प्रकट होता है?

अध्याय ६

घरेलू जीवन में रसायन-शास्त्र

१—दियासलाई
२—साबुन
३—कान्तिवर्धक (Cosmetic) पाउडर (Powder) और क्रीम (Cream)
४—इत्र (Scent)
५—शीशा और काँच

दियासलाई—आधुनिक ढंग से जीवन व्यतीत करने के हम इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि साधारणत यह अनुभव ही नहीं कर पाते कि हर क्षेत्र में रसायन-शास्त्र कितना महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। वे दिन गये, जब अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिए चकमक पत्थर पर निर्भर रहना पड़ता था। रसायन-शास्त्र की उन्नति के कारण ही हम आज के युग में इसके स्थान पर दियासलाई उपयोग में ला सके हैं।

आधुनिक ढंग से, कृत्रिम अग्नि प्राप्त करने का ढंग अर्थात् दियासलाई उपयोग में लाने का आरम्भ १८०५ से हुआ, जबकि लकड़ी के सिरे को पोटैशियम क्लोरेट (Potassium Chlorate) और शक्कर के घोल में भिगोकर गधक के अम्ल में डालने से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। रगड़ कर आग उत्पन्न करने वाली दियासलाई का आविष्कार लगभग १८३७ में हुआ। उस समय लकड़ी के सिरे पर एन्टीमनी सल्फाइड (Antimony Sulphide), पोटैशियम क्लोरेट फॉस्फोरस और गोंद लगाकर सुखाया जाता था और फिर रेत और काँच लगे कागज (Sand-paper) पर रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी। आजकल जो दियासलाई काम में लाई जाती है, उसे सुरक्षित दियासलाई (Safty mathes) कहते हैं। यह दियासलाई एन्टीमनी सल्फाइड (Antimony Sulphide) पोटैशियम क्लोरेट (Potassium Chlorate), पोटैशियम डाई क्रोमेट (Potassium di Chromate) बालू और सरेस के मिश्रण में डुबोकर

सुखा ली जाती है, इसे जलाने के लिए विशेष रूप से तैयार की हुई सतह पर रगड़ा जाता है, जो कागज पर लाल फॉस्फोरस, एन्टीमनी सल्फाइड, पिसा हुआ काँच और गोंद लगाने से तैयार की जाती है। अधिकतर लकड़ी को सुहागे (Borax) के घोल में भिगोकर सुखा लेते हैं ताकि लौ बुझने पर भी लकड़ी जलती ही न रहे।

साबुन—रसायन शास्त्र ने मानव-जाति को केवल सुविधा ही नहीं पहुँचाई, बल्कि उसे स्वच्छ रखकर जीवन शत्रु रोगाणुओं से बचने में भी सहायता दी है। सबसे अधिक सुविधाजनक और प्रचलित स्वच्छ करने का साधन निस्सन्देह साबुन ही है। सफलता के लिए साबुन पूर्णतया रसायनज्ञ पर निर्भर है, जैसा कि साबुन बनाने के विवरण से प्रकट होगा।

यह उद्योग गृह उद्योग (Cottage industry) और साधारण उद्योग दोनों ही रूप में प्रचलित है। दोनों प्रकार के उद्योग में सिद्धांत एक ही है। भेद केवल उसको प्राप्त होने वाली मात्रा, उपफलों (Bye-products) का प्राप्त करना और उनका उपयोग करना तथा साबुन के प्रकार का है।

साबुन बनाने की दो विधि हैं—(१) शीत विधि (Cold process) तथा (२) ताप विधि (Hot process) पहली विधि में साबुन बनाने से काम में आने वाले पदार्थों को मिलाकर लम्बे समय के लिए छोड़ दिया जाता है, जिससे धीरे धीरे रासायनिक क्रिया होती रहती है। दूसरी विधि में इन पदार्थों को मिलाकर गर्म किया जाता है, जिससे रासायनिक पूरी और कम समय में हो जाती है।

साबुन बनाने के लिए तेल या वसा और कास्टिक सोडे (Caustic soda) का घोल उचित अनुपात में एक बड़े बर्तन में लिया जाता है, और इस मिश्रण में नली के द्वारा भाप पहुँचाई जाती है। भाप इस मिश्रण को एक सा होने में तथा गर्म करने में मदद देती है। जब मिश्रण गर्म किया जाता है तो कास्टिक सोडा और तेल या वसा में एक विशेष रासायनिक क्रिया होती है, जिसे साबुनीकरण (Saponification) कहते हैं। इससे हमें साबुन और ग्लिसरीन प्राप्त होते हैं

Oil or Fat + Caustic Soda–Soap + Glycerine

जब यह क्रिया समाप्त हो चुकती है, जिसका अनुमान रसायनज्ञ देखने या छूने से लगाया जा सकता है, तो इसमें साधारण नमक का संतृप्त

घोल (Saturated Solution) डालते हैं, तो साबुन घोल के ऊपर दही जैसी अवस्था में आकर इकट्ठा हो जाता है। इस साबुन को घोल से अलग निकाल कर पानी से धोया जाता है ताकि नमक का घोल, ग्लिसरीन या स्वतंत्र कास्टिक सोडा इससे दूर हो जायें। इसके बाद इसे सुखाया जाता है, जिससे अतिरिक्त पानी निकल जाय। इसके बाद इसमें कोई सुगंधित पदार्थ मिलाया जाता है और पिघला कर साँचों में ढाल दिया जाता है। यह अधिकतर शरीर, कपड़े और लकड़ी या लोहे का समान फर्श आदि साफ करने के उपयोग में आता है।

साबुन का उपयोग आधुनिक सभ्यता के विकास के साथ साथ बढ़ता जा रहा है। इस सम्बन्ध मे लीबिग (Liebig) के ये शब्द बहुत ही उचित हैं "किसी देश की सभ्यता का ज्ञान उस देश में होने वाली साबुन की खपत से प्राप्त किया जा सकता है।"

कान्तिवर्द्धक (Cosmetics)—चेहरे को साबुन से धोने पर कुछ रूखापन आ जाता है। इस रूखेपन को दूर करने के लिए क्रीम आदि उपयोग में लाये जाते हैं। ये पदार्थ खाल, बाल, नेत्र और अन्य अंगों को सुन्दर बनाने के विचार से उपयोग मे लाये जाते हैं।

आज रसायनज्ञ इस योग्य हुआ है कि वह अनुपयुक्त पदार्थों के उपयोग करने से उत्पन्न होने वाली हानि की ओर ध्यान आकर्षित कर सका है, और उपयोग में लाये जाने वाले पदार्थों की विश्वस्तता की परीक्षा करने के योग्य हो सका है। क्रीम, पाउडर या अन्य सौन्दर्यवर्धक साधनों का चर्म पर जो प्रभाव पड़ता है, उसका अध्ययन करते समय चर्म की रचना और उसके कार्य का ध्यान रखना आवश्यक है। स्वस्थ मनुष्य के चर्म से सदैव पसीना निकलता है। इसके बाहर निकलने में बाधा डालने से चर्म एवं शरीर दोनों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। ऐसे पाउडर का उपयोग करने से जिसमें पानी या पसीने के हल्के अम्ल में न घुलने वाले पदार्थ हों चर्म के छिद्र बंद हो जाते हैं, और इस प्रकार पसीना निकलने वाली ग्रन्थियों (Sweat glands) के कार्य में बाधा पहुँचती है। चर्म पर अधिक समय तक रहने वाले पाउडरों में ऐसे अघुलित पदार्थ अधिक मात्रा में रहते हैं और इसलिए इनके लगातार उपयोग से हानि पहुँचती है, अन्यथा इससे अन्य कोई हानि नहीं होती क्योंकि इसमें चर्म को क्षति पहुँचाने वाले पदार्थ नहीं होते। टेल्क (Talc)

या मेगनेशियम सिलिकेट (Magnesium Silicate), अवक्षिप्त किया हुआ कैल्शियम कार्बोनेट (Precipitated Calcium Carbonate), मैगनेशियम कार्बोनेट (Magnesium carbonate), विशेष प्रकार की मिट्टी-कैओलिन (Kaoline), जिंक ऑक्साइड (Zinc Oxide), टिटैनियम ऑक्साइड (Titanium Oxide), सैलिसिलिक अम्ल(Salicylic acid) और बोरिक अम्ल (Boric acid) आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो इस कार्य के लिए उपयोग में आते हैं। सैलिसिलिक अम्ल और बोरिक अम्ल ऐसे यौगिक या पदार्थ हैं, जो कोमल चर्म और बच्चों के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं।

रंगीन पाउडर हानिकारक समझे जाते हैं, क्योंकि उनमें अधिकतर या तो अघुलनशील पदार्थ होते हैं अथवा चर्म को क्षति पहुँचाने वाले रंग होते हैं।

चेहरे पर लगाने वाली क्रीम वसा या तेल के माध्यम जैसे लैनोलिन या वैसलीन (Lanoline or Vasline) में तैयार की जाती है। इनमें खनिज पदार्थों का होना विशेष आवश्यक नहीं है पसीना रोकने वाली क्रीमों में या तो नमी सोख सकने वाले पदार्थ होते हैं, या ऐसे पदार्थ होते हैं जो चर्म के छिद्रों को सिकोड़ देते हैं। जिंक ऑक्साइड, फिटकरी(Alum), अलकोहल (Alcohol), ग्लिसरीन (Glycerine), सैलिसिलिक और बोरिक अम्ल आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो इसके उपयोग में लाये जाते हैं। एक नई क्रीम आधुनिक काल में उपयोग में आती है, जो चर्म को स्वच्छ कर देती है। इस क्रीम में खनिज तेल होता है, जो पसीने के साथ निकले चिकने पदार्थ को घोल लेता है, और धूल या मिट्टी आदि को इस घोल में मिला देता है, जिससे वह तौलिये या कपड़े आदि से पोंछकर हटा दी जा सकती है।

बाल उड़ाने के उपयोग में आनेवाले पदार्थों का रासायनिक इतिहास बड़ा रोचक है। चमड़ा-उद्योग में चर्म के बाल उड़ाने के लिए, उपयोग में आने वाले पदार्थ आरसिनियम सल्फाइड (Arsenious Sulphide) को जीवित चर्म (जीवित प्राणियों के चर्म) के बाल उड़ाने के लिए भी उपयोगी पाया गया। लेकिन यह बहुत ही विषैला पदार्थ है। बाद में देखा गया कि बाल उड़ाने का गुण आरसेनिक (Arsenic) में न होकर सल्फाइड (Sulphide) में है, और इस प्रकार कम खतरनाक जैसे बेरियम

सोडियम, कैल्शियम या स्ट्रोन्शियम (Strontium) आदि के सल्फाइड इस उपयोग मे लाये जाते है।

इत्र—इत्र भी एक प्रकार का रासायनिक यौगिक है। ऐसे फूलों को जिनमे यह इत्र होता है किसी उचित घोल मे घोल दिया जाता है। फिर आंशिक स्रावण (Fractional distillation) की विधि से इन्हें घोलक से अलग कर दिया जाता है। शायद तुम्हें विश्वास न होगा कि आजकल इनमे से अधिकाश इत्र काले और अत्यन्त बदबूदार पदार्थ—कोलतार से प्राप्त किये जाते हैं।

शीशा और काँच—क्या आज के युग में कोई मनुष्य शीशे की सहायता से अपना चेहरा देखे और बाल सँवारे बिना घर से बाहर निकलने की कल्पना भी कर सकता है? वर्त्तमान सभ्यता के युग म काँच भी रसायन शास्त्र की मुख्य देन है।

काँच से बने हुए बहुत से पदार्थ हमारे दैनिक जीवन मे बहुत महत्व रखते हैं, उदाहरणार्थ, खिड़की का शीशा, गिलास, चश्मे के लेन्स (Lens) दवात आदि। इसके अतिरिक्त यह विज्ञान के अध्ययन के काम में आने वाले उपकरणों (Apparatus) को बनाने के उपयोग मे भी आता है।

काँच धातु के सिलिकेटों (Silicates) का मिश्रण है। इसमे विभिन्न क्षारीय सिलिकेटों का लिया जाना, उससे निर्मित काँच के उपयोग पर निर्भर है।

काँच बनाने के लिए विभिन्न धातु अर्थात् सोडियम, पोटेशियम, कैल्शियम और सीसा के कार्बोनेट (Carbonate) रेत (Silica) और टूटे हुए काच को उचित मात्रा मे मिलाते हैं, फिर इस मिश्रण को गर्म करते हैं। गर्म करने पर यह मिश्रण पिघलकर तरल द्रव की अवस्था में आ जाता है। जब क्रिया समाप्त हो जाती है तो इस तरल को इसी अवस्था में थोड़ी देर तक छोड़ देते है जिससे अशुद्धियाँ नीचे बैठ जायँ, फिर इस द्रव को नली मे थोड़ा-थोड़ा अश लेकर फूँक और साँचा के द्वारा इच्छित आकार में परिवर्तित किया जाता है। फूँकने मे बहुत अनुभव की आवश्यकता होती है, और इसे केवल अनुभवी व्यक्ति ही कर सकते हैं। काँच की चादर बनाने के लिए द्रवित काच को फैला दिया जाता है, फिर लोहे के रोलरों से इसे दबाया जाता है जिससे इस द्रव

की एक ही मोटाई की परत प्राप्त हो। काँच का सामान साँचों में ढाल कर बनाया जा सकता है।

इच्छित आकार में बना लेने के पश्चात् वस्तुओं को क्रमशः ऐसे कक्षों में होकर भेजा जाता है, जिनका तापक्रम धीरे-धीरे कम हो रहा हो, इससे उनमें आन्तरिक दबाव नहीं बढ़ पाता और इस तरह उनके तड़क जाने की संभावना कम हो जाती है। इस प्रकार काँच के ठंडा करने को अभितापन (Annealing) कहते हैं।

काँच पर कलई करना (Silvering of mirrors)—काँच पर कलई करने के लिए एमोनिया युक्त सिलवर नाइट्रेट (Silver Ni-trate) के घोल में ग्लूकोज (Glucose) या रोचेली लवण (Rochelle salt) डालते हैं, और इस पर साफ किया हुआ काँच इस प्रकार रखते हैं कि काँच की एक ही सतह उसको स्पर्श करती रहे। इस प्रकार काँच को इस घोल में गर्म स्थान थोड़ी देर रखने से काँच पर चाँदी की परत जम जाती है। फिर काँच को इस घोल में से निकालकर पानी से धो लेते हैं, और चाँदी की परत की सुरक्षा के लिए इस परत पर तारपीन के तेल में सिंदूर (Red Oxide of Lead) मिला कर इसकी परत चढ़ा देते हैं। इस तरह हमें मुँह देखने वाला शीशा प्राप्त होता है।

काँच-उद्योग ने अन्वेषणों के फलस्वरूप इतनी उन्नति कर ली है कि वर्तमान युग में काँच को उसके उपयोग के विचार से जिस प्रकार के काँच की आवश्यकता होती है उसी प्रकार का बना लिया जाता है।

उपरोक्त वृत्तान्त तो केवल उदाहरण मात्र है। गृह में किसी ओर भी दृष्टि डालिये सब ओर रसायनशास्त्र की देन ही देन दिखाई पड़ेगी और उन सबके वर्णन के लिए एक पुस्तक भी पर्याप्त न होगी।

प्रश्नावली

१—साबुन उद्योग के विषय में तुम क्या जानते हो?

२—काँच पर कलई किस प्रकार की जाती है?

३—घरेलू जीवन में रसायन-शास्त्र क्या महत्व रखता है?

अध्याय ७

रसायन-शास्त्र और भोजन

१—संतुलित भोजन (Balanced Diet)

२—भोजन के भाग और उनका उपयोग

३—भोजन की मात्रा

भोजन की आवश्यकता प्रत्येक जीवित प्राणी को होती है। भोजन से शरीर की वृद्धि होती है, और कार्य करने में जो शक्ति व्यय होती है, उसकी भी क्षतिपूर्ति इसी भोजन द्वारा होती है। यदि इस आवश्यकता का विचार करते हुए मनुष्य भोजन करे तो यह सम्भव हो सकता है कि वह सदा निरोगी रहे, और दीर्घायु प्राप्त कर सके। हमारे देशवासियों की औसत आयु केवल २५ वर्ष है, जबकि अन्य सभ्य देशवासियों की औसत आयु इसकी अपेक्षा बहुत अधिक है। इसका एक मुख्य कारण हमारा भोजन के ध्येय के विषय में अनजान होना है, तथा साथ ही हमें संतुलित भोजन का न मिलना है।

संतुलित भोजन (Balanced Diet)—सब प्रश्न होता है कि संतुलित भोजन क्या है ? भोजन को सक्षिप्त रूप से छः भागों में बाँटा जा सकता है (१) प्रोटीन (Proteins), (२) शर्करा (Carbohydrates) (३) वसा (Fats) (४) खनिज पदार्थ (Minerals), (५) जीवनतत्व या विटैमिन (Vitamins) और (६) जल। सतुलित भोजन में इन छः वस्तुओं का उचित अनुपात में होना आवश्यक है। अब प्रश्न होता है कि भोजन कितना करना चाहिये ? इस प्रश्न को सुलझाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि कार्य करने में साधारणत मनुष्य कितनी शक्ति का व्यय करता है। इसके साथ ही भोजन के इन अंशों में से कौनसा अंश पूर्णतया पचने पर कितनी शक्ति प्रदान करता है। इस शक्ति को हम ताप उत्पन्न होने या व्यय होने की मात्रा नापते हैं। साधारणतः मस्तिष्क से कार्य करने वाले युवक को २५०० कैलोरी (ताप-नापने की इकाई), मजदूर को ५५०० कैलोरी, और मस्तिष्क तथा शरीर

दोनों से कार्य करने वाले युवक को ३४०० कैलोरी ताप की आवश्यकता प्रतिदिन होती है। १ ग्राम वसा से ६ कैलोरी और एक-एक ग्राम प्रोटीन व शर्करा से ४ ४ कैलोरी ताप प्राप्त होता है। (१ सेर=६३० ग्राम के लगभग)

हमें केवल ताप की ही आवश्यकता नहीं है। यदि हम ताप की मात्रा पूरी प्राप्त करने के लिए केवल एक ही अश पर्याप्त मात्रा मे लेलें, तो इससे शरीर का पूरा कार्य नहीं चल सकता क्योंकि भोजन के हर अश का अपना अलग-अलग कार्य-क्षेत्र होता है, इसीलिए भोजन में इन सब अशों का होना आवश्यक है।

भोजन के भाग और उनका उपयोग—अब इन छः अशों के कार्यों, प्राप्ति साधनों तथा उनके मुख्य उपयोगों का वर्णन करेंगे।

(१) **प्रोटीन** (Proteins)—ये कार्बनहाइड्रोजन, नाइट्रोजन, ऑक्सीजन और गधक कुछ मे फासफोरस भी से निर्मित रासायनिक यौगिक होते हैं। इसके मुख्य भेद यह हैं-(१) एलब्यूमन Albumen जो अडे, दूध और अनाज म पाया जाता है। (२) ग्लोबुलीन Globuline यह रक्त दूध और अडा में पाया जाता है। (३) प्रोटमीन (Protamine) यह, मछलियों मे पाया जाता है। (४) फास्फो प्रोटीन (Phospho-proteins) यह दूध मे मिलता है। (५) हीमोग्लोबीन Haemoglobin यह रक्त में पाया जाता है। प्रोटीन जिस रूप मे खाया जाता है, उस रूप में शरीर इसे ग्रहण नहीं करता, परन्तु इसमें आवश्यक रासायनिक परिवर्तन हो जाते हैं। भोजन में हम जो प्रोटीन खाते हैं, वह पानी तथा पेट क रसों द्वारा कई रासायनिक यौगिकों मे परिवर्तित होकर शरीर रचना के कार्य में सहयोग देता है। बाल्य-काल और युवा-काल मे, जब कि मनुष्य-शरीर का विकास होता है, इस अश की अधिक आवश्यकता होती है। प्रौढ़ावस्था में प्रोटीन की इतनी आवश्यकता नहीं होती क्योंकि इस अवस्था में शरीर की वृद्धि नहीं होती

(२) **शर्करा** (Carbohydrates)—लगभग सब प्रकार के शर्करा जाति के पदार्थ शरीर उष्णता प्रदान करते हैं। भोजन करते समय भोजन में उपस्थित शर्करा जाति के पदार्थ (Saliva) लार से मिलकर ही कुछ परिवर्तित होते हैं और पेट मे पहुँच कर पूरी तरह ग्लूकोज (Glucose) रूप मे परिणत हो जाते हैं, शरीर इसे इसी रूप मे ग्रहण

करता है। इस ग्लूकोज मे श्वास की हवा की उपस्थित से रासायनिक परिवर्तन होता है। इससे कार्बन डाई ऑक्साइड, पानी और ताप प्राप्त होता है, इस ताप से शरीर शक्ति ग्रहण करता है, तथा कार्बन डाई ऑक्साइड और पानी साँस के द्वारा बाहर निकल जाते हैं। ये विभिन्न अनाज जैसे गेहूँ, चावल आदि मे तथा विभिन्न प्रकार के साग-सब्जियों में, जैसे आलू, शकरकंद, मटर, चुकन्दर आदि में प्रचुर मात्रा मे होते हैं। मीठे फलों मे भी यह थोड़ी मात्रा मे होता है। गुड़, चीनी, और गन्ने मे यह अत्यधिक मात्रा मे होता है। साग-सब्जियों में शर्करा जाति का एक और भी पदार्थ होता है, जिसे सैलूलोज (Cellulose) कहते हैं। यद्यपि यह शरीर की पाचन क्रियाओं आदि मे सक्रिय भाग तो नहीं लेता, तथापि भोजन में इसकी कुछ मात्रा में उपस्थिति मलबद्धता को रोकती है।

(३) वसा या चर्बी (Fats) ये पदार्थ भी शर्करा जाति के पदार्थों के समान शरीर को शक्ति प्रदान करते हैं। इसके अतिरिक्त ये पदार्थ कुछ रूपान्तर के बाद शरीर मे वसा के रूप में इकट्ठे हो जाते हैं, और भोजन के अभाव मे ये पुन. रूपान्तरित होकर शरीर को शक्ति देने के योग्य हो जाते हैं, जबकि शर्करा जाति के पदार्थ यदि अधिक मात्रा मे शरीर मे पहुँच जाते हैं, तो किसी न किसी रूप मे बाहर निकल जाते हैं। ये पदार्थ तिलहन जैसे सरसों, मूँगफली, तिल, अलसी आदि में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। कुछ फलों के बीजों मे जैसे अखरोट, नारियल, बादाम, काजू, चिलगोजा, पिस्ता, चिरौंजी आदि मे भी ये पर्याप्त मात्रा में होते हैं। दूध, घी, मक्खन, पशुओं के मांस में भी ये पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

(४) खनिज पदार्थ (Mineral Salts) —यह भी भोजन का महत्वपूर्ण अङ्ग है। यह शरीर की गठन में सहायक होता है। इनमे तीन मुख्य हैं—कैलशियम, फासफोरस (Phosphorus) और लोहा।

कैलशियम (Calcium) के लवण हड्डियाँ और दाँत बनाते हैं, और हृदय की गति को स्थिर रखते हैं। बड़ों की अपेक्षा छोटे बच्चों को इसकी विशेष आवश्यकता होती है, क्योंकि हड्डियों और दाँतों का विकास विशेषता बाल्य-काल में ही होता है। यह दूध तथा दूध से बने पदार्थों के अतिरिक्त अण्डा, फल और पत्ते वाली हरी तरकारियों से प्राप्त होता है। गर्भवती स्त्रियों को भी इसकी आवश्यकता होती है।

फास्फोरस दाँतों, हड्डियों और दिमाग का विशेष अङ्ग है। यह हमें छिलके युक्त दाल और चावल, दूध, फलियों तथा तिलहनों से प्राप्त होता है।

लोहे की कमी होने से रक्त-सम्बन्धी रोग होते हैं, क्योंकि रक्त का मनिय लाल रङ्ग लोहे पर ही निर्भर करता है। गर्भावस्था के बाद रक्त की कमी की पूर्ति के लिए स्त्रियों को लोहे के खनिज से भरपूर भोजन की आवश्यकता होती है। यह हमें अन्न, दाल, गोश्त, सेब और हरी पत्तो वाली तरकारियों जैसे बथुआ, पालक, मूली आदि से प्राप्त होना है।

इनके अलावा हमें अन्य खनिज लवण जैसे सोडियम (Sodium) पोटेशियम और मैगनेशियम (Potasium and Magnesium) गन्धक (Sulphur) क्लोरीन (Chlorine, और आयोडीन (Iodine) से बने लवणों को भी आवश्यकता होती है। इनमें गन्धक हमें प्याज से पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यह रक्त और चर्म-सम्बन्धी विकारों को दूर करता है। आयडीन (Iodine) की अल्प मात्रा भी थाइरायड (Thyroid) ग्रंथी को अपना कार्य करने में सहायक होती है।

(५) विटामिन या जीवन तत्व (Vitamins)—में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिनकी बहुत ही अल्प मात्रा में उपस्थिति शरीर के विभिन्न अङ्गों को स्वस्थ रखने और उनके सुचारु रूप से कार्य करने में सहयोग देते हैं वे पदार्थ जीवन-तत्व या विटामिन कहलाते हैं। शरीर में इनकी अनुपस्थिति या कमी से नाना प्रकार के रोग हो जाते हैं तथा शरीर की वृद्धि नहीं हो पाती। वैसे तो लगभग चालीस ऐसे विटामिन हैं, जो हमारे शरीर रूपी यंत्र को सुचारु रूप से चलाने में सहयोग देते हैं। परन्तु इनमें से केवल छः विटामिन ऐसे हैं जिनकी मनुष्य के भोजन में कमी हो सकती है। तथा जिनकी कमी के कारण मनुष्य रोगी हो सकता है। विटामिन को अँगरेजी वर्णमाला के अक्षरों से नाम दिये गये हैं जैसे विटामिन A, B, C, D, E, K, आदि। ये विटामिन घी, दूध, आटा, मछली का तेल, हरे-पत्ते वाले साग, गाजर, सब्जी, फल, खमीर, चावल, गेहूँ, मूँगफली, नीबू, मांस आदि भोजन के पदार्थों में पाये जाते हैं।

ये विटामिन किस प्रकार कार्य करते हैं, इस विषय में अभी तक वैज्ञानिक एकमत नहीं हो पाये हैं। यह अनुमान किया जाता है कि ये

विटामिन उत्प्रेरक (Catalyst) के रूप में कार्य करते हुए शरीर के अन्दर होने वाली रासायनिक क्रियाओं की गति को तीव्रता प्रदान करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि उत्प्रेरक (Catalyst) वे पदार्थ होते हैं जो स्वयं बिना बदले हुए किसी रासायनिक क्रिया की गति को बढ़ाने या रोकने मे मदद देते हैं। हमारे शरीर की क्रियाओं में किसी न किसी रूप मे कोई न कोई उत्प्रेरक सदैव भाग लेता है। शरीर के विचार से एनजाइम (Enzyme) बहुत महत्त्वपूर्ण उत्प्रेरक है। हमारे भोजन में विटामिन की कमी होने से रोगी हो जाता है।

(६) जल (Water)—जल हमारे लिए कितना आवश्यक है, उसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि हमारे शरीर में लगभग ५६% जल है और किन्हीं अंशों मे तो इसकी मात्रा ७०-६०% तक पहुँच जाती है। यह जल केवल निष्क्रिय पदार्थ या घोलक ही नहीं है, अपितु यह शरीर रचना का प्रमुख तथा क्रियाशील अश है। बहुत ही उत्तम घोलक और विशेष गुण रखने वाले द्रव होने के कारण शरीर मे होने वाली क्रियाओ में यह सहायता प्रदान करता है। तथा इन क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले ताप को शरीर का तापक्रम अधिक बढ़ाये बिना ही यह पूरे शरीर मे ही वितरित कर देता है। यह शरीर के तापक्रम को नियंत्रित करने में तथा शरीर में पैदा हुए विषैले तथा अनुपयोगी पदार्थों को बाहर निकालने के साथ ही यह स्वय भी शारीरिक क्रियाओं में सक्रिय भाग लेता है।

पीने के पानी मे निम्नलिखित गुण होने चाहिए:—

(१) यह गंधहीन और रंगहीन होना चाहिए।

(२) इसमें कोई हानिकारक अशुद्धियाँ नहीं होनी चाहिए।

(३) इसमे किसी प्रकार के कीटाणु नहीं होने चाहिए।

थोड़ी मात्रा में लवण और घुलित वायु के होने के कारण पानी का साधारण स्वाद होता है। उबला हुआ या स्रावित जल फीका होता है। जब पानी मे ऊपर लिखे गुण न हों तो वह पानी पीने के योग्य नहीं होता, और उसको शुद्ध करना आवश्यक होता है। बड़े शहरों या कस्बों में जनता के लिए स्वच्छ और शुद्ध पानी का प्रबन्ध करने के लिए म्युनिसिपैलटी जल स्वच्छालय (Water Works) मे पानी को साफ एवं शुद्ध करती हैं। यहाँ निम्नलिखित रीति काम में लाई जाती है।

पम्प की सहायता से पानी कुओं या नदियों में से बड़े-बड़े टैंकों (Tanks) में भेजा जाता है। जिनमें इस पानी में फिटकरी और क्लोरीन (Chlorine) मिलाया जाता है। फिटकरी (Alum) और क्लोरीन के मिलाने से अधिकांश अघुलित और आलम्ब (Suspended) अशुद्धियाँ नीचे बैठ जाती हैं।

इसके बाद पानी ऐसे चौकोर टैंकों (Tanks) में भेजा जाता है, जिनमें कंकड़, बालू, बारीक रेत की तहें होती हैं। पानी इसमें से होकर नीचे छनता है, और अघुलित अशुद्धियाँ छनकर अलग हो जाती हैं। इसके बाद पानी में रोगाणुओं को नष्ट करने के लिए क्लोरीन (Chlorine) डाली जाती है। इस पानी को ऊँचे स्थान पर एकत्रित करके नलों के द्वारा जनता तक पहुँचाया जाता है।

भोजन की मात्रा—निम्नलिखित तालिका में ऐक औसत युवक के के लिए संतुलित भोजन के विविध अंश तथा उनकी दैनिक मात्राएँ दी गई हैं :—

अंश	मात्रा (औंस में)
(१) अन्न जैसे गेहूँ, चावल आदि	१५
(२) दालें जैसे मूँग, अरहर, उर्द आदि	३
(३) तरकारियाँ, जिनमें हरी पत्तीदार, जड़ वाली तथा अन्य प्रकार की तरकारियाँ हों	१०
(४) फल	४
(५) दूध	१०
(६) शक्कर	२
(७) चर्बी युक्त पदार्थ जैसे घी, तेल आदि	२
(८) जल	आवश्यकतानुसार

प्रश्नावली

१—सतुलित भोजन किसे कहते हैं ?

२—पीने के पानी में कौन-कौन से गुण होने चाहिए तथा अशुद्ध जल को किस प्रकार से शुद्ध किया जाता है ?

अध्याय ८

रसायन-शास्त्र और कृषि

१—कृषि के लिए खाद की आवश्यकता।

२—खाद का संगठन—प्राकृतिक (Natural) और कृत्रिम (Artificial) और उसका उपयोग।

३—नाइट्रोजन चक्र।

४—कृत्रिम खाद का उत्पादन।

(क) नाइट्रोजन युक्त खाद।

(ख) फास्फोरस युक्त खाद।

कृषि सबसे प्राचीनतम और उपयोगी कला है। आदि काल से ही मनुष्य प्रकृति मे पैदा होने वाले पेड़-पौधों से प्राप्त खाद्य पदार्थों को काम मे लाता रहा है और सदैव ही अपने कार्य मे आने वाले खाद्य पदार्थों के उत्पादन के लिए खेती करता रहा है। यद्यपि अब भी कृषक की चतुरता और अनुभव अपना विशेष महत्त्व रखते हैं, फिर भी रसायन-शास्त्र कृषि क्षेत्र मे अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

कृषि के लिए खाद्य की आवश्यकता—प्रारम्भिक वैज्ञानिक अन्वेषण विशेषत मिट्टी की उर्वरता के सम्बन्ध में हुए। पूर्व समय से ही यह अनुमान किया जाता था कि फसलें अपने भोजन का कुछ अश मिट्टी से ही प्राप्त करती हैं और इस तरह मिट्टी की उर्वरता (Fertility) या उर्वरा-शक्ति कम होती जाती है और उपज भी कम होती रहती है। अनुभवों से यह ज्ञात हुआ कि मिट्टी हरी खाद (Farmyard manure) तथा और दूसरे खाद मिलाने से फिर उपजाऊ बनाई जा सकती है।

खाद का संगठन—अन्वेषणों से ज्ञात हुआ कि हरी खाद मे मिट्टी को उपजाऊ बनाने की शक्ति, उसमे स्थित तीन मुख्य तत्त्वों—नाइट्रोजन (Nitrogen), फास्फोरस (Phosphrus) तथा पोटैशियम (Potassium)—के यौगिकों के कारण होती है। यह अनुमान किया

गया है कि ये तीनों तत्त्व इनके यौगिकों के रूप में बिना हरी खाद का उपयोग किये मिट्टी में प्रविष्ट कराये जा सकते हैं, यद्यपि यह सत्य है कि पौधों के स्वस्थ जीवन के लिए इन तत्त्वों की उपस्थिति आवश्यक है। तीनों तत्त्वों के यौगिकों के मिश्रण से बनी कृत्रिम खाद (Artificial manure) के उपयोग से अच्छी फसल प्राप्त की जा सकती है, फिर भी केवल इन तीन तत्त्वों से ही पौधों को मिट्टी से मिलने वाली हर आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो जाती है। अनुभवी कृषक अब भी हरी खाद को सबसे उत्तम खाद समझता है।

मिट्टी केवल खनिज पदार्थों का मिश्रण ही नहीं है बल्कि इनमें एक कार्बनिक पदार्थ ह्यूमस (Humus) की भी विभिन्न मात्राएँ होती हैं जो नष्ट हुए जानवरों या पौधों से प्राप्त होती हैं। साथ ही मिट्टी में उपयोगी कीडे (जैसे केंचुए) ही नहीं वरन् लाखों की संख्या में ऐसे कीटाणु भी होते हैं, जो आँख से दिखाई नहीं देते किन्तु मिट्टी को उर्वर बनाने में महत्त्वपूर्ण सहयोग देते हैं।

यह अभी तक विदित नहीं हो सका है कि ये विभिन्न अश पौधों के विकास में किस प्रकार सहयोग देते हैं, परन्तु ये उनके जीवन पर प्रभाव अवश्य डालते हैं। यह निश्चित तथ्य है कि हरी खाद से उपजाऊ बनाई जाने वाली मिट्टी पौधों की दृष्टि से शीघ्र क्षय नहीं होती, जबकि कृत्रिम खाद से उपजाऊ बनाई जाने वाली मिट्टी कुछ समय के बाद फसल की दृष्टि से बेकार होने लगती है। हरी खाद की विशेष महत्ता यह है कि यह ह्यूमस (Humus) अधिक मात्रा में देती है, तथा कीटाणुओं के विकास में सहायता देती है। शायद इसमें पौधों के लिए लाभदायक ऐसे पदार्थ भी अल्प मात्रा में होते हैं, जो कृत्रिम खाद में नहीं होते।

पौधे जड़ों के द्वारा मिट्टी से अपना भोजन घुलित अवस्था में ही ग्रहण कर सकते हैं। मिट्टी के अन्दर उपस्थित नाइट्रोजन के यौगिकों में निरंतर परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन के फलस्वरूप से घुलित नाइट्रेट (Soluble Nitrates) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं, जिन्हें पौधे अपने भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं। नाइट्रेट पानी में इतने अधिक घुलनशील हैं कि वे आसानी से मिट्टी में से पानी के साथ बह जाते हैं और इस प्रकार अधिक समय तक मिट्टी में नहीं ठहरते।

हरी खाद और सड़े हुए पौधे दोनों में नाइट्रोजन के जटिल यौगिक (Complex Compound of Nitrogen) होते हैं, और ये मिट्टी के अन्दर उपस्थित जीवाणुओं (Bacteria) द्वारा नाइट्रोजन में धीरे धीरे परिवर्तित कर दिये जाते हैं और पौधे उनका उपयोग करते रहते हैं।

नाइट्रोजन युक्त खाद पौधों के हरे भाग के अधिक विकास तथा शीघ्र बढ़ने में सहायता करती है। पौटेशियम युक्त खाद स्टार्च (Starch) और शर्करा (Carbohydrates) के दूसरे रूप बनाने में सहायता देती है और फॉस्फोरस जड़ के विकास में तथा फल के पकने में सहायता देता है। इस प्रकार अमोनियम सल्फेट (Ammonium Sulphate) जो कि नाइट्रोजन का यौगिक है, लकड़ी या पौधे की राख के रूप में पौटेशियम के यौगिक, पिसी हुई हड्डियों या खनिज फास्फेटों (Mineral Phosphates) के रूप में फॉस्फोरस के यौगिकों का मिश्रण खाद के स्थान पर उपयोग में लाया जा सकता है। इनसे यह भी लाभ है कि यह खाद हरी खाद की अपेक्षा अधिक सकेन्द्रित (Concentrated) होती है।

जहाँ तक पौधों की आवश्यकता का प्रश्न है नाइट्रोजन युक्त खाद की ओर विशेष ध्यान की आवश्यकता है, क्योंकि पाटेशियम और फॉस्फोरस, सिवाय फसल द्वारा शोषित हो जाने के अतिरिक्त साधरणतया मिट्टी से अलग नहीं हो पाते। केवल नाइट्रोजन युत यौगिकों का ही नष्ट हो जाना सम्भव है, क्योंकि ये अधिक घुलनशील होने के कारण पानी के साथ घुलकर बह जाते हैं।

नाइट्रोजन चक्र—प्राचीन समय में मनुष्य की अनाज की आवश्यकताएँ सीमित थीं, इसलिए मिट्टी में नाइट्रोजन यौगिकों की आवश्यकता भी सीमित थी, और वह निम्नलिखित प्राकृतिक साधनों द्वारा पूरी हो जाती थी।

(1) वायुमंडल में रासायनिक क्रिया द्वारा—जब आकाश में बिजली चमकती है, तब तापक्रम बहुत अधिक हो जाता है, और तब वायुमंडल की नाइट्रोजन और ऑक्सीजन परस्पर मिलकर नाइट्रोजन की ऑक्साइड (Nitric Oxide) बनाती है और इस प्रकार नाइट्रोजन यौगिक रूप में परिवर्तित हो जाती है। फिर यह नाइट्रोजन ऑक्साइड वायु-

मंडल की ऑक्सीजन और पानी से संयुक्त होकर शोरे के अम्ल में बदल जाता है, जो मिट्टी के क्षारों के साथ क्रिया करके नाइट्रोजन बनाता है।

(ii) मिट्टी में उपस्थित जीवाणुओं द्वारा—यह बहुत समय पहले से ज्ञात था कि बहुत सी दालों के पौधे जैसे मटर, अरहर, चना आदि जिस मिट्टी में पैदा होते हैं उसकी उर्वरता बढ़ा देते हैं। इसीलिए मनुष्य बदल-बदलकर फसलें (Crops in rotation) पैदा करता रहा है। १८८६ में दो जर्मन वैज्ञानिकों ने इस विषय का अध्ययन किया और देखा कि इन दालों की जड़ों में बहुत सी छोटी-छोटी ग्रंथियाँ (Nodules) होती हैं, और इन ग्रंथियों के अन्दर विशेष प्रकार के कीटाणु रहते हैं। ये कीटाणु वायुमंडल की नाइट्रोजन को ऐसा नाइट्रोजन युक्त यौगिकों में बदल देते हैं, जो स्वयं उनके एवं उस पौधे के लिए लाभदायक होते हैं।
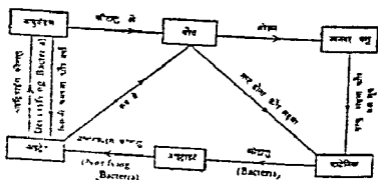
मनुष्य की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई नाइट्रोजन (Naitrogen) की आवश्यकता का ध्यान रखते हुए सर विलियम क्रुक्स (Sir William Crookes) ने निकट भविष्य में अकाल पड़ने की सम्भावनाएँ निम्न आधार पर प्रकट कीं—(१) संसार की जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, और इस प्रकार मिट्टी पर अधिक अन्न उपजाने का भार बढ़ता जा रहा है। (२) मिट्टी की उर्वरा शक्ति को यथावत रखने के लिए अधिक नाइट्रोजन युक्त यौगिकों की आवश्यकता बढ़ती जा रही है, परन्तु चिली (Chile) का सोडियम नाइट्रेट अधिक से अधिक ६० वर्ष तक प्राप्त हो सकता है, और कोल गैस से प्राप्त अमोनियम सल्फेट की मात्रा भी सीमित है। अकेली हरी खाद

भी पर्याप्त नहीं है। इस प्रकार उर्वरा शक्ति शीघ्र ही कम हो जायगी और अकाल का भय बढ़ता जायगा। यह अजीब तथ्य है कि वायुमंडल में ७६% नाइट्रोजन होते हुए भी पौधों को उचित मात्रा में नाइट्रोजन प्राप्त न हो सके—क्योंकि यौगिक के रूप में न होने के कारण यह नाइट्रोजन पौधों के लिए बेकार है।

इसीलिए मनुष्य को जीवित रखने के लिए वायुमंडल की नाइट्रोजन से कृत्रिम खाद बनाना आवश्यक हो गया है।

कृत्रिम खाद का उत्पादन

(१) नाइट्रोजन युक्त खाद—वैज्ञानिकों ने प्रयोगशालाओं में जीव-सम्बन्धी क्रिया के अनुकरण करने का बहुत प्रयास किया, परन्तु कोई सफलता नहीं मिली। नार्वे के दो रसायनज्ञों बर्कलैण्ड (Birkland) और आयड (Eyde) और फिर सुधरे रूप में पॉलिंग (Pauling) ने वायुमंडल में होनेवाली रासायनिक क्रिया के अनुकरण करने का प्रयास किया और वे इस कार्य में सफल हुए।

इस क्रिया में दो विद्युत्-द्वारों के मध्य नाइट्रोजन और ऑक्सीजन का मिश्रण भेजा जाता है। विद्युत द्वारों के मध्य उच्च विद्युत-शक्ति से चलनेवाले आर्क (Arc) होते हैं जिससे बहुत अधिक ताप उत्पन्न होता है और नाइट्रोजन और ऑक्सीजन परस्पर सयुक्त होकर नाइट्रिक ऑक्-ऑाइड बनाती है, जो अतिरिक्त ऑक्सीजन और पानी से सयुक्त होकर शोरे का अम्ल (Nitric Acid) देती हैं।

$N_2 + O_2 \rightarrow 2NO$
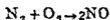
$_4NO + _2H_2O + _3O_2 \rightarrow _4HNO_3$ शोरे का अम्ल) इस अम्ल को अमोनिया या चूने से क्रिया कराकर अमोनियम नाइट्रेट Ammonium Nitrate) या कैल्शियम नाइट्रेट (Calcium Nitrate) बना लेते हैं।

नाइट्रोजन को यौगिक रूप में प्राप्त करने की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जर्मनी के डाक्टर हैबर (Haber) ने १६१३ में किया। उसने वायुमंडल की नाइट्रोजन से एमोनिया प्राप्त करने का ढङ्ग निकाला। उसके अनुसार उचित अनुपात (१ ३) में नाइट्रोजन और हाइड्रोजन का मिश्रण बहुत उच्च दबाव पर बहुत गर्म किए हुए ऐसे कक्ष में होकर प्रवाहित किया जाता है, जिसमें बहुत महीन पिसे हुए लोहा और मोलीबडेनम (Mylob–

denum) उत्प्रेरक के रूप में होते हैं। इस प्रकार, इस कक्ष में से निकलने वाली गैसों में १०% तक अमोनिया (Ammonia) रहता है, जिसे या तो प्रशीतन यन्त्र में ठंडा कर द्रवित कर लिया जाता है, अथवा यौगिक—एमोनियम सल्फेट के रूप में प्राप्त किया जाता है।

अमोनियम सल्फेट बनाने के लिए उपरोक्त रीति से बनाये हुए अमोनिया पर कार्बन डाइऑक्साइड, जल और जिपसम (Gypsum—सड़ी) से क्रिया करते हैं।

$N_2 + 3H_2 \rightarrow 2NH_3$ (अमोनिया)

$2NH_3 + H_2O + CO_2 + CaSO_4 = (NH_4)_2SO_4 + CaCO_3$
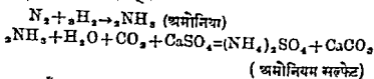
(अमोनियम सल्फेट)

यहाँ यह स्मरणीय है कि इन्हीं खोजों के कारण जर्मनी प्रथम विश्व महायुद्ध में इतने समय तक युद्ध कर सका, क्योंकि मित्रराष्ट्रों ने चिली (Chile) से साडियम नाइट्रेट का जर्मनी पहुँचना बन्द कर दिया था और इस प्रकार जर्मनी को उसकी कृषि तथा विस्फोटक पदार्थ बनाने के साधनों से वंचित कर दिया था। इन्हीं खोजों से जर्मनी एमोनिया से अपनी कृषि के लिए अमोनियम सल्फेट और विस्फोटक पदार्थ बनाने के लिए नाइट्रोजन के अन्य यौगिक बना सका।

नाइट्रोजन युक्त खाद का उपयोग करते समय यह ध्यान में ध्यान आवश्यक है कि वर्षा या अन्य जलों में घुलकर कम से कम मात्रा में नाइट्रोजन पदार्थ खेतों से बाहर जायें। इस कार्य के लिए छोटी-छोटी मात्राओं में पौधे पर इसके कई बार के उपयोग से संतोषजनक फल प्राप्त होता है, और इससे पानी में बहकर होनेवाली हानि भी बहुत कम हो जाती है।

(२) फास्फोरस युक्त खाद—खाद में फॉस्फोरस का होना कितना आवश्यक है, इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि एक एकड़ भूमि में पैदा हुई गेहूँ की फसल भूमि से २०० पौंड कैल्शियम फॉस्फेट (Calcium-(Phosphate) प्राप्त कर लेती हैं। साधारणत हड्डियों का चूर्ण खाद के रूप में उपयोग में लाया जाता है, क्योंकि इसमें कैल्शियम फॉस्फेट (Calcium Phosphate) होता है, लेकिन यह देखा गया है कि महीन से महीन चूर्ण भी अति धीमी गति से प्रभाव डालता है क्योंकि यह

अध्याय ६

उद्योग में रसायन-शास्त्र

१—वस्त्र उद्योग—ऊन, रेशम, कपास, रेयन (Rayon) और नाइलॉन (Nylon)

२—सीमेण्ट उद्योग

३—मिट्टी का तेल और पेट्रोलियम

४—कोल गैस और कोलतार

५—गंधक का अम्ल

६—रबड़

७—प्लास्टिक

८—धातु और धातु मिश्रण (Alloys) लोहा, एलुमिनियम ताँबा, सोना, चाँदी।

उद्योग में रसायन-शास्त्र के सहयोग का वर्णन करने से पूर्व यह बतलाना अनुचित न होगा कि 'उद्योग' का उपयोग किस अर्थ में किया गया है। किसी वस्तु का अधिक मात्रा में आर्थिक रूप में निर्माण करना 'उद्योग' कहलाता है। शायद ही कोई ऐसा उद्योग होगा, जिसमें रसायन शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता न पड़ती हो। हम आगे कुछ ऐसे मुख्य उद्योगों का वर्णन करेंगे, जिनकी सफलता पूर्णतया रसायन-शास्त्र के ज्ञान और उसके उपयोग पर निर्भर करती है।

वस्त्र उद्योग

भोजन के बाद सभ्य मनुष्य की मुख्य आवश्यकता वस्त्र है। प्रकृति में हमें उसके बनाने व उपयोग में आनेवाले कई प्रकार के पदार्थ जैसे कपास, ऊन, रेशम आदि उपलब्ध हैं। परन्तु इन वस्तुओं के सहयोग से पहिनने योग्य वस्त्र तैयार करने के लिए उनकी अशुद्धियों को दूर करना तथा उन्हें उचित रूप में लाना परम आवश्यक है। रसायनज्ञ इन क्रियाओं में कितना सहयोग देता है। यह इस उद्योग के वर्णन से स्पष्ट हो जायगा।

पहिनने या अन्य घरेलू प्रयोगों मे आने वाले वस्त्रों के उपयोग में आने वाले तन्तुओं (Fibres) को उनकी उत्पत्ति के आधार पर दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है —

(१) प्राकृतिक तन्तु—(क) जीवों द्वारा प्राप्त होने वाले तन्तु जैसे ऊन और रेशम आदि।

(ख)—वृक्ष व पौधों से प्राप्त होने वाले तन्तु जैसे कपास, जूट आदि इनमे से कपास तन्तु मुख्य है।

(२) अप्राकृतिक तन्तु—रेयन (Rayon) नायलॉन (Nylon) जिन्हे रासायनिक प्रयोगों द्वारा बनाया जाता है।

अब हम कुछ मुख्य तन्तुओं का विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे।

ऊन—ऊन का गुण भेड़ की नस्ल और उसके उस अंग पर निर्भर है जिससे यह तन्तु लिये जाते हैं। इनमे बहुत सी अशुद्धियाँ होती हैं, जिनमें दो मुख्य हैं :—

(१) चिकनाई—यह विशेषतः लैनोलिन (Lanoline) नाम के कारण होती हैं। जो मरहम और क्रीम बनाने के प्रयोग मे आता है।

(२) पसीने के साथ निकले हुए लवण व अन्य कुछ अशुद्धियाँ जैसे, भूसा, धूल आदि भी इसमे होती हैं। कच्चे ऊन के तन्तु को कपड़ा बनाने के योग्य करने के लिये इसके साथ निम्नलिखित क्रिया की जाती है :—

(१) स्वच्छ करना (Scouring)—कच्चे ऊन को सोडियम कार्बोनेट (कास्टिक क्षारों के साथ नहीं) जैसे क्षारों के घोल मे धोया जाता है, इससे चिकनाई और धूल आदि साफ हो जाती है।

(२) कार्बनीकरण (Carbonising)—धुले हुए ऊन को हल्के गन्धक के अम्ल के साथ १४०°—१८०°C पर गर्म किया जाता है। इससे स्वच्छ करने की क्रिया से बचा हुआ वनस्पति पदार्थ—भूसा, पत्तियाँ आदि भुरभुरा (Brittle) होकर तन्तुओं से पृथक हो जाता है, फिर इसे धोकर अलग कर दिया जाता है।

(३) कंघी करना (Combing)—इस प्रकार से प्राप्त हुई स्वच्छ ऊन को ब्रुश (Brush) से एक ही दिशा मे संवारा जाता है फिर इस ऊन को कातकर कपडे के रूप मे बुन लिया जाता है।

क्षार के हल्के घोल का ऊन पर क्षयकारी प्रभाव होने के कारण से

ऊनी कपड़ों को सस्ते साबुनों से नहीं धोना चाहिए, क्योंकि उनमें क्षार अधिक मात्रा में उपस्थित रहता है।

रेशम (Silk)—यह शहतूत के वृक्ष पर पलने वाले रेशम के कीड़ों से प्राप्त होता है। इन कीड़ों की जीभ से दो द्रव फाईब्रोइन (Fibroin) और सेरीसिन (Sericin) निकलते हैं। सेरीसिन फाईब्राइन को स्कन्धित (Coagulate) करता है, जिससे रेशम के धागे जैसा पदार्थ बनता है। यह कीटाणु मकड़ी की भाँति बराबर अपने मुँह से यह धागा निकालता है और अपने चारों ओर लपेट लेता है। इस प्रकार से हमें कच्चा रेशम कोइ्स (Cocoon) प्राप्त होता है। इस पर से रेशम के धागे प्राप्त करने के लिए इसे कीडे सहित उबलते हुए पानी में या भाप में डाल दिया जाता है। जिससे यह कीड़ा मर जाता है और फिर रेशम के धागे अलग कर लिये जाते हैं। इसके उपरान्त इनसे कपडा बुन लिया जाता है। आवश्यकतानुसार इसे रंग भी लिया जाता है।

रेशम का तन्तु अपनी लम्बाई और कोमलता के लिए प्रसिद्ध है। इसके तन्तु की मोटाई ०'०००५ ०००० इंच तक और लम्बाई १३००-१४०० गज तक होती है। यह अपनी चमक लचीलेपन (Elasticity) और तनने की शक्ति (Tensile strength) के लिए भी प्रसिद्ध है। इसकी तनने की शक्ति अपने ही बराबर मोटे लोहे के तार के समतुल्य होती है।

कपास—कपास तन्तु कपास के बीज के बाल होते हैं। इनकी लम्बाई $\frac{3}{4}"$—$1\frac{1}{4}"$ तक और मोटाई रेशम या उत्तम ऊन के तन्तु की मोटाई के ही वर्ग की होती है। कपास तन्तु में ६१% सैलूलोज (Cellulose) 8% पानी 0.3—0 5% तक कपास का मोम तथा अल्प मात्रा में खनिज पदार्थ होते हैं।

इन तन्तुओं को धागों में कात लिया जाता है। फिर इन धागों को करीब ८ घंटे तक कास्टिक सोडे के हल्के घोल (0 9%) के साथ उबाला जाता है, जिससे मोम हट जाता है। इसके उपरान्त सूता कर कपड़े के रूप में बुन लिया जाता है।

'कपड़ों को मरसराइज करना (Mercerisation)—सूती कपड़े की चमक, तनने की शक्ति, स्थिरता और रंग ग्रहण करने की शक्ति

बढ़ाने के लिए इसे कास्टिक सोडे के गाढ़े घोल—३०% में भिगोया जाता है, जिससे यह लम्बाई में सिकुड़ जाता है और फूल जाता है तथा इसके तन्तु बेलनाकार हो जाते हैं। फिर इसे धोकर सुखा लेते हैं। इस विधि से कपास तन्तु में उपरोक्त गुण आ जाते हैं। इसको सबसे पहिले जॉन मरसर (John Mercer) ने सन् १८४४ में प्रदर्शित किया था, और उनके नाम पर यह विधि मरसराइजेशन (Mercerisation) कहलाती है।

अप्राकृतिक तन्तु (Artificial fibres)—रेयॉन या कृत्रिम रेशम (Rayon or Artificial Silk) लकड़ी के बुरादे के रूप में उपस्थित सेल्यूलोज से प्राप्त किया जाता है। लकड़ी के कुचले हुए बुरादे की कास्टिक सोडे के गाढ़े घोल के साथ क्रिया कराई जाती है, और फिर उसके ऊपर कार्बन डाइसल्फाइड (Carbon disulphide) से क्रिया कराई जाती है, जिससे कि सेल्यूलोज जैन्थेट (Cellulose Xanthate) बनता है यह एक गाढ़ा द्रव होता है। इसको बहुत बारीक छेदों में होकर ऊँचे दबाव पर एमोनियम क्लोराइड या सल्फेट (Ammonium Chloride or Sulphate) के घोल में प्रवाहित किया जाता है। इससे गाढ़ा द्रव धागों के रूप में अवक्षिप्त (Precipitate) हो जाता है। इनको गर्म किया जाता है, जिससे सेलूलोज धागों के रूप में व अन्य घुलनशील पदार्थ मिलते हैं। घुलनशील पदार्थ पानी से धोकर अलग कर दिये जाते हैं। इसके पश्चात् धागे को बुन कर कपड़ा बना लिया जाता है।

नाइलॉन (Nylon) वास्तव में कृत्रिम तन्तु (Synthetic fibre) हैं। एडिपिक अम्ल (Adipic acid) और क्षार हेक्सामिथाइलीन डाइएमीन (Aexymethalene Diamine) में क्रिया कराके यह पोलीएमाइड यौगिक (Polyamide compound) के रूप में प्राप्त किया जाता है। यह दोनों क्रिया करने वाले यौगिक फीनाल (Phenol or Carbolic acid) से प्राप्त किये जाते हैं। इस लवण—हेक्सामिथाइलीन डाइअमोनियम एडीपिट (Hexamethylede Diammonium Adipate) को ऊँचे दबाव पर किसी निष्क्रिय गैस (नाइट्रोजन आदि) के वायुमंडल में गर्म किया जाता है, जिससे नाइलॉन (Nylon) प्राप्त होता है। फिर नाइलॉन को निष्क्रिय वायुमंडल में पिघलाया जाता है और ऊँचे दबाव पर बहुत बारीक छिद्रों में से प्रवाहित किया जाता है, जिससे धागे प्राप्त होते हैं। ये रीलों पर लपेट लिये जाते हैं, फिर इनका कपड़ा बुन लिया जाता है।

सीमेन्ट उद्योग

आज से कुछ समय पूर्व तक पक्के मकान की दीवारें, फर्श और छतें बनाने के लिए केवल चूना और पत्थर ही उपयोग में लाये जाते थे और अब भी लाये जाते हैं, फिर भी यह देखा गया है कि सीमेन्ट से बनाये हुए मकान चूने द्वारा बनाये गये मकान से अधिक मजबूत होते हैं। इसीलिए सीमेन्ट उद्योग ने बीसवीं शताब्दी में महत्त्व प्राप्त कर लिया है। इसे बनाने के लिए खड़िया पत्थर (Calcium Carbonate CaCO or lime stone) तथा मिट्टी (Clay) उपयोग में लाये जाते हैं। कहीं-कहीं इनका प्राकृतिक मिश्रण भी प्राप्त होता है, लेकिन अधिकतर इच्छित फल प्राप्त करने के लिए ये नियत अनुपात में मिलाये जाते हैं और फिर पानी में मिला कर पीस लिये जाते हैं। इस कीचड़ को घूमने वाली भट्टी (Rotary furnace) में गर्म किया जाता है। इस भट्टी में लगभग १२ फीट चौड़ा और २५० फीट लम्बा इस्पात का बेलन होता है, जो कुछ तिरछी अवस्था में रहता है, और घूमता रहता है, जिससे पदार्थ नीचे ढाल की ओर खिसकते रहते हैं। निचले छेद से एक विशेष प्रकार के बरनर (Burner) की सहायता से लगभग ४५ फीट लम्बी लौ (Flame) प्रवेश कराई जाती है और ऊपरी छेद से उपरोक्त कीचड़ डाली जाती है। गर्म हिस्से में तापक्रम लगभग १५०० C तक जा पहुँचता है, इस प्रकार खड़िया और मिट्टी क्रिया कर सीमेन्ट में परिवर्तित हो जाते हैं, जो कि बड़े बड़े मोटे टुकड़ों के रूप में प्राप्त होता है। इन मोटे टुकड़ों को इस्पात के भारी बेलनों की सहायता से बहुत बारीक चूर्ण में कूट लिया जाता है।

जब इस सीमेंट को कुछ रेत और पानी के साथ मिलाया जाता है, तो एक अति कड़ा ठोस पदार्थ बनता है। अब प्रश्न यह है कि यह कड़ी ठोस वस्तु क्या होती है और क्यों बनती है। इस बारे में अभी निश्चित रूप से अभी तय नहीं हो पाया है। लेकिन यह अनुमान किया जाता है कि सीमेन्ट में जो रेत मिलाई जाती है, वह पानी सोखती है और फिर सीमेन्ट के साथ अनिश्चित जटिल यौगिक बनाती है जो हमें कड़े पदार्थ के रूप में प्राप्त होता है। यदि सीमेंट में रेत की अधिक मात्रा मिला दी जाती है तो मिश्रण पानी अधिक सोखती है, जिससे वह भली प्रकार से जमती नहीं, और इसमें दरारें पड़ जाती हैं। साथ ही यदि सीमेन्ट और रेत उचित मात्रा में लिये जायें और पानी कम मिलाया जाय तो भी सीमेन्ट

भली प्रकार नहीं जमता और दरार पड़ जाती है। सीमेन्ट जमने में अधिक समय लेता है, और इस क्रिया के लिए उसे काफी पानी की आवश्यकता रहती है। इसलिए जब तक यह भली प्रकार से जम नहीं जाता उसको पानी मिलता रहना चाहिए।

मिट्टी का तेल और पेट्रोलियम उद्योग

मिट्टी का तेल एक भूरे और गहरे रंग का ज्वलनशील द्रव है, जो जमीन की सतह के नीचे संसार के विभिन्न देशों, जैसे संयुक्त राज्य, रूस, ईरान, अरब, रुमानिया, बर्मा भारतवर्ष, पाकिस्तान आदि में पाया जाता है। यह कारबन ((Carbon) और हाइड्रोजन के अनेक यौगिकों का मिश्रण है। जमीन से प्राप्त किया हुआ तेल उसी अवस्था में प्रयोग में नहीं लाया जाता है। इसका शोधन 'आंशिक स्रावण'* (Fractional distillation) विधि द्वारा किया जाता है, जिससे इसके विभिन्न अवयव अलग हो जाते हैं इन अवयवों को शुद्ध अवस्था में प्राप्त करने के लिए इनको पुन स्रावित किया जाता है। नीचे हम इसके मुख्य अवयवों का तथा उनके उपयोगों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

(१) गैसीय भाग-यह अवयव साधारणत गैसीय अवस्था में रहता है। इस अवयव में अधिकांश भाग प्रोपेन (Propane) व ब्यूटेन (Butane) का होता है जो ईंधन के रूप में जलाई जाती हैं।

(२) सायमोजीन (Cymogene) और रिगोलीन (Rhigo lene)—यह शीघ्र ही वाष्प रूप धारण कर लेनेवाले द्रव हैं। इनमें से सायमोजीन बर्फ बनाने के काम में व रिगोलीन स्थानीय चेतना शून्य उत्पन्न करने वाली औषधि के रूप में काम में आती हैं।

(३) लिगरोइन (Ligroin)—यह रबर तथा वारनिश उद्योग में घोलक के रूप में उपयोग में आने वाला द्रव है।

(४) पेट्रोल या गैसोलीन (Petrol or Gasoline)—यह मोटरों व हवाई जहाजों के ईंधन के लिए तथा जल विहीन धुलाई (Dry cleaning) के प्रयोग में आता है।

---

*विभिन्न द्रवों के मिश्रण को पहिले भाप रूप में बदल कर फिर उसे विभिन्न तापक्रम पर ठंडा कर द्रवों को अलग किया जाता है। इस विधि को आंशिक स्रावण कहते हैं।

(५) बेन्ज़ीन (Benzine)—यह पेन्ट, वारनिश, और जलविहीन धुलाई के उपयोग में आता है।

(६) केरोसीन तेल (Kerosene oil)—यह रोशनी के लिए दीपकों तथा ईंधन के रूप में उपयोग में आता है।

(७) ईंधन के तेल (Fuel oil)—यह डीजल इंजिनों (Diesel-Engines) के चलाने मे ईंधन रूप में उपयोग किया जाता है।

(८) चिकनाई के तेल (Lubricating oil)— ये मशीनों के पुर्जों को रगड़ने से नष्ट होने से बचाते हैं।

(९) वेसलीन (Vaseline)—यह कान्तिवर्धक पदार्थों और विविध प्रकार के मलहम बनाने के उपयोग मे आता है।

(१०) मोम (Wax)—यह ठोस होता है और मोमबत्ती बनाने के प्रयोग में आता है।

(११) टार (Tar)—यह सड़क बनाने के काम आता है।

भारतवर्ष में कच्चा पेट्रोलियम बहुत कम पाया जाता है, लेकिन अभी हाल मे बम्बई मे पेट्रोलियम साफ करने के कारखाने (Petroleum-refineries) खोले गये हैं। कच्चा पेट्रोलियम बाहर से आयेगा और यहाँ साफ किया जायेगा। इससे यह उद्योग के उपफल (Bye-product) के रूप मे मिलनेवाले पदार्थ हमे सुलभ हो जायेंगे तथा पेट्रोल की समस्या भी किसी सीमा तक हल हो जायेगी।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय बात है कि इंगलैंड जैसे कुछ उन्नत देशों में कोयले और हाइड्रोजन को रासायनिक क्रियाओं द्वारा संयुक्त करके कृत्रिम पेट्रोल (Synthetic Petrol) का निर्माण भी हो रहा है।

कोल गैस उद्योग (Coal Gas Industry)

हवा की अनुपस्थिति में अति उच्च तापक्रम पर गर्म करके कोयले के स्रावित किया जाता है, इससे हमें विभिन्न उपयोगी पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन पदार्थों का और उनके उपयोगों का नीचे वर्णन किया जाता है।

(१) एक ठोस हिस्सा जो पीछे रह जाता है और जिसे कोक (Coke) कहते हैं। यह मुख्यतः ईंधन के रूप में जलाने के काम मे आता है।

(ii) दूसरा हिस्सा भाप बनकर उड़ता है, उसे ठंडा करने पर निम्न प्रकार के तीन हिस्से प्राप्त होते हैं —

(१) कोल गैस—यह गैस रूप में रहता है और जलकर ईंधन तथा रोशनी करने के काम में आता है।

(२) अमोनिया युक्त द्रव (Ammoniacal liquor)—इससे एमोनिया तथा अमोनिया के विभिन्न लवण बनाये जाते हैं, जो खाद के काम में आते हैं। यह कोल गैस के साथ निकलती है और ठंडा करने से द्रव रूप में इकट्ठी हो जाती है। इसमें विशेषतौर पर पानी और अमोनिया (Ammonia) होता है।

(४) कोलतार (Coal tar)—यह काले गाढ़े रंग का अति दुर्गन्ध युक्त द्रव होता है, जिसके आंशिक स्रावण से बहुत से उपयोगी पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं।

कोलतार बहुत से पदार्थों का जटिल मिश्रण है। इसका आंशिक स्रावण करने से विभिन्न द्रव और ठोस पदार्थ प्राप्त होते हैं। इन विभिन्न द्रवों और ठोस पदार्थों के उपयोगों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है।

(१) हल्का तेल (Light oil)—इसमें विशेषत बैन्जीन (Benzene) टोलुईन (Toluene) और जाईलीन (Xylene) होते हैं। जिनसे कीटाणुनाशक औषधियाँ (Insecticides), विभिन्न रंग व विस्फोटक पदार्थ बनाये जाते हैं।

(२) मध्य तेल (Middle oil) या कार्बोलिक तेल—इसमें मुख्यत कार्बोलिक अम्ल या फीनोल (Phenol) और नैफ्थलीन होते हैं। फीनोल कीटाणुनाशक के रूप में उपयोग में लाया जाता है, और प्लास्टिक, रंग विस्फोटक पदार्थ व औषधियाँ बनाने के काम में भी आता है। नैफ्थलीन रंग और औषधि बनाने के उपयोग में आता है।

(३) भारी तेल (Heavy oil)—या क्रिओसोट तेल (Creosote) इसमें विशेषत नैफ्थलीन और क्रिसोल (Cresol) होते हैं। क्रिसोल कीटाणुनाशक औषधियाँ बनाने के काम आता है। क्रिसाल और नैफ्थलीन पृथक करने के पश्चात् बचा हुआ द्रव लकड़ी का दीमक जैसे कीड़ों से सुरक्षित रखने के काम आता है।

(४) हरा तेल (Green oil) या एन्थ्रासीन तेल (Anthracene-oil)—इसका हरा रंग होता है और इसमें मुख्यत. एन्थ्रासीन होता है, जो रंग बनाने के उपयोग में आता है।

(५) पिच (Pitch)—शेष बचा हुआ काला पदार्थ पिच कहलाता है और सड़क बनाने के काम में आता है।

गन्धक के अम्ल का उद्योग

प्रसिद्ध अँगरेज राजनीतिज्ञ डिज़रैली (Disraeli) के अनुसार किसी देश के औद्योगिक रूप से समृद्धशाली होने का अनुमान उस देश में होने वाली गन्धक के अम्ल की खपत से लगाया जा सकता है। यह कहना लगभग सत्य ही है, क्योंकि यह अन्य बहुत से ऐसे पदार्थ बनाने के काम में आता है, जो हमारे दैनिक जीवन के लिए अतिआवश्यक होते हैं। उदाहरणार्थ नमक का अम्ल (Hydrochloric acid) बनाने के लिए, काँच उद्योग के लिए, सोडियम सल्फेट (Sodium Sulphate) बनाने के लिए, नीला थोथा (Copper Sulphate) और चूने का सुपर फास्फेट (Super phosphate of lime) बनाने के लिए, स्टार्च से शक्कर प्राप्त करने के लिए, कोलतार से लगभग सब रंग और विस्फोटक पदार्थ प्राप्त करने के लिए, मोनाजाइट (Monazite) रेत से गैस की बत्ती को जाली बनाने के लिए, लोहे से जंग दूर करने के लिए, विद्युत्-धारा देने वाले यन्त्र एक्युमुलेटर (Accumulator) के भरने के लिए।

गन्धक के अम्ल बनाने की दो प्रकार की विधियाँ हैं—

(१) सीस कक्ष विधि (Lead chamber process)—इसमें आयरन पाइराइट (Iron pyrites) को जलाने से सल्फर डाइ-ऑक्साइड (Sulphur Dioxide) प्राप्त होती है, यह उत्प्रेरक (Catalyst) नाइट्रोजन ऑक्साइड की उपस्थिति में हवा के ऑक्सीजन और भाप पर पानी से क्रिया कर लगभग ६०% परिमितता (Strength) का अशुद्ध एवं सस्ता गन्धक का अम्ल देती है।

(२) स्पर्श विधि (Contact process)—इसमें उत्प्रेरक प्लेटिनम (Platinum) या वैनेडियम पेन्टॉक्साइड (Vanadium Pentoxide) की उपस्थिति में शुद्ध गन्धक के जलने से प्राप्त

सल्फर डाइ-आक्साइड शुद्ध वायु की आक्सीजन से ऊँचे तापक्रम पर मिलकर सल्फर ट्राइआक्साइड बनाता है, जिसे हल्के गन्धक के अम्ल मे घोल कर मनोवाछित परिमितता मे शुद्ध गन्धक का अम्ल प्राप्त किया जा सकता है। उद्योगों में शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के अम्ल उपयोग मे आते हैं। इसलिए दोनों प्रकार की विधियाँ प्रचलित है।

हमारे देश मे सीस कक्ष विधि से गन्धक का अम्ल तैयार करने के कारखाने कलकत्ता, बम्बई, बड़ौदा और पजाब में हैं और स्पर्श विधि से तैयार करने के कारखाने पनिहाटी, (बगाल) डिगबोई (आसाम) और अल्वे (ट्रावकोर कोचीन राज्य) इत्यादि में हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ससार मे इसका उत्पादन लगभग ११ लाख टन प्रति वर्ष है।

रबड उद्योग

आप मे से अधिकाश विद्यार्थियों ने पेन्सिल के चिन्ह मिटाने के लिए रबड़ का उपयोग किया होगा, तथा दैनिक जीवन मे काम आने वाली रबड़ की बनी अन्य वस्तुओं का भी उपयोग किया होगा। रबड़ से बने पदार्थ दो श्रेणियो मे विभक्त किये जा सकते हैं।

(१) प्राकृतिक साधनों द्वारा प्राप्त रबड़ के बने पदार्थ।

(२) कृत्रिम (Synthetic) रबड से बने पदार्थ।

(१) प्राकृतिक रबड—रबड पेड़ों से दूध के रूप मे प्राप्त होता है। यह वृक्ष लका, मलाया और बर्मा मे अधिक सख्या में पाया जाता है। वृक्षों से प्राप्त सफेद रस को, जो रबड़ का दूध कहलाता है, ताप व अन्य उचित क्रियाओं से स्कन्धित (Coagulate) कर लिया जाता है और फिर इस स्कन्धित की हुई रबड से साँचों मे ढाल कर विभिन्न आकार की वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं।

(२) कृत्रिम रबड—सर विलियम टिलडन (Sir William Tilden 1882 ई०) प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने कृत्रिम रबड तैयार किया। उन्होंने तारपीन के तेल से रासायनिक क्रिया द्वारा आइसोप्रीन (Isoprene) नाम का पदार्थ (यौगिक) प्राप्त किया, जिसको उन्होंने रबड मे परिवर्तन किया।

कृत्रिम रबड तेल, कोयला व अनाज से तैयार किया जा सकता है।

इन तीनों पदार्थों से पहले जटिल क्रियाओं द्वारा एक गैसीय पदार्थ ब्यूटाडाईन (Butadiene) बनाया जाता है। यह बहुत ही अस्थायी और शीघ्र जलने वाली गैस होती है और धीरे-धीरे रबड में परिवर्तित हो जाने की क्षमता रखती है। इसलिए यह ठंडे पानी से भरे टैंकों में एकत्रित की जाती है। फिर ताप, प्रकाश या रासायनिक साधनों द्वारा इसके बहुत से अणुओं का सगठित कर एक बड़े अणु के रूप में परिवर्तित किया जाता है। इस क्रिया को विभिन्न प्रकार से नियन्त्रित करने पर विभिन्न गुणों वाले रबड प्राप्त किये जाते हैं जो विभिन्न प्रकार के उद्योगों में उपयोग में लाये जाते हैं।

एक बहुत ही प्रसिद्ध प्रकार का रबड G. R S या ब्यूना एस (Buna-S) है। इसे बनाने के लिए ब्यूटाडाईन (Butadiene) और स्टिरीन (Styrene) संयुक्त किया जाता है और इस प्रकार प्राप्त हुए पदार्थ को कार्बन के साथ मिला कर रबड के टायर (Tyres) व अन्य सामान बनाने के लिए दबाया जाता है। इस प्रकार के रबड के टायर केवल थोड़ा बोझा ढोने वाले साधनों के द्वारा प्रयोग में लाये जाते हैं।

एक अन्य उपयोगी कृत्रिम रबड ब्यूना-एन (Buna-N) होता है। इसे बनाने के लिए ब्यूटाडाइन और एक्राइलोनाइट्राइल (Acrylonitril0) के मिश्रण को साबुन के घोल के साथ गर्म किया जाता है, जिससे दूध सदृश पदार्थ प्राप्त होता है। रबड प्राप्त करने के लिए इस पदार्थ में हल्का अम्ल मिलाया जाता है, जिससे रबड स्कंधित हो जाता है। इसको धोकर सुखाया जाता है और फिर दबाकर गाँठो (Bales) के रूप में प्राप्त किया जाता है। यह टायर बनाने के योग्य नहीं होता। इसे विद्युत् के तारों पर चढ़ाने तथा तेल, पेट्रोल और विभिन्न रासायनिक पदार्थ रखने के लिए बर्तन बनाने के उपयोग में लाया जाता है।

प्लास्टिक उद्योग

प्लास्टिक की वस्तुएँ बनाना रसायनज्ञ के लिए एक गर्व का विषय कहा जा सकता है क्योंकि इनके द्वारा हमें ऐसे पदार्थ प्राप्त हुए हैं, जो प्रकृति में भी नहीं मिलते, तथा साथ ही उन पदार्थों में ऐसे गुण पाये गये हैं, जो कि किसी प्राकृतिक पदार्थ में नहीं मिलते। प्लास्टिक से बने हुए

अधिक प्रचलित है। बहुत से प्लास्टिक सम्बन्धी उद्योगों में सेलूलोइड का स्थान आजकल सेलूलोज एसीटेट ने ग्रहण कर लिया है। क्योंकि सेलूलोइड बहुत अधिक ज्वलनशील (Inflammable) है। यह सेलूलोज पर शोरे के अम्ल के स्थान पर सिरके में पाये जाने वाले एसिटिक अम्ल (Acetic acid) की क्रिया होने से प्राप्त होता है।

प्लास्टिक से सम्बन्धित रसायन शास्त्र वास्तव में बड़े-बड़े अणुओं का रसायन शास्त्र है। कई अणु परस्पर मिल कर कड़ी जैसा अणु बनाते हैं, और फिर ये अणु परस्पर आड़े रूप (Cross wise) से मिल कर जाल के सदृश्य अणु बनाते हैं।
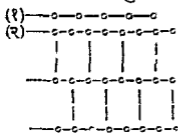
(१) लम्बी कड़ी के सदृश्य अणु
(२) जाल के सदृश्य अणु

ऐसा अनुमान किया जाता है कि अधिक तन सकने की शक्ति (High tensile strength) रखने वाले पदार्थ में अणु लम्बी कड़ी के रूप में होते हैं और यह शक्ति उस समय और भी अधिक बढ़ जाती है, जब ये कड़ियाँ परस्पर एक दूसरे के समानान्तर हों।

प्लास्टिक से सम्बन्धित रसायन शास्त्र में निरन्तर अनुसंधान हो रहे हैं और ज्यों ज्यों रसायनज्ञ अणुओं की विशेष रचना करने के योग्य होता जावेगा हम भविष्य में इससे भी अधिक आश्चर्यजनक पदार्थ प्राप्त कर सकेंगे।

धातु व धातु-मिश्रण (Alloys)

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम धातुओं का मुक्त हस्त से उपयोग करते हैं। बहुत से धातु हमें प्रकृति में स्वतन्त्र अवस्था में मिलते हैं, और अन्य धातु अन्य तत्त्वों से मिले हुए संयुक्त अवस्था में मिलते हैं। इन खनिजों से धातु प्राप्त करने तथा उनके शुद्धिकरण में रसायनज्ञ महत्त्वपूर्ण भाग लेता है। वह धातु विद्या के जानकार (Metallurgist) के साथ कार्य करते हुए इन धातुओं को प्राप्त करने के लिए आर्थिक दृष्टि से उपयोगी विधियों का विकास करने में सहयोग देता है।

काम में लाये जाने वाले धातुओं में लोहे को सर्वमान्य कह सकते

के साथ कॉपरसल्फाइड होता है। ताँबा प्राप्त करने के लिए खनिज को बहुत महीन पीसकर सकेन्द्रित किया जाता है फिर इसे हवा की उपस्थिति में बहुत अधिक गर्म किया जाता है, जिससे वाष्पशील सल्फर डाइआक्साइड बाहर निकल आता है और ताँबा प्राप्त होता है यह बहुत ही अभेद्य व कड़ी धातु है और ताप और विद्युत की उत्तम चालक है और सरलता से क्षय (Corrode) नहीं होता।

चाँदी (Silver)—यह बहुत ही सुन्दर चमकदार नीलापन लिये सफेद धातु है। ताप और विद्युत की सर्वश्रेष्ठ चालक है। यह अपनी विशेष चमक और मूल्य के कारण आभूषण बनाने के काम में बहुत अधिक आती है।

चाँदी साधारणत सीसे के सल्फाइड के साथ मिश्रित सल्फाइड के रूप में प्राप्त होती है। इन खनिज से चाँदी प्राप्त करने के लिए, पहले इस खनिज को बहुत बारीक पीसा जाता है, फिर इसे सोडियम साइनाइड (Sodium Cyanide) के हल्के घोल में (० ६%) में डाला जाता है, और हवा के द्वारा इसे बहुत जोर से हिलाया जाता है। इस प्रकार से हमें (Sodium Argento Cyanide) का घोल प्राप्त होता है। इस घोल में जस्त (Zinc) का चूर्ण डाला जाता है, जिसमे चाँदी पृथक् हो जाती है।

सोना (Gold)—यह क्षय न होने वाली अति सुन्दर चमकवाली धातु है, इसलिए आभूषण बनाने के उपयोग में आती है।

सोना प्रकृति में स्वतंत्र अवस्था में मिलता है और उसे प्राप्त करने के लिए रसायनज्ञ को विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता है। उसे केवल उसके साथ मिली हुई मिट्टी आदि को अवश्य ही दूर करना पड़ता है।

प्लेटिनम (Platinum)-यह धातु भी क्षय नहीं होती, तथा बहुत ही कड़ी होती है यह सोने से भी अधिक मूल्यवान होती है और वैज्ञानिक उपकरणों बनाने, दाँतों के छिद्र भरने व उत्प्रेरक के रूप में काम आती है।

धातु-मिश्रण

शुद्ध धातु प्राय इसी रूप में प्रयोग के लिए नहीं लाई जाती, क्योंकि इनमें वे गुण नहीं होते, जो किसी विशेष उपभोग के लिए आवश्यक होते हैं। इसलिए इन्हें अन्य तत्त्वों विशेषत अन्य धातुओं के साथ पिघलाया जाता है और फिर ठडा कर धातुओं का एकसा मिश्रण प्राप्त किया जाता है नीचे हम कुछ धातु मिश्रण का वर्णन करेंगे।

तॉंबे के धातु मिश्रण—

काँसा (Bronze)—यह ताँबे और टीन का धातु मिश्रण है। यह कड़ा होता है तथा इस पर आसानी से पालिश हो ज [illegible], किंतु भंजनशील धातु मिश्रण है। यह बर्तन और मूर्तियाँ बनाने के काम में आता है।

पीतल (Brass)—यह ताँबे और जस्त का मिश्रण है। इसके तार खिंच सकते हैं और यह कुट्टीय (Malleable) भी होता है। यह घर के बर्तन आदि बनाने के प्रयोग में आता है।

घंटा-धातु (Bell metal)—इसमें ताँबे और टीन का मिश्रण होता है। यह घंटे बनाने के काम मे आता है। यह कड़ा होता है और मधुर ध्वनि देता है।

जर्मन सिलवर—इसमें ताँबे, जस्त और निकल का मिश्रण है। इसका रंग सफेद व चमकदार होता है और यह सुगमता से क्षय (Corrode) नहीं होता यह बर्तन बनाने के काम मे आता है।

अल्मूनियम के धातु मिश्रण—

ड्यूरैलूमिन (Duralumin)—यह अल्यूमीनियम, ताँबे और मैग्नीशियम का मिश्रण है। यह अत्यन्त हल्का और कठोर होने के कारण वायुयान के पुर्जे आदि बनाने के काम आता है।

सोना और चाँदी के मिश्रण—सोना और चाँदी के नर्म होते हैं, अर्थात् शुद्ध अवस्था मे शीघ्र घिस जाते हैं। इसलिए इनके सिक्के या आभूषण बनाने के लिए इनमें ताँबा आदि उचित अनुपात मे मिलाया जाता है।

प्रश्नावली

१—निम्नलिखित पर सक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखो :—
वस्त्र-उद्योग, सीमेन्ट-उद्योग, रबड-उद्योग, प्लास्टिक उद्योग।

२—निम्नलिखित का उपयोग लिखो :—
गंधक का अम्ल, कोलतार, धातु मिश्रण।

३—आधुनिक युग मे पेट्रोलियम का क्या महत्त्व है ?

अध्याय १०

रसायन-शास्त्र और औषधि

१—विटामिन ।
२—सल्फा औषधियाँ ।
३—पेनिसिलीन व अन्य सम्बन्धित औषधियाँ ।
४—टीके (Vaccines)
५—मलेरिया सम्बन्धी औषधियाँ ।
६—कृमिनाशक औषधियाँ (Insecticides)
७—कीटाणुनाशक औषधियाँ (*Disinfectants)*
८—चेतना शून्य करने वाली औषधियाँ (Anaesthetics)

रसायनज्ञ और चिकित्सक बहुत ही दृढ़ और स्थायी सहयोगी हैं, और अपने सम्मिलित उद्योग से रोग के विरुद्ध युद्ध में विजयी हो रहे हैं। रसायनज्ञ के औषधि विज्ञान में तीन मुख्य कार्य हैं।

(१) यह शरीर में होनेवाली क्रियाओं को निश्चित रासायनिक क्रियाओं के रूप में स्पष्ट करता है। उदाहरणार्थ भोजन पर पेट के रसों द्वारा होनेवाली क्रियाओं को समझना। इनके साथ ही रसायनज्ञ शरीर को बनानेवाले समस्त प्रोटीन युक्त तथा अन्य पदार्थों का रासायनिक सगठन ज्ञात करने मे सलग्न हैं।

(२) यह शरीर में होनेवाली क्रियाओं को बननेवाले पदार्थों का भोजन तथा औषधियों का औषधि शास्त्र के लिए विश्लेषण (Analyse) करता है। यह सूचना अक्सर चिकित्सकों को रोगका पता लगाने मे सहायता प्रदान करती है और इस प्रकार रोग का उपचार करने में सहायक सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ, यदि विश्लेषण द्वारा पेशाब में शक्कर का होना सिद्ध हो जाता है, तो उससे चिकित्सक यह बता सकता है, कि रोग मधुमेह या डाएबीटीज (Diabetes) है और चिकित्सा होने के पश्चात्

पेशाब के परीक्षणों से ज्ञात होता रहता है कि रोग किस सीमा तक कम हो गया है।

(२) यह विभिन्न प्रकार की कृत्रिम औषधियाँ (Synthetic drugs) जैसे विटामिन, रोग नष्ट करनेवाली, चेतना शून्य करनेवाली (Anaesthetic), कीटाणुनाशक (Disinfectants) आदि औषधियाँ बनाता है। वास्तव में अब चिकित्सक प्राकृतिक पदार्थ द्वारा उपचार की अपेक्षा रसायनज्ञ द्वारा निर्मित औषधि पर अधिक निर्भर रहते हैं। वर्तमान युग में औषधि रसायन शास्त्र के क्षेत्र में शायद ही कोई खोज किसी एक व्यक्ति के द्वारा की जाती है, क्योंकि नई औषधि के पूर्णतया विकास के समय ऐसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विशेषज्ञों द्वारा ही सुलझाई जाती हैं। सर अलेक्जेन्डर फ्लेमिंग (Sir Alexander Fleming) द्वारा रोगाणुनिरोधक (Antibi-otics) औषधि के रूप में पेनिसिलीन (Penicillin) का आविष्कार इस क्षेत्र में केवल एक प्रारम्भिक कार्य था, क्योंकि इसके बाद भी इस विशेष औषधि को प्राप्त करना, शुद्ध करना, और उसको सकेन्द्रित करना आदि इसी प्रकार की समस्याएँ शेष रहती थीं, जिनके बारे में खोज करना शेष था, और कभी-कभी ये अन्वेषण बहुत ही जटिल सिद्ध होते थे।

आजकल ऐसी औषधियाँ अधिक संख्या में निर्मित की जाती हैं, जो रोगाणुओं के प्रति विनाशकारी प्रभाव रखते हुए भी रोगी के लिए विषैली नहीं होतीं।

ऐसी औषधि के प्राप्त करने से पहले जो अपना इच्छित प्रभाव दिखला सके रसायनज्ञ को सैकड़ों और कभी-कभी हजारों की संख्या में विभिन्न रासायनिक यौगिकों की परीक्षा करनी पड़ती है।

इस प्रकार की औषधि का पता लगाने के लिए, जो उपदंश (Syphilis) नामक रोग में प्रभावशाली होती है महान् जर्मन रसायनज्ञ पाल एरलिक (Paul Ehrlich) ने संखिया (Arsenic) के ६०६ यौगिकों को तैयार किया और उनका परीक्षण किया, तब कहीं इस औषधि का पता लगा जिसे सालवरसन (Salvarsan) "६०६" भी कहते हैं। चिकित्सक को रोग के विरुद्ध सहयोग देनेवाली औषधियों का निर्माण करना रसाय-

नष्ट और इस प्रकार रसायन शास्त्र की बहुत बड़ी विजय है। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही रसायनज्ञ पौधों और जीव-जन्तुओं से प्राप्त औषधियों से भिन्न मनुष्य द्वारा निर्मित औषधियों का निर्माण करने में संलग्न रहा है। अब हम कुछ मुख्य औषधियों का वर्णन करेंगे।

विटामिन—इससे पूर्व जैसा कि "भोजन" के अध्याय में बतलाया जा चुका है विटामिन हमारे दैनिक भोजन के आवश्यक अंग हैं। यद्यपि विटामिनों के विषय में कुछ शताब्दियों पूर्व से ही कुछ जानकारी थी, फिर भी पौधों और प्राकृतिक चर्बी, जैसे खाद्य-पदार्थों से इनको प्राप्त करना केवल इस शताब्दी में ही सम्भव हो सका है। इसके साथ ही प्रयोगशालाओं में इनके रासायनिक समतुल्य पदार्थों (Chemical-equivalents) का बनाना सम्भव हो सका है। अब तक इस प्रकार के ४० पदार्थ ज्ञात हो सके हैं। जो या तो विटामिन हैं या शरीर स्वयं उनका विटामिनों में परिवर्तित कर सकता है। प्राय रासायनिक यौगिकों से प्राप्त हो सकनेवाले विटामिनों के समतुल्य सक्रिय पदार्थों या स्वयं विटामिनों के तैयार करने आधुनिक रसायनज्ञ ने कोई प्रयत्न नहीं शेष छोड़ा है। अब कृत्रिम रूप से बननेवाले विटामिन (Synthetic vitamins) गोलियाँ या कैपसुल (Capsules) के रूप में प्राप्त हो सकते हैं।

सल्फा औषधियाँ—रसायनज्ञ ने औषधि विज्ञान को सल्फा औषधियाँ (Sulpha-drugs) देकर हमें प्रमुख सहयोग दिया है। इन औषधियों को कुछ विशेष प्रकार के रोगाणुओं द्वारा उत्पन्न रोग के उपचार में अधिकतर उपयोग में लाया जाता है।

ये औषधियाँ लाखों जीवन बचाने में बहुत ही सहायक सिद्ध हुई हैं। सल्फा औषधियों को तैयार करने की विधियों का अब निरन्तर विकास हो रहा है।

पेनिसिलीन और अन्य सम्बन्धित औषधियाँ (Penicillin and allied drugs)—पेनिसिलीन और अन्य सम्बन्धित औषधियों के विकास और निर्माण में रसायनज्ञ ने बहुत ही सहयोग दिया है, क्योंकि यह जीव विशेषज्ञ (Biologist) कीटाणु विशेषज्ञ (Bacteriologist) की तरह अब चिकित्सक के कार्यों में सहयोग देता है। एक *साधारण सी* जीव सम्बन्धी क्रिया में रासायनिक सहयोग से ही इन जीवन रक्षा करने

वाली अभूतपूर्व औषधियों का निर्माण तथा शुद्धीकरण करना सम्भव हो सका है।

आपने देखा होगा कि रोटी या अनाज से बने हुए अन्य खाद्य पदार्थों को कई दिनों तक रखने पर, विशेषतया वर्षा के दिनों में, उन पर सफेद फफूँदी (Mould) जम जाती है। यह भी साधारण पौधों की भाँति भोजन लेते हैं, जिससे जीवित रह सकें। एक विशेष प्रकार की फफूँदी के विकासकाल में अल्प मात्रा में पेनिसिलीन बनता है। इस प्रकार पेनिसिलीन प्राप्त करने के लिए इस फफूँदी को उचित भोजन देकर विकसित किया जाता है, फिर इनमें से पेनिसिलीन निकाला जाता है। यह कई विशेष प्रकार के कीटाणुओं के विरुद्ध अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण अनेक भयकर रोगों का उपचार करने में आश्चर्यजनक रूप से उपयोगी सिद्ध हुआ है।

पेनिसिलीन के बहुत ही जटिल अणु होते हैं, और इनमें कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, हाईड्रोजन तथा गधक के परमाणु विभिन्न सख्या मे होते हैं।

स्ट्रेप्टोमाइसीन (Streptomycin)—पेनिसिलीन की ही भाँति यह भी फफूँदी से ही प्राप्त होती है। स्ट्रेप्टोमाईसीन बहुत ही लाभकारी औषधि सिद्ध हो रही है। बहुत से रोगाणु, जो पेनिसिलीन से नष्ट नहीं होते वे इसमें बहुत ही प्रभावित होते हैं, उदाहरणार्थ तपेदिक आदि के कीटाणु इसी कोटि की अन्य मुख्य औषधियाँ, स्ट्रेप्टोथ्राइसीन (Streptothrycin) एक्टिनोमाइसीन (Actinomycin) ग्रामिसिडीन (Gramicidin) आदि हैं।

यहाँ एक अन्य औषधि क्लोरोमाइसेटीन (Chloromycetin) का थोडा सा वर्णन करना अनुचित न होगा। इससे पूर्व मातीमरा (Typhoid) के लिए कोई ऐसी औषधि नहीं थी, जो इसके कीटाणु पर प्रभाव दिखाती। इसके प्रयोग से मोतीमरा का कार्यकाल कम हो जाता है।

यहाँ पर उल्लेखनीय विषय यह है, कि पेनिसिलीन और उससे सम्बन्धित अन्य औषधियों का प्रवेश मनुष्य के शरीर मे रोग की बढ़ी हुई अवस्था में उचित मात्रा में जल्दी-जल्दी करना चाहिए अन्यथा अधिक समय के अन्तर पर औषधि प्रविष्ट कराने पर रोगाणु इस

औषधि के अभ्यस्त हो जाते हैं और इस प्रकार यह औषधि सफल नहीं होती।

टीके (Vaccines)—इसी क्षेत्र में वैज्ञानिकों ने एक और उल्लेखनीय कार्य किया है, जिसमें एक प्रकार के जीवन को ऐसे जीवन के विनाश के लिए उपयोग में लाया जाता है, जो मानव-जीवन के लिए अहितकर होता है। इसके सर्वसाधारण उदाहरण विभिन्न प्रकार के टीके (Vaccines) हैं, जो चेचक (Small-pox) विशूचिका (Cholera) सर्पदंश (Snake-bite) व कुत्ते के काट लेने पर उनके विरुद्ध उपयोग में लाये जाते हैं।

शरीर के भीतर किसी विशेष रोग के कीटाणु बहुत अल्प संख्या में प्रवेश करा देने से मनुष्य के शरीर में ऐसे पदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, जो इन कीटाणुओं के विरुद्ध सक्रिय होते हैं। ये साधारणतया जटिल प्रोटीन Complex proteins) होते हैं। शरीर में इन सक्रिय पदार्थों (Anti-bodies) की उपस्थिति उस रोग या उससे सम्बन्धित रोग से बचाव करती है। इसी सिद्धान्त पर टीकों (Vaccines) का उपयोग किया जाता है—उदाहरणार्थ चेचक का टीका (Small-pox vaccine) ऐसी गाय के फफोलों से निकाला जाता है, जिसमें गाय सम्बन्धी चेचक के कीटाणु प्रविष्ट कराये हुए होते हैं। इन सक्रिय पदार्थों की उपस्थिति से शरीर इस प्रकार में रोग के कीटाणुओं से लड़ने में अपने को पूर्णतया तत्पर और समर्थ पाता है।

सर्पदंश विरोधी (Snake anti venom)—किसी स्वस्थ घोड़े के शरीर में सर्प विष इतनी अल्प मात्रा में प्रविष्ट कराया जाता है, जिससे घोड़ा मरता नहीं, परन्तु इसका अभ्यस्त हो जाता है। ऐसे घोड़े के शरीर में उत्पन्न सक्रिय पदार्थों (Anti bodies) के निर्माण होने के कारण होता है। अब इस विष की मात्रा धीरे धीरे इतनी अधिक कर दी जाती है, जो मनुष्य के लिए घातक सिद्ध होती है। इस घोड़े का शुद्ध रक्त निकाल लिया जाता है और उससे सर्प विष विरोधी औषधि तैयार की जाती है।

पागल कुत्ते के काटने से उत्पन्न रोग के विरुद्ध औषधि तैयार करने के लिए रेबीज (Rabies) के कीटाणु उपरोक्त विधि की भाँति भेड़ के शरीर में प्रविष्ट कराये जाते हैं और फिर इस भेड़ के मस्तिष्क से यह औषधि तैयार की जाती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो जीव इन रोगों से एक बार पीड़ित हो चुकते हैं, उन पर दुबारा इस रोग का आक्रमण शीघ्र नहीं होता, क्योंकि पहले आक्रमण के कारण शरीर में सक्रिय पदार्थ (Antibodies) अधिक मात्रा में उत्पन्न हो जाते हैं, और इस रोग के कीटाणुओं को फिर से शरीर में पनपने नहीं देते।

मलेरिया विरोधी ओषधियाँ (Anti malarials)—कुछ वर्ष पूर्व तक कुनैन ही केवल एक ऐसी औषधि थी, जो मलेरिया के उपचार में प्रयोग में आती थी। कुनैन प्राकृतिक औषधि है, जो सिनकोना (Cinchona) नामक पेड़ की छाल से प्राप्त की जाती है। मलेरिया विरोधी औषधियों की खोज १८५६ से प्रारम्भ हुई जब कि १८ वर्षीय प्रसिद्ध अँग्रेज रसायनज्ञ विलियम हेनरी परकिन (William Henry-Perkin) ने कृत्रिम रूप से कुनैन तैयार करने के लिए प्रयोग आरम्भ किये। इतिहास साक्षी है कि परकिन अपनी वास्तविक खोज में असफल रहा, पर साथ ही उसने रासायनिक पदार्थ मावीन (Mauveine) प्राप्त किया, जिससे विभिन्न प्रकार के रंग (Dyestuff) बनाये जाते हैं। उसके बाद ही रसायनज्ञ ऐसे रसायनिक यौगिकों की खोज में प्रयत्नशील हैं, जो मलेरिया के उपचार के लिए काम में लाये जा सकें। इनके प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप पामाक्विन (Pamaquin) और मेपाक्रिन (Mepacrine) जैसी औषधियाँ निकलीं। लेकिन यह अपने ध्येय में पूर्णतया सफल न हो सकीं।

उत्तम और निर्दोष मलेरिया विरोधी औषधि के चार गुण होने परम आवश्यक है।

(१) मलेरिया पीड़ित क्षेत्रों में इसकी नियमित रूप से छोटी मात्रा लेने पर इस रोग से पूर्णतया बचाव होना चाहिए, अर्थात् मच्छरों के काटने पर जो रोगाणु रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, उनको यह औषधि उनके विकसित होने तथा ज्वर लाने से पूर्व ही नष्ट कर दे।

(२) यदि अरक्षित मनुष्य को इस रोग के कारण ज्वर हो गया हो तो यह ज्वर पर नियंत्रण कर सके।

(३) यह हर प्रकार के मलेरिया के रोगों को उसके हर विकसित रूप में नष्ट कर सके, जिससे यह ज्वर बार-बार न आये।

(४) रोगी के लिए इसका विषैला प्रभाव कम से कम होना चाहिए।

ऊपर वर्णित कोई भी औषधि मलेरिया का हर प्रकार से रोकने तथा नियंत्रण करने में सफल न हो सकी। इसलिए यह केवल समिति उपयोग में लाई गई है। दो रसायनज्ञ डा० कर्ड (Dr. Curd) और डा० रोज़ (Dr Rose) व एक जीव शास्त्रज्ञ डा० डेवी (Dr Davey), इन तीनों ने यौगिकों की एक नई शृङ्खला का तैयार करना प्रारम्भ किया और उनके मलेरिया विरोधी प्रभाव का परीक्षण करना आरम्भ किया। इससे पहले कि वे अपने लक्ष्य पर पहुँच सकें, उन्हें बहुत अधिक संख्या में यौगिकों को तैयार एवं उनका परीक्षण कर, उन्हें त्यागना पड़ा। उन्हें अपना लक्ष्य ४८८८ वें यौगिक पेलुड्रीन (Paludrine) पर प्राप्त हुआ यह हर प्रकार के मलेरिया से रक्षा करने में शक्तिशाली प्रतीत हुई, और उस समय के लिए यह सबसे अधिक प्रचलित मलेरिया-विरोधी औषधि हो गई। उसके बाद इससे प्रभावशाली और कम विषैली औषधियाँ जैसे क्लोरोक्विन(Chloroquin) केमोक्विन(Camoquin) और रेसोचिन(Rasochin) आदि अधिक प्रचलित हो गईं।

इन औषधियों से भी अधिक प्रभावशाली कम विषैली और सर्वमान्य औषधि के लिए अन्वेषण निरन्तर हो रहे हैं।

कृमिनाशक औषधियाँ (Insecticides)-मलेरिया विरोधी औषधियों के विकास के साथ नई-नई कृमिनाशक औषधियों का भी विकास हो रहा है। रोग को जो जड़ से ही उखाड़ फेंकने के लिये अर्थात् रोगों की मूल जड़-मच्छर, मक्खी आदि को नष्ट कर देने के लिये उपयोग में यह औषधियाँ काम में लाई जा रही हैं।

डी० डी० टी० (D. D. T. or Dichloro-Diphenyl Trichloroethane) और गेमेक्सेन (Gammaxane)—दो ऐसे सर्वाधिक प्रचलित और सर्वाधिक विषैले कृमिनाशक हैं, जो इस कार्य के उपयोग में आ रहे हैं। ये इस प्रकार के क्षेत्रों में छिड़के जाते हैं, जहाँ मच्छर मक्खी आदि कृमि अधिक होते हैं और उचित रूप से हाथ या हवाई जहाजों से छिड़के जाने पर उस समूचे क्षेत्र को अपूर्ण तथा विकसित कीड़ों को समूल नष्ट कर कृमि हैं।

जीवाणुनाशक (Disinfectants)—जीवाणुनाशक औषधि वह पदार्थ होती है, जो उन सूक्ष्म कीटाणुओं का विनाश करती है, जो

विभिन्न रोगों के लिए उत्तरदायी होते हैं। अधिकांशतः जीवाणुनाशक रासायनिक यौगिक या इनके मिश्रण होते हैं। यह तो निश्चित रूप से अभी तक विदित नहीं हो पाया है कि ये कीटाणुओं का किस प्रकार से विनाश करते हैं, परन्तु यह अनुमान किया जाता है कि ये जीवाणुनाशक इन कीटाणुओं के शरीर में प्रवेश कर इन्हें निष्क्रिय बना देते हैं या इनके अन्दर प्रोटीनयुक्त पदार्थ को स्कंधित (Coagulate) कर देते हैं।

गन्धक और गन्धक का धुआँ अति प्राचीनकाल से ही जीवाणुनाशक के रूप में काम आते रहे हैं। इनका प्रभाव सल्फर डाइ-आक्साइड (Sulphur di-oxide) के कारण होता है, जो गन्धक के हवा में जलने से बनती है। एक अन्य प्रचलित औषधि बोरिक अम्ल (Boric acid) है। यह जीवाणुनाशक नहीं होती परन्तु इनके विकास को रोकती है। कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) या फीनोल (Phenol) और आयडोफार्म घावों के उपचार के लिए जीवाणुनाशक के रूप में अधिक प्रचलित है। आयडोफार्म (Iodoform) का रोगाणु नाशक प्रभाव स्वतन्त्र आयोडीन निकलने के कारण होता है, पोटेशियम परमैंगनेट (Potassium permanganate) या लालदवा और ब्लीचिंग पाउडर (Bleaching powder) पीने के पानी के रोगाणुओं का विनाश करने के उपयोग में लाये जाते हैं। इनका विनाशकारी प्रभाव क्रमशः आक्सीजन और क्लोरीन निकलने के कारण होता है जो कार्बनिक (Organic) पदार्थों (जैसे कीटाणु आदि) को नष्ट कर देते हैं, जिससे इनकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

रसायनज्ञ अधिक प्रभावशाली और सस्ती व नवीन जीवाणुनाशक औषधियाँ बनाने में सदैव से ही संलग्न रहा है।

चेतनाशून्य करनेवाली औषधियाँ (Anaesthetics) ये औषधियाँ पीड़ा कम करने के प्रयोग में लाई जाती हैं। प्राचीन ढंग की चेतनाशून्य करनेवाली औषधियाँ ईथर (Ether), क्लोरोफर्म (Chloroform) और नाइट्रस आक्साइड (Nitrous Oxide) अब भी काम में आती हैं। साथ ही कुछ अन्य औषधियाँ भी इस उपयोग में लाई जाने लगी हैं, जो इन पुरानी औषधियों का शीघ्र ही स्थान ग्रहण कर रही हैं। ये औषधियाँ कई प्रकार की होती हैं। साधारण चेतना शून्य करनेवाली औषधियाँ जैसे ईथर, क्लोरोफार्म और नाइट्रस आक्साइड अस्थाई

रूप से अचेतनता उत्पन्न करती हैं। जिससे पीडा अनुभव नहीं होती। क्षेत्रीय चेतनाशून्य करने वाली औषधि केवल क्षेत्र विशेष को ही चेतनाशून्य करती है। एक साधारण उदाहरण लीजिए—रीढ़ की हड्डी के अन्दर की नस में प्रविष्ट कराई जाने वाली एक औषधि (Spinal anaesthetic) है, जिसके प्रविष्ट कराने पर शरीर के निचले भागों को नियन्त्रित करनेवाले ज्ञान-तन्तु चेतनाशून्य हो जाते हैं, और तब चीर फाड के समय रोगी चेतनावस्था में रहता है, उसे मालूम रहता है कि क्या हो रहा है, लेकिन उसे पीडा अनुभव नहीं होती, चाहे उसके पैर ही क्यों न काट दिये जायँ। स्थानीय चेतनाशून्य करनेवाली औषधि (Local anaesthetic) केवल उस स्थान-विशेष को ही चेतनाशून्य करती है, जहाँ वह लगाई जाती है। उदाहरण के लिए दाँत निकालते समय या साधारण चीर-फाड करते समय उस भाग के पास औषधि प्रविष्ट कर दी जाती है, और फिर चीर फाड़ कर दी जाती है। रोगी को छेद करने व काटने का अनुभव होता है, परन्तु पीडा अनुभव नहीं होती।

अभी हाल में ही निकली चेतनाशून्य करनेवाली औषधियाँ प्रोकेन (Procaine), नोवोकेन (Novocaine) आदि अति प्रभावशाली औषधियाँ हैं। वह दिन समाप्त हो गये जब कि चीर-फाड कसाई का कार्य समझा जाता था।

रसायनशास्त्र ने अन्य किसी क्षेत्र में इतना ख्यातिपूर्ण कार्य नहीं किया है, जितना औषधि व शल्य-चिकित्सा (Surgery) के क्षेत्र में। यदि विज्ञान ने विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रों के रूप में लाखों जीवों का अन्त किया है तो रसायनशास्त्र ने इसी क्षेत्र में सहयोग देते हुए उससे कहीं अधिक जीवन-रक्षा की है। यह रसायन क्षेत्र में हुए अन्वेषणों का ही परिणाम है कि औषधि विज्ञान ने इतनी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त की है कि आज का एक शल्य चिकित्सक भय की दृष्टि से ही नहीं बल्कि सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

प्रश्नावली

१—औषधि विज्ञान के क्षेत्र में रसायनशास्त्र के महत्व को स्पष्ट करिये।

२—निम्नलिखित का उपयोग विस्तारपूर्वक बतलाइए—

(क) पेनिसिलीन (ख) सल्फा औषधि (ग) टीके (घ) चेतनाशून्य करने वाली औषधियाँ।

अध्याय ११

रसायन-शास्त्र और मनोरंजन

१—फोटोग्राफी

२—आतिशबाजी

३—खिलौने

रसायन-शास्त्र ने जहाँ जीवन के अन्य क्षेत्रों मे अपना पूर्ण सहयोग दिया है, वहाँ मनोरंजन के क्षेत्र में भी पीछे नहीं रहा है। अपना अतिरिक्त समय बिताने के लिए और मनोरंजन के हेतु मनुष्य के विभिन्न प्रकार के साधनों को अपनाता रहा है। इन्हीं साधनों में से एक अत्यन्त प्रचलित साधन है—फोटोग्राफी (Photography) अर्थात् यन्त्र द्वारा चित्र खींचने की कला।

फोटोग्राफी (Photography)—यह आदि से लेकर अत तक रसायन-शास्त्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है जैसा कि फोटोग्राफी के पूर्ण विवरण से ज्ञात होगा। अब इसके विभिन्न अंगों तथा क्रियाओं का हम सविस्तार वर्णन करेंगे।

फोटो खींचने का यंत्र या कैमरा (Camera)—यह रसायनिक पदार्थ बैकेलाइट (Bakelite) का बना हुआ प्रकाश द्वारा अभेद्य (Light-proof) बाक्स होता है। जिसमें आगे की ओर रसायनज्ञ द्वारा कारखाने में बना हुआ उच्च कोटि के काँच का ताल (Lens) होता है, तथा पीछे की ओर विशेष प्रकार से तैयार की हुई प्लेट (Plate) होती है। जब किसी वस्तु से आने वाला प्रकाश इस ताल पर पड़ता है तो प्लेट पर उस वस्तु की उल्टी छोटी आकृति बन जाती है। यह बाक्स इस प्रकार का बना होता है कि सुविधानुसार वस्तु की आकृति लेने के लिए प्लेट और ताल के बीच की दूरी बदली जा सकती है।

प्लेट बनाना—जिलेटिन (Gelatin) में अमोनियम या सोडियम ब्रोमाइड (Ammonium or Sodium Bromide) के घोल में २०%

सिल्वर नाइट्रेट (Silver nitrate) का घोल डाला जाता है और इस प्रकार प्राप्त मिश्रण को कुछ समय के लिए छोड़ दिया जाता है जिससे अवक्षिप्त हुए (Precipitated) सिल्वर ब्रोमाइड के कण (Silver Bromide particles) बन जाते हैं। इससे मिश्रण गाढ़ा हो जाता है। इस गाढ़े पदार्थ को पानी में भली प्रकार धोते हैं, जिससे उस मिश्रण से घुलित पदार्थ अलग हो जाते हैं। फिर इस मिश्रण को काँच या सैलूलाइट (Celluloid) की प्लेट पर एक सी परत के रूप में चढ़ा देते हैं। यही सभी क्रियाएँ प्रकाशहीन या विशेष प्रकार के अन्धेरे कमरे में की जाती हैं। इस प्रकार की प्लेटें प्रकाश के प्रति अतिक्रियाशील होती हैं।

चित्र खींचना (Exposure)—यह क्रियाशील प्लेट कैमरे में रख दी जाती है, और उसके बाद जिस वस्तु का चित्र लेना होता है उस वस्तु को कैमरे के सामने उचित दूरी पर रख ताल (Lens) के द्वारा उसकी आकृति निश्चित अल्प समय के लिए प्लेट पर पड़ने दी जाती है। सिल्वर ब्रोमाइड पर प्रकाश का प्रभाव पड़ता है, और इस प्रकार प्लेट पर उस वस्तु का गुप्त चित्र (Latent image) बन जाता है। जिस स्थान पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ क्रिया अधिक होती है तथा जिस स्थान पर प्रकाश कम पड़ता है, क्रिया कम होती है।।

गुप्त चित्र का स्पष्ट करना (Developing)—गुप्त चित्र वाली प्लेट को चित्र स्पष्ट करनेवाले घोल(Developer) में डाला जाता है। इस घोल में हाइड्रोक्युइनॉन (Hydroquinone) या पाइरोगैलिक अम्ल (Pyrogallic acid) होता है। प्रकाश द्वारा प्रभावित सिल्वर ब्रोमाइड इन पदार्थों के साथ क्रिया करता है, और चाँदी के कण काली परत के रूप में प्लेट पर जम जाते हैं। इस प्रकार जहाँ सबसे अधिक प्रकाश पड़ता है, वह हिस्सा सबसे अधिक काला हो जाता है, और जिस स्थान पर सबसे कम प्रकाश पड़ता है, वह सबसे कम काला रहता है।

चित्र को स्थिर करना (Fixing) अभी भी यह प्लेट प्रकाश के प्रति क्रियाशील होती है, क्योंकि इसमें बिना क्रिया किया हुआ सिल्वर ब्रोमाइड (Silver Bromide) उपस्थित रहता है। इसे हटाने के लिए प्लेट को 'हाइपो' (Hypo) अर्थात् सोडियम थायोसल्फेट (Sodiumthio-sulphate) के घोल में डाल कर हिलाया जाता है। यह 'हाइपो' सिल्वर

ब्रोमाइड को बहुत शीघ्र घोल लेता है। अत इस प्लेट को इस घोल मे बिना क्रिया किये हुए सिल्वर ब्रोमाइड के घुलने तक रखते हैं। इसके बाद प्लेट को पानी से भली भाँति धो लिया जाता है।

इस तरह हमें प्लेट पर वस्तु का छाया-चित्र मिलता है, जिसमे वस्तु का सफेद भाग काला और काला भाग सफेद दिखाई पड़ता है। इसलिए इस प्राप्त प्लेट को नैगेटिव (Negative) कहते हैं।

सीधा चित्र बनाना (Positive Print)–छापने के कागज को भी प्लेट की तरह ही सिल्वर लवण (Silver Salts) लगाकर क्रियाशील बना लेते हैं और उसके ऊपर ऊपरवाली प्लेट रखते हैं और उचित मात्रा मे उस पर प्रकाश डालते हैं। प्लेट के काले भाग प्रकाश को अपने अन्दर प्रवाहित नहीं होने देते हैं जब कि सफेद भाग प्रकाश को भली भाँति जाने देते हैं। जहाँ यह प्रकाश पड़ता है वहाँ प्लेट की तरह क्रिया होती है। फिर इस छापनेवाले कागज के साथ ऊपरवाली चित्र स्पष्ट और स्थिर करनेवाली सभी क्रियाएँ दोहराई जाती हैं। और इस प्रकार हमे वस्तु का चित्र प्राप्त होता है।

आतिशबाजी—बच्चों के मनोरंजन का एक अन्य साधन आतिशबाजी है, जो पूर्णतया रसायनशास्त्र से सम्बन्धित है। आतिशबाजी बनाना एक चातुर्ययुक्त कला है। आतिशबाजी की सफलता केवल उसके पदार्थों पर ही निर्भर नहीं रहती बल्कि इस बात पर भी निर्भर रहती है कि उसके पदार्थ कितनी भली प्रकार चूर्ण किये जाते हैं, मिलाये जाते हैं, तथा कितनी दृढ़ता से आतिशबाजी के डिब्बे या अन्य आधार में भरे जाते हैं। इसके मिश्रण मे ऐसे पदार्थों का होना आवश्यक है जो जल सकें और जलने के लिए ऑक्सीजन दे सकें। गधक कोयला लोहे की महीन छीलन आदि ऐसे पदार्थ हैं, जो जलते हैं तथा पोटैशियम नाइट्रेट (Potassium Nitrate) या अन्य नाइट्रेट (Nitrates) ऐसे पदार्थ होते हैं, जो ऑक्सीजन (Oxygen) देते हैं। नीचे आतिशबाजी के मिश्रण का एक ऐसा नमूना है जो लाल रोशनी के साथ जलता है।

गधक चौबीस (२४) भाग पोटैशियम क्लोरेट (Potassium Chlorate) बारह (१२) भाग, स्ट्रोनशियम नाइट्रेट (Strontium Nitrate) बहत्तर (७२) भाग, एन्टीमनी सल्फाइड (Antimony Sulphide) चार (४) भाग और कोयला तीन (३) भाग।

ये पदार्थ अलग-अलग खूब महीन पीस लिये जाते हैं, और फिर सावधानी से मिला लिये जाते हैं।

खिलौने—बच्चों के मनोरंजन का एक साधन प्लास्टिक की कलायुक्त आकृतियाँ और खिलौने हैं। इन खिलौने को बनाने के लिए प्लास्टिक को पिघला कर ढाल लेते हैं और जैसी आकृति चाहते हैं बना लेते हैं। प्लास्टिक की बनावट इत्यादि १० वें अध्याय में दी जा चुकी है।

प्रश्नावली

फोटोग्राफी पर एक निबन्ध लिखो।

अध्याय १२

विज्ञान की प्रगति

सत्य की खोज—सत्य की खोज करनेवालों का विवरण मानव इतिहास में भिन्न-भिन्न देशों में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त हम देखते हैं कि भिन्न भिन्न कालों में ज्ञानी लोग एक समूह या पाठशाला के रूप में एकत्रित हो जाते थे और प्राकृतिक नियमों का अध्ययन करते थे। वे प्राकृतिक नियमों का सविस्तार अध्ययन और निरीक्षण करते थे। वे ऐसे प्रयोगात्मक तथ्यों से सहायता लेते थे जिनको अन्य व्यक्ति भी प्रयोग करके स्वयं परीक्षण कर सकते थे। इसके करने के लिए परम्परागत रूढ़ियों के विपरीत आवश्यकता थी क्योंकि इस रूढ़िवाद सिद्धान्त में अन्तिम निर्णय धार्मिक अथवा ऐसे अधिकारी के हाथों में माना जाता था जिसका उद्भव किसी दैवी अथवा अर्द्धईश्वरीय उद्गम (Source) से माना जाता था। चुम्बकीय सुई के चीनी आविष्कार ने बहुत ध्यानपूर्वक इस बात के प्रयोग करके देखे होंगे कि अधिक से अधिक लाभकारी सुई बना सकें। पश्चिमी विज्ञान पश्चिमी-सभ्यता के समान मुख्यतर ग्रीक लोगों की देन पर अवलम्बित है।

ग्रीक प्रभाव—कुछ ग्रीक प्रचारकों का प्रभाव वर्त्तमान समय तक बना रहा है। इनमें से सबसे अधिक मान्य शायद अरिस्टौटिल था (३८४-३२२ ई० पू०)। वह प्रत्यक्ष रूप से वैज्ञानिक प्रयोगों और ढंगों से परिचित नहीं था लेकिन उसके हृदय में वैज्ञानिक पद्धति के लिए बहुत आदर था। उसका नाम प्रमाणस्वरूप भिन्न भिन्न अवसरों पर गत शताब्दियों में भी लिया जाता है। उसमें दार्शनिक और सैद्धान्तिक विश्लेषण की ऐसी तीव्र शक्ति थी जो कि बहुत कम पाई जाती है। लेकिन आधुनिक भौतिक विकास के कारण उसके अधिकांश सिद्धान्तों को छोड़ना पड़ा है।

आर्किमिडिज—'यूरेका' प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता आर्किमिडिज (२८७-२१२ ई०) ने वास्तव में वैज्ञानिक जाँच की तीव्र भावना पाई

जाती थी। उन्होंने कितनी ही प्रकार की घिरियाँ (Pulleys), उत्ताम (Levers) और अनेक यान्त्रिक युक्तियाँ आविष्कृत कीं। उन्होंने उत्प्लाविता (Buoyancy) के सिद्धान्त को पूर्णतया स्पष्ट तौर से समझ लिया था और वस्तुओं के घनत्व (Density) को निकालने में इसका प्रयोग किया था।

टॉल्मी—एक अन्य विशिष्ट व्यक्ति टौल्मी अलेक्जेण्डरिया के रहने वाले थे (७०–१४७ ई०)। इन्होंने प्रगाढ़ चिन्तन किया और सब ही प्राय उद्गमों (Sources) से ज्ञान को बटोरने का प्रयत्न किया। उन्होंने प्रयोगों द्वारा समतल और गोलाकार दर्पण द्वारा प्रकाश के परावर्तन और पारदर्शक माध्यम द्वारा प्रकाशवर्तन की क्रियाओं का अध्ययन किया। वे ऐरिसटौटिल द्वारा चलाये हुए सिद्धान्तों के मानने वाले थे उनका विचार था कि पृथ्वी ही विश्व का केन्द्र है, उन दिनों में विश्व का अर्थ सौर परिवार से अधिक नहीं था। ग्रहों की चाल को इस सिद्धान्त के अनुसार बतलाने के लिए उन्होंने ऐसा कहा कि ये ग्रह पृथ्वी के चारों ओर चलते हैं। ग्रहों की इन कथित मार्गों के लिए टौल्मी का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

अरब का प्रभाव—ग्रीक राजनैतिक प्रभाव के नष्ट हो जाने के बाद ीकों द्वारा ज्ञान के भांडार को बढ़ाने और व्यवस्थित करने का भार अरब निवासियों पर पड़ा। एरिसटौटिल और टौल्मी की पुस्तकों का अनुवाद अरबी में किया गया। टौल्मी के विश्लेपण सिद्धात का अनुवाद अल्मजिस्ता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लगभग नौ शताब्दियों तक वैज्ञानिक अनुसधान कार्य में एक प्रकार की निष्प्रवाहता रही। अरब विज्ञानवेत्ताओं मे सबसे प्रमुख अल्हसन का नाम आता है जिसको पाश्चात्य लेखक अल्हेजन के नाम से पुकारते हैं। लगभग १००० ई० में उसने प्रकाश पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ सात भागों में प्रकाशित किया। इसमें समतल और गोलाकार दर्पणों द्वारा प्रकाश-परावर्तन की क्रियाओं के विस्तृत प्रयोग थे। प्राय ये सब प्रयोग प्रकाशवर्तन के ठीक सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित थे। इसके अलावा इस पुस्तक में आँखों के प्रकाशीय संस्थान का अच्छा विवरण दिया हुआ है।

कोपरनिकस—वैज्ञानिक गति-विधि का एक नया दौर कोपर निकस के कार्य से आरम्भ हुआ। निकोलस कोपरनिकस (१४७३-१५४३ ई०) स्वयं एक पादरी था और उस समय के प्रचलित विचारों को संशय की दृष्टि से देखता था। अपने स्वतंत्र और उन्नत विचारों से उसने मानव बौद्धिक परतंत्रता की जजीरों को ढीला कर दिया। उसने टौल्मी के भू-केन्द्रीय सिद्धान्त को और सूर्य व ग्रहों के पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाली मार्ग रेखाओं को चकनाचूर कर दिया। इसके स्थान पर उसने अपने सरल और सारगर्भित सूर्य के केन्द्रीय सिद्धान्त को जन्म दिया। इस सिद्धान्त मे पृथ्वी व अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर गोलाकार मार्ग में चक्कर लगाते हैं। अवलोकन ज्योतिष का कार्य टाइकोवे (१५४६-१६०१ ई०) से प्रारम्भ हुआ ऐसा समझा जाता है। उसके कितने ही सिद्धान्तों को क्रमवार लिखने का कार्य जोन्स केपलर (१५७१-१६३० ई०) ने किया। केपलर ने तीन व्यापक सिद्धान्त विज्ञान-जगत् को दिये हैं जो विश्व प्रसिद्ध है।

मिरजा उलुग बेग—तैमूर के एक वंशज मिर्जा उलुग बेग (१३९३ १४४९ ई०) ने भी ज्योतिष शास्त्रकी का अध्ययन किया। उन्होंने जीवनपर्यन्त बहुत लगन के साथ अध्ययन और अवलोकन जारी रक्खा। सन् १४२५ ई० में उन्होंने समरकन्द मे एक आलोकशाला का निर्माण किया। अपने निरीक्षण तथ्यों के आधार पर उसने कितनी ही तालिकाएँ बनाईं।

धूपघड़ी
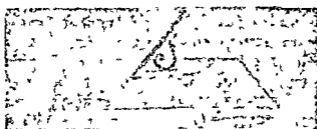
महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय—यह कार्य इसके बाद जयपुर के प्रसिद्ध महाराजा सवाई जयसिंह द्वितीय (१६८१-१७४३ ई०) ने चालू

रक्खा। उन्होंने पाँच विशाल आलोकशालाएँ जयपुर, दिल्ली, बनारस, मथुरा और उज्जैन में बनवाई। इनके अन्दर कितने ही प्रकार के विशाल उपकरण और यंत्र बनवाये जिनके द्वारा भिन्न भिन्न प्रकार के आकाशीय अवलोकन और निरीक्षण किये जाते थे। इन अवलोकनों के आधार पर तालिका पुस्तक बनाई जिसका नाम जिज्ञ ए मोहम्मद शाही था। जयपुर की विशाल धूपघड़ी की ऊँचाई ६० फीट और लम्बाई १४० फीट है।

गैलीलियो—टाइको और केपलर के सबसे प्रसिद्ध समकालीनों में गैलीलियो गैलीली (१५६४–१६४२) का नाम आता है। वह इटली का निवासी था। वह इस बात का प्रचार करता था कि धार्मिक पुस्तक बाईबिल विज्ञान का पाठ्य पुस्तक नहीं थी। वह एक विचित्र सपरीक्षक (Experimenter) था। उसका पिशा मीनार का प्रयोग प्रारूपिक (Typical) परीक्षणों में माना जाता है। सन् १५८१ ई० में एक दिन गैलीलियो ने पिशा के गिरजे में वहाँ के झाड़ फानूस और अपनी नाड़ी धड़कन से सिद्ध किया कि प्रदोलन (Oscillation) का समय वही रहता है, दोलन (Swing) चाहे बड़ा हो या छोटा। उसने यंत्र विज्ञान (Mechanics) का अध्ययन किया और इस निर्णय पर पहुँचा कि सब वस्तुएँ पृथ्वी की ओर एक ऊँचाई विशेष से एक ही समय में गिरेंगी। ऐसा कहा जाता है कि उसने पिशा की झुकी हुई मीनार से दो वस्तुएँ भिन्न भिन्न मात्रा की फेंकी। ये दोनों पृथ्वी पर एक साथ पहुँचीं। यह एरिस्टोटिल सिद्धान्त के विरुद्ध था। उसके अनुयायी यद्यपि इस सिद्धान्त में हार गये थे तो भी वे हार मानने के लिए तैयार नहीं थे और जन साधारण में इस बात का प्रचार करते थे कि गैलीलियो वास्तव में एक विश्वसनीय व्यक्ति नहीं। इस प्रकार की आलोचनाओं के कारण गैलीलियो और चर्च का संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिसके फलस्वरूप उसको बहुत कष्ट उठाने पड़े। दुर्भाग्य से गैलीलियो ने एक दुरबीन (Telescope) वर्तमान द्विनेत्रीय ढंग का बनाया जिससे ग्रहों की सतह और सूर्य के धब्बे देखे जा सकते थे। इसके कारण और उसकी इस घोषणा के कारण कि कोपरनिकस के सिद्धान्त ठीक थे। वह मुसीबत में फँस गया। उसको बन्दी बनाकर पहले राम में रक्खा गया फिर जीवन के अन्तिम वर्षों में उसको उसके

-मकान में ही बन्दी रक्खा गया। इस प्रत्यक्ष दया का कारण एक यह था कि पोप उसका मित्र था। दूसरे गैलीलियो ने सबके सामने इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि भविष्य में वह इस प्रकार की और अन्य ऐसी भूलों का जो धर्म-विरुद्ध हैं, प्रचार नहीं करेगा।

गैलीलियो की वैज्ञानिक प्रतिभा गत शताब्दियों में आदर की दृष्टि से देखी गई है।

न्यूटन—सत्रहवीं शताब्दि में यूरोप के अन्दर वैज्ञानिक विचार का विकास प्रारम्भ हुआ। इस काल में न्यूटन की प्रतिभा अद्वितीय मानी जाती है। न्यूटन का जन्म १६४२ में हुआ था। यह वही वर्ष था जिसमें गैलीलियो की मृत्यु हुई थी। न्यूटन १७२७ ई० तक जीवित रहा। उसने अपने लम्बे अविवाहित जीवन के ३० वर्ष कैम्ब्रिज में अध्ययन में व्यतीत किये। वह कैम्ब्रिज में २६ वर्ष की आयु में गणित का ल्यूकेसियन प्रोफेसर नियुक्त किया गया था। कुछ समय बाद उसने विश्वविद्यालय छोड़ दिया और टकसाल का अध्यक्ष बन गया, लेकिन वहाँ पर भी वैज्ञानिक अन्वेषण (Investigation) में लीन रहा। आरम्भ में उसने प्रकाश विज्ञान (Optics) का विस्तृत अध्ययन किया। इसके बाद उसका ध्यान यंत्र पद्धति विज्ञान की ओर गया। उसने यन्त्र-विज्ञान के सिद्धान्तों की एक सम्पूर्ण सविस्तार पद्धति बनाई जो कि इस समय भी पूर्ण समझी जाती है और वर्तमान यन्त्र-विज्ञान को आधार मानी जाती है। उसकी सबसे प्रसिद्ध देन आकर्षण शक्ति का सिद्धान्त थी। इस सिद्धान्त द्वारा टाईको, ब्रं और कैपलर के सुमान आसानी से समझ में आ जाते हैं और उसके तर्कानुसार पूर्ण ज्योतिष-शास्त्र एक खुली पुस्तक सा ज्ञात होता है। ऐसी समस्याओं का हल निकालते हुए न्यूटन ने कितने ही नये-नये ढंग निकाले उसमें से कलन (Calculus) भी एक था। उसने अपने परिणाम अपनी पुस्तक प्रिनसीपिया (Principia) में प्रकाशित किये। उन सब क्षेत्रों में जिनमें उसने काम किया था, आज भी उसकी प्रतिभा अद्वितीय है।

आगे के पृष्ठों में भौतिक विज्ञान के इतिहास की एक झाँकी मात्र दी गई है।

अध्याय २

परमाणु

(Atom)

कुछ लाभप्रद इकाइयाँ (Units)

और

संख्यात्मक व्यंजक (Numerical Expressions)

१

हम बहुधा एक बड़ी संख्या का प्रयोग करते हैं, इन बड़ी संख्याओं को सुविधाजनक संक्षेप रूप में अभिव्यक्त करना बहुत आवश्यक है। इसका एक सुविधाजनक ढंग यह है कि संख्या को दस के घात (Power) में व्यक्त किया जावे।

जैसे $१०^{२}=१००$, $१०^{३}=१०००$, $६\cdot५४१ \times १०^{३}=६५४१$, $१०^{-१}=१/१०$, $१०^{-३}=१/१०००$, $१\cdot३४२ \times १०^{-३}=०\cdot००१३४२$ इत्यादि।

दस के जो घात है उनके छोटेपन से संख्या के वास्तविक मान के समझने मे भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। निम्नलिखित कहानी से घात की महानता का ज्ञान स्पष्ट हो जावेगा।

एक राजा अपने एक सभासद को इनाम देने के लिए तैयार था, उससे कहा कि माँगो, क्या माँगते हो? उसने कहा, "हे राजन्, यदि सतरंज के बोर्ड के पहिले खाने में १ चावल रखा जावे, दूसरे खाने में २ चावल, तीसरे खाने में ४ चावल, चौथे खाने में ८ चावल, पाँचवें खाने मे १६ चावल इसी प्रकार ६४ खाने तक चावलों की संख्या बढ़ाई जाती रहे। बस मैं केवल इतने ही चावल चाहता हूँ। राजा यह सुनकर हँसा, उसने यह सोचा कि इसने भी क्या मुट्ठीभर चावल माँगे हैं। जब हिसाब लगाकर देखा गया तो ज्ञात हुआ कि चौसठवें खाने मे २३५००००

लाख टन चावल आजावेगा। यह $२^{६३}$ चावलों के दोनों की करामात थी जो कि उसने ६४ वें खाने में माँगे थे। इतने टन इस आधार पर निकाले हैं कि एक तोला चावल में ४८० चावल के दाने होते हैं। हमको यह भी नहीं भूलना कि ६३ वें खाने में इस मात्रा का आधा आवेगा और फिर ६२ व खाने में उसका आधा। इस प्रकार उसकी माँग के अनुसार चावलों की मात्रा बहुत अधिक थी—इतनी अधिक कि सारे राज्य की वार्षिक उपज भी कम पड़ती थी।

यह है घात की शक्ति का जादू।

मीटर प्रणाली—इकाई की सबसे सुगम प्रणाली मीटर प्रणाली है। इसमें लम्बाई की इकाई सेन्टीमीटर है, मात्रा की इकाई ग्राम है और समय की ईकाई सैकन्ड है।

१००० ग्राम को एक किलोग्राम कहते हैं, जिसका भार हमारे ८० तोले के सेर के आसपास होता है।

हमारी पृथ्वी का भार (Weight) यदि किलोग्राम में लिखा जाय तो वह लगभग ६×१०^{२४} किलोग्राम होगा। सूर्य का भार २×१०^{३०} किलोग्राम होगा। इसी प्रकार प्रकाश की गति, १८६००० मील प्रति सेकेंड है, को भी ३×१०^{१०} सेन्टीमीटर प्रति सेकेंड से दर्शा सकते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि घात द्वारा मान को दर्शाने का ढंग कितना सरल और संक्षिप्त है।

परमाणु—अणु या परमाणु इतना छोटा होता है कि उसको हम न केवल अपनी आँखों से देख सकते हैं और न उसकी लम्बाई, चौड़ाई मोटाई नाप सकते हैं। इसके लिए अन्य विधियें हैं जिनसे कि अणुओं और परमाणुओं की तुलनात्मक मात्रा का ज्ञान हो सके।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि हाइड्रोजन का परमाणु अन्य सब परमाणुओं से हल्का होता है इसलिए उसको परमाणु-भार (Atomic Weight) की इकाई मानते हैं। इस प्रकार जब हम कहते हैं कि कार्बन का परमाणु-भार १२ है इसका आशय यह है कि कार्बन का परमाणु हाइड्रोजन के परमाणु से १२ गुना भारी है। इस तत्त्वों के परमाणु-भार के क्रम में पंक्ति-बद्ध कर

सकते हैं जैसे हाइड्रोजन, हीलियम, लीथियम, बैरीलियम, बोरोन, कार्बन, नाइट्रोजन, औक्सीजन इत्यादि (H, He, Li, Be, B, C, N, O and C) इनके अनुसार इनके क्रमांक लगा सकते हैं। हाइड्रोजन का परमाणु-भार एक है, हीलियम का दो, लिथियम का तीन, कार्बन का छः, नाइट्रोजन का सात इत्यादि। यूरेनियम का परमाणु इन सब में सबसे अधिक भारी है जो आकृति में स्वाधीन रूप में पाये जाते हैं। इसका परिमाणु-भार ६२ है। प्रत्येक तत्त्व का एक विशिष्ट परमाणु-भार होता है। परमाणु-भार ७ सदैव तत्त्व नाइट्रोजन को ही संकेत करेगा। परमाणु-भार २६ लोहे को। इस प्रकार तत्त्व की सब प्रकार की जानकारी हो सकती है। यदि हाइड्रोजन परमाणु को इकाई माना जाय तो हीलियम, लीथियम बैरीलिय का परमाणु-भार क्रमश ४.००२ ६.४०, ६.०२ होगा। यहाँ यह बतलाना उचित होगा कि सब धातु तत्त्व हैं।

विद्युतन (Electrification)—थेल्स (६४०-५४० ई० पू०) के समय से कितनी ही वस्तुओं का विद्युतन सुविख्यात है। यदि काँच, गंधक, आबनूस और अम्बर इत्यादि को सिल्क मृदुलोम, रबड़ आदि से रगड़ा जाये तो उनमें एक दूसरे को आकर्षण (Attract) करने अथवा प्रतिसारित (Repel) करने का गुण आजाता है। यदि एक काँच की छड़ को सिल्क के टुकड़े से रगड़ा जावे तो उसमें उसी प्रकार के रगड़े हुए काँच के छड़ को प्रसारित करने का गुण पैदा हो जाता है। इसी प्रकार एक आबनूस के छड़ को मृदुलोम, (Fur) से रगड़ने पर वह उसी प्रकार एक अन्य रगड़े हुए छड़ को प्रसारित करेगा। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सिल्क के कपड़े द्वारा रगड़ा हुआ काँच का छड़ मृदुलोम द्वारा रगड़े हुए आबनूस के छड़ को आकर्षित करेगा।

इनसे यह स्पष्ट है कि समान प्रकृति की विद्युत से विद्युन्मय वस्तुओं में परस्पर प्रतिसारिता होती है तथा भिन्न प्रकार की विद्युत से विद्युन्मय वस्तुओं में परस्पर आकर्षण होता है।

क्योंकि विद्युन्मय काँच और आबनूस एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों में एक-सी

विद्युत् नहीं है। जब काँच को सिल्क से रगड़ा जाता है तो काँच मे जो विद्युत उत्पन्न हो जाती है उसे धन-विद्युत कहते हैं। जब आबनूस को मृदुलोम से रगड़ा जाता है तो उसमें ऋण विद्युत उत्पन्न हो जाती है। यदि सूखे बालों को एक सिल्क के कपडे से खूब जोर से रगड़ा जाय तो उनमें विद्युत उत्पन्न हो जाती है। वे एक दूसरे को प्रतिसारित करने लगते हैं और खडे हो जाते हैं।

काँच, आबनूस आदि में विद्युत उसी स्थान पर ठहर जाती है, जहाँ पर वे रगडे जाते हैं। वे पदार्थ जिनमे से विद्युत का प्रवाह नहीं हो सकता है अचालक (Non-Conductor) कहलाते हैं। और वे पदार्थ जिनमे से विद्युत का प्रवाह सरलतापूर्वक हो सकता है, चालक कहलाते हैं।

स्वर्ण-पत्र विद्युत-दर्शक (Gold Leaf Electroscope)—एक वृत्ताकार धातु की तश्तरी A एक धातु के छड़ B से जुड़ी हुई होती है। इस छड के नीचे की ओर दो स्वर्ण-पत्र लगे हुए होते हैं। यह छड एक रबड के कार्क में से होकर जाती है। इस कार्क को एक काँच के वर्तन में फँसा देते हैं। इस उपकरण (Apparatus) को स्वर्ण-पत्र विद्युत-दर्शक कहते हैं।

यदि वृत्ताकार तश्तरी को किसी विद्युन्मय वस्तु से छूकर विद्युत पहुँचाई जाती है तो वह छड़ द्वारा पत्तियों मे भी पहुँच जाती है। दोनों पत्तियों मे एक ही प्रकार की विद्युत होने के कारण उनमें प्रतिसार होता है। और वे एक दूसरे से पृथक् हो जाती हैं। अब यदि तश्तरी को छूकर विद्युत हटा ली जाय तो पत्तियाँ आपस में मिल जाती हैं।

विद्युत दर्शक यन्त्र और भी कितने ही प्रकार के होते हैं जिनसे हम विद्युत की मात्रा को नाप सकते हैं अथवा यह मालूम कर सकते हैं कि किसी वस्तु मे विद्युत है या नहीं? यदि है तो किस प्रकार की है?

विद्युताणु और धनाणु (Electron and Positron)—सन् १८१५ ई० मे जे० जे० थोमसन ने एक महत्वपूर्ण आविष्कार किया। यह आविष्कार उस कण (Particle) के अभिज्ञान (Identification)

के बारे में था जिसकी प्रकृति विज्ञान वेत्ताओं को परेशान किये हुए थी। यह ज्ञात हुआ कि इस कण ऋणात्मक विद्युत् निश्चित थी। इस विद्युत् की मात्रा मे आर० ऐ० मिलीकन ने अपने सुव्यवस्थित प्रयोगों से ठीक ठीक पता लगा लिया। यह माप मूल प्रनियम (Fundamental principle) के समझने में बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ क्योंकि इससे अणु और परमाणुओं का निरपेक्ष (Absolute) भार ज्ञात किया जा सका। अभी तक हाइड्रोजन परमाणु के इकाई के रूप में ही औरों का भार ज्ञात किया जा सका था। अब हाइड्रोजन परमाणु का निरपेक्ष भार १.६६×१०^{-२४} ग्राम ज्ञात किया गया। सरल भाषा में इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि पृथ्वी में जितने शत ग्राम (Hundred grams) होंगे एक ग्राम हाइड्रोजन में उतने ही परमाणु होंगे अथवा एटलान्टिक सागर में जितने घन सेन्टीमीटर होंगे।

थामसन का कण सर्वत्र विद्युताणु के नाम से प्रसिद्ध हुआ, ज्ञात करने पर मालूम हुआ कि इसका भार $१०^{-२८}$ ग्राम है, इस प्रकार यह हाइड्रोजन परमाणु के १८०० वें भाग से भी छोटा है। यह एक पहेली बन गई क्योंकि जब हाइड्रोजन परमाणु सबसे हलका है तो यह विद्युताणु क्या बना है? क्या यह एक नया भौतिक कण (Material particle) है अथवा यह एक नये तत्व का परमाणु है? यह पहेली उस समय हल हुई जब यह ज्ञात हुआ कि विद्युताणु भौतिक कण नहीं बल्कि केवल विद्युत का कण है। यह पहिला प्रमाण था कि विद्युत् द्रव्य से अतिरिक्त भी हो सकती है। इससे पहिले यही समझा जाता था कि विद्युत एक वस्तु पर ही विद्यमान है जैसे घन विद्युत् एक विद्युन्मय काच की छड़ पर पाया जाता था और ऋण विद्युत् उस आबनूस की छड़ पर जिसको मृदुलोम से रगड़ा जाता है। इससे एक गूढ़ तत्व प्रकाश में आता है कि विद्युत की प्रकृति में विभिन्नता पाई जाती है, विद्युताणु ऋण विद्युत का सबसे छोटा कण है। इसी प्रकार एक धनाणु (Positron) भी ज्ञात किया गया है जो कि घन विद्युत् का सबसे छोटा कण है। यह विद्युताणु के समान ही होता है। उतनी ही मात्रा, उतनी ही विद्युत। केवल यही अन्तर होता है इसकी विद्युत् धनात्मक होती और विद्युताणु की ऋणात्मक।

परमाणु की संरचना (Structure of an Atom)—अनेक घटनाओं के ध्यानपूर्वक अध्ययन के फलस्वरूप रदरफोर्ड ने परमाणु की संरचना के बारे में एक सिद्धान्त बताया। एक परमाणु का विशेष गुण उसकी परमाणु-संख्या मानी गई।

साधारणतया हम कह सकते हैं कि एक विद्युताणु पर जो विद्युत होती है वह विद्युत् की इकाई है और हाइड्रोजन परमाणु के भार की इकाई है। एक परमाणु के बीच में एक भारी कण होता है जिसके चारों ओर विद्युताणु गोल या अंडाकार पथ में घूमते हैं जैसा चित्र में दिखलाया गया है।

विद्युताणुओं की संख्या परमाणु संख्या के बराबर होती है जैसे कार्बन परमाणुओं में केन्द्रीय कण के चारों ओर ६ विद्युताणु घूमते हैं। इन ६ विद्युताणुओं पर ६ ऋणात्मक विद्युत् की ६ इकाइयाँ होती हैं और उनका भार सारे परमाणु के भार की तुलना में बहुत ही कम होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रायः सारा भार केन्द्रीय कण में ही होता है।
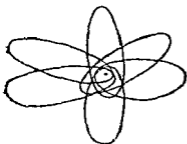
परमाणु की विद्युत् शक्ति—यह देखा गया है कि परमाणु विद्युत्-उदासीन (Electrical neutral) होता है इसलिए हम यह कल्पना करते हैं कि केन्द्रीय कण में धनात्मक विद्युत होती है जिसकी मात्रा विद्युताणुओं पर विद्यमान कुल ऋणात्मक विद्युत के बराबर होती है, या ऐसा कह सकते हैं कि परमाणु-संख्या के बराबर विद्युत् इकाई होती है। कार्बन परमाणु के केन्द्रीय कण का भार १२ इकाई होता है, उस पर धनात्मक ६ विद्युत इकाई होती हैं। इसके चारों ओर ६ विद्युताणु घूमते हैं। इस प्रकार हम कहते हैं कि कार्बन का परमाणु-भार १२ और उसकी परमाणु-संख्या ६ है।

प्राणु और क्लीवाणु (Proton and Neutron)—हाइड्रोजन परमाणु की सरचना सबसे सरल होती है। इसका परमाणु-भार एक है और उसकी परमाणु-सख्या भी एक है। इस प्रकार इसके केन्द्रीय कण का भार इकाई होता है जिस पर एक इकाई धनात्मक विद्युत् होती है और जिसके चारों ओर एक विद्युताणु घूमता रहता है। जैसा कि चित्र मे दर्शाया गया है।

यदि हम विद्युताणु को हटा दें जो कि परमाणु के उत्तेजित (Excitation) करने पर सम्भव है तो केवल केन्द्रीय करण रह जायेगा। यह इकाई भार और धनात्मक इकाई विद्युत् वाला कण होता है। यह सब प्रकार से हाइड्रोजन परमाणु की तुलना में अधिक सारभूत (Fundamental) है। इसको प्राणु (Proton) कहते हैं। यह हाइड्रोजन परमाणु की तुलना में भार की अधिक स्वाभाविक इकाई है। इसका ऐसा तद्नुरुप (Corresponding) कण जिसका इसके समान भार हो लेकिन ऋणात्मक भार हो अभी तक नहीं ज्ञात किया जा सका है, लेकिन हम ऐसे कण के बारे मे अवश्य जानते हैं जिसका भार इसके बराबर होता है और जिस पर विद्युत् बिलकुल नहीं होती। इस कण को क्लीवाणु कहते हैं।

द्रव्य की बनावट—प्राणु, क्लीवाणु, विद्युताणु और धनाणु वे ईंटें हैं जिनके द्वारा प्रकृति सारे द्रव्यों को बनाती है। कार्बन परमाणु को जिसके बारे में पहिले लिखा जा चुका है इस प्रकार दर्शा सकते हैं—इसमें ६ प्राणु होते है और ६ क्लीवाणु जिससे इसका भार १२ इकाई का बन जाता है। इसके अतिरिक्त इस पर ६ धनात्मक इकाइयों के बराबर विद्युत होती है। यह चित्र मे दर्शाया गया है।

लोह परमाणु का भार ५० है, परमाणु सख्या २६ है, केन्द्रीय कण मे प्राणु २६ होते हैं, क्लीवाणु ३० हैं। विद्युताणु २६ होते हैं जो कि चक्कर लगाते रहते हैं।

रेडियम धर्मिता (Radio-activity)—साधारणतया एक तत्त्व उसी अवस्था में अनन्त काल तक रहता है। पुरातनकाल के कीमियागरों

का स्वप्न था कि प्रकृति की इस अभिन्नता को तोड़ा जावे और एक तत्त्व को दूसरे में बदल दिया जावे। इस प्रयत्न में सोने की चमक ने विशेष उत्साह पैदा किया। सबका यह ध्येय रहा कि सस्ती धातुओं को सोने में बदल दिया जावे। लेकिन पारस पथरी सदैव कीमियागरों की पहुँच से दूर ही दूर भागती रही।

तत्त्वों को एक दूसरे में बदलने की बात ने १८९६ ई० में बेकुअल के कुछ विशेष अवलोकनों के कारण फिर जोर पकड़ा। उसने देखा कि धातु पिच ब्लैन्डी का एक टुकड़ा एक काले कपड़े में लपेटी हुई प्लेट पर भी अपना प्रभाव डाल देता है। ऐसी प्लेट में धोने पर धुँधलापन दिखाई पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि इस धातु में से कुछ ऐसी किरणें निकलती थीं जो कि काले कागज को पार करके धातु प्लेट पर अपना प्रभाव डालती थीं। इसको मालूम करने के लिए खोज की गई। इस दिशा में मुख्य कार्य पीरे क्यूरी और उसकी पत्नी मैरी क्यूरी ने किया। अन्त में वे एक बहुत सूक्ष्म मात्रा में नस सक्रिय अभिकर्ता को मालूम कर सके जिसके कारण यह सब होता था। यह अभिकर्ता मात्रा में इतना कम था कि उनको पिच ब्लैन्डी के कई टनों में से एक ग्राम से भी कम यह प्राप्त होता था। उन्होंने मालूम किया कि यह सक्रिय पदार्थ बेरियम तत्त्व से रासायनिक गुणों में बहुत मिलता जुलता था लेकिन उसका परमाणु भार उससे कहीं अधिक था। इस नये तत्व को रेडियम के नाम से पुकारने लगे।

आल्फ, बीटा और गामा किरण—यह ज्ञात किया गया कि रेडियम में से तीन प्रकार के सक्रिय अभिकर्ता किरण निकलती हैं। जिनको आल्फा, बीटा और गामा किरण के नाम से पुकारते हैं।

आल्फा किरण अथवा जिनको आल्फा कण कहना अधिक उपयुक्त होगा हीलियम परमाणु के केन्द्रीय कण के समान ही होते हैं। इस प्रकार वे ऐसे कण हैं जिनका भार चार परमाणु इकाइयों के बराबर होता है और उनमें २ धनात्मक विद्युत इकाइयों के बराबर विद्युत होती है। बीटा किरण भी कण होते हैं और विद्युताणु के अनुरूप होते हैं। गामा किरण वास्तविक तेजो किरण (True Radiation) होती हैं उसी प्रकार की जैसे कि प्रकाश किरण होती हैं। लेकिन इनमें भेदन (Penetrating) शक्ति कहीं अधिक होती है।

रेडियम परमाणु का टूटना—इन किरणों और कणों के बारे में अधिक अध्ययन करने पर यह ज्ञात हुआ कि रेडियम के परमाणु अस्थायी (Unstable) होते हैं और स्वयं टूटते रहते हैं। एक रेडियम के परमाणु का भार २२६ इकाई होता है और उसकी परमाणु-संख्या ८८ है। इस प्रकार उसके केन्द्रीय कण में ८८ धनात्मक विद्युत् इकाई होती है और उसका भार प्राणु के भार से २२६ गुना होता है। केन्द्रीय कण के चारों ओर ८८ विद्युताणु घूमते रहते हैं। एक रेडियम परमाणु जल्दी या देर में स्वयं टूट जाता है। उसमें से आल्फा कण अलग हो जाते हैं और उनमें से एक नवीन तत्व बन जाता है। हम देख चुके हैं कि आल्फा कण का भार ४ इकाई होता है और उसमें २ इकाई धनात्मक विद्युत् होती है। इस प्रकार जिस दूसरे तत्व में जो वह बदल जाता है उसमें २२२ इकाई भार और ८६ इकाई विद्युत् होती है। इसकी परमाणु-संख्या ८६ होती है। इसलिए यह एक नवीन तत्व ही होता है जिसके रासायनिक गुण भी अलग ही होते हैं। यह ज्ञात हुआ है कि यह दुर्लभ गैसों के कुटुम्ब का ही एक सदस्य होता है और हीलियम, निओन, आरगन, क्रिप्टन और एक्सीनोन सदस्यों के साथ इसका नामकरण रेडौन किया गया।

—रेडियम ए—एक रेडौन परमाणु भी अस्थायी होता है और यह भी आल्फा कण छोड़ कर एक नये तत्व में बदल जाता है। उसकी परमाणु-संख्या ८४ है।

रेडियम बी—रेडियम ए में से भी अल्फा किरण निकलती है और एक नया तत्व रह जाता है जिसको रेडियम बी (Radium B) के नाम से पुकारते हैं। रेडियम बी परमाणु-भार २१४ इकाई होता है और परमाणु-संख्या ८२ है।

रेडियम सी—रेडियम बी में से बीटा कण निकल जाते हैं और एक नया तत्व रेडियम सी (Radium C) रह जाता है। क्योंकि बीटा कण में भार बिलकुल नहीं होता है इसलिए रेडियम सी का परमाणु भार २१४ इकाई ही रहता है और इसकी परमाणु-संख्या ८३ हो जाती है।

सारणी मे रेडियम के परमाणु का टूटना मय परमाणु-भार और परमाणु-संख्या के पूरी तरह दर्शाया गया है।

सारणी

अणुभार

अणु-संख्या	२३८	२३४	२३०	२२६	२२२	२१८	२१४	२१०	२२६
९२	UI	U११							
९१		UX-							
९०		UX१	Io						
८९									
८८				Ra					
८७									
८६					Rn				
८५									
८४						RaA	RaC	RaF	
८३							RaC	RaE	
८२							RaB	RaD	RaG

रेडियम धर्मी रूपान्तर

यह अस्थायी चक्र रेडियम जी (Radium G) पर रुकता है। रेडियम जी साधारण सीसा (Lead) होता है। अब टूटने की क्रिया समाप्त हो जाती है।

रेडियम धर्मी कुटुम्ब (Radio-active family)—जैसे कि ऊपर दिखाया जा चुका है रेडियम उपरोक्त रेडियम धर्मी कुटुम्ब का

जनक है। रेडियम स्वयं तत्व आयोनियम (Ionium) के टूटने से बनता है और अयोनियम यूरेनियम से बनता है। इस प्रकार इस कुटुम्ब का मूल जनक यूरेनियम (Uranium) होता है।

इसी प्रकार दो अन्य रेडियम धर्मी कुटुम्ब भी होते हैं जिनके मूल-जनक थोरियम (Thorium) और एक्टीनियम (Actinium) हैं।

पारस पथरी के बिना परिवर्तन—यह स्पष्ट है कि बिना पारस पथरी की सहायता के एक तत्व का दूसरे तत्व में परिवर्तन होता है। यह एक बड़ी विलक्षण बात है कि हम इस परिवर्तन के वेग (Rate) को न घटा सकते हैं और न बढ़ा सकते हैं। यह एक प्राकृतिक नियम के अनुसार एक निर्धारित चाल से चलता रहता है। यद्यपि यह भिन्न-भिन्न तत्वों के लिए भिन्न-भिन्न है। लेकिन एक तत्व के लिए एक परिस्थिति विशेष में सदैव एक सा रहता है। विभिन्न प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि रेडियम का भार १६०० वर्षों में आधा रह जाता है अथवा यों कह सकते हैं कि रेडियम का आधा जीवन १६०० वर्ष का है। रेडियम ए का आधा जीवन ३ मिनट का है और रेडियम सी का आधा जीवन एक सेकेन्ड के हजार वें भाग से भी कम का है।

समस्थानीय तत्व (Isotopes)—पहिली सारणी को ध्यानपूर्वक देखने पर कुछ बातें स्पष्ट हो जाती हैं। स्पष्ट है कि रेडियम बी, रेडियम सी और रेडियम C की परमाणु-सख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं इसलिए इनके रासायनिक और भौतिक गुण भी अलग होते हैं। तो भी इन सब का परमाणु भार एक ही है २१४ इकाई। इसके विपरीत रेडियम बी, रेडियम डी और रेडियम जी के परमाणु-भार अलग-अलग हैं। लेकिन परमाणु-संख्या एक ही है। तत्वों की दृष्टि से इनमें बहुत एकता होती है लेकिन इनके भार भिन्न-भिन्न हैं। इनको समस्थानीय तत्व कहते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि एक तत्व में भिन्न-भिन्न भार के परमाणु भी हो सकते हैं।

नई प्रगति—इस दिशा में एफ० जोलियट और उसकी पत्नी परन क्यूरी (पेरी और मेरी क्यूरी की पुत्री) ने एक विशेष कार्य किया, उन्होंने एलुमीनियम जैसे *साधारण तत्वों को क्रियाशील अल्फ* कणों के सामने रक्खा। ये अल्फा कण पोलोनियम (Radium f) द्वारा प्राप्त किये गये थे। यह देखा गया कि एक क्लीवाणु

और फासफोरस परमाणु पैदा हो गये, यह फासफोरस रेडियम धर्मी था।
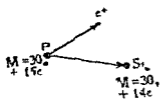
साधारण रेडियम धर्मी वस्तुओं के विपरीत इसमें से विद्युताणु के बजाय धनाणु निकलता था। इसके कारण फासफोरस के केन्द्रीय कण की विद्युत् एक इकाई मे कम हो गई। फासफोरस की परमाणु सख्या इस प्रकार १५ के बजाय १४ रह गई। हम जानते हैं कि १४ परमाणु-सख्या सिलीकन (Silicon) तत्व की है। इसका अर्थ यह हुआ कि फासफोरस तत्व सिलीकन तत्व मे परिवर्तित हो गया।

नवीन वैज्ञानिक प्रगति द्वारा ऐसा सम्भव हो गया है कि अल्फा कण प्राकृतिक रेडियम धर्मी वस्तुओं के अलावा अन्य साधनों से भी पैदा किया जा सकते हैं। ये कण शक्तिशाली भी अधिक होते हैं और इनके ऊपर पूरा नियन्त्रण भी रक्खा जा सकता है।

इस प्रकार रेडियम धर्मी वस्तु बनाने के कृत्रिम ढग से यह सम्भव है कि लगभग प्रत्येक तत्व को रेडियम धर्मी बनाया जा सके।

परमाणु-भार—रेडियम धर्मी तत्वों में समस्थानीय तत्वों के आविष्कार से एक प्रश्न यह उठता है कि क्या समस्थानीय तत्व और भी अधिक सख्या में विद्यमान हैं। विज्ञानवेत्ता (Prout) ने इस सिद्धान्त को अपनाया था कि किसी भी तत्व के परमाणु के अन्दर हाइड्रोजन के परमाणुओं का समूह होता है, इस बात को वर्तमान वैज्ञानिक भाषा में इस प्रकार कहेंगे कि किसी भी तत्व के परमाणु के केन्द्रीय कण में प्राणु और क्लीवाणु का समूह होता है। इस प्रकार केन्द्रीय कण का भार प्राणु के भार का अनुकूल (Integral) होता है।

इसके विपरीत, ऐसा होता है कि किसी तत्व का परमाणु भार पूर्णाङ्क नहीं होता। उदाहरणार्थ, जैसे क्लोरीन (Chlorine) का परमाणु-भार ३५·५ होता है, कौपर (Copper) का परमाणु भार ६३·६ है। रासायनिक शास्त्र की परमाणु भार निकालने की विधियों के अलावा कितनी ही सुनष्य भौतिक विधियाँ अपनाई गई हैं जिनसे यह स्पष्ट हो गया है कि ऐसे सब तत्व जिनका परमाणु-भार पूर्णाङ्क

में नहीं होता है एक से अधिक समस्थानीय तत्वों के मिश्रण होते हैं। क्लोरीन में ३५ और ३७ भार के दो तत्व ३:१ के अनुपात में मिले हुए होते हैं, इसके कारण औसत भार ३५·५ आता है। इसी प्रकार ताँबे के भी दो समस्थानीय तत्व होते हैं जिनका भार ६३ और ६५ है इसलिए इसका औसत ६३·६ आता है। कुछ तत्वों जैसे मरकरी (Mercury), टिन (Tin), एक्सीनोन (Xenon) आदि में समस्थानीय तत्व कई दर्जन होते हैं।

सबसे विलक्षण समस्थानीय तत्वों का उदाहरण दो परमाणु-भार वाली हाइड्रोजन का है। इसके परमाणु को ड्यूट्रीयम (Duterium) कहते हैं। इसकी सरचना ऐसी है कि केन्द्रीय कण का भार दो इकाई होगा और उस पर विद्युत् एक धनात्मक इकाई के बराबर होगी। इस कण के चारों ओर केवल एक विद्युताणु होगा। यदि इस विद्युताणु को हटा दिया जाय तो परमाणु में केवल केन्द्रीय कण रह जायेगा। इस कण को द्विताणु (Deutron) कहते हैं।

प्रकृति के भिन्न भिन्न मूल कण जैसे विद्युताणु, धनाणु, प्राणु और क्लीवाणु के साथ का भी स्थान-स्थान पर जिक्र आता है।

M=2
+e

आक्सीजन (Oxygen) के तीन समस्थानीय तत्व होते हैं जिनका भार १६, १७ और १८ है। ऐसा सुविधाजनक पाया जाता है कि परमाणु-भार की इकाई को प्राणु के बजाय आक्सीजन के उस समस्थानीय तत्व को ले लें जिसका भार १६ होता है। ऐसा करने पर प्राणु का भार १·००८१२ हो जाता है, हीलियम का केन्द्रीय कण अथवा आल्फा कण ४·००३८६ हो जाता है और क्लोरीन के समस्थानीय है तत्व ३४·६८० और ३६·६७८ हो जाते हैं। यह बात उल्लेखनीय है कि ये सब अंक यद्यपि पूर्णाङ्क नहीं हैं लेकिन पूर्णांक के बहुत कुछ समीप हैं। इन सब बातों को देखते हुए प्रउट के सिद्धान्त में अधिक अभिरुचि पैदा होती है। उदाहरणार्थ, आल्फा कण में दो प्राणु और दो क्लीवाणु होते हैं, इसलिए इसका परमाणु भार ४×१·००८१३=४·०३२५२ होना चाहिए। लेकिन वास्तव में ४·००३८६ है, जो कि कुछ कम है। इसलिए इस सिद्धान्त के बारे में अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है।

अध्याय १२

शक्ति, उसके रूप और रूपान्तर

(Energy, Its Forms and Transformation)

जिन तीन प्रारम्भिक रूपों मे प्रकृति मनुष्य के सम्मुख अपने को दर्शाती है उनका नाम है (१) द्रव्य (Matter) (२) गति (Motion) (३) शक्ति (Energy) सारा ब्रह्माण्ड द्रव्य के रूप में देखा जाता है और उसका अनुभव किया जाता है। द्रव्य के तीन रूप हैं, ठोस, द्रव और गैसीय। द्रव्य की शक्ल उसकी भौतिक परिस्थितियों जैसे तापक्रम और वायु का दबाव इत्यादि पर निर्भर रहती है। एक वस्तु अधिक तापक्रम पर गैसीय अवस्था मे होगी और निम्न तापक्रम पर दबाव देने पर द्रव व ठोस में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार हमको ऐसी विचित्र चीजें भी मिलती हैं जैसे लोहे की भाप और द्रववस्तु। बहुत ऊँचे तापक्रम पर एक वस्तु का परमाणु अपने विद्युताणु धीरे-धीरे खो देता है और अन्त मे केवल केन्द्रीय कण रह जाता है। परमाणु की ऐसी परिस्थिति में पूर्णतया अयनित (Ionised) कहते हैं।

परमाणुओं की संख्या—द्रव्य की एक मात्रा विशेष मे प्रत्येक अवस्था मे परमाणुओं की संख्या एक ही रहेगी। एक ग्राम पानी उबाले जाने पर एक ग्राम भाप मे परिवर्तित हो जायगा जिसके अन्दर अणुओं और परमाणुओं की संख्या वही रहेगी। यदि उतने ही पानी को विद्युत द्वारा हाइड्रोजन और आक्सीजन मे खंडित किया जावे तो भी परमाणुओं की संख्या उतनी ही रहेगी।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि द्रव्य की मात्रा अस्थायी रहती है चाहे जैसा भौतिक या रासायनिक परिवर्तन हो। इस सिद्धान्त को पुंज-स्थिरता (Conservation of mass) कहते हैं।

गमता स्थिरता (Conservation of moment)—एक द्रव्य की गति बदल सकती है। एक भीमकाय सड़क कूटने का रोलर

जो बहुत धीरे-धीरे चलता है एक द्रुतगामी बाइसिकिल से अधिक गति की कुल मात्रा रख सकता है। गति की कुल मात्रा को गमता से मापते हैं। गमता वस्तु की मात्रा और उसके वेग (Speed or velocity) के गुणनफल से दर्शायी जाती है। यदि बन्दूक की गोली लकड़ी के एक लटके हुए टुकड़े में लगाई जाये और लकड़ी का टुकड़ा इतना मोटा हो जो उसमें गोली को रोकने की क्षमता हो तो गोली को रोकने का कार्य करते हुए लकड़ी का टुकड़ा अपने स्थान से कुछ हिल जावेगा। गोली की गमता लकड़ी के टुकड़े में आ जाती है। यहाँ यह बात देखने योग्य है कि गोली और लकड़ी के टुकड़े में कुल गमता उतनी ही बनी रहेगी।
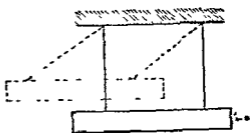
इस सिद्धान्त को गमतास्थिरता का सिद्धान्त कहते हैं।

जड़ता, बल और शक्ति (Inertia, Force and Energy)

द्रव्य का मूल गुण जड़ता है। स्वभावतः द्रव्य का एक टुकड़ा साधारणतः अपने स्थान पर स्थिर रहेगा और उसमें अपना स्थान छोड़ने का कोई लक्षण नहीं दिखाई देगा। यदि एक वस्तु एक समगति से एक सरल रेखा में चल रही है और उसको छेड़ा न जावे तो वह न तो अपनी गति बढ़ाने या घटाने की चेष्टा करेगी और न अपनी दिशा ही बदलेगी। द्रव्य का यह गुण जिसके अनुसार वह अपने आराम (Rest) या सम सरल रेखात्मक गति में बने रहने का प्रयत्न करता है, जड़ता कहलाता है।

बल—जड़ता को जीतने के लिए अर्थात् एक स्थिर वस्तु को गतिशील करने के लिए अथवा एक समगति से चलती हुई वस्तु को तीव्र चलाने के लिए या मन्द चलाने के लिए अथवा रोकने के लिए या उसकी दिशा बदलने के लिए बाह्य शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जितनी जड़ता जीती जाती है इसका माप वह बल है जो कि बाह्य वस्तु

उस वस्तु पर लगाती है। इसको उस वस्तु की मात्रा (जिसकी जड़ता जीती जाती है) और प्रवेश-परिवर्तन-वृद्धि (Rate of change of-velocity) के गुणनफल से दर्शाते हैं।

यदि किसी १ ग्राम मात्रा के कण पर एक बल इस प्रकार कार्य करता है कि वह स्थिर स्थिति से एक सें० मी० प्रति सेकिन्ड वेग एक सेकिन्ड मे पैदा कर लेता है तो उस बल को डाइन (Dyne) के नाम से पुकारते हैं।

पृथ्वी बल—पृथ्वी अपनी सतह अथवा बाहरवाली सब वस्तुओं पर एक बल डालती है। उनको अपने केन्द्र की ओर खींचती है। यही कारण है कि एक पत्थर का टुकड़ा डोरी से बँधा हुआ उदग्राधोमुख (Vertically downwards) अवस्था मे ही रहता है। यदि डोरी को काट देते हैं तो पत्थर पृथ्वी पर उदग्राधोमुख दिशा मे गिर पड़ता है। उसका वेग ६८० से० मी० प्रति सेकिन्ड की दर से बढ़ता है। इस पत्थर पर जो गुरुत्वाकर्षण बल काम करता है वह पृथ्वी बल के कारण होता है। जब पत्थर किसी बल के कार्य के कारण चलता है तो ऐसा कहा जाता है कि कार्य किया गया है। पत्थर के कुछ दूरी तक उतरने पर जो काम किया जावेगा वह बल के और दूरी के गुणनफल से नापा जायेगा। जिस समय पत्थर डोरी से बँधा हुआ था वह स्थिर और आराम की स्थिति में था लेकिन उसमे कार्य करने की क्षमता थी क्योंकि वह पृथ्वी से ऊँची जगह पर स्थित था। जिस समय डोरी कट गई तो पत्थर को काम करने का अवसर मिला। क्योंकि इस समय वह नीचे आकर अपनी स्थिति बदलने में स्वतन्त्र था। स्थिति के कारण जो काम करने की क्षमता होती है उसको अधिष्ठान रूप (Potential form) की शक्ति कहते हैं।

जब कोई वस्तु बिना किसी रुकावट के चलती है तो उसमे चाल के कारण शक्ति होती है। इस शक्ति को गति शक्ति (Kinetic energy) कहते हैं, यह शक्ति अधिष्ठान शक्ति से ही प्राप्त होती है।

इस प्रकार काम एक तरह की शक्ति मे परिवर्तित हो जाता है।

जूल—गुरुत्वाकर्षण शक्ति एक ग्राम भारी वस्तु को उदग्राधोमुख दिशा में चलाने पर उसकी गति को ६८० से० मी० प्रति सेकिन्ड बढ़ाती है। यह बल ६४० डाइन्स (Dynes) का होता है। जब वस्तु इस बल

के द्वारा चलती है तो एक से० मी० दूरी चलने पर ऐसा कहा जाता है कि ६८० अर्ग (Ergs) काम हुआ। यदि ५ ग्राम की एक वस्तु गुरुत्वाकर्षण शक्ति के द्वारा ७५ से० मी० की दूरी से गिरती है तो ५×६८०×७५=१०२५०० अर्ग (Ergs) काम किया जावेगा। काम की एक बड़ी इकाई जूल है जो कि करोड़ लाख अर्ग के बराबर होती है।

सामर्थ्य-बल (Power)—एक महत्त्वपूर्ण भौतिक राशि सामर्थ्य बल (Power) है। इससे हम समझते हैं कि काम किस क्रम (Rate) से किया जा रहा है। मैट्रिक प्रणाली में इकाई वाट (Watt) है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है—जब काम का क्रम एक जूल प्रति सेकन्ड होता है तो ऐसे सामर्थ्य बल को वाट कहते हैं। इस प्रकार यदि एक किलोग्राम भारी एक वस्तु एक से० मी० प्रति सेकेन्ड के क्रम से उठाई जावे तो ऐसे सामर्थ्य-बल ·०९८ वाट अथवा १/१० वाट व्यय होगा। १००० वाट को एक बड़ी इकाई के रूप में मानने में सुविधा रहती है इस इकाई को किलोवाट कहते हैं। ब्रिटिश पद्धति में सामर्थ्य बल की इकाई हॉर्स पावर (Horse Power) है। एक हॉर्स पावर में ७४६ वाट होते हैं।

सामर्थ्य बल से हम बहुत आसानी से काम की इकाई जमा सकते हैं। किलोवाट आवर (Kilowatt Hour) काम की इकाई है। यह उस शक्ति को दर्शाती है जो एक किलोवाट सामर्थ्य-बलवाला अभिकर्ता एक घन्टे तक काम करने में व्यय करता है। इस इकाई से हम सब बिजली के बिलों के रूप में भली भाँति परिचित हैं। एक बिजली का ५० वाट का बल्ब २० घन्टे में एक किलोवाट आवर बिजली खर्च करेगा। साधारण बिजलीघर सैकड़ों किलोवाट से लेकर हजारों लाखों किलोवाट बिजली बनाते हैं।

शक्ति-स्थिरता (Conservation of energy)—जब एक पत्थर विश्राम की स्थिति से चलना आरम्भ करता है तो उसकी गति बढ़ती जाती है। उसकी अधिष्ठान शक्ति गति शक्ति में बदल जाती है। जब एक हथौड़ा निहाई (Anvil) पर पड़ता है तो हथौड़ा विश्राम की अवस्था से चलता है। उस समय उसके अन्दर कुछ अधिष्ठान शक्ति होती है। जिस समय वह निहाई पर चोट करता है तो उसमें गति

शक्ति होती है जिस समय निहाई द्वारा वह फिर विश्राम की हालत में आ जाता है तो वह शक्ति गर्मी के रूप में प्रकट होती है।

यह दृष्टान्त उस व्यापक सिद्धान्त को दर्शाता है जिसे हम शक्ति-स्थिरता (Conservation of Energy) के नाम से पुकारते हैं।

किसी भी प्रणाली में जिसके साथ छेड़-छाड़ नहीं की जाती एक-सी ही शक्ति बनी रहती है। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि शक्ति उस प्रकार की बनी रहे, कभी-कभी एक प्रकार की शक्ति दूसरी प्रकार की शक्ति में बदल जाती है। हथौड़ेवाले दृष्टान्त में शक्ति गर्मी के रूप में प्रकट होती है। वास्तव में ध्यानपूर्वक नापने पर हम इस निर्णय पर पहुँचेंगे कि गर्मी अर्ग (Erg) के अनुपात में ही बनती है। प्रयोगों द्वारा ज्ञात किया गया है कि एक क्लोरी गर्मी के लिए ४२० अर्ग शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति के विभिन्न रूप ये हैं--अधिष्ठान शक्ति, गति शक्ति, गर्मी, प्रकाश विद्युत्, चुम्बकत्व, रासायनिक और ध्वनि। अब हम शक्ति के परिवर्त्तन के महत्वपूर्ण प्रयोग मय उनके लाभदायक उपयोगों के बतलावेंगे।

शक्ति का परिवर्तन

गर्मी से यांत्रिक कार्य (Heat to Mechanical Work)—इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रमुख इंजन का सिद्धान्त है। इनको गर्मी के इंजन कहते हैं। गर्मी के इंजन का सिद्धान्त सबसे प्रथम बार

न्यूकोमैन ने स्पष्ट रूप से समझा था। मान लो पानी एक बेलनाकार बर्तन में जिसमें एक मूसली (Piston) P लगी हुई है, उबाला जावे।

भाप के दबाव के कारण मूसली ऊपर उठेगी और इस प्रकार उससे लगे हुए छड़ R आधार बिन्दु (Fulcrum) F पर घुमा सकेगी। इसके कारण
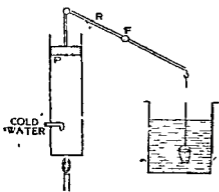
उसके कोने पर जो भार लगा हुआ है वह नीचे आ जावेगा। अब यदि वेलनाकार बर्तन में ठंडा पानी छोड़ा जायेगा तो कुछ भाप पानी के रूप में बदल जायेगी और जिसके फलस्वरूप मूसली नीचे आ जायेगी। इसका परिणाम यह होगा कि छड़ के अन्त में लगा हुआ भार ऊपर उठ जावेगा। इन क्रियाओं को बार बार करने से छड़ का अन्तिम भाग ऊपर जायेग और नीचे आयेगा। अब यदि भार को बाल्टी की शक्ल दे दी जाती है तो इस यंत्र के द्वारा कुएँ से पानी निकाला जा सकता है। यह काम करने का यंत्र त्रुतिपूर्ण सिद्ध हुआ।

उपरोक्त यंत्र में जेम्स वाट और जार्ज स्टीफेन्सन ने कुछ मौलिक सुधार किये और उसको वर्तमान भाप के इंजन का रूप दिया।

दबाव देकर भाप बनाई जाती है और प्रकोष्ठ C में ले जाई जाती है। यहाँ यह एक वेलन R में छोटे छिद्र B द्वारा गुजरती है। भाप का दबाव मूसली P को दाईं ओर दबाता है। मूसली एक वाल्व V से ईषा (Shafts) द्वारा सम्बन्धित रहती है जो कि अब विपरीत दिशा में चलता है। इससे छिद्र B बन्द हो जाता है और दूसरा छिद्र D जो पहले बन्द था अब खुल जाता है। फिर भाप विपरीत दिशा में जोर डालती है जिसके फलस्वरूप इस बार छिद्र B खुल जाता है और छिद्र D बन्द हो जाता है। यह क्रिया बार-बार होती रहती है और मूसली आगे पीछे चलती है।
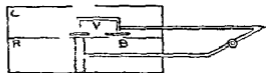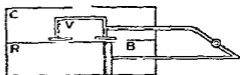
मूसली का बाहर का भाग एक भारी चक्के से जोड़ दिया जाता है। इसको चक्के के ऐसे बिन्दु से जोड़ते हैं जो चक्के के केन्द्र से अधिक से अधिक दूर हो। जैसे-जैसे मूसली इधर उधर घूमती है चक्का भी घूमता है। चक्का आवेग (Momentum) के भंडार का काम करता है। इस प्रकार जब चक्के को एक बार चला देते हैं तो यह चलता ही रहता है।

रासायनिक शक्ति से यांत्रिक शक्ति (Chemical to Mechanical Energy)—वैज्ञानिक क्षेत्र में यह एक बड़ी भारी क्रान्ति हुई। इसमें ज्वलनशील वस्तुओं के दहन से यांत्रिक शक्ति पैदा की गई। सिद्धान्त के रूप में ऐसे इंजन का सैदीकारनौट (Sadi Carnot) (१७६६-१८३२) ने पूरी तरह बखान किया। प्रथम काम लायक आन्तर दहन इंजन का आविष्कार ओटो (Otto) (१८३२-१८६१) ने किया।

इस यन्त्र में एक वेलन के अन्दर मूसली लगी हुई होती है और उपयुक्त स्थानों पर खुलने और बन्द होनेवाले वाल्व होते हैं। मूसली चक्के से सम्बन्धित होती है।
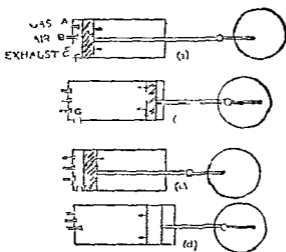
चक्के के चलने से मूसली आगे-पीछे दौड़ती है। जब यह पहली स्थिति में होती है तो सारे वाल्व बन्द होते हैं। जब मूसली आगे आ जाती है तो वाल्व A और B खुल जाते हैं (चत्र a) जिससे ज्वलनशील गैस (Coal gas or Steam of Petrol) वेलन के अन्दर आ जाती है। जब मूसली आगे आ जाती है (चित्र b) और फैलाव सबसे अधिक होता है तो स्थान G के पास बिजली का स्फुलिंग (Spark) पैदा किया जाता है। इससे दबाव काफी बढ जाता है और मूसली आगे की ओर बढ़ जाती है (चित्र c) चक्के की जड़ता के फलस्वरूप यह मूसली

फिर वापिस आती है और वाल्व C खुलकर जली हुई गैस को बाहर जाने का रास्ता छोड़ देता है (चित्र D)।

एक आघात के बाद वाल्व B फिर बन्द हो जाता है वाल्व A और B खुलते और बन्द होते रहते हैं जैसे मूसली आगे पीछे चलती है। यह क्रम निरन्तर जारी रहता है, शक्ति बार बार के विस्फोटन से प्राप्त होती है। मूसली के चलने के कारण चक्के चालू रहते हैं। इस गति से मोटरकार चल सकती है अथवा एक स्थिर इंजन चालू हो जाता है।

ओटो ने बैन्ज को साझेदारी में पहली मोटर सड़क पर चालू की। यही बाद में परिवर्तित रूप में मरसी-डैस-बैन्ज कार के रूप में विख्यात हुई।

हवाई जहाज—पैट्रोल इंजन को हवाई जहाज में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। हवा में भारी-भारी जहाजों के उड़ने का सिद्धान्त निम्नलिखित साधारण प्रयोग से समझ में आ सकता है। एक समतल पृष्ठ के A को एक हवा की धारा C के सामने रखने पर हम देखते हैं उस पर दबाव बढ़ जाता है।

A के पीछे की ओर दबाव कम हो जायेगा जिसके कारण उसमें खींचने की शक्ति पैदा हो जायेगी। हवा की धारा समतल पृष्ठ के पास से निकलकर उसके पीछे तीव्र गति पैदा कर देगी। इस तीव्र गति का परिणाम यह होता है कि कुछ लाभदायक शक्ति नष्ट हो जायेगी। इसके लिए इससे बचना आवश्यक है। इसके लिए पृष्ठ की आकृति बदलना आवश्यक है। यदि समतल के बजाय आकृति गोलाकार कर दी जायेगी तो यह हानि कम से कम होगी।

प्रयोग द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि गोलाकार आकृति में भी यदि निम्नलिखित आकृति को अपनाया जाये तो हानि कम से कम होगी।

हवा की धारा जिस समय इसके ऊपर दबाव डालती है तो इसका किनारा चपटा होने के कारण गति में तीव्रता पैदा नहीं होती।
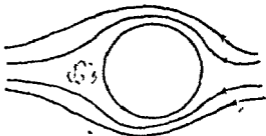
नीचे का चित्र ऊपर के चित्र के मुकाबिले में कुछ कम मुड़ा हुआ होता है और हवा की धारा उस पर एक न्यून कोण बनाती हुई गिरती है। इसके फलस्वरूप नीचे की तरफ दबाव अधिक हो जाता है और ऊपर की ओर दबाव में कमी हो जाती है, जिससे एक बल (Force) उत्पन्न होता है जिसको कि हम दो भागों में बांट सकते हैं। एक क्षितिज (Horizon-tal) भाग D और दूसरा ऊर्ध्वधर (Verti-cal) भाग L। इस ऊर्ध्वधर
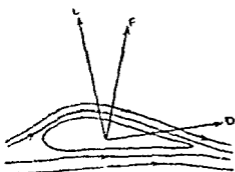
बलांश के अन्दर जहाज को ऊपर उठाने की शक्ति होती है। जितना यह बलांश अधिक होगा उतना ही भारी जहाज मुसाफिर और सामान के साथ उठाया जा सकेगा। कुछ अधिक सामर्थ्य बलांश D को जीतने के लिए भी चाहिए। यह शक्ति इंजन द्वारा बड़ी बड़ी पंखड़ियों

के घुमाने से प्राप्त की जाती है। इन पंखडियों का काम आगे से हवा खींचकर पीछे की ओर फेंकना है। जहाज के पृथ्वी से हवा में उड़ते समय आरम्भ में इन पंखों को बहुत तेजी से चलाने की आवश्यकता होती है जिससे बलाश D का प्रभाव बिल्कुल नष्ट हो जावे और बलाश L के प्रभाव से हवाई जहाज ऊपर उठता चला जावे।

रासायनिक शक्ति से विद्युत्-शक्ति (Chemical to Electrical energy —साधारण विद्युत् सेल (Cells) जैसा कि टार्च में काम में आता है और दूसरा ग्राही सेल (Accumulation cells) रासायनिक शक्ति को विद्युत् शक्ति में बदलने के सबसे सरल उपाय हैं।

लीक्लान (Leclanche) सेल (Cell) में नौसादर और जिंक में जो प्रतिक्रिया होती है उसी के कारण विद्युत शक्ति उत्पन्न होती है।

एक सीसे का ग्राही सेल (Lead accumulator) में सीसे के प्लेटों को लेड सल्फेट से आवृत करके एक हल्के गंधक के तेजाब के घोल में रखते हैं। एक उपयुक्त विद्युत् उद्गम से विद्युत् धारा एक प्लेट से दूसरी प्लेट में प्रवेश कराई जाती है। एक प्लेट पर ऑक्सीजन गैस निकलती है और दूसरी पर हाइड्रोजन गैस। ऑक्सीजन गैस लेड सल्फेट को लेड ऑक्साइड में बदल देती है। हाइड्रोजन गैस दूसरी प्लेट पर सल्फेट को सीसे में बदल देती है। ग्राही सेल को ऐसी अवस्था में विद्युन्मय हुआ कहा जाता है। इस अवस्था में ग्राही सेल एक साधारण सेल का काम देती है—लेड ऑक्साइड वाली प्लेट धनात्मक ध्रुव का काम करती है और सीसेवाली प्लेट ऋणात्मक ध्रुव का।
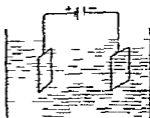
दोनों प्लेटों को एक धातु के तार से जोड़ने पर धनात्मक प्लेट से ऋणात्मक प्लेट की ओर विद्युत का प्रवाह आरम्भ हो जाता है। इस प्रवाह का परिणाम यह होता है कि सेल धीरे धीरे विद्युन्मोचन

(Electrically discharged) हो जाता है। रासायनिक दृष्टिकोण से ऐसा कहा जा सकता है कि एक विपरीत क्रिया होती रहती है जिससे लेड आक्साइड, लेड सल्फेट में बदल जाता है और सीसा लेड सल्फेट में। इस प्रकार प्रारम्भिक अवस्था फिर पैदा हो जाती है और सेल को फिर विद्युन्मय किया जा सकता है।

ऐसा ग्राही सेल मोटरकारों में रोशनी के लिए तथा मोटर एञ्जिन में स्फुलिंग (Spark) पैदा करने के लिए काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त सवारी रेल गाड़ियों में भी रोशनी के लिए इनको प्रयोग में लाया जाता है।

विद्युत् शक्ति से गर्मी और प्रकाश (Electric Energy to heat and light)— जब विद्युत् धारा एक धातु के तार में से जाती है तो यह तार गर्म हो जाता है। विद्युत् के प्रवाह में वह तार जितनी अधिक रुकावट डालता है उतनी ही अधिक गर्मी पैदा होती है। तार जितना लम्बा और अधिक पतला होता है वह उतनी ही अधिक रुकावट की मात्रा भिन्न भिन्न पाई जाती है। चाँदी में यह सबसे कम होती है और ताँबे में उससे कुछ अधिक। यदि गर्मी बहुत उत्पन्न होती है तो तार अंगारे की तरह चमकने लगता है और अधिक गर्मी उत्पन्न होने पर यह चमक और तेज हो जाती है जिसके फलस्वरूप यह चमक लाल से पीली हो जाती है और पीली से नीली हो जाती है और अन्त में नीली से सफेद हो जाती है। इस उच्चतापक्रम पर तार को धातु आक्साइड के रूप में परिणित होने लगती है अथवा वह तार जलने लगता है। इससे बचने के लिए बिजली के बल्वों में बारीक तार जो कि अधिकतर टगस्टन धातु का बना होता है, एक हवा निकाले हुए काँच के बल्व में रक्खा जाता है अथवा इससे भी अच्छा यह माना जाता है कि उसके चारों ओर नाइट्रोजन या आरगन जैसी अक्रिय गैसें भर दी जाती हैं। इसका लाभ यह होता है कि तार जलने नहीं पाता। टगस्टन धातु को इसलिए अच्छा समझा जाता है कि उसका द्रवणांक बहुत ऊँचा है और वह चमकते हुए तार के ऊँचे ताप को सह सकता है।

इस प्रकार इस तार की युक्ति से विद्युत् शक्ति को गर्मी और प्रकाश में परिणित किया जा सकता है।

विद्युताणु शक्ति से विकिरण शक्ति (Electronic into Radiantenergy)—चित्र में एक ऐसी युक्ति बतलाई है जिसमें वायु-शून्य काँच की नली T में एक तार का टुकड़ा F लगा हुआ है। सेल मजूर B से विद्युत संचार करने पर यह तार चमकने लगता है। इस प्रकार इस तार में से विद्युताणु निकलने लगते हैं। नली के अन्दर धातु का एक अन्य विद्युद्द्वार (Electrode) A लगा दिया जाता है। A और F के बीच में उच्चतम अधिष्ठान अन्तर पैदा किया जाता है। A और F को एक हाई टेनशन यंत्र से जोड़कर किया जाता है।
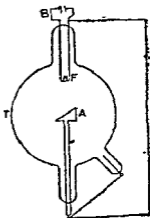
यदि विद्युद्द्वार A तार F के अनुपात में घनात्मक अनुष्ठान पर है तो F में से निकलेहुए विद्युत्-कण A की ओर आकर्षित होंगे। A और F में जितनी अधिक अनुष्ठान शक्ति अन्तर (Electrical Potential Difference) होगी उतनी ही तीव्र गति से विद्युताणु F से निकलकर A पर टकरायेंगे।

A से टकराने पर विद्युताणु स्थिर हो जायेंगे। ऐसा ज्ञात हुआ है कि ऐसी अवस्था में विद्युन्-द्वार A बहुत ही अन्तःप्रवेशी विकिरणों का उद्गम स्थान बन जाता है। विद्युताणुओं की गुप्त शक्ति विकिरण शक्ति में बदल जाती है। साधारणतया यह विकिरण प्रकाश से मिलता-जुलता होता है। प्रकाश की भाँति बिना किसी कठिनाई के इसका परावर्त्तन और वर्त्तन होता है। इसके अतिरिक्त इसमें मोटी-मोटी वस्तुओं के अन्दर अन्त प्रवेश करने की शक्ति भी होती है।

एक्सरे (X-Ray)—इस अन्त प्रवेशी विकिरण का पता सबसे पहले विज्ञानवेत्ता रोंजन ने लगाया था और उसी ने सन् १८९५ ई० में इसका नामकरण एक्सरे किया। लेकिन कभी-कभी इनको रोंजन रे के . से भी पुकारते हैं।
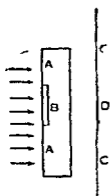
एक्सरे में भिन्न भिन्न वस्तुओं में प्रवेश करने की शक्ति भिन्न भिन्न पाई जाती है। इस गुण के कारण बहुत सी वस्तुओं की अन्तर परीक्षा के लिए एक्सरे का प्रयोग होता है। हमारे शरीर के अन्दर की परीक्षा के लिए भी इसको काम मे लाते हैं। एक्सरे के अन्दर एक दूसरा गुण यह है कि फोटोग्राफी की प्लेट पर भी इसका प्रभाव पड़ता है। इसलिए फोटो द्वारा एक्सरे के पथ को बहुत सरलता से पहिचाना जा सकता है। चित्र मे देखोगे कि एक हल्की वस्तु A मे से एक्सरे गुजरती है और उसका प्रतिबिम्ब C C फोटो की प्लेट P पर पड़ता है हल्की वस्तु के अलावा एक्सरे एक वस्तु B मे से भी गुजरती है जिसका प्रतिबिम्ब फोटोग्राफी प्लेट पर D के रूप मे दिखलाई पड़ती है। जब मनुष्य शरीर पर एक्सरे डाली जाती है तो A के स्थान पर हमारा मास होता है और B के स्थान पर हमारे शरीर के अन्दर स्थित हड्डियाँ।

गामा रेज़ (Camma Rays)—अधिकाश रेडियमधर्मी वस्तुए गामा रेज छोड़ती हैं जिनके गुण एक्सरेज के समान ही होते हैं। एक्सरेज, गामा रेज, आल्फा कण और बीटा कण इन सब में एक विशेष गुण होता है, वह है जीवित कोषों को नष्ट करने का, मात्रा के अनुसार ये छोटे या बड़े कोषों को नष्ट कर सकते हैं।

कैन्सर (Cancer)—आधुनिक आविष्कार इस दिशा मे भी किये गये हैं कि कैन्सर रोग मे जो हानिकारक कोष शरीर में बढ़ने लगते हैं उनको रेडियमधर्मी वस्तुओं से निकली हुई किरणों द्वारा नष्ट कर दिया जावे और आगे की बढ़ोत्तरी को रोक दिया जावे। लेकिन अभी तक कोई अचूक इलाज नहीं बन पाया है। जिसका कारण यह है कोई ऐसा उपाय नहीं निकला है जिससे आस-पास के स्वस्थ कोषों को हानि से बचाकर केवल गन्दे कोषों को ही नष्ट किया जा सके।

द्रव्य से शक्ति (Matter into Energy)—विज्ञानवेत्ता आईंसटन ने सन् १९०५ में एक विचित्र सिद्धान्त सापेक्षावाद के बारे मे

संसार के सामने रखा। इसका मूल सिद्धान्त यह था कि द्रव्य को शक्ति में बदला जा सकता है और शक्ति को द्रव्य में बदला जा सकता है। इससे द्रव्य को शक्ति की समकक्षता प्राप्त हो गई और शक्ति के भिन्न रूपों में द्रव्य की गणना होने लगी। आईंसटन ने द्रव्य और शक्ति के सम्बन्ध को निम्नलिखित समीकरण से घोषित किया —

$$E=mC^2$$

इसमें M द्रव्य की मात्रा है जिसको ग्राम में नापा गया है, E अर्ग इकाई में नापी हुई शक्ति है और C प्रकाश की गति के बराबर एक अचल संख्या है—C का मान ३×१०¹⁰ है। एक ग्राम द्रव्य ६००००० हजार अर्ग शक्ति के बराबर होगा। यह एक हजार किलोवाट के एंजिन को लगातार ३४ महीनों तक चला सकता है। इससे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि जो द्रव्य हमारे चारों ओर फैला हुआ है उसमें अपरिमित शक्ति विद्यमान है।

तत्वों के स्थानीय रूपों की मात्रा (Mass of the isotopes of elements)—आईंसटन सिद्धांत का एक व्यावहारिक उपयोग यह हुआ कि इसके द्वारा शुद्ध तत्त्वों के समस्थानीय रूपों की मात्रा ज्ञात की गई। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है हिलीयम केन्द्र की मात्रा ४·००३८८ है और उसके प्राणु की मात्रा १·००८१३ है। प्राउट के सिद्धान्त के अनुसार हीलियम केन्द्र में दो प्राणु और दो क्लीवाणु होने चाहिये। लेकिन ४×१·००८१३=४·०३२५०, इस प्रकार यह ४·००३८८ से अधिक है। इस अन्तर का कारण खोज निकालना आवश्यक था। अब इसको इस प्रकार समझाया जाता है कि यह उस शक्ति के समकक्ष है जिसकी आवश्यकता चारों केन्द्रीय कणों को एकत्र करने में पड़ती है। दूसरे शब्दों में इसको इस प्रकार कह सकते हैं कि चार ग्राम हिलियम में जो गुप्त शक्ति विद्यमान है वह ·००६४ ग्राम के समकक्ष होगी। यह शक्ति १५०००० किलोवाट घंटों के बराबर होती है। चार ग्राम हिलियम को दो ग्राम प्राणु और दो ग्राम क्लीवाणु में बदलने के लिए इस शक्ति की आवश्यकता पड़ती है, इसके विपरीत यदि दो ग्राम प्राणु और दो ग्राम क्लीवाणु एक साथ मिलाये जायँ तो चार ग्राम हिलीयम प्राप्त होगा और उसके साथ १,५०,००० किलोवाट शक्ति भी।

बहुत तीव्रगामी कण जैसे भाणु, विद्युताणु द्वितारणु आदि के बनाने के लिए मशीनों के प्रोग के सिलसिले में परिमाणु केन्द्र की कितनी ही विचित्र प्रतिक्रियाएँ दृष्टिगोचर हुई ।

केन्द्रीय कण को उसकी परिमाणु सख्या से दर्शा सकते हैं। यह सख्या उसके इलक्ट्रोनिक इकाई मे धनात्मक विद्युत मात्रा के बराबर होगी और उसके भार के बराबर भी। जैसे $Li^{७}_{३}$ से यह तात्पर्य है कि यह भार ७ का लिथियम का समस्थानीय तत्त्व है जिसकी परमाणु सख्या तीन है।

$$Li^{७}_{३} + H^{१}_{१} = २He^{४}_{२}$$
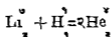
इसका अर्थ यह हुआ कि लिथियम का एक केन्द्रीय कण एक भाणु से मिलता है और फलस्वरूप दो हिलियम केन्द्रीय कण (अथवा आल्फाकण) प्राप्त होते हैं।

$$Al^{२७}_{१३} + He^{४}_{२} = P^{३०}_{१५} + n^{१}_{०}$$
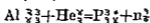
एक अल्यूमिनियम केन्द्रीय कण एक अल्फा कण के सम्पर्क मे आता है और फलस्वरूप एक फास्फोरस केन्द्रीय-कण जिसका भार ३० है और परमाणु सख्या १५ है, इसके साथ ही एक क्लीवाणु जिसका भार १ होता है, और केन्द्रीय विद्युत (Nulcear charge) शून्य होता है, प्राप्त होता है।

$$P^{३०}_{१५} = Si^{३०}_{१४} + e^{t}$$
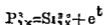
यह फास्फोरस केन्द्रीय कण टूट जाता है—इसमे से एक धनाणु (Positron) निकल जाता है और सिलिकन केन्द्रीय कण जिसका भार ३० है और परमाणु सख्या १४ है।

इस प्रकार फास्फोरस समस्थानीय तत्त्व $P^{३०}_{१५}$ रेडियम धर्मी है। इसका आधा जीवनकाल २.५५ मिनट होता है। इसी प्रकार कई साधारण तत्त्वों के समस्थानीय रेडियमधर्मी तत्त्व ज्ञात किये जा सके हैं, ये कितनी ही प्रकार से लाभदायक सिद्ध हुए हैं। ऐसे प्रत्येक उदाहरण मे अन्त के कणों मे से एक प्रकाश-कण अवश्य होता है जैसे ऊपर के उदाहरणों में क्लीवाणु और धनाणु थे।

यूरेनियम (Uranium)—यूरेनियम उन कतिपय तत्त्वों में से है जिन पर इस दिशा में बहुत परीक्षण किए गये। ये परीक्षण अति गमनशील और बहुत कम गमनशील क्लीवाणुओं की प्रतिक्रिया के साथ किए गये। भिन्न-भिन्न विज्ञानवेत्ताओं के फल एक दूसरे से विरोधी और जटिल प्राप्त हुए। इन सबसे यह प्रत्यक्ष हो गया कि यह प्रतिक्रिया बहुत ही सारभूत है। इन परीक्षणों के फलस्वरूप बेरियम का एक समस्थानीय तत्त्व $Ba^{१३९}_{५६}$ ज्ञात हुआ। पहले परीक्षणों के विपरीत यह ज्ञात हुआ कि रेडियम धर्मी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बननेवाला एक कण ऐसा भी था जिसका भार मूल कण का केवल भिन्न मात्र था। मूल कण $U^{२३८}_{९२}$ था और प्राप्त होनेवाले कण का भार लगभग १०० था। यह अल्यूमिनियम और फास्फोरस की प्रतिक्रियाओं से बिलकुल भिन्न था क्योंकि उनमें भार लगभग वही रहता था। इस विभिन्न प्रकृति के कारण यूरेनियम का प्रविदारण (Disruption) एक अन्य नाम से ही पुकारा जाता है जिसको विखंडन (Fission) कह सकते हैं। दो प्रधान तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ हल्के कण भी विखंडन में निकलते हैं, विशेष करके क्लीवाणु।

कल्पना करो कि यूरेनियम की कुछ मात्रा हमारे पास है। इसमें कुछ क्लीवाणु छोड़ दिये जाते हैं मान लो कि एक क्लीवाणु एक यूरेनियम केन्द्रीय कण का विखंडन करने के काम में आता है और विखंडन के फलस्वरूप दो क्लीवाणु निकलते हैं। ये दो क्लीवाणु दो अन्य यूरेनियम केन्द्री कणों का विखंडन कर डालेंगे जिनमें चार क्लीवाणु निकलेंगे। ये यूरेनियम के सोलह केन्द्रीय कणों का विखंडन कर डालेंगे जिससे ३२ क्लीवाणु निकलेंगे। इस प्रकार यह क्रम उस समय तक जारी रहेगा जब तक कि सारे यूरेनियम का विखंडन न हो जाय। इसमें जो कुल समय लगेगा वह प्रत्येक विखंडन के समय पर निर्भर होगा।

व्यवहार में हम ऐसा देखते हैं कि इन प्रतिक्रियाओं का सिलसिला बहुत दूर तक नहीं चलता, हम आरम्भ में चाहे
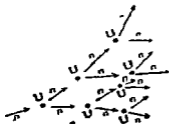
जितने अधिक क्लीवाणु यूरेनियम के साथ रख दें। इसका कारण यह था कि यूरेनियम के अन्दर तीन समस्थानीय तत्त्व थे—भार २३८ (९९·२८%), भार) २३५ (०·७१%) और भार २३४ (०·००६%)। इनमें जो अन्तिम समस्थानीय तत्त्व है वह किसी महत्त्व का नहीं है दूसरे दो अपने व्यवहार में बिलकुल भिन्न हैं। यूरेनियम (२३५) के ऊपर मन्थर गतिवाले क्लीवाणुओं का ही प्रभाव पड़ता है। विखंडन में केवल उन्हीं तीव्रगामी क्लीवाणुओं का ही प्रभाव पड़ता है जिनकी गति निश्चित गति के बराबर होती है।

यूरेनियम (२३५) के विखंडन के फलस्वरूप जो क्लीवाणु निकलते हैं वे सब तीव्रगामी होते हैं इसलिए यूरेनियम (२३८) के केन्द्रीय कण उनको पकड़ लेते हैं। इसलिए प्रतिक्रिया के सिलसिले को जारी रखने के लिए यूरेनियम (२३८) के केन्द्रीय कणों को हटाना आवश्यक है। साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि यह बहुत कठिन है क्योंकि यूरेनियम के ये दोनों समस्थानीय तत्त्व एक ही से रासायनिक गुणवाले हैं। रासायनिक क्रियाओं द्वारा उनका पृथक् करना सम्भव नहीं क्योंकि प्रत्येक रासायनिक क्रिया पर उन दोनों की प्रतिक्रिया एक सी ही होती है। मान लो हम ऐसा पृथक्करण भी कर लें तो दूसरी आवश्यक बात यह होगी कि विखंडन के फलस्वरूप जो क्लीवाणु निकलें उनकी गति कम कर दी जाय ताकि यूरेनियम (२३५) के केन्द्रीय कणों का विखंडन सम्भव हो सके। समस्थानीय तत्त्वों को भौतिक उपायों से अलग-अलग करना सम्भव हो सका है। इस समय केवल यूरेनियम (२३५) काफी मात्रा में प्राप्त हो सकता है। यूरेनियम (२३५) के टुकड़े विशुद्ध ग्रेफाइट या बैरेलियम धातु या पानी जिसमें से साधारण हाइड्रोजन के स्थान पर भारी हाइड्रोजन बदल दिया गया हो, में रखे जाते हैं। इससे यह लाभ होता है कि क्लीवाणुओं की गति मन्द पड़ जाती है। ग्रेफाइड सबसे उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

एटम बाम्ब (Atom Bomb)—यदि यूरेनियम (२३५) और गति अवरोधक ग्रेफाइट को उचित प्रकार से और उचित मात्रा में रखा जाय तो प्रतिक्रिया का सिलसिला बहुत लम्बा चलेगा जिसके फलस्वरूप बहुत ही कम समय में बहुत ही अधिक शक्ति का मोचन (Release)

होगा। विस्फोट के लिए यह बहुत ही उपयुक्त होता है इसलिए एटम बाम्ब बनाने की दिशा में यह पहला कदम था।

यदि यूरेनियम (२३८) को न हटाया जाय तो विघटन के कार्य में बाधा पड़ेगी जिससे समुचित मात्रा में शक्ति का मोचन नहीं हो पायेगा लेकिन इस मिलावट के होने पर भी धीरे-धीरे सतत् रूप में शक्ति अवश्य मिल सकती है। सन् १६४२ में U.S A में पहला रीएक्टर बनाया गया जिसके अन्दर ग्रेफाइट ईंटों की तरह के बीच में यूरेनियम के टुकड़े रखे गये। इस यूरेनियम का भार लगभग १२४०० पौंड था। ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि यदि क्लीवाणुओं की मात्रा बढ़ जाय तो कैडमियम धातु की दंड और प्लेट में घुमाकर क्लीवाणुओं की संख्या कम कर दी जाय। क्योंकि कैडमियम धातु क्लीवाणुओं का बहुत तीव्र गति से शोषण करती है। फिर इसमें कुछ और सुधार किये गये जिनके द्वारा शक्ति का मोचन कैडमियम प्लेटों की स्थिति में थोड़ा-बहुत हेर-फेर करके पूर्णतया संचालित किया जा सकता था।
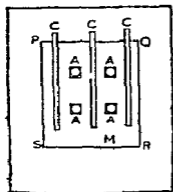
इससे स्पष्ट है कि प्रतिक्रिया किस प्रकार चलती है, अवरोधक जो कि ग्रेफाइट अथवा भारी पानी का होता है। किस प्रकार काम करता है एक अन्य नवीन यन्त्र चित्र में दिया है, इसमें AA ऐसे पथ हैं जिनमें ठंड पहुँचानेवाली वस्तुएँ चक्कर लगाती हैं। ठंड पहुँचाने के लिए हवा या पानी या पिघली हुई धातु से काम लिया जा सकता है। इस पथ में यूरेनियम के छड़ अल्यूमिनियम के ट्यूब के अन्दर रखे हुए होते हैं। यदि क्लीवाणु तीव्र गति से बनने लगते हैं तो कैडमियम छड़ शोषक CC को रखकर उनकी मात्रा को कम किया जा सकता है। इस सारे यन्त्र के चारों ओर सीमेन्ट की भारी दीवारें खड़ी करदी जाती हैं ताकि खतरनाक रेडियमधर्मी विकिरण बाहर

निकल कर हानि नहीं पहुँचायें। यह प्रतिक्रिया एक सम गति से होती रहे ऐसा समुचित प्रबन्ध किया जा सकता है।

इस पहले यन्त्र ने २०० वाट शक्ति पैदा की संसार के विभिन्न भागों में और भी कितने ही ऐसे यन्त्र लगाए गये हैं, कुछ हजारों किलोवाट शक्ति उत्पन्न कर रहे हैं। अब यह एक समस्या है कि इस शक्ति को लाभप्रद यांत्रिक काम में कैसे परिणित किया जावे।

प्लूटोनियम(Plutonium)—क्लीवाणुओं की यूरेनियम (२३८) पर जो प्रतिक्रिया होती है यह एक महत्त्वपूर्ण प्रतिक्रिया है। यह एक नवीन तत्त्व में बदल जाता है जिसकी परमाणु संख्या ९३ और भार २३९ है। इसको प्लूटोनियम के नाम से पुकारते हैं।

$$n \rightarrow U^{238}_{92} = U^{239}_{92}$$

$$U^{239}_{92} \rightarrow e + \text{NEPTUNIUM}\left(Np^{239}_{93}\right)$$

$$Np^{239}_{93} \rightarrow e + \text{PLUTONIUM}\left(Pu^{239}_{94}\right)$$

इसमें एक बड़ा महत्व-पूर्ण गुण यह है कि यह और भी अधिक क्लीवाणुओं की किया से विखंडित हो जाता है। यूरेनियम (२३५) से इसमें अधिक लाभ है क्योंकि यूरेनियम (२३५) से अलग करना एक कठिन समस्या है लेकिन प्लूटोनियम को साधारण रासायनिक विधियों से यूरेनियम से अलग किया जा सकता है।
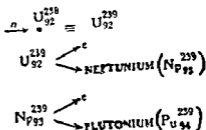
ऊपर लिखे ढेर या रीएक्टर (Reactor) में से प्लूटोनियम अलग किया जाता है। यदि साधारण तत्त्व जैसे धातुएँ ढेर में रख दी जावें तो क्लीवाणुओं की उन पर भी किया होगी और अल्यूमिनियम और फासफोरस के समान वे भी रेडियमधर्मी हो जावेंगी। इस रेडियम धर्मी गुण के कारण उन सब व्यक्तियों को जो इसके आस-पास कार्य करते हैं सदैव ही हानि का भय रहता है, इसलिए इससे बचने के समुचित उपाय काम में लाए जाते हैं।

अधिक शक्तिशाली रीएक्टर—एक अधिक शक्तिशाली रीएक्टर

कार्य करता है—विघटन के साथ-साथ यह प्लूटोनियम तत्त्व को भी पैदा करता है। इस प्रकार एक ओर यूरेनियम (२३५) व्यय होता है और दूसरी ओर प्लूटोनियम बनता जाता है। ऐसे ताप एंजिन सफलतापूर्वक बनाये जा चुके हैं जो यूरेनियम की विघटन शक्ति से चलते हैं, इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण U.S.A. द्वारा बनाये गये मरमेरिन और नौटेलस नाम के अन्य जहाज हैं जो कि परमाणु शक्ति के द्वारा समुद्र के वक्षस्थल को चीरते हुये इधर से उधर भागते फिरते हैं। यदि हम सोच विचार कर विघटन होनेवाले तत्त्वों को हम जमा करें तो कितनी ही शताब्दियों तक इनसे हम शक्ति और बल का काम ले सकते हैं।

थोरियम (Thorium)—थोरियम एक अन्य परमाणु शक्ति देनेवाला तत्त्व है। यह भारतवर्ष में बहुतायत से पाया जाता है। यह भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी तटों पर मोनाज़ाइट रेती के रूप में पाया जाता है। वैज्ञानिक परीक्षण चालू हैं और आशा है कि इस देश में जिसमें कोयले और तेल की बहुत कमी है, ये ट्रावनकोर के मोनाज़ाइट रेत के ढेर एक असीम शक्ति पैदा करने में सहायक होंगे, जिसके सामने भाकरा और अन्य ऐसी योजनाएँ बहुत नन्हीं सी जान पड़ेंगी।

थोरियम का विघटन निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है —

$$Th^{२३२}_{९०} + n \longrightarrow Th^{२३३}_{९०} \longrightarrow Pa^{२३३}_{९१} \longrightarrow U^{२३३}_{९२}$$

इससे स्पष्ट है कि यूरेनियम (२३५) के समान थोरियम (२३२) भी अत्यन्त उपयोगी है।

—

अध्याय १४

भौतिकशास्त्र की सभ्यता को देन

(Contribution of Physics to Civilization)

वर्तमान सभ्यता में भौतिकशास्त्र की भौतिक देन के अनेक रूप हैं। जो कुछ भी पिछले पृष्ठों में कहा गया है वह उस विशाल क्षेत्र का जो भौतिकशास्त्र का कार्यक्षेत्र है एक छोटा सा अंश है। तो भी हम देख चुके हैं कि वर्तमान समय में मानव का कोई भी कार्य ऐसा न होगा जिसमे भौतिकशास्त्र प्रमुख भाग न लेता हो। यह शक्ति उत्पादन के लिए विशेषकर लागू होता है। न्यूकोम और वाट के सरल भाप इंजन से लेकर आजकल के शक्तिशाली दहन इंजिन तक और परमाणु शक्ति जिसकी चारों ओर चर्चा है सब में भौतिकशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का ही हाथ है। वर्तमान सभ्यता का एकमात्र सहारा पर्याप्त सस्ती और सुगमता से प्राप्य शक्ति ही है। शक्ति की प्राप्यता ईंधन के मिलने पर है। इसलिए कल-कारखाने कोयले की खानों और जल-विद्युत् स्थानों के पास ही फैलते हैं। तेल की तलाश और उस पर नियन्त्रण के कारण बड़ी-बड़ी राजनैतिक चालें चलती हैं। यदि परमाणु शक्ति सस्ती बनाई जा सके तो शक्ति का ऐसा उद्‌गम हमारे हाथ आ जावेगा कि हम अनन्त काल तक न प्राप्त कर सकेंगे। दुर्भाग्य से परमाणु-शक्ति की विनाशकारी शक्ति का फौजी महत्त्व बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप इसके सिद्धान्तों के ज्ञान और इसके प्रयोगों पर गोपनीयता की चादर फैल रही है। यदि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना और शान्ति विचारों की संसार में बाहुल्यता हो जाय तो परमाणु शक्ति की उन्नति बहुत शीघ्र होगी। संसार की भिन्न-भिन्न सरकारें इसके परीक्षण पर बहुत धन व्यय करने को तैयार हैं, ऐसा कहना अधिक सत्य होगा कि उनमें एक प्रकार होड़ लगी हुई है कि वह देश इतना व्यय करता है, अच्छा, हम उससे अधिक व्यय करें ताकि और भी अच्छे और शीघ्र परिणाम ज्ञात कर लें।

या तो प्लूटोनियम अथवा ऐसे यूरेनियम से जिसमें २३५ वाला यूरेनियम अधिकांश मात्रा में हो, बनाया जा सकता है। कुछ ही पौंड मसाले से एक अत्यन्त अधिक मात्रा में ऐसी शक्ति उत्पादित की जा सकती है जिस पर पूरा नियन्त्रण रखा जा सके।

अन्य प्रतिक्रियाएँ—यूरेनियम (२३५) के विखंडन के अतिरिक्त कुछ अन्य और भी शक्तिशाली प्रतिक्रियाएँ हैं लेकिन उनको बहुत ही ऊँचे तापक्रम की आवश्यकता पड़ती है—लाखों डिगरी सेंटीग्रेड तापक्रम। ऐसा ऊँचा तापक्रम तारे के अन्दर मिल सकता है लेकिन हमारी जितनी भी अब तक की ज्ञात बिजली की भट्टियाँ हैं या आर्क भट्टियाँ हैं उनमें केवल कुछ हजार सेंटीग्रेड का तापक्रम ही होता है। अब यूरेनियम बाम्ब के विस्फोट से अवश्य इतनी गर्मी पैदा होती है कि वह तारोंवाला ऊँचा तापक्रम आ जाता है। इसको अवश्य ही निम्नलिखित जैसी प्रतिक्रिया के काम में ले सकते हैं।

$$Li^{7} + H = 2He^{4}$$
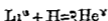
इसमें हाइड्रोजन केन्द्रीय कण में इतनी शक्ति होती है कि वह लीथियम केन्द्रीय कण की क्रिया से दो हीलियम केन्द्रीय कण पैदा करता है।

यूरेनियम (२३५) के एक किलोग्राम का विखडन इतनी शक्ति देता है जितनी कि २५०० टन कोयले से प्राप्त होगी। इसके विपरीत, सात किलोग्राम लीथियम एक किलोग्राम हाइड्रोजन के साथ इतनी शक्ति उत्पन्न करता है जितनी कि ४६००० टन कोयले से प्राप्त होगी।

हाइड्रोजन बाम्ब—एक अन्य प्रतिक्रिया को देखो।

$$H^{2}+H^{2}=H^{1}+H^{3}$$
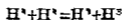
इसमें दो द्वितागु मिलाकर साधारण हाइड्रोजन और ३ भारवाली दुर्लभ समस्थानीय हाइड्रोजन बनाते हैं। शायद यही प्रतिक्रिया हाइड्रोजन बाम्ब बनाने में काम में ली जाती है। प्रारम्भिक प्रतिक्रिया को आरंभ करने के लिए शायद कुछ यूरेनियम (२३५) काम में लाया [illegible] है। इस विखंडन से जो तापक्रम Q बढ़ता है जिससे मुख्य प्रति- [illegible] चालू हो जाती है।

प्रतिक्रिया $H^1+H^1+H+{}^1H^1=He^4$ अभी तक असम्भव ही जान पड़ती है। इसको लाखों सेंटीग्रेड का तापक्रम चाहिए और मोचित शक्ति बहुत अधिक होगी। हो सकता है कि किसी दिन यह भी सम्भव हो सके।

साधारण जनता एटम बाम्ब की विनाशकारी शक्ति से इतनी चकाचौंध हो गई है कि उसके असीम शक्तिवाले गुण को भूल ही गई। रीएक्टर द्वारा गर्मी भी बहुत मात्रा में निकलती है जिसको उपयोगी कार्यों में लगाया जा सकता है जैसे इंजन चलाने के हेतु। इस समस्या को इस पहलू से सोचने पर काफी महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले हैं। हम आसानी से समझ सकते हैं कि इस दिशा का विकास कितना महत्त्वपूर्ण है। यदि हम संसार में प्राप्य शक्ति और बल के साधनों को सरसरी तौर पर देखें तो इस समस्या की गहनता को समझ सकें। संसार में शक्ति और बल के मुख्य साधन तीन हैं—कोयला, तेल और बिजली। संसार कोयले और तेल की बहुत तीव्र गति से काम में ला रहा है। दूसरे शब्दों में हम ऐसा कह सकते हैं कि कोयला और तेल जितना खर्च हो रहा है उतनी मात्रा में बन नहीं रहा। प्रकृति को कोयला बनाने में शताब्दियाँ लग जाती हैं लेकिन यह खर्च बहुत जल्दी हो जाता है। मोटे हिसाब से ऐसा कहा जा सकता है कि U S.A में ३ पद्म टन कोयला है, चीन में १३ पद्म टन और भारत में ६ नील टन। यह सब पृथ्वी की एक हजार फुट गहराई के अन्दर-अन्दर हैं। अब जरा खर्च के आँकड़ों पर भी निगाह डालिए। U S A में कोयले का वार्षिक खर्चा ५० करोड़ टन है। भारतवर्ष में ३६ करोड़ टन और ग्रेट-ब्रिटेन में ७० करोड़ टन है। इतने खर्चे के कारण ग्रेट ब्रिटेन तो प्रायः दिवालिया ही हो गया है। यूरोपीय देशों में भी, विशेषकर फ्रांस, इटली और बेलजियम में कोयले की काफी मात्रा काम में आ चुकी है।

तेल की कहानी भी बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। इसलिए परमाणु-शक्ति इन निरुत्साह के बादलों के अन्दर हिम्मत बँधाती है। एक ग्राम कार्बन के जलने पर ८००० केलोरिज प्राप्त होती है। इसके विपरीत एक ग्राम यूरेनियम (२३५) के विघंडन पर २० अरब केलोरिज निकलती हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, परमाणु रीएक्टर उत्पादन का भी

कार्य करता है-विखंडन के साथ-साथ यह प्लूटोनियम तत्त्व को भी पैदा करता है। इस प्रकार एक ओर यूरेनियम (२३५) व्यय होता है और दूसरी ओर प्लूटोनियम बनता जाता है। ऐसे ताप एंजिन सफलतापूर्वक बनाये जा चुके हैं जो यूरेनियम की विखंडन शक्ति से चलते हैं, इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण U.S.A. द्वारा बनाये गये सबमेरिन और नौटेलस नाम के अन्य जहाज हैं जो कि परमाणु शक्ति के द्वारा समुद्र के वक्षस्थल को चीरते हुये इधर से उधर भागते फिरते हैं। यदि हम सोच-विचार कर विखंडन होनेवाले तत्त्वों को हम जमा करें तो कितनी ही शताब्दियों तक इनसे हम शक्ति और बल का काम ले सकते हैं।

थोरियम (Thorium)—थोरियम एक अन्य परमाणु शक्ति देनेवाला तत्त्व है। यह भारतवर्ष में बहुतायत से पाया जाता है। यह भारतीय प्रायद्वीप के पूर्वी और पश्चिमी तटों पर मोनाजाइट रेती के रूप में पाया जाता है। वैज्ञानिक परीक्षण चालू हैं और आशा है कि इस देश में जिसमें कोयले और तेल की बहुत कमी है, ये ट्रावनकोर के मोनाजाइट रेत के ढेर एक असीम शक्ति पैदा करने में सहायक होंगे, जिसके सामने भाकरा और अन्य ऐसी योजनाएँ बहुत नन्हीं-सी जान पड़ेंगी।

थोरियम का विखंडन निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है.—

$$Th_{९०}^{२३२} + n \longrightarrow Th \xrightarrow[९०]{२३३_e} Pa \xrightarrow[९१]{२३३_e} U_{९२}^{२३३}$$

इससे स्पष्ट है कि यूरेनियम (२३५) के समान थोरियम (२३३) भी अत्यन्त उपयोगी है।

अध्याय १४

भौतिकशास्त्र की सभ्यता को देन

(Contribution of Physics to Civilization)

वर्तमान सभ्यता मे भौतिकशास्त्र की भौतिक देन के अनेक रूप हैं। जो कुछ भी पिछले पृष्ठों में कहा गया है वह उस विशाल क्षेत्र का जो भौतिकशास्त्र का कार्यक्षेत्र है एक छोटा सा अश है। तो भी हम देख चुके हैं कि वर्तमान समय में मानव का कोई भी कार्य ऐसा न होगा जिसमे भौतिकशास्त्र प्रमुख भाग न लेता हो। यह शक्ति उत्पादन के लिए विशेषकर लागू होता है। न्यूकोम और वाट के सरल भाप इंजन से लेकर आजकल के शक्तिशाली दहन इंजिन तक और परमाणु शक्ति जिसकी चारों ओर चर्चा है सब मे भौतिकशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का ही हाथ है। वर्तमान सभ्यता का एकमात्र सहारा पर्याप्त सस्ती और सुगमता से प्राप्य शक्ति ही है। शक्ति की प्राप्यता ईंधन के मिलने पर है। इसलिए कल-कारखाने कोयले की खानों और जल-विद्युत् स्थानों के पास ही फैलते हैं। तेल की तलाश और उस पर नियन्त्रण के कारण बड़ी-बडी राजनैतिक चालें चलती हैं। यदि परमाणु शक्ति सस्ती बनाई जा सके तो शक्ति का ऐसा उद्गम हमारे हाथ आ जावेगा कि हम अनन्त काल तक न प्राप्त कर सकेंगे। दुर्भाग्य से परमाणु शक्ति की विनाशकारी शक्ति का फौजी महत्त्व बढ गया है जिसके फलस्वरूप इसके सिद्धान्तों के ज्ञान और इसके प्रयोगों पर गोपनीयता की चादर फैल रही है। यदि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना और शान्ति विचारों की संसार मे बाहुल्यता हो जाय तो परमाणु शक्ति की उन्नति बहुत शीघ्र होगी। संसार की भिन्न भिन्न सरकारें इसके परीक्षण पर बहुत धन व्यय करने को तैयार हैं, ऐसा कहना अधिक सत्य होगा कि उनमे एक प्रकार होड़ लगी हुई है कि वह देश इतना व्यय करता है, अच्छा, हम उससे अधिक व्यय करें ताकि और भी अच्छे और शीघ्र परिणाम ज्ञात कर लें।

इस अधिक धन राशि के कारण मूल्यवान् सान सज्जा से शोधन कार्य करने का ढंग सा ही पड़ गया है। लेकिन बहुत सी साधारण व्यय करने वाली प्रयोगशालाएँ भी जहाँ कि ढंग से, ध्यान से और नवीनता ग्रहण करके काम होता है इनमें अच्छे परिणाम दिखला रही हैं।

वर्तमान युग—वर्तमान युग की प्रमुखता रही है आवागमन के साधना में उन्नति—चाल में व उसके विस्तार में। मोटरकार व इसके विभिन्न रूप संसार के भीतरी भागों में भी पहुँच गये हैं। संसार में सर्वत्र ही रेल के मुकाबले में मोटर, बस आ रही हैं। गत सौ वर्षों में पृथ्वी, समुद्र और वायु में आवागमन के साधनों में बहुत परिवर्तन हो गया है।

तार—दूर-दूर के स्थानों पर सन्देश भेजने का कार्य तार के आविष्कार ने बहुत सरल बना दिया है। अब समुद्री तार डाल कर एक महाद्वीप को दूसरे महाद्वीप से भी मिला दिया गया है। एलेक्जैण्डर ग्राहम बैल (१८७० १८-७) ने एक नवीन आविष्कार टैलीफून के रूप में किया जिससे दूर-दूर के व्यक्ति आपस में बात कर सकते हैं। तार संदेश वाहन में जब से एक ही तार पर दो अथवा दो से भी अधिक सन्देश भेजने की प्रणाली चालू हुई है तब से तार द्वारा सन्देश भेजने का फैलाव और भी अधिक फैल गया है।

वितन्तु सन्देश वाहन—सन् १६०१ ई० में मारकोनी के आविष्कार ने एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी, लोग चकित रह गए। उनसे बिना तार की सहायता से एटलांटिक सागर के इस पार से उस पार सन्देश भेज दिया। तापायन यन्त्र के विकास के फलस्वरूप वितन्तु सन्देश वाहन क्रिया से भाषण और गायन भी एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजे जाने लगे। विपुलक यान्त्र द्वारा तारों के माध्यम से जो सन्देश भेजे जाते थे उनमें शक्ति का अधिक सचार करके उनको और भी अधिक दूर दूर के स्थानों पर भेजा जा सकता है। एक साधारण मनुष्य के जीवन में इस आविष्कार का बहुत गहरा व सीधा प्रभाव पड़ा है—लाउडस्पीकर और माइक्रोफोन से गाँव का बच्चा बच्चा भी परिचित हो गया है। रेडियो यन्त्र अब कुटुम्ब के सदस्यों के रूप में भी माना जाने लगा है। इसके द्वारा हमारी सूचना-सूची में बहुत विस्तार हो गया है लेकिन इसके साथ-साथ इसने कभी कभी हमारे दृष्टिकोण को विकृत करने का भी कार्य किया है।

संकीर्णता से छुटकारा—विज्ञान ने हमारी भौतिक भलाई के लिए तो विभिन्न दिशाओं में कार्य किया ही है, इसके अतिरिक्त यह धार्मिक संकीर्णता और बौद्धिक संकीर्णता को मिटाकर हमारे अन्दर मानवता की भावना को विकसित करने में भी बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण और वैज्ञानिक अन्वेषण की धारा ने एक नई मानसिक प्रवृत्ति और सोचने के एक नये ढंग को मनुष्यों में जन्म दिया है। वैज्ञानिक परीक्षण मे मानसिक आवेग और खाली अलंकारिता को स्थान नहीं है। विज्ञान तो यह चाहता है कि हम निष्पक्ष रूप से परीक्षण करें। जो कुछ भी प्रमाण किसी सिद्धान्त के पक्ष या विपक्ष मे मिले उनको भली प्रकार जाँच कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचें। वैज्ञानिक जगत मे अन्तिम निर्णय किसी पैतृक स्थान्तरित् अथवा स्वय घोषित सत्ता के हाथ मे नहीं है, यह केवल उन अनुभवों पर अवलम्बित है जो कि तथ्यों और वास्तविक माप-तोल से हम प्राप्त करते हैं। हम असम्भव का त्याग कर देते हैं और उस ज्ञान का विश्वास करते हैं जो कि ऐसे तथ्यों से प्राप्त होता है जिनकी सचाई को प्रत्येक व्यक्ति परीक्षण करके देख सकता है। शर्त केवल यह है कि परीक्षण उचित वातावरण मे किया जाय। यदि कुछ नये तत्त्व हमारे ज्ञान की परिधि मे आ जाते हैं तो हमको हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्त और विचार उनके दृष्टिकोण से बदलने पड़ते हैं। प्रत्येक सच्चे परीक्षक का यह कर्तव्य है कि उसके निर्णय में भूल चूक की जो सम्भावना है उसको बतला दे।

सावधान परीक्षक लार्ड रेले द्वितीय जिस समय नाइट्रोजन गैस का अणुभार निकाल रहे थे उन्होंने नाइट्रोजन का घनत्व उसको एक काँच के ग्लोब मे रखकर तोलकर ज्ञात किया, उन्होंने विभिन्न परीक्षणों मे विभिन्न प्रकार से बनाई हुई नाइट्रोजन को प्रयोग मे लिया। उन्होंने नाइट्रोजन वायु से भी प्राप्त की और रासायनिक क्रिया से भी। जो नाइट्रोजन वायु से ली गई उसका अणुभार २.३१०१६ ग्राम था और जो नाइट्रोजन रासायनिक प्रतिक्रिया से प्राप्त की गई थी उसका अणुभार २.२६६२७ ग्राम था। इन दोनों में जरा सा ही अन्तर था जो कि हजारवें भाग के बराबर था। साधारणतया ऐसी परिस्थिति में यह सोचा जा सकता था कि यह अन्तर किसी परीक्षण भूल के कारण

हुआ है। रेले ने ऐसी भूल होने की बात मे विश्वास करने से इन्कार कर दिया और इस अन्तर का कारण खोज निकालने में लग गया। सब प्रकार की देख भाल करने के बाद उसने ज्ञात किया कि वायु से जो नाइट्रोजन प्राप्त की गई थी उसमे एक अज्ञात गैस भी थी। कुछ परीक्षण के बाद उसने इस गैस को इकट्ठा कर लिया, यह अक्रिय गैस आरगन थी। रैमसे और ट्रवर्स ने इस दिशा में और भी परीक्षण किये जिसके फलस्वरूप कितनी ही अक्रिय गैसें ज्ञात की गईं।

सिद्धान्त की मान्यता—कोई सिद्धान्त उस समय तक मान्य नहीं हो सकता जब तक परीक्षणों से वह सिद्ध न हो जाय। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त ने ज्योतिष शास्त्र की बहुत पहेलियों को सुलझा दिया और कितनी ही नई-नई बातों की ओर संकेत किया। इतना होते हुए भी यह सिद्धान्त इस बात को नहीं बतला सका कि प्रकाश की किरणें सूर्य जैसे भारी पिन्ड के पास से जाती हुई कितना मुड जायेंगी अथवा मंगल ग्रह के दीर्घवृत्तीय कक्ष की क्या समगति होती है। इसके विपरीत विज्ञानवेत्ता आइंस्टन ने अपना एक नवीन गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त प्रतिपादित किया। यह सिद्धान्त न्यूटन के सिद्धान्त से कहीं जटिल है, लेकिन उसने उन सब बातों को जो न्यूटन के सिद्धान्त से दर्शाई जा सकती थीं भली प्रकार समझा दिया। इसके अतिरिक्त दो तीन अन्य घटनाएँ भी इस सिद्धान्त ने बहुत सुन्दरता से समझा दीं। इसलिए आइंस्टन का सिद्धान्त न्यूटन के सिद्धान्त से अधिक मान्य होता जा रहा है।

प्रकाश का तरंग सिद्धान्त—हाइजन्स, यंग और उस समय के विज्ञानवेत्ताओं ने प्रकाश के तरंग सिद्धान्त को सिद्ध करने का कठिन कार्य अपने सिर पर लिया।

इस सिद्धान्त के परावर्तन और आवर्तन की घटनाएँ भली प्रकार समझाई जा सकती थीं लेकिन तरंगों के अन्य गुणों का भी सिद्ध करना आवश्यक था विशेषकर विघ्न करण (Interference) घटना का। इसके अनुसार जब प्रकाश मे और प्रकाश दिया जाता है तो अन्धकार पैदा हो जाता है, अथवा हम छाया के साथ प्रकाश भी पा सकते हैं। परीक्षण का इस दिशा मे निर्णय मान्य था, जिसके कारण विश्व विख्यात न्यूटन का सिद्धान्त ठुकरा दिया गया और तरंग

सिद्धान्त सिंहासनारूढ़ हो गया। परीक्षण के आगे न्यूटन को सिर झुकाना पड़ा और वह प्रकाश सिद्धान्त में हार गया। प्राकृतिक घटनाओं के कारण ढूँढे जाते हैं और उसमें सफलता भी मिलती है। इन कारणों की सरलता को देखकर हमको यह विश्वास होने लगता है कि प्रकृति वास्तव में सरलतम है।

धार्मिक अन्धविश्वास की सीमाएँ दिन-प्रतिदिन टूटती जा रही हैं क्योंकि प्रत्येक घटना और वस्तु के कारण बतलाये जा सकते हैं।

इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ एक नया खतरा भी नजर आता है—यह है वैज्ञानिक संकीर्णता का खतरा। कहीं विज्ञान अपने को ही सत्य अन्वेषण का एकमात्र ठेकेदार न समझ ले।

एक नवीन धर्म के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे हैं। यह धर्म वर्त्तमान सब धर्मों की हीनता पर आधारित होगा। धर्म में जो कुछ भी दुर्गुण होते हैं जैसे संकीर्णता, धार्मिक-जोश, असहिष्णुता सब ही उसमें पैदा हो जायँगे।

प्रकाश तरंगों का माध्यम—प्रकाश के तरंग सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश के लिए माध्यम अवश्य होना चाहिए। क्योंकि प्रकाश शून्य में भी जा सकता है, इसका माध्यम ऐसा है जो शून्य में भी विद्यमान है। इस माध्यम को ईथर के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार यह माध्यम सर्वत्र होता है जहाँ भी आकाश या शून्यता या द्रव्य होता है। सूर्य, पृथ्वी, तारे और तारे-समूह सब ही ईथर में घूमते हैं। ऐसे प्रयोग किए जा सकते हैं जिनसे पृथ्वी की चाल ईथर में ज्ञात की जा सके। यह उतनी ही आसानी से ज्ञात की जा सकती है जितनी आसानी से एक बहते हुए पानी की चाल। मिचलसन द्वारा यह भौतिकशास्त्र का विख्यात प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग का परिणाम सन्तोषजनक नहीं निकला। ईथर को उपलम्भन करने के सब प्रयत्न अब तक निष्फल रहे हैं। मिचलसन के प्रयोगों के पूरक कई प्रयोग इस दिशा में किए गये लेकिन परिणाम किसी का भी सन्तोषजनक न रहा। इनसे ईथर के अस्तित्व में ही शक होने लगा और आइंस्टन ने एक तर्क धारा आरम्भ की जिसका अन्त आपेक्षावाद सिद्धान्त में हुआ। इससे यह परिणाम निकाला गया कि एक स्थान पर दो घटनाओं के साथ होने की बात को कहना गलत है। यदि दो परीक्षक एक सिरे के आपेक्ष

से एक सी चाल से चल रहे हैं तो जो घटना एक के लिए युगपत् (Simultaneous) है; वह दूसरे के लिए युगपत् होनी आवश्यक नहीं है, जो घटनाएँ एक के लिए एक स्थान पर होती हैं वे दूसरे के लिए दूसरे स्थान पर होती हैं। हम स्थान को बिना समय के नहीं सोच सकते या समय को बिना स्थान के। सारे मानव अनुभव संसार के ऐसे चौखटे में रखने आवश्यक हैं जिससे समय और स्थान दोनों हों। एक ही वस्तु के ये दो पहलू हैं। इस प्रकार समय और स्थान का एक रस हो जाना जिससे कि उनमें से किसी को अलग अस्तित्व न रहे, इस विचारधारा ने हमारे समय के दर्शन सिद्धान्तों पर बहुत प्रभाव डाला है। इसने एक नये दर्शन और विचारने के एक नये ढग को जन्म दिया । स्थान की परिभाषा उस द्रव्य के गणों से की जाती है जो इसमें होती है। इस स्थान समय की सतति की रेखिकी (Geometry) उसके पदार्थ से व्युत्पादित होती है—इसके अनुसार आईंस्टन ने अपना गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसमें जटिलता तो अवश्य है लेकिन व्यवहार में कुछ अपवादों के अतिरिक्त यह वैसा ही है जैसा न्यूटन का सिद्धान्त। इस प्रकार हमारे सम्मुख उस द्रव्य का जो स्थान-स्थान पर फैला हुआ है एक संगठित चित्र है—स्थान उस सतति का भाग है जिसका पूरक समय है।

न्यूटन की यांत्रिकी (Newton on Machanics)—आधुनिक विज्ञान के विकास में न्यूटन की यान्त्रिकी का प्रमुख हाथ रहा है। विद्युताणु, धनाणु व अन्य मूलकणों के आविष्कार से परमाणु की प्रकृति की जानकारी बढ़ती गई है। इनसे सम्बन्धित कितनी ही समस्यायें निकल आई हैं और उन सबका न्यूटन की यान्त्रिकी से समाधान नहीं हो सकता। वे नियम जो इकट्ठे पदार्थ पर लागू होते हैं परमाणु जैसे बहुत छोटे कणों पर लागू नहीं होते। इसलिए एक नवीन यान्त्रिकी इस कार्य के लिए चालू की गई, लेकिन अभी यह नहीं कह सकते कि यह सब प्रकार पूर्ण है। कृत्रिम यान्त्रिकी की अपनी कुछ विचित्र ही विशेषताएँ हैं।

इसके साथ साथ प्रकाशकण सिद्धान्त ने फिर जोर पकड़ा—यह पहले से कुछ संशोधित रूप में था। कुछ घटनाओं से जैसे फोटो-

विद्युत् से जिनको तरंगसिद्धान्त के द्वारा नहीं समझाया जा सकता, इस को कुछ बल मिला है। इसके विपरीत कुछ घटनाएँ जैसे विघ्नकरण, व्याभग (Diffraction) ऐसे हैं जिनको प्रकाश-कण सिद्धान्त से नहीं समझाया जा सकता।

इस प्रकार प्रकाश अभी तक एक पहेली बना हुआ है।

कारण और कारज का नियम—(Law of Cause and Effect)—न्यूटन की यान्त्रिकी के अनुसार इस विश्व में प्रत्येक कण कारण और कारज के नियम में बँधा हुआ है। प्रत्येक कण की भूतकाल और भविष्य की गति को सैद्धान्तिक तौर से पूरी तरह से जान सकते हैं। इसके गहन अध्ययन से जान पड़ता है कि एक पूर्व योजना के ही अनुसार सारा विश्व चलता है। प्रत्येक कण को एक विशेष पथ पर ही चलना पड़ता है। नई यान्त्रिकी इन और अन्य मूलकण आधारों पर अवलम्बित है। इनके अनुसार पहिले की असम्भव बातों को कुछ कुछ सम्भव बातों में शुमार कर सकते हैं। एक कण की स्थिति सदैव ठीक ठीक ज्ञात की जा सकती है। हम ऐसा प्रबन्ध कर सकते हैं कि यह ज्ञान और भी अधिक शुद्धता से प्राप्त हो सके। किसी भी कण की स्थिति के बारे में ऐसा कह सकते हैं कि अमुक स्थान के एक इंच के अन्दर है, १/१० इंच के अन्दर है, या १/१०० इंच के अन्दर है। इसके साथ ही साथ हम उसकी गति भी नाप सकते हैं और यह कह सकते हैं कि एक अमुक गति से उसकी गति एक इंच, १/१० इंच, १/१०० इंच के लगभग कम या ज्यादा है। अब प्रश्न यही उठता है कि क्या इन नापों में और भी शुद्धता व यथार्थता लाई जा सकती है? नवीन यान्त्रिकी का उत्तर है 'नहीं'। हम अपने यन्त्र चाहे जितने अच्छे कर लें। हम अपने ढगों में चाहे जितनी उन्नति कर लें यदि स्थान की स्थिति में सुधार करेंगे तो गति की शुद्धता व यथार्थता में अशुद्धि की सम्भावना बढ़ जावेगी। इसलिए किसी भी कण की स्थान स्थिति और गति दोनों को बहुत ही शुद्ध या यथार्थ अवस्था में ज्ञान करना असम्भव ही है।

वैज्ञानिक विचार—वैज्ञानिक को एक समय संसार अज्ञानिरस्त व्यक्ति समझता था वह एक सनकी समझा जाता था जिसके विचित्र प्रयोग उस जैसे व्यक्ति को ही प्रभावित और आकर्षित करते थे। लेकिन

धीरे धीरे उसका कार्य साधारण व्यक्ति की दैनिक दिनचर्या में आने लगा और उसका प्रभाव समाज के ऊपर भी पड़ा। ऐसी स्थिति में समाज वैज्ञानिक को भुला नहीं सकता था। अब उसकी देन का मूल्य और भी अधिक बढ़ने लगा। इतना कि राजनैतिक ससार में भी वह एक शक्ति के रूप मे आ टिका। समाज यह अवश्य चाहता है कि उसका कार्य सामाजिक कल्याण और सामाजिक सुव्यवस्था के लिए हो। इसका तात्पर्य यह है कि वैज्ञानिक पर एक अकुश रहे, न केवल उसके प्रयोगों पर बल्कि उसकी विचारधारा पर भी। दूसरी ओर वह पूर्ण स्वतत्रता की भावना के विरुद्ध है जिसके द्वारा साहित्यिक विचार और कार्य की पूर्ण स्वतत्रता होनी चाहिए।

हम इसको चाहे जितना बुरा समझें लेकिन यह सत्य है कि कई देशों मे वैज्ञानिक विचार और कार्य पर पूरा सरकारी नियन्त्रण हो चुका है।

——

अध्याय १५

इतिहास

(१)

हम विज्ञान की दुनिया में रहते हैं। विज्ञान का अध्ययन एक महत्त्वपूर्ण अनुभव है, विशेष रूप से जीव-विज्ञान का, क्योंकि यह जीवन की क्रियाओं से सम्बन्धित है (Gr. bios=जीवन logos=व्याख्या)। हमारे चारों ओर जल, वायु आदि प्रत्येक स्थान में जीवित पदार्थ पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ घास, जानवर, सुन्दर फूल और उपवन की तितलियाँ आदि।

जन्म से ही बालक अपने चारों ओर की जीवित वस्तुओं से निरन्तर प्रभावित होता रहता है। बालक का भोजन, स्वास्थ्य और प्रसन्नता सब उसके जीवित वस्तुओं के ज्ञान पर ही निर्भर हैं। जीवधारी विषयक अध्ययन जीव विज्ञान (Biology) कहलाता है। इसके दो मुख्य भाग हैं—उद्भिज-शास्त्र (Botany) अर्थात् पेड़-पौधों का ज्ञान (Gr. botane जड़ी-बूटी, अथवा botas=मैं खाता हूँ) और प्राणि-शास्त्र (Zoology) अर्थात् प्राणियों से सम्बन्धित ज्ञान (Gr. zoon=प्राणी, logos=व्याख्या)। यह केवल एक कृत्रिम विभाजन है। जीव-शास्त्र के अध्ययन से यह विदित होता है कि प्राणी-जगत् व वनस्पति-जगत् में विभाजन के होते हुए भी उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ पाई जाती हैं जो सत्य रूप से सामान्यतया दोनों में ही पाई जाती हैं। जीवधारियों की आकृति (form) व रचना (structure) में अत्यधिक भिन्नता होते हुए भी उनमें कुछ साम्य अवश्य मिलता है।

पिछले पृष्ठों में भौतिक-शास्त्र (Physics) और रसायन-शास्त्र (Chemistry) के कुछ सैद्धान्तिक नियमों का हम अध्ययन कर चुके हैं। आगे चलकर हमें यह विदित होगा कि इन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राणी-जगत् में निरन्तर होनेवाली पोषण (nutrition), श्वसन (respirtion) और प्रजनन (reproduction) आदि क्रियाओं को

समझने के लिए, जितना आवश्यक है। इतना ही नहीं वरन् आप शीघ्र ही समझेंगे कि विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में परस्पर क्या सम्बन्ध है? विज्ञान का दूसरे विज्ञानों—दूसरे शब्दों में जीव विज्ञान किस प्रकार अन्य शाखाओं से सम्बन्धित है, निम्न चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है।
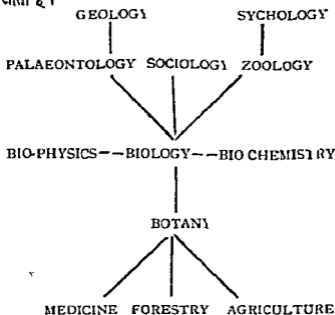
Diagram to show relationship of Biology with other Sciences

अब हम भौतिक वस्तुओं को छोड़कर जीवित वस्तुओं पर विशेष रूप से विचार करेंगे। जीवन की परिभाषा करना सरल नहीं। सजीव (living) व निर्जीव (dead) का भेद यद्यपि स्पष्ट है तथापि जीवधारियों के लक्षणों से सब परिचित हैं। ये लक्षण मानव के साथ-साथ सरल (simple) अथवा जटिल (complex) जीवधारियों में समान रूप से पाये जाते हैं।

स्पन्दन या गति (movement) जीवन का चिन्ह है। यह गति एक पुष्प की कली के खिलने की भाँति मन्द (कमल का फूल दिन में खिलता है और रात में बन्द हो जाता है) हो अथवा चिड़िया के उड़ने या घोड़े के दौड़ने की तरह तेज, लेकिन यह एक मोटर के या हवा के

में धूल के कणों के उड़ने की गति से भिन्न हैं। पहलेवाले नियमित रूप से एक जीवित प्रस (Protoplasm) से नियन्त्रित हैं, जब कि बादवालों के गुण केवल भौतिक हैं।

चयापचय (metabolism) व उत्सर्जन (excretion) सम्बन्धी क्रियाएँ जीवधारियों की एक अन्य विशेषता हैं। इसमें भोजन, भोजन का शरीर में रासायनिक रूप में परिवर्तन, पाचन (digestion), पचे हुए भोजन का सात्मीकरण (assimilation) और परिणामस्वरूप उनका आकार में बढ़ना (growth), सभी क्रियाएँ सम्मिलित हैं। यह सर्वविदित है कि प्रत्येक जीवधारी छोटे से बड़ा होता है। यह वृद्धि एक निश्चित समय और निश्चित आकार तक ही सीमित होती है, अर्थात् जीवधारी एक सीमित आकार तक ही बढ़ता और सीमित समय तक जीवित रहता है। उसके पश्चात् वह नष्ट हो जाता है। जीवधारी की वृद्धि एक चीनी या मिश्री के छोटे मणिभ (crystal) की बाह्य मिलावट द्वारा (accretion) आकार में बढ़ने से भिन्न है। जीवधारी व्यवस्थित रूप से बढ़ते हैं। उनकी अपनी एक रीति है। एक आम की गुठली से आम का ही पेड़ उत्पन्न होगा और किसी भी आम के पेड़ के समान उसकी आकृति होगी, इसी भाँति अन्य सब जीवधारी पौधे या प्राणियों में यही बात पाई जाती है।

जीवधारियों की अन्य विशेषताएँ उनकी प्रजनन शक्ति (Power of reproduction) है। प्रजनन की क्रिया इतनी सरल नहीं जितनी हम कल्पना करते हैं। परन्तु यह एक जटिल क्रिया है। सरलतम पौधों और प्राणियों में, जो एककोशीय (single celled organisms) होते हैं, प्रजनन सारे शरीर के विभाजन द्वारा होता है। जटिल पौधों या प्राणियों में, माता पिता के शरीर के अन्दर छोटी कोशाओं (cells) के प्रगुणन (multiplication) द्वारा विशेष प्रकार की प्रजनन कोशाओं (reproductive cells) की उत्पत्ति होती है जिन्हें शुक्रकोश (sperms) व डिम्बाणु (ova) कहते हैं। ये विशेष कोश मिलकर युक्त (zygote) नामक एक नई काया (body) बनाते हैं। यह युक्त बाद में अपने विशिष्ट रूप में विकसित हो जाता है। शिशु प्राय आकार प्रकार में अपने माता पिता के समान ही होते हैं।

प्रजनन के इस महत्त्वपूर्ण और रोचक विषय को हम अगले अध्याय में अधिक विस्तार से अध्ययन करेंगे।

जीवधारी की अन्य विशेषता उसका बाह्य प्रभाव या उत्तेजना (stimuli) की उपस्थिति में उसकी प्रतिक्रियात्मक शक्ति है। पारिभाषिक रूप में यह उद्दीप्यता (irritability) कहलाती है। उदाहरण स्वरूप यदि हम कक्षा में अपने साथी के किसी अंग में सुई चुभायें तो वह एकदम कूदकर अपने उस अंग को हटा लेगा। वरन् शायद चिढ़ भी जाये। अपने चारों ओर की परिस्थितियों के प्रति जीवधारी की यह प्रतिक्रिया जीवन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। इसके बिना कोई भी जीवधारी, उद्भिद् या प्राणी विभिन्न प्रकार के जलवायु में जीवित नहीं रह सकता। पानी में रहने वाले पौधे सदैव पानी में रहते हैं। रेगिस्तान में पाये जाने वाले पौधे लगभग निर्जल स्थानों में रहते हैं। केंचुए (earthworm) सदैव पृथ्वीतल के अन्दर रहते हैं और इसी भाँति मनुष्य पृथ्वी के उष्ण व शीतोष्ण कटिबन्धों में रहते हैं।

जीवविज्ञान में अन्य कई सामान्य ज्ञातव्य बातें हैं जो सजीव और निर्जीव के भेद को स्पष्ट कर देती हैं, जैसे अनुभव करने की शक्ति। किसी के प्रति स्नेह व किसी के प्रति घृणा की भावना का होना, यह एक साधारण सी बात है। किस प्रकार एक सुकुमार बछड़ा दूध दुहने के समय अपनी माँ के पास दौड़ता है, किस तरह एक बंदरी अपने बच्चे को पेट में चिपकाये लिए रहती है, कैसे एक बच्चा छोटा हो अथवा बड़ा अपनी माँ को आते देखकर उसकी ओर दौड़ता है, ये सब जीवधारियों में पाई जाने वाली अनुभव की भावना के कुछ उदाहरण हैं। अनुभव करने की यह शक्ति यद्यपि बाह्य रूप से पौधों में दिखलाई नहीं पड़ती फिर भी उनमें विद्यमान रहती है। इसी कारण एरिस्टोटल (Aristotle) नामक प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक और प्राणिविद् (Naturalist) ने उद्भिदों (plants), जीव-जन्तुओं (animals) और मनुष्यों (man) में तीन विभिन्न प्रकार की आत्मा का उल्लेख किया था।

गॉय द ब्रॉस (Gay de Brosse) नामक एक फ्रेंच प्राणिविद् (Naturalist), जिसने पेरिस में एक औद्भिदीय उद्यान (garden of

plants) लगवाया था, वनस्पति और प्राणियों के जीवन की आधारभूत एकता में पूर्ण विश्वास रखता था। फिर भी प्राणीवर्ग साधारणतः चलने के विशेष प्रकार के अवयवों के कारण वनस्पति वर्ग से सर्वथा भिन्न है। वे भूमि पर चलते हैं, पानी में तैरते हैं और हवा में उड़ते हैं। पौधे भूमि में बो दिए जाते हैं और वे केवल अक्रिय रूप से ही (Passively) चलते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि यह केवल गौण भेद है। गति यदि प्राणियों का मुख्य लक्षण है तो वृद्धि पौधों का।

आइए, हम एक आम के वृक्ष की एक मनुष्य से तुलना करें। दोनों जीवित हैं, दोनों बढ़ते हैं, दोनों ही युवा और वृद्ध होते हैं तथा मरते हैं। आम का पेड़ वहीं उगता है जहाँ उसकी गुठली बोई जाती है, वहीं रहता है। उसका तना ऊँचाई और घेरे में बढ़ता है। हर साल तना मोटा हो जाता है, नवीन कलियाँ और नवशाखाएँ निकलती हैं और वह प्रति वर्ष पुष्पित होता है तथा फल देता है। परन्तु मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं है। कुछ सीमा तक बढ़ने के पश्चात् वह बढ़ना बन्द कर देता है, वह नए अवयव नहीं पैदा कर सकता। मनुष्य शरीर की तुलना में पेड़ का जीवन-काल उससे अधिक होता है। केलिफोर्निया के कुछ पेड़ सैकड़ों फिट ऊँचे और आयु में हजारों वर्ष पुराने हैं। प्राणियों और पौधों के जीवन में निषिक्त अंड (fertilised egg) से लेकर उसके बड़े होने तक के इतिहास (life history) के अध्ययन से इन दोनों प्रकार के जीवधारियों के भेद और भी अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। उद्भिदों में निरन्तर प्रगुणन करनेवाली और वृद्धिकारक तन्तु (meristematic tissue) पाई जाती है जब कि प्राणियों में ऐसी कोई तन्तु (tissue) नहीं पाई जाती।

उद्भिदों में पर्णशाद (chlorophyll chloros=हरा, phyllos= पत्ता) या पत्तों में एक प्रकार का हरा द्रव्य रहता है। पर्णशाद होने के कारण पत्ते विश्व की भोजनशाला (food factory) कहलाते हैं। इसीलिए उद्भिद न केवल अपना ही पोषण करते हैं वरन् अन्य जीवों की भी उदरपूर्ति के लिए भोजन देते हैं। अतः पारिभाषिक रूप में उद्भिद होलोफिटिक (holophytic) अर्थात् अपना भोजन अपने

आप बनानेवाले और प्राणीवर्ग होलोजोइक (holzoic) अर्थात् बने हुए भोजन पर निर्भर रहनेवाले कहलाते हैं।

इस भेद के परिणाम-स्वरूप ही प्राणियों में भोजन के लिए एक संघर्ष दिखलाई पड़ता है। अगर स्वतन्त्र रूप से सबको भोजन मिल जाय तो हम में से शायद कोई भी काम न करे और इस दृष्टि से जीवधारियों के इस वर्ग में जीवन की सब क्रियाएँ स्थगित हो जावें। दूसरी ओर उद्भिदों के जीवन में हमें प्रकाश को प्राप्त करने के लिए एक महान् संघर्ष दिखलाई पड़ता है। सब शाखाएँ प्रकाश की ओर ही बढ़ती हुई देखी जाती हैं और पेड़ का प्रत्येक पत्ता अपने को सदैव ऐसी स्थिति में रखता है कि उसे सूर्य की कुछ किरणें अवश्य मिल सकें। यदि हम तालाब में सिंघाड़े (Trapa) का पेड़ लगा हुआ देखें तो हमें ज्ञात होगा कि उसका हर एक पत्ता या उस पत्ते का कोई भाग सूर्य के सामने खुला हुआ है। यही बात हम एक कमल के तालाब में पानी के धरातल पर फैले हुए कमल के पत्तों की सुन्दर सजावट में देखते हैं।

उद्भिदों और प्राणियों में एक अन्य प्रधान भिन्नता उनकी उतियों (tissues) की बनावट है जो कोशाएँ (cells) पौधों के तन्तुओं को बनाती हैं वे एक दृढ़, सहनशील एवं निर्जीव पदार्थ कोशाणु (cellulose) जो एक प्रकार की प्रांगोदीय अथवा कार्बोहाइड्रेट (carbohydrate) है, से घिरी रहती हैं जब कि प्राणियों की कोशाओं की दीवारों में कोशाणु नहीं होता। उद्भिदों के कोशाओं की इस प्रकार की संरचना ही उन्हें आवश्यकतानुसार दृढ़ और लचीला बनाती है। उपवन में छोटी-छोटी हरी हरी कोमल टहनियों पर विकसित पुष्प एक अनुपम सौन्दर्य से अपने को सजाते हैं, कभी हवा के झोंकों में नीचे झुक जाते हैं और कभी पुनः खड़े हो हवा में लहलहाने लगते हैं। वर्षा में पानी की बौछारों और वायु के झोंकों को सहते हुए वे अपने स्थान पर अडिग रहते हैं। पौधों में सहनशीलता और दृढ़ता उनकी कोशाओं की कोशाणु युक्त दीवारों के कारण ही पाई जाती है।

जीवधारियों, उद्भिदों और प्राणियों में समानता और भिन्नता उनकी संरचना और प्रक्रिया तथा उनकी अन्य बातों के विषय में

जानना एक मनुष्य के लिए क्यों आवश्यक है ? हम जीव-विज्ञान के विशेष रूप से ऋणी हैं। हमारा कृषि-विज्ञान, वन, औषधि और लोक स्वास्थ्य सब किसी सीमा तक हमारे जीव विज्ञान के ज्ञान पर ही निर्भर हैं। इनसे हमारा कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है यह छिपा नहीं है।

गोधन (cattle), घोड़ा और स्वामिभक्त कुत्ता ये ऐसे पशु हैं जिनकी सेवा से मनुष्य वंचित नहीं रह सकता। गाय और बैल के ऋण से हम कभी उऋण नहीं हो सकते। राजपूत इतिहास में हल्दी घाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप के चेतक घोड़े का कार्य आज भी हम सबके लिए स्मरणीय है।

मनुष्य पर उद्भिदों के ऋण के मूल्यांकन के लिए यह जानना आवश्यक है कि आधुनिक कोयला प्राचीन वन समुदाय का ही परिवर्तित रूप है। साथ ही उद्भिद अपने हरे कोशाओं में ऐसी अनेक जीवनोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करते हैं जो मनुष्य के लिए लाभदायक होती हैं।

रोटी, मक्खन, चाय, काफी, चीनी, दूध, चावल, फल और सब्जी साथ ही मेज, कुर्सी, पहनने के कपड़े, स्नान करने का साबुन, इत्र, पढ़ने के लिए दैनिक समाचार पत्र, चिट्ठियाँ, स्याही लेखनी, गोंद, टिकट तथा विभिन्न प्रकार के रंग आदि सब मानव की प्रतिदिन की आवश्यकताएँ हैं। आपने कभी सोचा कि यह सब वस्तुएँ कहाँ से आती है ? किसी भी व्यक्ति को इतने ज्ञान से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए कि ये सब वस्तुएँ दुकानों, उद्यानों अथवा गौशालाओं से प्राप्त हो जाती हैं। यह मानव का कर्तव्य है कि वह उनके मूल स्रोत का पता लगायें, जो उद्भिदों की हरी कोशाओं के अतिरिक्त और कहीं नहीं है। हरी कोशाओं से लेकर हमारे उपयोगी पदार्थों के निर्माण तक की शृङ्खला छोटी या बड़ी हो सकती है। जब हम सलाद की हरी पत्ती खाते हैं, हम भोजन निर्मात्री कोशा को ही खा जाते हैं, परन्तु आलू को खाते समय यह शृङ्खला कुछ बड़ी हो जाती है क्योंकि भोजन पत्ती से आलू में स्थानान्तरित किया जाता है, और यदि हम एक आलू

खानेवाले हरिण के मास को खाते हैं तो यह शृंखला और भी बड़ी हो जाती है।

इस छोटे या लम्बे क्रम के विषय में कुछ बातें समझाना ही उद्भिज्ज-शास्त्र (Botany) का कार्य है। भाग्यवश इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना लोगों के लिए इन चीजों को काम में लाने से पूर्व आवश्यक नहीं है परन्तु यदि एक मनुष्य इस विषय में कुछ ज्ञान लेता है तो वह प्रकृति में अपने स्थान का अनुमान लगाकर जीवधारियों के प्रति अपने ऋण को कुछ अंशों में चुका सकता है। "हरी कोशाएँ अपने नये प्राणीय पदार्थों (organic material) के निर्माण की शक्ति के कारण ब्रह्माण्ड के महान् तथ्यों में से एक है, और मनुष्य को उनके महत्त्व को स्वीकार करना ही होगा। प्राकृतिक साधनों पर उसके आधिपत्य की उत्तरोत्तर प्रगति होते हुए भी मनुष्य रासायनिक प्रयोगशाला में आर्थिक दृष्टिकोण से सुव्यवस्थित काम करने में एक साधारण से उद्भिद की कोशाओं द्वारा की हुई निर्माण प्रक्रिया की बराबरी नहीं कर सकता। वस्तुत उद्भिद वह कार्य करते हैं जो प्राणी नहीं कर सकते अर्थात् वे अप्राणीय (inorganic) साधनों से अपने प्राणीय तत्त्वों की वृद्धि कर सकते हैं।"*

उद्भिदों और प्राणियों के तथा प्राणियों और मनुष्य के घनिष्ठ सम्बन्ध को समझना कठिन नहीं। उदाहरण स्वरूप हम शहद की कल्पित (romantic) कहानी को ले सकते हैं। स्प्रिंगल (Sprengel) ने सर्वप्रथम इस कहानी का वर्णन किया। तत्पश्चात् प्रसिद्ध जीव-विज्ञ (Naturalist) डार्विन (Darwin) ने आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से इसका विस्तार से प्रतिपादन किया। बहुत से पुष्पों में मधु होता है। कीट (insects) इन पुष्पों पर बैठते हैं और इस रस को एकत्रित करते समय पराग सेचन (pollination) परागण, (पुष्प के नर उत्पादक अंगों से पराग को स्त्री उत्पादक अंगों तक स्थानान्तरित करना, नामक महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। इस प्रकार से एकत्रित किया हुआ शहद मधुमक्खी के छत्ते में इकट्ठा हो जाता है जो बाद में मनुष्य के द्वारा उपयोग में लाया जाता है। यहाँ इस कहानी का अधिक विस्तृत रूप में वर्णन तो सम्भव नहीं परन्तु हम अध्याय के प्रथम भाग को एफ० ओ० बावर (F. O Bower) के निम्नलिखित शब्दों द्वारा समाप्त करेंगे —

"प्राचीन-काल में सब मार्ग रोम की ओर जाते हुए कहे जाते हैं किन्तु प्राणी जगत् में हमारी समझ में सब मार्ग हरी कोशाओं (green cells) की ओर जाते हैं जो प्रकाश के प्रभाव से जीवनावश्यक (vital) क्रियाओं के लिए आवश्यक प्रज्वलनशील (combustible) पदार्थ बनाती हैं। उनका देह व्यापारात्मक (physiological) प्रभुत्व इतना क्षणिक नहीं जितना यूरोप के आदिकाल के इतिहास में रोम का था। वह चिरस्थायी है और उसके तब तक रहने की आशा की जा सकती है जब तक इस पृथ्वी पर जीवन है।"

(२)

आदिकाल में जीव विज्ञान का इतिहास मानव का वातावरण (environment) के अनुसार अपने को ढालने (adjust) के प्रयत्न का अलिखित इतिहास है। मनुष्य के जीव-विज्ञान के ज्ञान के प्रमाण आदि मानव के चित्रों, शिल्पकला एवं प्राचीन खंडहरों के रूप में मिलते हैं। अब हम जीव-विज्ञान के इतिहास और इस क्षेत्र में कार्य करनेवाले विद्वानों का सक्षेप में वर्णन करेंगे। भूतकाल के कुछ ज्ञान के बिना विद्यार्थी वर्त्तमान को समझने में कुछ भूल कर सकते हैं। वस्तुतः आधुनिक काल के महान् अनुसंधान सब पूर्वगामी पथ-प्रदर्शकों के परिश्रम पर आश्रित हैं। यद्यपि हमारे आधुनिक सधान अधिक आश्चर्य-जनक हैं और हम अपने पूर्वजों से अधिक आगे बढ़ चुके हैं तथापि इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि भविष्य में इससे भी अधिक आश्चर्य-जनक अनुसन्धान हों। जब मनुष्य ज्ञान की सीढ़ी पर चढ़ता है तो स्वभावतः उसके ज्ञान क्षितिज का विस्तार होता जाता है। और जो विचार या अनुसन्धान उसे सर्वप्रथम महान् प्रतीत होते थे वे ही ज्ञान के क्षेत्र में उसे साधारण प्रतीत होने लगते हैं।

प्रायः हम पौधों और प्राणियों के लेटिन (Latin) नाम रखते हैं और एक मनुष्य को मनुष्य की संज्ञा देकर संतुष्ट नहीं होते वरन् उसे होमो सेपियन्स (Homo sapiens) कहते हैं, ऐसा क्यों? क्या यह उद्भिज-शास्त्र और प्राणी शास्त्र के अध्ययन को कठिन बनाने के लिए किया जाता है? नहीं। इसका तात्पर्य हमारे ज्ञान को व्यवस्थित रूप देने का है। जब आदि-मानव ने सर्वप्रथम पेड़ों और प्राणियों के नाम रखे, उनके चित्र अपनी गुफाओं की दीवारों पर खींचे तभी से उसने उनका

वर्गीकरण करना प्रारम्भ किया। प्राचीन शिल्पकला और चित्रकला से यह विदित होता है कि प्राचीन मिस्र देश के निवासी घोड़े और गोधन पालते थे। चीन निवासियों ने लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व चिरशव (mummies) के साथ रखे हुए जौ के दाने कब्रों में पाये थे। भारत में गेहूँ तीन हजार वर्ष या इससे भी पूर्व बोये जाते थे। आदिकाल में भी मनुष्य को औषधि और मानव शरीर सम्बन्धी (human anatomy) कुछ ज्ञान था। प्राचीन मिस्र में मृतक शरीर को मसाला लगाकर रखने की प्रथा इसका एक विख्यात उदाहरण है।

एरिसटोटल (Aristotle) (३८४ ३२३ बी० सी० जीव विज्ञान का पिता कहा जाता है। प्राणियों के वर्गीकरण सम्बन्धी उसकी कृति 'हिस्टोरिया ऐनिमेलियम' (Historia Animalium) उसके विभिन्न प्रकार के प्राणियों, विशेष रूप से सामुद्रिक जीवों जैसे मसीक्षेपी (cuttlefish) के अपूर्व ज्ञान का दिग्दर्शन कराती है। सर्वप्रथम पाये जानेवाले औद्भिदीय उद्यान (Botanical garden) की स्थापना एरिसटोटल (Aristotle) ने की। दुर्भाग्य से उसकी उद्भिज शास्त्र की कृतियाँ खो गई हैं। उसने पौधों के दीर्घायु होने का कारण उनमें जल की न्यूनता बताया। पेड़ों और उनके अङ्गों में निहित खोये हुए अङ्गों के पुनर्जनन (regeneration) की शक्ति ने उसके समक्ष एक विषम समस्या पैदा कर दी थी।

उद्भिज शास्त्र का सर्वप्रथम ज्ञान हमें मुख्यतया एरिसटोटल के प्रमुख शिष्य थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) द्वारा होता है। लगभग

Aristotl —Greek philosopher and Naturalist

Theophrastus—Most il lus trious pup l of Aristotle

दो सो पुस्तकों मे से उसकी उद्भिज शास्त्र सम्बन्धी 'दी हिस्ट्री आफ प्लान्ट्स' (The History of Plants) और दी कॉजेज ऑफ प्लान्ट्स' (The Causes of Plants) नामक दो कृतियाँ सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस काल के पश्चात् लगभग चौदहवीं शताब्दी में नवयुगारम्भ (Renaissance) के समय तक विज्ञान के क्षेत्र में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। इस युग को हम 'अन्धकाल' कह सकते हैं। आगामी दो सौ वर्षों मे कला और साहित्य का पुनरुत्थान हुआ। 'हरबल्स' (Herbals) नामक पत्रिकाएँ जिसमें सब प्रकार के पेड़ों और विशेष रूप से औषधि वाले पेड़ों के विवरण थे, प्रकाशित हुई। कोनरेड फॉन गेसनर (Konrad Von Gesner) ने प्राणियों के वर्णन और इतिहास पर हजारों पृष्ठ लिखे। पुर्तगालवासियों तथा अन्य देशवासियों द्वारा अनेक यात्राएँ की गई और प्राणियों तथा पौधों का समह किया गया। १४६२ मे अमरीका की खोज हुई। विदेशी उद्भिदों और प्राणियों के समह ने एक नई रुचि पैदा की और धीरे धीरे तुलनात्मक अध्ययन की नींव डल गई। फ्रान्सिस बेकन (Francis Bacon, १५६१-१६२३) ने पूर्व कालीन ऐरिस्टोटल (Aristotle) की भाँति प्रत्यक्ष अवलोकन और प्रयोगों पर विशेष बल दिया।

समय पाकर प्राणियों का तुलनात्मक शरीर विज्ञान (comparative anatomy) आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण विषय बन गया। एनड्रियस वैसेलिअस (Andreas Vesalius, १५१४ १५६४) ने अट्ठाइस वर्ष की आयु मे मनुष्य शरीर की सरचना पर 'दी स्ट्रक्चर ऑफ ह्यूमन बॉडी' (The structure of human body) नामक पुस्तक लिखी। केरोलस लीनियस (Carolus Linnaeus) नामक स्वीडिश वैज्ञानिक इस काल का सबसे प्रसिद्ध वर्गीकरण उद्भिज शास्त्री (systematic botanist) था। उसी ने पेड़ो और प्राणियों के नाम द्विपद पद्धति (binomial) पर रखने की रीति निकाली (पहले प्रजाति का, फिर जाति का नाम)। यह समय विभिन्न यन्त्रों के विशेषकर अरणुवीक्ष यन्त्र (microscope) अनुसन्धान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अणुवीक्ष यन्त्र द्वारा ही पौधों और प्राणियों के भीतरी शरीर विज्ञान का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ। रोबर्ट हुक (Robert Hooke) ने १६०५ मे अपनी प्रसिद्ध

पुस्तक माइक्रोग्राफिया (Micrographia) में कोशाओं (Cells) का वर्णन प्रकाशित किया। लीवेनहाक (Leeuwenhoek) नामक एक हालैण्ड निवासी ने जो अपने लिए शीशे (lens) बनाया करता था, कम से कम दो सौ अणुवीक्ष यन्त्र बनाये। वह पहला विद्वान् था जिसने पहले मेढक में और बाद में मनुष्य में रक्तकणों (Blood corpuscles) का उल्लेख किया। हुक (Hooke) और लीवेनहाक (Leeuwenhoek) के समकालीन मैलपीघी (Malpighi) ने फेफड़ों में केशाल परिवहण (capillary circulation) का वर्णन किया। मैलपीघी के रेशम के कीड़े की शारीरिक विशद् व्याख्या आज भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। नेहेमिआ ग्रियू (Nehemiah Grew) एक पद प्रदर्शक अंग्रेज उद्भिज्ज शास्त्र विज्ञ ने पौधों की सूक्ष्म रचनाओं का अध्ययन किया और कहा कि पौधे और प्राणी एक ही शक्ति द्वारा बनाये गये हैं और उसी की बुद्धिमत्ता की उपज हैं। रोबर्ट ब्राउन (Robert Brown, १७७३-१८५८) नामक एक चिकित्सा शास्त्री (Physician) ने पौधों के कार्यों का अध्ययन किया और कोशाओं में न्यष्टि (nucleus) के महत्त्व का पता लगाया। साक्स (Sachs) नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने उद्भिज्ज देह व्यापारिकी (physiology) में कई अन्य महत्त्वपूर्ण अंश (contribution) दिये। एक रसायन-शास्त्री (chemist) लुई पास्च्योर (Louis Pasteur) ने जीव विज्ञान और रोग निरोधक औषधियों के क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण खोजें की। इसी समय जीव विज्ञान और अन्य क्षेत्रों, जैसे भूगर्भ शास्त्र आदि में अनेक विद्वान् कार्य कर रहे थे। चार्ल्स डारविन (Charles Darwin) की प्रसिद्ध कृतियों के प्रकाशित होने के पश्चात् इन कार्यों को विशेष उत्तेजना मिली। उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ अन्य प्रसिद्ध विद्वानों के नाम ये हैं—सर चार्ल्स लायल (Sir Charles Lyell) एक अंग्रेज भूगर्भ शास्त्री (geologist), टी० एच० हक्सले (T H Huxley) एक अंग्रेज प्राणी शास्त्र विज्ञ (zoologist) जिसने डारविन की प्रसिद्ध कृति का पूर्णतया उल्लेख किया, ग्रेगर मेन्डल (Gregor Mendel) वंशानुक्रम विज्ञान (Science of Heredity) का जन्मदाता, डी० व्रीस (De Vries) विकास सिद्धान्त में रूपपरिवर्तन (Mutation Theory) का प्रतिपादक। नोबेल पुरस्कार विजेता ई० बी० विल्सन (E. B Wilson) और टी० एच० मोरगन (T H. Morgan)

अमेरिकन जीव-शास्त्र विज्ञ जो कोशिकी (cytology) और वंशानुक्रम-विज्ञान (genetics) को दिये गये अंश (contribution) दोनों के कारण, हमारे आधुनिक वंशानुक्रम के ज्ञान (knowledge of heredity) के आधार स्तम्भ हैं।

भारत में जीव-विज्ञान के अध्ययन के इतिहास का पता लगाना कठिन कार्य है। संभवत इसका प्रारम्भ वैदिक काल से है। भारत-वासियों को कृषि और भेषज-विज्ञान (medicine) का कम से कम दो तीन हजार वर्ष पूर्व भी अच्छा ज्ञान था। आधुनिक दृष्टि से इसका व्यवस्थित अध्ययन लगभग सत्रहवीं शताब्दि के मध्य से प्रारम्भ होता है। एक प्राणीशास्त्री का भारत साम्राज्य के सीमित क्षेत्र में प्राप्य प्राणियों (fauna) की खोज करना मत्स्य (pisces), सरीसृप (reptile) पक्षी और कीट (insect) आदि प्रधान वर्गों के स्वभाव आदि का वैज्ञानिक अवलोकन करना और लक्षणों की दृष्टि से वर्गीकरण करना मुख्य कार्य था। १६२१ में एफ० एच० ग्रेवली (F H. Gravely) ने भारतीय विज्ञान परिषद् (Indian Science Congress) के प्राणीशास्त्र विभागाध्यक्ष पद से अपने कलकत्ता में दिये अभिभाषण में भारतीय प्राणीशास्त्र की स्थिति को संक्षिप्त रूप में रखा।

इसी प्रकार सर जार्ज किंग (Sir George King) ने १८६६ में इँगलैण्ड में ब्रिटिश ऐसोसिएशन फॉर दी एडवान्समेंट ऑफ साइंस (British Association for the Advancement of Science) के सदस्यों के समक्ष अपने भाषण में भारतीय उद्भिज शास्त्र के इतिहास का एक चित्र प्रस्तुत किया। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में उद्भिज-शास्त्र सम्बन्धी अनुसन्धान भी मुख्यत. वर्गीकृत, भौगोलिक और आर्थिक अध्ययनों तक ही सीमित थे। ये अध्ययन बंगाल, मद्रास, बम्बई और उत्तर भारत के चार प्रान्तों के वनस्पति विभागों (Botanical departments) द्वारा किया जाता था। १८८६ में बोटेनिकल सर्वे ऑफ इंडिया (Botanical Survey of India) की स्थापना हुई और यह कार्य उसके निर्देशन में होने लगा। जे० डी० हुकर (J. D. Hooker) की स्मरणीय कृति फ्लोरी ऑफ ब्रिटिश

इंडिया (Flora of British India) १८८७ मे सात भागों में पूरी की गई। १८६६ मे जॉर्ज वाट (George Watt) का इकोनोमिक प्राडक्टस ऑफ इंडिया (Dictionary of Economic Products of India) नामक कोष छपा। प्रेन (Prain) द्वारा लिखित 'फ्लोराज ऑफ बगाल' (Floras of Bengal) और कुक (Cooke) की बम्बई प्रेजीडेन्सी (Bombay Presidency) नामक कृतियाँ १६०१ से १६०८ मे छपीं। वस्तुत उद्भिज शास्त्र के अनुसन्धान का इतिहास लेफ्टिनेन्ट कर्नल किड (Lt Col Kyd) द्वारा १७८७ मे किये गये रॉयल बोटेनिकल गार्डन्स (Royal Botanical Gardens) की स्थापना से प्रारम्भ होता है। डाक्टर विलियम रोक्सबर्ग (Dr. William Roxburgh) किड (Kyd) का उत्तराधिकारी हुआ और उसने फ्लोरी इन्डिका (Flora Indica) नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे उसने स्वयं दो हजार से अधिक पौधों के रंगीन चित्र बनाये। हुकर (Hooker) की फ्लोरा (Flora) नामक कृति का यह आधार थी। डाक्टर वालिच (Dr. Wallich) ने भारतीय पौधों के वर्णन और संग्रह में महत्त्वपूर्ण अंश दान दिये। ग्रिफिथ (Griffith) और कई अन्य विद्वानों द्वारा यह महत्त्वपूर्ण कार्य बड़ी योग्यता से संचालित होता रहा।

उद्भिज और प्राणीशास्त्र के अध्ययन मे वर्तमान प्रगति विशेषतया भारतीय विश्व विद्यालयों और कालेजों मे इनके अध्ययन के लिए पृथक् विभागों के खोल देने के कारण हुई है। प्रान्तीय और केन्द्रीय शासन द्वारा देश के विभिन्न भागों में व्यावहारिक (applied) प्राणी और उद्भिज शास्त्र के प्रान्तोय और केन्द्रीय विभागों की स्थापना ने इस कार्य के लिए अन्य सुविधाएँ कर दी हैं। प्राणी-शास्त्रविज्ञों मे स्वर्गीय जार्ज मथाई (George Mathai) और के० एन० वेहल K. N Bahl) तथा उद्भिज शास्त्रविज्ञों मे एस• आर० कश्यप (S R. Kashyap) बीरबल सहानी (Birbal Sahni) और एम० ओ० पी० आयङ्गर (Prof. M. O. P. Iyengar) भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिकों मे से हैं।

जीव विज्ञान आज एक प्रयोगात्मक विज्ञान (experimental science) बन गया है। विभिन्न क्षेत्रों मे इसकी प्रगति ने स्वाभाविक

रूप से अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले लिया है। जीव-विज्ञान जिस वेग से अग्रसर हो रहा है उसका साथ देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है, अधिकतर कार्य मानव कल्याण से सम्बन्धित है अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इस विषय ने भारतीय शिक्षा-पद्धति में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

अध्याय १६

उद्भिदों और प्राणियों का वर्गीकरण शरीर विज्ञान और शरीर व्यापार विज्ञान

(१)

मानव एक मननशील प्राणी है। स्वभाव से वह अपनी वस्तुओं का आवश्यकतानुसार वर्गीकरण करता रहता है। आदि मानव ने जंगली पशुओं को वश में ही नहीं किया वरन् उनका उपयोगितानुसार वर्गीकरण भी किया। जीव-विज्ञान की दृष्टि से वर्गीकरण विद्या यूनानियों के समय से प्रारम्भ होती है। जीव विज्ञान के जन्मदाता दार्शनिक अरिस्टोटल के पूर्व उल्लिखित उदीयमान शिष्य थियोफ्रेस्टस (Theophrastus) ने उद्भिद् जगत् को वृक्षों (trees), बड़ी व छोटी झाड़ियों (shrubs) और शाकों (herbs) में वर्गीकृत किया। वर्गीकरण के लिए उसने फलवाले, फल रहित, फूलवाले अथवा फूल रहित, सदा हरे रहनेवाले अथवा पत्ते गिरने वाले आदि गुणों के उल्लेख के साथ ही वातावरण (environment) पर भी बल दिया। तात्पर्य यह है कि उसने वातावरण सम्बन्धी आधुनिक विज्ञान पारिस्थिकी (Ecology) का भी लघु रूप में वर्णन किया। उसको उम्बेलकुल (Umbelliferae) और सग्रथित कुल (Compositae) धनिया (dhania) सूर्यमुखी (sunflower) जातियों, जैसे नैसर्गिक उद्भिद् समूहों का भी ज्ञान था। प्रसिद्ध यूनानी चिकित्सक, डायसकोरिडिस (Dioscorides) ने, सर्वप्रथम चिकित्सा ग्रन्थ (Materia Medica) लिखा जिसमें भेषज उद्भिदों (medicinal plants) का वर्णन किया था। यह एक सर्वसम्मत धारणा है कि मानव ने सर्वप्रथम उपयोगिता के आधार पर ही जीवधारियों का वर्गीकरण किया।

आज जब कि जाति (species) प्रजाति (genus) आदि के अर्थ और व्याख्या पूर्ण रूप से स्पष्ट हैं तब, वर्गीकरण के सब प्रयत्न उद्भिदों और प्राणियों के जाति चरित (phylogeny) सिद्ध करने के लिए किए जाते हैं। कारलॉस लीनियस (Carolus Linnaeus)

आधुनिक वर्गीकरण सहति का जन्मदाता है। उसने द्विपद पद्धति (Binomial System) के अनुसार उद्भिदों और प्राणियों को नाम देने की प्रथा को जन्म दिया। उसने एन्जियोस्पर्म (angiosperms) मधुत्तबीज के वर्गीकरण में पुष्पों के जनन अंगों (fertile parts, male) & female organs) पर विशेष बल दिया। उद्भिदों के इस वर्ग का मानव कल्याण की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है। आधुनिक अनुसंधानों से यह निश्चित हो गया है कि किसी एक प्रकार के लक्षणों के द्वारा किसी भी जीवधारी का वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। वर्गीकरण की इस समस्या के समाधान के लिए तो हमें आकार-सम्बन्धी (Morphology), शरीर विच्छेद सम्बन्धी (Anatomy) पुरासात्त्विक सम्बन्धी (Palaeontology), भ्रौणिकी (Embryology), कौशिकी (Cytology) देह व्यापार सम्बन्धी विज्ञान (Physiology) आदि से प्राप्त लक्षणों का संयोग करना ही पड़ेगा।

आकार विज्ञान (Morphology morpho=आकार, (form and logos=व्याख्या) आज भी जीवधारियों के वर्गीकरण के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण कसोटी (criterion) मानी जाती है।

उद्भिज जगत् चार निश्चित वर्गों में बाँटा जा सकता है —

१—थैलोफाइटा (Thallophyta सूत्रोद्भिद) (अ) एल्गी (Algae-आपक्त) (ब) फन्गाई (Fungi—कवकानि)

२—ब्रायोफाइटा (Bryophyta—हरितोद्भिद (अ) लिवरवर्ट स (Liverworts—प्रहरिता) (ब) मोसेज (Mosses—हरिता)

३—टेरिडोफाइटा (Pteridophyta—पर्णागादिका)—

(अ) लाईकोप्सिडा (Lycopsida)

(ब) टरोप्सिडा (Pteropsida)

४—स्पर्मेटोफाइटा (Spermotophyta—बीजोद्भिद।—

(अ) जिम्नोस्पर्म (Gymnosperms—नग्नबीज)

(ब) एन्जियोस्पर्म (Angiosperms—सवृत्त बीज)

एल्गी (Algae)—सूत्रोद्भिद (Thollophyta) वर्ग के उद्भिदों में न तो जड़ें होती हैं और न ही तने (shoot)। आपक्त (Algae) इस वर्ग का एक महत्त्वपूर्ण उपवर्ग है। ये उद्भिद अपना भोजन साधारण रसायनिक द्रव्यों जैसे कार्बन डाइआक्साइड (Carbon

dioxide CO_2) जल से, सूर्य के प्रकाश के माध्यम से स्वय निर्माण कर सकते हैं। इनकी कोशाओं मे यद्यपि दूसरे रग भी होते हैं तथापि हरे रग की प्रमुता पाई जाती है। जब दूसरे रग हरे रग को दबा लेते हैं तो आल्पक अपने रंगों के कारण विभिन्न नामों से पुकारे जाते हैं - यथा, नील-हरि आल्पका (Blue green algae), बभ्र आल्पका (Brown algae) और रक्त आल्पका (Red algae)। रग के अतिरिक्त ये सरचना मे भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं।

ये उद्भिद जल अथवा अत्यधिक आर्द्र (moist) स्थानों मे पाये जाते हैं। विशेष जाति, विशेष स्थानों मे जैसे कोई शान्त जल मे तो कोई तेज बहने वाले में कोई मीठे जल मे, तो कोई समुद्र मे पाई जाती हैं। आकार मे भी अणुवीक्ष्य स्तर (microscopic) से लेकर बभ्रु आल्पकाओं मे वरुणवाम (sea kelp) लम्बे वृक्ष के समान तक होते हैं।

आधुनिक अनुसधानो ने भोजन निर्माण व कृषि मे खाद के क्षेत्र मे इनके महत्त्व को दर्शाया है और वैज्ञानिक इस दिशा मे प्रयत्नशील हैं। व्यापारिक जम्बुकी (Iodine) समुद्री रक्त की और बभ्र आल्पका (Red and Brown algae) से प्राप्त होती है।

फुंगी (Fungi—कवकानि)—सूत्रोद्भिद (Thallophyta) वर्ग का यह दूसरा उपवर्ग है। यह अपना भोजन आल्पकों (Algae) की तरह स्वय नहीं निर्माण करता है। हरे रग की अनुपस्थिति मे ऐसा करना सभव भी नहीं अत मृत अथवा जीवित कृतियों से ही पूर्व निर्मित भोजन प्राप्त करता है। भोजन प्राप्त करने के अनुसार वे मृतोपजीवी (saprophytic) अथवा परोपजीवी (parasitic) कहलाते हैं। यद्यपि इनमे हरा रग नहीं होता तो भी दूसरे रग, जिनमे कुछ तो बहुत चमकदार होते हैं, पाये जाते हैं। साधारणतया चटकीले रग वाली कवकानि (fungi) विषैली होती हैं। मोल्डस (molds) भ्रामता (mildews) टोड स्टूल्स (toad stoolss) छत्रा (musorooms) आदि को कौन नहीं जानता। जैतून (olive), अजीर (fig) और अगूर (grapes) की बीमारियाँ प्राचीन यहूदियों को भी ज्ञात थीं। १८४५ मे आयरलैंड में पोटेटा ब्लाइट (potato blaight) ढाई लाख मनुष्यों के भुखमरी व रोग से मरने का कारण बनी। मान

कल्याण की दृष्टि से कवकानि (fungi) एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपवर्ग है। यह हमारे सुख, दुःख, रोग व स्वास्थ्य, जीवन और मृत्यु आदि के कारकों में से एक है।

वर्षाकाल में जब हवा में आर्द्रता अधिक होती है आपने अपने जूतों पर, भोज्य पदार्थों पर फफूँदी चढ़ी देखी होगी। इसी प्रकार मैदानों में पशुओं के गोबर आदि में छतरीनुमा वस्तुएँ निकलती देखी होंगी। यह सब साधारणतया पाये जानेवाले कवकानि हैं—जैसे म्यूकर (Mucor), पक्सीनिया (Puccinia), एगेरिकस (Agaricus) आदि।

लिवरवर्ट्स—(Liverworts—प्रहरिता)—हरितोद्भिद (Bryophyta) के इस उपवर्ग के विषय में बहुत कम लोग जानते हैं। मैदानों की अपेक्षा यह पौधे पहाड़ों में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। ये उद्भिद नमी और छाया अधिक पसन्द करते हैं। सूत्रोद्भिद (Thallophyta) और उच्च श्रेणी के हरितोद्भिद (Bryophyta) जैसे हरिता (Moss) के मध्य यह एक कड़ी है।

यद्यपि ये उद्भिद आर्थिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं तथापि अध्ययन की दृष्टि से निम्नश्रेणी के उद्भिदों और प्रथम स्थली उद्भिदों (Land plants) के मध्य एक प्रकार की कड़ी होने के कारण महत्त्वपूर्ण हैं। रिक्सिया (Riccia), मार्केन्शिया (Marchantia) आदि इसके उदाहरण हैं।

मासेज—(Mosses—हरिता)—हरितोद्भिद का दूसरा उपवर्ग हरिता (Mosses) है। इन उद्भिदों में सर्वप्रथम तने और पत्तियाँ प्रकट होती हैं। और इन तनों की शारीरिकी में कुछ ऊतियों में सर्वप्रथम विभिन्नता पाई जाती है। उदाहरण—फ्यूनेरिया (Funaria)।

लाईकोप्सिडा (Lycopsida) —

पर्णाङ्गादिका—(Pteridophyta) नामक वर्ग का यह बड़ा उपवर्ग है। इस उपवर्ग में कुछ सरल उद्भिद आते हैं जिनमें पत्तियाँ छोटी तथा विकसित वाहि संहति (vascular system) होती हैं। यद्यपि इस उपवर्ग की आधुनिक प्रजातियाँ बहुत छोटी होती हैं। लाखों वर्ष पहले इनके पूर्वज अत्यधिक विशाल वृक्ष थे। इँगलैंड और मास में पाया जानेवाला कोयला इन्हीं वृक्षों का परिवर्तित रूप है।

इन उद्भिदों का कोई आर्थिक महत्त्व नहीं है। यह मैदान और पहाड़ों मे सब जगह पाये जाते हैं।

टेरोप्सिडा (Pteropsida) पर्णाङ्ग—इस उपवर्ग के पर्णाङ्गदों (Pterdophyta) की पत्तियाँ बडी होती हैं। ये उद्भिद छायादार स्थानों में अधिक पाये जाते हैं और बगीचों मे सुन्दरता के लिए लगाये जाते हैं। इन उद्भिदों की छ हजार विभिन्न जातियाँ सारे संसार में पाई जाती है। किसी भी उद्यान मे पाये जानेवाले पर्णाङ्ग (ferns) ये हैं। मेडेन हेअर पर्णाङ्ग (Maiden hair fern), टेरिस (Ptiris fern), राजसी पर्णाङ्ग (Royal fern) आदि।

जिम्नोस्पर्म (Gymnosperms)—नग्नबीज—बीजोद्भिज (Spermatophyta) वर्ग में प्रगुणन बीज द्वारा ही होता है। बीजावरण (seed covering) अथवा बीज चोल (seed coat or testa) से रक्षित भ्रूण को बीज (seed) कहते हैं। यह बीज इन पौधों के प्रगुणन व प्रसार का एक महान् साधन है।

नग्नबीज (Gymnosperm) इस वर्ग का एक उपवर्ग है। इनके बीज नग्न व खुले होते हैं। इस उपवर्ग मे देवदार (Cedrus), यू (Yew), साइकड (Cycad), मेडेन हेअर ट्री (Maiden hair tree) आदि वृक्ष आते हैं। एफिड्रा (Epherda—सोम), जिससे एफिडीन नामक औषधि तैयार की जाती है राजस्थान में बहुतायत से पाया जाता है। आप शायद विश्वास न करें ये उद्भिद पहले भारत के मैदानों मे भी पाये जाते थे जहाँ कि अब वे नष्ट हो चुके हैं। हिमालय में पहले इनका नामोनिशान न था और आज वहाँ अत्यधिक संख्या मे पाये जाते हैं। स्वर्गीय प्रो० बीरबल सहानी ने, जो संसार के सर्वश्रेष्ठ उद्भिद शास्त्र विज्ञों मे से एक थे, इस विषय पर बहुत अध्ययन किया है।

इस महान् उपवर्ग के विषय मे संक्षेप में कुछ भी लिखना असम्भव है। यहाँ इतना बता देना पर्याप्त होगा कि इनमें से कुछ आधुनिक पुष्पी पादपों (flowering plants) की आधार शिलाएँ सिद्ध हुई।

एन्जिओस्पर्म (Angiosperm—संवृत्तबीज)—बीजोद्भिदों (Spermatophyta) का यह सर्वश्रेष्ठ उपवर्ग है। अण्डाशय (ovary)

में बीज का बनाना जो बाद में फल का रूप धारण कर लेता है इस वर्ग की विशेषता है। इसके अतिरिक्त परागण (pollination) नामक क्रिया अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परागण क्रिया में नरजनन अंगों से पराग स्त्री-जनन अंगों तक पहुँचाया जाता है।

नग्नबीजों (Gymnosperms) के फूलों की अपेक्षा इस उपवर्ग के फूल कोमल और अल्पकालीन होते हैं इसलिए अधिक संख्या में उत्पन्न होते हैं।

यह वर्ग आकार-प्रकार में एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न पौधों का समूह है। वातावरण के अनुसार अपने को उपयोजित (adapt) करने की इसमें शक्ति है और यही कारण है कि संसार के किसी कोने में चाहे वे नदी, झील, पृथ्वी, पहाड़ों की चोटी और गुफाएँ ही क्यों न हों, ये सब जगह पाये जाते हैं। कुछ अगर एक ऋतु में नष्ट हो जाते हैं तो कुछ वर्षों बने रहते हैं। मनुष्य अपने अस्तित्व, भोजन, वस्त्र और प्रतिदिन की आवश्यकताओं के लिए इसी वर्ग पर निर्भर रहता है।

(२)

प्राणी-जगत अकोशीय प्रोटोज़ोआ (protozoa—प्रजीव) और बहुकोशीय मेटेज़ोआ (metazoa नैककोशिन) दो महान वर्गों में विभक्त किया जाता है।

प्रोटोज़ोआ वर्ग के प्राणी अत्यधिक छोटे और अकोशीय होते हैं। मेटाज़ोआ में बहुकोशीय प्राणी सम्मिलित किये जाते हैं। मेटाज़ोआ के अन्तर्गत अपृष्ठवंशी (Invertebrates), पृष्ठवंशी (Vertebrates) प्राणी आते हैं।

प्राणीजगत Animal kingdom —
- प्रजीव —(Protoza)
- नैककोशिन —(Metazoa)
  - अपृष्ठवंशी —(Inveratebrates)
  - निम्नवर्गीकार्डेट्स —(Lower chordates)
  - कार्डेट्स —(Chordates)
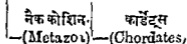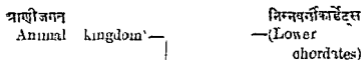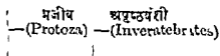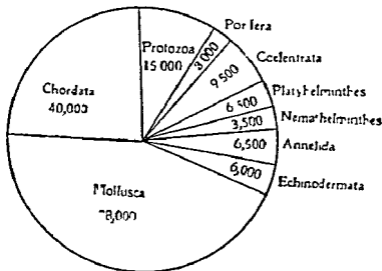
Diagram to denote the proportional estimate of different animals Arthropodes omitted

अपृष्ठवंशी (Invertebrates) —

(१) पोरिफेरा या छिद्रिष्ठ (Porifera)—स्पंज
(२) सीलन्ट्रेटा (Coelenterata)—जेली मछली (Jelly fish) प्रवलादि (Corals)
(३) प्लेटीहेलमिन्थीस (Platyhelminthes)—पृथक्रमि या चिपिट कृमि
(४) नीमेटहेलमिन्थीस (Nemathelminthes)—सूत्रकृमि
(५) एनेलिडा (Annelida) केंचुए, जोंक आदि
(६) मोलस्का (Mollusca) घोंघे व सीपी
(७) इकाईनोडरमेटा (Echinodermata)—स्टार फिश
(८) आर्थोपोडा (Arthropoda)—तितली, चींटी, बिच्छू आदि

लोअर कार्डेटा (Lower chordata) —

(१) हेमी कार्डेटा (Hemichordata)—बलानोग्लासस
(२) यूरोकार्डेटा (Urochordata)—जलोद्वारी (Ascidian)

पिछली शताब्दि मे इनका सजीव स्वरूप पहचाना गया। अगर आप कभी समुद्र के किनारे पर ज्वार उतरने के बाद निकलें तो चट्टानों पर आपको सैकड़ों सूक्ष्म छिद्रोंवाली नलिकाएँ चिपकी हुई दिखलाई देंगी। ये ही स्पंज हैं। आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग काफी महत्त्वपूर्ण है।

सीलेनट्रेटा (Coelenterata)–आन्तरगुहिन–पोलिप (Polyp), जेली मछलियाँ (Jelly fishes) अनिल पुष्प (Sea anemones), प्रवालादि (Corals) इस वर्ग मे आते हैं। प्राणी-जगत मे इस द्विस्तरीय (diploblastic) वर्ग पर ही जटिल प्राणियों की सृष्टि सम्भव हो सकी। सफेद और लाल प्रवालादि (Coral) आपने संग्रहालयों (Museum) में देखे होंगे। ये इस वर्ग के प्राणियों द्वारा उत्सर्जित चूर्णक अथवा चूने के लवणों (lime salts) द्वारा बनते हैं इतना ही नहीं कुछ विशेष प्रकार के बलादि ने प्रवालद्वीप ही नहीं वरन् विशाल प्रवाली (coral reef) खडी कर दी हैं। आस्ट्रेलिया की ग्रेट बैरियर रीफ (Great Barrier Reef) एक हजार मील लम्बी और पचास मील चौडी है। लाहोर के स्वर्गीय प्रो॰ जार्ज मथाई इस वर्ग के माने हुए विद्वान् थे।

प्लेटीहेलमिन्थिस (Platyhelminthes)–पृथुकृमि –त्रिस्तरीय (triple blastic) प्राणियों में यह प्रथम वर्ग है जिनमें बहिस्तर (ectoderm), मध्यस्तर (mesoderm) और अन्त स्तर (endoderm) तीनों पाये जाते हैं। ये कृमि तालाबों और पोखरों मे रेंगते हुए पाये जाते हैं। ये चपटे और पत्ते के आकार के होते हैं। इनमें से कुछ पराश्रयी (parasitic) हैं जैसे भेडों मे लिवरफ्लूक (Liverfluke) याकृत विद्या और मनुष्य की आतों मे टीनिया (Taenia–चपशिराति)

नीमेटहेल्मिन्थिस (Nemathelminthes—सूत्रकृमि) इस वर्ग मे सूत्रकृमि या राउण्डवर्म (Round worm) सम्मिलित हैं। अपने स्वभाव (habit) और प्राकृतिक वास (habitat) मे ये एक दूसरे से बहुत भिन्न हैं। गर्म झरनों से लेकर उत्तरी ध्रुव सागर तक, रेगिस्तान से लेकर झीलों और समुद्रों के कीचड तक पौधों की जडों से लेकर मनुष्य के रक्त तक मे पाया जाता है। इसका शरीर पतला है और इसी के अनुसार नाम होते हैं। जैसे थ्रेट कृमि

(thread worm) हेयर कृमि (hair worm), ईल कृमि (Eel worm) इस वर्ग का अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह मनुष्य और उसके पालतू जानवरों में पराश्रयी है। गिनीवर्म जो कभी-कभी तीन फुट लम्बा होता है अपनी प्रौढ़ावस्था मनुष्य की त्वचा के नीचे और युवावस्था मीठे जल में पाये जानेवाले साइक्लोप्स (Cyclops) नामक प्राणियों में व्यतीत करता है। एस्केरिस (Ascaris) की कई जातियाँ मनुष्य की आंत्र में साधारणतया पाई जाती हैं। इसकी मादा एक फुट लम्बी होती है और प्रति दिन पन्द्रह हजार अण्डे देती है हुक्वर्म मांसाहारी मनुष्यों में पाया जाता है। खेती में हमारी फसलों के लिए गॉल कृमि (Gall worm) एक अत्यधिक विनाशकारी प्राणी है।

एनेलिडा (Annelida)—वलयिन—केंचुए (earthworm) सैन्ड वर्म (sand worm) और जोंक (leech) इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। शरीर की बनावट में पूर्व उल्लिखित वर्गों से एकदम आगे है। इनमें पाया जाने वाला खण्डविभाजन (segmentation) प्राणियों के विकास में एक महान घटना है।

इस वर्ग में केंचुए अधिक महत्त्वपूर्ण प्राणी हैं। चालीस वर्ष के अवलोकन के बाद डारविन ने केंचुओं द्वारा किए गये कार्य का वर्णन किया है। केंचुए अपने भोजन का प्राप्त करने के लिए मिट्टी खाते हैं और अनावश्यक मिट्टी पचन पथ से गुदद्वार द्वारा निकाल देते हैं। इस प्रकार केंचुओं के कार्य-स्वरूप पृथ्वी के ऊपर की मिट्टी प्रति वर्ष बदली जाती है। मनुष्य हल चलाकर पृथ्वी को उर्वरा बनाता है। परन्तु ये केंचुए मनुष्य से पहले ही पृथ्वी पर हल चलाते रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि केंचुए किसानों के निकटतम मित्र हैं। भारतीय केंचुए (Pheretima) पर किये गए अपने अनुसन्धानों के कारण स्वर्गीय प्रो० करम नारायण बहल संसार के महान जीव शास्त्रियों में गिने जाने लगे। इस वर्ग के अन्य महत्त्वपूर्ण प्राणी जोंक (leech), समुद्रीय किनारे रेत में पाये जाने वाले नीरीज (Neries) नामक सैंडवर्म आदि उदाहरण हैं।

मोलस्का (Mollusca—मृदु प्राणी)—इस वर्ग में घोंघे (snail), सीपी (mussels) सीसेपी (cuttle fish) अष्टबाहु (octopus) आदि प्राणी आते हैं। ये आर्द्र स्थलों और मीठे अथवा लवण जल में पाये जाते हैं। अधिकतर इनके शरीर के चारों तरफ

एक कैल्शियम कार्बोनेट का दृढ़ प्रकवच (shell) होता है। इनके अन्दर किसी प्रकार का कंकाल नहीं होता।

मुक्ता शुक्ति (Pearl oyster) से प्राप्त मोती अत्यधिक मूल्यवान् माने जाते हैं। जो इसके प्रावार (mantle) और बाहर के प्रकवच (shell) के मध्य में किसी रेत कण के आ जाने के कारण और इससे उत्पन्न उद्दीपन (irritation) के फलस्वरूप तैयार किए जाते हैं। फोटोग्राफर की दुकान में अधिक काम लिया जाने वाला सीपिया रंग अपने दुश्मनों से बचने के लिए स्याही जैसा पदार्थ फेंक कर पानी को गन्दा करनेवाली समुद्री मसीपेची नामक प्राणी से ही प्राप्त होता है।

इकाइनोडरमेटा (Echinodermata—शल्य पृष्ठ) शल्यतारक (Starfish), सी अरचिन (Sea urchin) और जल ककड़ी (Sea-cucumber) इस फाइलम (Phylum) के कुछ प्राणी हैं। इनका शरीर अरीय सममितीय (radially symmetrical) होता है और शल्य आवरण से ढका रहता है। इन प्राणियों में लाखों नाल पाद (tube feet) नामक विचित्र अवयव होते हैं जिनकी सहायता से ये चलते तथा अपना भोजन प्राप्त करते हैं।

आर्थ्रोपोडा (Arthropoda—सन्धिपादा)—इन प्राणियों का शरीर, सिर, वक्ष व उदर में विभक्त होता है और इनके पैर कई खण्डों के बने होते हैं (Arthros=खण्ड, podos=पाद, पैर)। कुछ जल में रहते हैं (Crustacea) और श्वसन क्रिया जल क्लोम (gills) द्वारा सम्पन्न करते हैं। भूमि पर रहने वाले कीट (insects) विशेष प्रकार के श्वसन अवयवों से, जिन्हें श्वासनल (trachea) कहते हैं, यह क्रिया सम्पन्न करते हैं। इस फाइलम का दूसरा महत्त्वपूर्ण लक्षण इसका ठोस और मजबूत बहिर्कंकाल (exoskeleton) है। यह बहिर्कंकाल समय समय पर बदलता जाता है और उस समय प्राणी अपने शरीर के आकार में वृद्धि कर लेता है।

इस वर्ग के प्राणियों का जीवन चक्र (life history) बहुत जटिल होता है। इनमें कुछ ऐसे परिवर्तन होते हैं कि जिन्हें रचनान्तरण (metamorphosis) कहते हैं। अपने उद्यानों में उड़ती तितलियाँ तो आपने देखी होंगी उनके विभिन्न रंग और सुन्दर नमूने प्राकृतिक

सुन्दरता के उदाहरण हैं। तितली अंडे में से निकलनेवाले शिशु को जातक अथवा लार्वा (larva) कहते हैं जो खंडयुक्त कृमि (worm) के समान लगता है और जिसे हम 'लट' भी कहते हैं। जल्दी ही यह लार्वा कोशित अथवा प्यूपा (pupa) में परिवर्तित हो जाता है। यह प्यूपा अपने आवरण को कई बार बदलकर अन्ततः तितली बन जाता है। ये परिवर्तन रचनान्तरण (metamorphosis) कहलाते हैं।
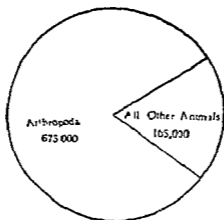
Diagram to denote the proportional representation of Insects among Arthropods

साथ के चित्र से कुल ज्ञात प्राणियों में फाइलम अर्थोपोडा के प्राणियों की संख्या का अनुमान लग सकता है। विभिन्न प्रकार के प्राणी, झींगा मछली, केकडे कानखजूरे, टिड्डे, मक्खी, बिच्छू, मकडी आदि इस वर्ग में गिनाये जा सकते हैं। इस भूमिका में उन सबसे प्राप्त लाभ, हानियों आदि का किसी भी प्रकार का चित्रांकन करना असम्भव है। हाँ, कीट वर्ग के विषय में आगे चलकर कुछ बातें बतायेंगे।

बचे हुए प्राणी कार्डेटा (Chordata) वर्ग में आते हैं। यद्यपि इस वर्ग के प्राणी आकार-प्रकार में अत्यधिक भिन्न हैं फिर भी उनमें कुछ निश्चित साम्यताएँ जैसे नोटो कार्ड (Notochord) श्वासन दरियों की

उपस्थिति (pharyngeal gill slit) तथा पृष्ठ नलाकार चेता नाल (dorsally placed nerve cord) है। यह लक्षण निम्न श्रेणी के कार्डेट प्राणियों में यावज्जीवन पाये जाते हैं तो उच्च श्रेणी में कुछ का स्थान दूसरे लक्षण ले लेते हैं।

(हेमीकार्डेटा (Hemichordata—मामिमेरु—ये केंचुए के समान कोमल, लम्बे, कृमि रूप प्राणी होते हैं। बलेनोग्लास (Balanoglossus) इस वर्ग का एक उदाहरण है।

यूरोकार्डेटा (Urochordata)—पुच्छमेरु—यह थैलेनुमा अचल प्राणी होते हैं और समुद्र के किनारे चट्टानों अथवा रेत में चिपके रहते हैं। इनको जलोद्गारी (Sea squirts) भी कहते हैं।

केफेलाकार्टेटा (Cephalochordata)—शीर्षमेरु)—इस वर्ग का एम्फीऑक्सस (Amphioxus) नामक प्राणी सर्वाधिक प्रसिद्ध है। यह केवल लक्षणों से ही कार्डेट नहीं वरन् उच्च वर्गीय कार्डेट्स के पूर्वज से मिलता जुलता प्रतीत होता है। उष्ण समुद्रों के किनारे रेत में प्रत्येक स्थान पर मिलता है।

वर्टीब्रेटा (Vertebrata)—पृष्ठवंशी)—के अन्तर्गत मछलियाँ (fishes), उभयचारी (amphibia), सरीसृप (reptiles), पक्षी (birds), व स्तनी (mammals) आते हैं अर्थात् वे सभी प्राणी जिनके सिर, जटिल मस्तिष्क, २, ३ अथवा ४ वेश्मों (chambers) वाला हृदय और लाल रक्त होता है। यद्यपि ये एक दूसरे से काफी भिन्न होते हैं परन्तु यह विभिन्नताएँ इतनी अधिक नहीं जितनी अपृष्ठवंशियों में मिलती हैं।

मछली जलचर है जल-क्लोम (gills) के द्वारा श्वास लेती है और पक्षों (fins) के द्वारा तैरती है। मेंढक (frog) के समान एक उभयचारी (amphibia), भूमि पर रहता है और जल-क्लोम (gills) को शैशावस्था में ही छोड़कर फेफड़ों से साँस लेता है। पक्षों (fins) के स्थान पर हाथ पैरों से चलता है। इसी प्रकार सरीसृप (reptile), मत्स्य, उभयचारी आदि स्थितियों को अण्डे में ही गुजारकर फेफड़े और हाथ-पैरों के साथ बाहर आता है। पक्षी (birds) और स्तनी (mammals) दोनों

सरीसृपों से विकसित हुए । पक्षियों ने मछलियों के शल्कों (scales) के स्थान पर पंख और स्तनियों ने अब बाल प्राप्त कर लिये हैं । इसके अतिरिक्त पक्षी और स्तनी अपने बच्चों का पालन पोषण

a

b

c
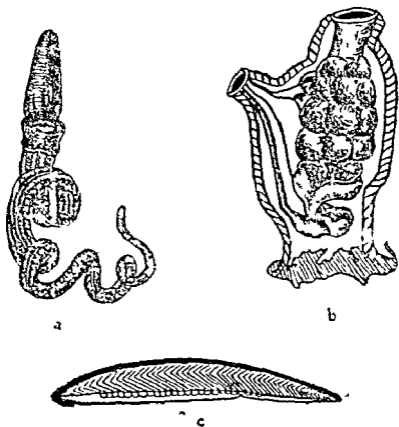
Lower Chordates a—Balanoglossus b—Ascidian c—Amphioxus

करते हैं। यदि मछलियाँ जल में प्रभुता सम्पन्न हैं तो पक्षी हवा में और स्तनी भूमि पर। सरीसृपों का प्रभुत्व पृथ्वी के इतिहास की दृष्टि से अब स्तनियों के हाथ में आ गया है। मानव एक स्तनी प्राणी है।

पाइसीज़ (Pisces—मत्स्य)—ये जलचारी होते हैं और छोटी मछलियाँ, कृमियों (worm) और समुद्री उद्भिदों पर जीवनयापन करते हैं। ये शीत रक्त के प्राणी हैं। कुछ मछलियाँ (Rajaraja for-mis) बिजली की तरह झटका दे सकती हैं। बहुत सी मछलियाँ मनुष्य के भोजन के और उद्योगों के लिए बड़ी लाभप्रद हैं। राष्ट्र को इनकी बिक्री से लाखों रुपयों का लाभ होता है।

एम्फीबिया (Amphibia)—उभयचारी)— (Amphi=उभय boios=जीवन) इस समूह का प्रतिनिधि मेढक हमारा सर्वाधिकपरिचित शीत रक्त वाला प्राणी है। इस वर्ग में सरटक (Salamandar), (Amblystoma) अधिक विचित्र प्राणी है। इसका शिशु (Axolotl) बिना वयस्क (adult) हुए बच्चे देने लगता है। जल से निकालने पर यह व्यस्क सरटक बन जाता है और हमें डॉक्टर जेकिल और मि० हाइड (Dr Jekyll and Mr Hyde) की कहानी याद दिलाता है। कुछ मेढक (Rana esculenta) फ्रान्स में स्वादिष्ट भोजन माने जाते हैं।

रेप्टाइल (Reptile)—सरीसृप, repere रेंगना)—सरीसृपों का ध्यान आते ही हमारा ध्यान सर्पों की ओर जाता है। इस वर्ग में सर्प, छिपकलियाँ, मगर, कछुए आदि सम्मिलित हैं। सर्पों, मगरों और घड़ियालों की त्वचा चमड़े का सामान बनाने के काम आती है। सर्पों से सबको डर लगता है यद्यपि सभी विषैले नहीं होते हैं। विषैले सर्पों में नाग, करैटली (vipers), दबोइया (Vipera russels) आदि हैं। कुछ सर्प जैसे अजगर, दुमुँहि, धामन विषैले नहीं होते।

जनस्वास्थ्य विभाग द्वारा निर्मित नक्शों (charts) को देखने से आप विषैले और विषरहित सर्पों की पहचान करना सीख सकते हैं। ऐसा देखा गया है कि मनुष्य साँप काटने के डर से अधिक मरते हैं न कि विष से।

एवीज़ (Aves—पक्षी) ये उष्ण रक्त वाले प्राणी हैं और इनके अगिवाले पैर पक्ष में रूपान्तरित हो जाते हैं। सारे शरीर पर पाये जानेवाले छोटे-छोटे पंख असंग्राही (non-conducting) चादर से

ढके होते हैं। हवा में उड़ने के उपयोजन (adaptation) के फल-स्वरूप इनके शरीर के भिन्न-भिन्न अवयव कुछ इस प्रकार परिवर्तित हो गये हैं कि उनमें कम से कम भार और अधिक से अधिक दृढ़ता है। आज के वायुयान भी इसी नियम के अनुसार बनाये जाते हैं।

पक्षी देखने में किसी व्यक्ति को सुन्दर लगते हैं। शिकारी पक्षी अथवा घरेलू पक्षी के रूप में, हानिकारक कीटों और मैदानों से घास के बीजों को खाकर ये हमारे लिए काफी आर्थिक महत्व के प्राणी हैं।

मेमल्स (Mammals—स्तनी; mamma स्तन)--शरीर पर बाल बच्चों को दूध पिलाने के लिए स्तन, चार वेश्मवाला हृदय और उष्ण रक्त का होना इनके लक्षण हैं। पृथ्वी पर प्राप्त प्राणियों में सर्वोच्च प्राणी है। मानव इस विकास की चरम सीमा है। कुछ स्तनी अण्डे देते हैं (Monotremes) कुछ अधूरे बच्चे उत्पन्न करते हैं (Marsup ials) और कुछ पूर्ण शिशु उत्पन्न करते हैं (Placentals)।

इस वर्ग में, जल में ह्वेल (Whale) हवा में चमगादड़ (bats) और भूमि पर, गिलहरी, खरगोश, चूहे, बिल्ली, कुत्ते आदि सब प्रकार के प्राणी मिलते हैं। बन्दर, वनमानुष और मानव इस वर्ग के प्राइमेट्स (Primates) नामक उपवर्ग में आते हैं।

प्राजीवों से लेकर स्तनी वर्ग तक हमें जीवन की कितनी विभिन्नता देखने को मिलती है, यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है।

(३)

पिछले पृष्ठों में प्रकृति में पाई जानेवाली विशालता और विभिन्नता का एक अस्पष्ट चित्र खींचा गया है। इन असंख्य व विभिन्न जीव-धारियों की जीवन सम्बन्धी क्रियाओं का वर्णन और भी कठिन है। उद्भिदों की विभिन्न प्रक्रियाओं (functions) का उनकी संरचना (structure) से घनिष्ठ सम्बन्ध है। संरचना की जानकारी के बिना क्रियाओं का समझना असंभव है। आकार विज्ञान (Morphology) शरीर-विज्ञान (Anatomy) और देह व्यापार विज्ञान (Physiology) का अध्ययन साथ साथ ही अच्छी प्रकार हो सकता है क्योंकि यदि एक से जीवधारी क्या है, इसका बोध होता है तो दूसरी से जीवधारी

क्या करता है, इसका ज्ञान होता है। संसार के विभिन्न जीवधारियों का सिंहावलोकन करने के पश्चात् अब हम एक सामान्य पौधे (plant) और एक प्राणी (animal) में उनके शरीर के विभिन्न अवयव (organs) संहतियाँ (systems) व सफल जीवन-यापन के लिए उनके विभिन्न प्रक्रियाओं के एकीकरण (co-ordination) आदि का अध्ययन करेंगे।

किसी भी पुष्पित पौधे (flowering plant) को जैविक प्रक्रियाओं (life-processes) को समझने के लिए उदाहरण बनाया जा सकता है, जैसे कपास का पौधा। किसी भी पौधे की तरह यह भी कोशाओं (cells) से मिलकर बना है। हजारों कोशायें मिलकर तन्तु (tissues) और विभिन्न तन्तुओं से अवयव (organs) और अवयव मिलकर संहति (system) बनाते हैं। यह सब मिलकर पूर्ण पौधा बनता है। स्थूल रूप में वृद्धिभाग (vegetative-parts) और जननांग (re-productive parts) किसी भी पौधे में
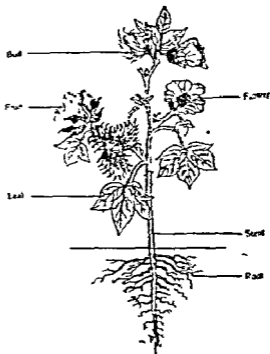
A cotton plant showing various vegetative and reproductive parts in relation to each other

अलग पहिचाने जा सकते हैं। वृद्धि अगों मे मूल (root) स्कन्ध अथवा स्तंभ (stem) व पत्ते (leaves) होते है, जब कि जननागों में पुष्प, फल व बीज होते हैं। चित्र मे कपास के पौधे मे इन अवयवों का आपसी सम्बन्ध दिखाया गया है।

मूल (Root—जड)—जडें भूमि के निकट सम्बन्ध मे रहती हैं और साधारणतया धरातल पर नहीं दीखतीं। भूमि से जल और विलयित खनिज लवणों (dissolved mineral salts) का शोषण (absorption) करना और पौधों को भूमि मे दृढतापूर्वक खडा करना इनका मुख्य कार्य है। इस प्रकार लिये हुए पदार्थ काष्ठ (wood) में नालयत रचनाओं (tubular structures) द्वारा स्कंध मे सचालित (conduct) किये जाते हैं। साथ ही हरे भागों मे उत्पन्न किया हुआ भोजन, सग्रह के उद्देश्य से जडों मे लाया जाता है। जैसे मूली और गाजर म। सूक्ष्म परीक्षण (examination) द्वारा पता चलता है कि क्रिया करने के लिए छोटी छोटी जडें और उन पर पाये जानेवाले मूलरोम (root hairs) उत्तरदायी हैं। केवल यही नहीं किन्तु मूलरोमों के अन्दर का चैतन्यपदार्थ (livingsubstance) शोषण किये जानेवाले पदार्थों को जो भूमि मे पानी मे घुले रहते हैं, छाँटने मे अपना प्रभाव दिखाता है। शोषित पदार्थ की मात्रा भूमि मे जल की मात्रा पर निर्भर करती है जो स्वय भूमि के भौतिक और रासायनिक स्वभाव पर निर्भर करता है। रेतीली भूमि, धरण भूमि (humussoil) को अपेक्षा कम पोषक होती है।

भौतिक (physial) और जैविक (vital) कारकों (factors) भूमि के इन सरल लवणों का पौधों में प्रवेश नियन्त्रित होता है। मूलरोम सजीव इकाई हैं। फिर भी उनकी प्रक्रियायें विभिन्न भौतिक कारकों जैसे अन्तर वस्तुओं का सान्द्रण (concentration) आसृतीय निपीड (osmotic pressure) आदि पर निर्भर करती हैं। यह सभी जानते हैं कि जडें अत्यधिक दबाव डाल सकती हैं जो कभी-कभी बडी बडी चट्टानों को तोड देने में समर्थ होती हैं। पीपल की जडों द्वारा कई घरों की दीवारें टूटी हुई अक्सर देखी जाती हैं। सग्रह (storage) आरोहण (climbing) प्रजनन, पराश्रयी (parasitic)

आदि प्रक्रियाओं के लिए जहाँ विभिन्न रूप से सम्परिवर्तित (modified) भी मिलती हैं

मटर, सेम आदि शिम्बिकुली पौधों (Leguminous plants) की जड़ द्वारा नाईट्रोजन स्थिरीकरण का उल्लेख किये बिना यह वर्णन अधूरा रहेगा। इन जड़ों पर छोटे-छोटे ग्रन्था (nodules) होते हैं। ये पार्श्ववर्ती छोटी जड़ों के समान होते हैं और इनमें राईज़ोबियम (Rhizobium) नामक एक जीवाणु (bacteria) होता है जो वात भूयाति (atmospheric nitrogen) का भूमि में स्थिरीकरण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार नाईट्रोजिनस लवणों (nitrogenous) salts) से भूमि पौधों के लिए अधिक उपयोगी बन जाती है। ये लवण जड़ों द्वारा शोषण के पश्चात् पौधे के शरीर में संश्लिष्ट (synthesis) कर प्रोटीन (Protein–प्रोभूजिन) बन जाते हैं।

स्कन्ध (Stem)—जड़ों से पत्तों और पत्तों से जड़ों तथा कलियों (buds) तक विभिन्न पदार्थों का संवाहन, स्कन्ध का मुख्य कार्य है। दूसरे, स्कन्ध पत्तों व पुष्पों को उत्पन्न करते हैं और सहारा देते हैं। जड़ों की तरह ये भी संग्रह के काम आते हैं। स्कन्ध और पत्ते मिलकर प्रांकुर (shoot) कहलाते हैं। सामान्यतया स्कन्ध भूमि से ऊपर रहते हैं। (वायव्य—aerial), परन्तु भूमिगत (underground) भी पाये जाते हैं। शाकीय स्कन्ध कोमल सामान्यतया हरे, मोटाई में कम और प्रायः एक ऋतुजीवी (annual) होते हैं। काष्ठित स्कन्ध सीधे (erect) दृढ़ और पूर्ण विकसित तन्तु ऊतियोंवाले (fibrous tissues) मोटाई में अधिक और बहु ऋतुजीवी (Perennial) होते हैं। बाह्य रूप से स्कन्ध पर्व सन्धियां (nodes) और पर्वों (inter nodes) द्वारा पहिचाना जाता है। पत्ते इन पर्व सन्धियों पर उत्पन्न होते हैं। स्कन्ध और पत्ते के बीच के कोण (angle) में कलियाँ (buds) अथवा शाखायें होती हैं। ऐसी कलियाँ स्त्राक्ष्य व अक्ष कोणीय (axillary) कहलाती हैं अग्र कलियाँ (terminal buds) शाखाओं के सिरों पर और आगन्तुक कलियाँ (abventitious buds) इनके अतिरिक्त स्थानों पर पाई जाती हैं। सामान्य कलियाँ शाखायें, और पत्ते और पुष्प कलियाँ, पुष्प उत्पन्न करती हैं। पत्ते और

कलियों के अतिरिक्त काष्ठ शाखाओं (woody stems) पर गिरी हुई पत्तियों, कलियों, शाखाओं और पुष्पों द्वारा छोड़े गये चिन्ह (scar किण) मिलते हैं। इनके अतिरिक्त स्कन्धों की छाल के धरातल पर अमरत्र वातक रन्ध्र (lenticels) भी दिखाई देते हैं।

स्कन्धों के शरीर विज्ञान के (anatomy) अध्ययन से कार्य और रचना की अभिन्नता का विश्वसनीय प्रमाण मिलता है। इनकी बनावट तीन प्रकार के तन्तुओं द्वारा होती है। (१) मोटी भित्तिवाली दृढ़ साथ ही लचीली कोशाधु (cellulose) और लगुडि (lignin) युक्त बलशाली तन्तु (strengthening tissues) (२) अपेक्षाकृत पतली भित्तिवाले निश्छिद्रित (Perforated) सचालित तन्तु (conducting tissues) जो एक कोशा से दूसरी कोशा तक पदार्थों के स्थानान्तरण को सरल बनाते हैं, और (३) पतली भित्ति और बड़े कूप (cavities) वाले भोजन समह तन्तु storage tissue) पतली भित्ति और मोटी भित्तिवाले तन्तुओं, और तन्तु सहति (tissue system) का इस प्रकार निर्माण हुआ है कि सब प्रकार के झुकनेवाले दबावों का निरोध कर सकें और द्रव्यों का संचालन सुचारु रूप से होता रहे। सवाही सहति की दो महत्वपूर्ण कृतियाँ जाइलम (xylem-दारु) और फ्लोएम (Phloem) अथवा बास्ट (bast) हैं। जाइलम जल और लवणों को पत्तियों तक पहुँचाता है। फ्लोएम निर्मित भोजन को पत्तियों से आन्तर्भौमि स्कन्धों (underground stem) व जड़ों तक पहुँचाता है। एक विकसित पौधे की जाइलम कोशायें निर्जीव (dead) होती हैं जब कि फ्लोएम सजीव इकाइयाँ हैं स्कन्ध की विभिन्न रचनाओं का वर्णन पारिभाषिक शब्दों के बिना असम्भव है।

यह सर्वविदित है कि कुछ वृक्ष हजारों वर्ष जीवित रहते हैं और उनके स्कन्ध अत्यधिक मोटे हो जाते हैं। सड़कों के बीच में पाये जाने वाले ऐसे कुछ विशाल वृक्षों को खोखला कर उनके आधार के बीच में सड़कें बना ली गई हैं जिनमें से यात्रियों अथवा सामान से लदी लारियाँ (lorries) बड़ी आसानी से निकल सकती हैं। जैसे-जैसे वृक्ष वृद्ध होता जाता है उसमें कई रासायनिक परिवर्तन होते जाते हैं। केन्द्र में पाई जानेवाली हृतकाष्ठ (heart mood) जो सबसे पुरानी काष्ठ

होती है सवाहन के लिए बेकार हो जाती है और उद्यासों (resin) निर्यासों (gums) और शल्कि (tanin) से व्याप्त हो जाती है। केवल बाहरवाली रसकाष्ठ (sap wood) ही काम में आती है। नदियों से खोखले खड़े हुए वृक्ष सबने देखे होंगे, जिसकी हृदकाष्ठ पूर्णतया लुप्त हो चुकी है। अन्यथा इन रासायनिक पदार्थों के व्यापन से काष्ठ नैसर्गिक रूप से परिरक्षित हो जाती है और कीटों द्वारा नष्ट होने से बच जाती है। काष्ठों के गुणों और उपयोगों का अध्ययन वन विज्ञान (Forestry) का क्षेत्र है। राज्य सरकारों ने राष्ट्र के
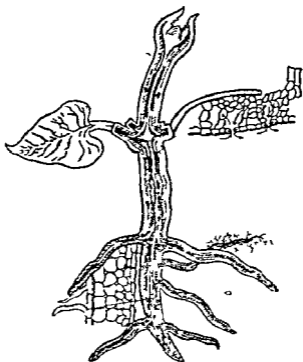
A diagrammatic representation to indicate the course of liquids in the plant body

काष्ठवन के उपयोग पर अनुसंधान करने के लिए बड़े-बड़े विभाग खोल रखे हैं। स्कन्धों से काष्ठ के अतिरिक्त क्षमा (flax) पटसन

(jute) शण (Indian hemp) शल्कि (tanin) रंग (dyes) सुगन्ध (चन्दन काष्ठ), कुनैन तथा एफिड्रिन नामक दवाइयाँ कॉर्क (cork) और रबड (rubber) आदि महत्त्वपूर्ण पदार्थ मिलते हैं। गन्ना, आलू, प्याज लहसुन, अदरक आदि से पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलता है।

जैसा ऊपर बताया जा चुका है विलयित पदार्थों सहित जल का संवाहन, स्कन्ध का मुख्य कार्य है। स्कन्ध में होनेवाली इस क्रिया को अन्न संक्रमण क्रिया (translocation of food) कहते हैं। जाईलम और फ्लोएम इस प्रक्रिया से सम्बन्धित मुख्य ऊतियाँ हैं। यह घोल (solution) किस प्रकार सैकड़ों फुट ऊपर पहुँचता है, कई अनुसन्धानों का विषय रहा है। स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बोस इस प्रक्रिया में जीवनक्रिया (vital activity) की प्रधानता के अधिवक्ता थे। तथापि अधिकाश वैज्ञानिक, निपीड (pressure), जल का संसंजी बल (cohesive force) जाईलम नलिकाओं (xylem tube) की केशाल क्रिया (capillary action) आदि भौतिक कारकों को प्रधानता देते हैं।

वृद्धि प्रजनन (Vegetative propagation) के लिए स्कन्ध महत्त्वपूर्ण अंग है। कटी शाखाओं से पौधों की उत्पत्ति के विषय में सब जानते हैं। एक पौधे की शाखा का दूसरे पौधे की शाखा पर रोपण (grafting) कर नई जातियाँ पैदा करना एक महत्त्वपूर्ण प्रथा है। इस प्रणाली से बीज रहित फल रोग निरोधक (disease resistant) संकर (hybrid) प्राप्त किये जाते हैं, और पुष्पित और फलित होने का समय भी कम किया जाता है।

पत्ते (Leaf)—प्रथम अध्याय में हरे पत्तों के आश्चर्यजनक कार्य का उल्लेख किया गया था। पौधे के स्वेदन (transpiring), श्वसन और कार्बन परिपचन (carbon assimilation) करनेवाले विशेष अंगों के रूप में इनका वर्णन किया जाता है। ये वायव्य स्कन्धों के लाक्षणिक उपांग (appendages) हैं। आकार परिमाण और आन्तरिक बनावट में अत्यधिक भिन्नता पाई जाती है। किसी भी भूदृश्य (land-scape) में इनका प्रमुख आपने अनुभव किया होगा। साधारणतया एक पत्ती में डण्ठल अथवा पत्रदण्ड (petiole) और एक फैला हुआ

फलक अथवा पत्रदल (lamina) होता है। घासों में और केले में यह पत्रदण्ड स्कन्ध को अशतः अथवा पूर्णरूप से घेरे रहता है। पत्ते की नाडियाँ (veins) स्कन्ध के सवाहि सहति से सतत (continuous) होती हैं और फलक का ढाँचा बनाती हैं। इन नाडियों द्वारा लाक्षणिक नमूने (characteristic patterns) पत्तियों पर बन जाते हैं, जैसे घास मे उनका समानान्तर होना और किन्हीं मे नाडी जाल सा (reticulate) बना देना। इनकी सीमाएँ, सिरे और आधार विभिन्न पौधों मे विभिन्न लाक्षणिक गुण प्रदान करते हैं। बहु-सख्यक पौधों मे पत्तियाँ सरल (simple) होती हैं और बहुत कम, सयुक्त पत्तियोंवाले होते हैं, जिनमे प्राक्ष (rachis) पर छोटे छोटे पत्ते लगे होते हैं (pinnate and palmate)।

एक पत्ते के अनुप्रस्थ छेद (transverse section) मे तीन मुख्य तन्तु अधिचर्म (epidermis) मध्यपर्ण (mesophyll) और नाडियाँ (veins) दिखते हैं। अधिचर्म रक्षा करता है और इसमे बहु-सख्यक छिद्र होते हैं जिन्हें मुखछिद्र (stomata) कहते हैं। ये छिद्र पत्ते के नीचेवाले तल पर अपेक्षाकृत अधिक सख्या मे और रक्षिकोशा (guardcell) के युग्मों में रक्षित होते हैं। मध्य पर्णोति मे शादिघटन (chloroplast) नामक एक हरा पदार्थ होता है जिसकी क्रियाओं के कारण पत्ते के तल पर पाये जानेवाले हजारों मुखछिद्र कार्य करते रहते हैं। इनकी सख्या व वितरण भिन्न पौधों मे भिन्न होता है। सूर्यमुखी (Sun flower) पौधे के पत्ते के निचले तल पर १६,५०,००० मुखछिद्र होते हैं। कई पौधों मे पत्तियों पर रोम (hairs) होते हैं। मध्य पर्णोति की कोशायें पतली भित्तिवाली होती हैं और बहु-सख्यक शादिघन्न की उपस्थिति के कारण भोजन निर्मात्री होती हैं। उत्तराधारिक (dorsi ventral) और जालीवत नाडियोंवाली पत्तियों में वे ऊपरी भाग मे पाई जाती हैं, और स्तम्भोति (palisade tissue) का निर्माण करती हैं। निम्न भाग मध्य पर्णकोशायें अबद्ध (loose) रूप से मिलती हैं ताकि वाति प्रसरण (diffusion of gases) सुगमतापूर्वक हो सके। पत्ती की नाडियाँ पत्र-दण्डों के द्वारा स्कन्ध के सवाहि सहति से सम्बन्धित होने के कारण अन्न सक्रमण (translocation of food) क्रिया मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

कई पौधों में पत्तियाँ विशेष रूप में (special organ) परिवर्तित हो जाती हैं। मांस भुंजी पौधों की पत्तियाँ बड़ी विचित्र और कुछ इस प्रकार सम्परिवर्तित हो जाती हैं कि इन पर बैठनेवाले कीट (insect) फँस जाते हैं और फिर उनको पचा लेती हैं जैसे पिचर प्लान्ट (Pitcher plant), वीनस फ्लाई ट्रैप (Venus fly trap) आदि। इसके अतिरिक्त वे प्रतानी अंगों (climbing organs) जैसे मटर मे और वृद्धि प्रजनन अंगों मे (Bryophyllum) सम्परिवर्तित हो जाती हैं। भोजन निर्माण जैसे महत्त्वपूर्ण कार्य के अतिरिक्त पत्तियें श्वसन और उत्स्वेदन (transpiration) क्रियाएँ सम्पन्न करती हैं। उत्स्वेदन द्वारा पौधे अनावश्यक पानी अपनी पत्तियों से जल-वाष्प के रूप में निकाल देते हैं। श्वसन क्रिया केवल पत्तियों मे ही सीमित नहीं रहती वरन् प्रत्येक सजीव कोश इस क्रिया को करता है। कार्बन परिपचन द्वारा भोजन निर्माण शक्ति पौधों को प्राणियों की अपेक्षा अधिक उन्नत सिद्ध करती है। स्तम्भोति सहित मध्य पर्णोति में असंख्य शादिघटन (chloroplast) होते हैं। प्रत्येक शादिघटन एक इंच के १/२५०० वें भाग से कभी बड़ा नहीं होता। पत्ती के एक वर्ग मिलीमीटर (1 sq mm.) तल में कल्पना कीजिए लगभग ४,००,००० (चार लाख) छोटे-छोटे इस जीवित पदार्थ के दाने होते हैं। इस प्रकार १० इंच लम्बी पत्ती में इन शादिघटनों का क्षेत्रफल ३०० वर्गगज तक हो सकता है। किसी वृक्ष मे शादिघटनों का कुल क्षेत्रफल पता करना असम्भव है। हम केवल निकट-तम (approximate) अनुमान मात्र ही लगा सकते हैं। एल्म (Elm) नामक वृक्ष मे हरे शादिघटन द्वारा भोजन निर्माण का क्षेत्रफल एक सौ एकड़ से अधिक अनुमान किया जाता है। ये शादिघटन प्रकाश के माध्यम में वायु की कार्बन डाइ-आक्साइड को तोड़कर और पानी के साथ मिलाकर प्रथम कार्बोहाइड्रेड बनाते हैं जो बाद मे दूसरे बड़े व्यूहाणुओं (molecules) से मिलकर माण्ड (starch) और शर्करा (sugar) बन जाते हैं। गन्ने और चुकन्दर (beet root) की शर्करा सर्वप्रथम पत्ते में बनी। इस प्रकार आलू और गेहूँ में पाया जानेवाला माण्ड भी पत्ते ही में बनकर हमारे उपयोग के लिए उपयुक्त स्थान में संग्रह किया गया। शर्करा और माण्ड के अतिरिक्त पत्तियाँ प्रोटीन का निर्माण भी करती हैं। ये इतने जटिल पदार्थ हैं कि सजीव प्ररस (protoplasm) के अतिरिक्त

मनुष्य अपनी प्रयोगशाला में अभी आज तक इसका निर्माण नहीं कर सका है। इनके सरलेषण के लिए आवश्यक नाइट्रोजन जड़ों द्वारा साधारण लवणों के रूप में शोषित किया जाता है। इस कार्बन परिपाचन अथवा फोटोसिंथेसिस (photosynthesis) द्वारा प्रकाश-शक्ति (light energy) रासायनिक शक्ति में बदलकर विभिन्न भोजनों में संग्रह कर ली जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पर्णशाद और मुखछिद्रों का कार्य इस प्राणीय जगत में एक अनुपम क्रिया है।
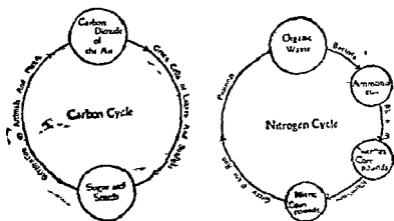
Carbon and Nitrogen Cycles

पुष्प (Flower)—यद्यपि पौधे के पुष्पित होने के कारण सफलतापूर्वक न समझे जा सके तथापि यह सर्वविदित है कि पुष्पों का मुख्य कार्य प्रजनन है। पुष्प एक रूपान्तरित प्ररोह है जिसके कुछ भाग पत्तियों से और स्कन्धों से मिलते-जुलते हैं। एक पूर्ण पुष्प में चार अंग होते हैं। बाहर के हरे पुटपत्र अथवा विदल (sepals) इसके अन्दर पुष्पदल (petals) अथवा दल, उसके अन्दर नर चक्र (male whorl) तथा सबसे अन्दर और अन्तिम स्त्रीचक्र (female whorl) होता है।

प्राचीन काल में लिंग (sex) नाम की वस्तु फूलों में होना ज्ञात

नहीं था। अरब निवासी एक फूल को दूसरे फूल से स्पर्श कराने से खजूर मे उत्पादन अधिक हो जाने को जानते थे। अरस्तू के अनुसंधान के पश्चात् पौधों मे लिंग का ज्ञान अधिक सरल हो गया। केमेरेरियस (Camerius) फूलों के कार्यों का वैज्ञानिक कारण बतानेवाला प्रथम विद्वान् था। उसने लिखा है "वनस्पति जगत् में बीज निर्माण, जो प्रकृति की अनुपम भेंट है और जाति के लिए उपयोगी है, तब तक नहीं होता जब तक पराग कोष डिम्बाशय में स्थित शिशु पौधे को पहले से तैयार नहीं करता। कॉलरायटर (Kolreuter) ने १७६१ में पौधे मे लिंग की उपस्थिति निश्चित रूप से स्थापित कर दी।

जिस प्रकार पत्तियों मे दो निश्चित भेद जालिकावत् (net veined) और समदिश (parallel veined) देखते हैं उसी प्रकार संवृत्त बीजी पौधों के फूल भी दो निश्चित प्लान (plan) पर बने हैं प्रथम प्रकार मे पुष्पचक्र तीन अथवा तीन के अपवर्त्य (multiple) मे और दूसरे प्रकार मे दो, चार अथवा पाँच या उनके अपवर्त्य में पाये जाते हैं। पहले प्रकार के उदाहरण घास, गुललाला (Tulip) और सुदर्शन (Amaryllis) के फूल, और दूसरे प्रकार मे कपास, सेम की फली, सरसों के फूल आदि गिनाये जा सकते हैं। इन पुष्पचक्रों के संगठन विभिन्न प्रकार के होते हैं और वर्गीकरण के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। सबसे बाहर का पुटचक्र (calyx) साधारणतया हरा होता है और इसके प्रत्येक अंग को पुटपत्र (sepals) या निदल कहते हैं। इनका मुख्य कार्य पुष्प कलिका (flower bud) की रक्षा करना है। द्वितीय चक्र दलचक्र (corolla) होता है। जिसके अंग दलपत्र (petals) कहलाते हैं। ये अधिकतर गहरे रंग के और सुगन्धित होते हैं और ध्यान मे आकर्षण और सुन्दरता के केन्द्र होते हैं।

अन्दर के दोनों चक्र आवश्यक प्रजनन चक्र हैं इनमे दोनों मे बाहरवाला चक्र पुमंग (androecium) होता है जो पुंकेसरों (stamens) से बनता है। इसका ऊपरी भाग परागाशय (anther) कहलाता है। परागाशय चार वेश्मवाला भाग है जिसमें दो पालियाँ (lobes) होती हैं और परागकण (pollen grains) नामक नर उत्पादक अंग भरे होते हैं। सबसे अन्दर मिलने वाला जायांग (gynoecium) होता है। इसके अंग अण्डप (carpels) कहलाते हैं। प्रत्येक अण्डप में अण्डाशय (ovary) कुक्षिवृन्त (style) और कुक्षि (stigma) होते हैं।

परागकण के कुक्षि तक पहुँचने की क्रिया को परागण (pollination) कहते हैं।

परागण की दो मुख्य विधियाँ हैं। (१) स्वयं परागण (self pllination), जहाँ कि परागकण पुष्प एक के परागाशय से उसी पुष्प की कुक्षि पर पहुँचाये जाते हैं। (२) अपर परागण (cross pollination) जिसमें दोना प्रजनन कोश भिन्न पुष्पों के होते हैं।

परागण क्रिया के तीन मुख्य साधन हैं, वायु, जल और कीट (insects) विशेष प्रकार के परागण के लिए पुष्प भी सम्परिवर्तित हो जाते हैं। इन सब में कीट परागित पुष्प अध्ययन की दृष्टि से अत्यधिक रोचक होते हैं। तितलियाँ मधुमक्खियाँ आदि कीट फूलों पर ध्वनि करते हुए हमने देखे ही हैं। शहद और शहद की मक्खी का उल्लेख भूमिका में किया जा चुका है। पुष्प कीटों और चिड़ियों को ही नहीं मनुष्य को भी आकर्षित करते हैं यह किसी से छिपा नहीं।

परागण के पश्चात् परागकण का उद्भेदन (germination) होता है, और एक पराग नलिका (pollen tube) बनाता है जिसके द्वारा दो नर जन्यु (male gametes) अण्डाशय में प्रवेश कर जाते हैं और अण्ड (osphere) से मिलकर निषिक्त (fertilized) अण्डे बनाते हैं। इस क्रिया को निषेचन (fertilization) कहते हैं। इस प्रकार पर्यंड (ovule) से बीज की उत्पत्ति होती है और सम्पूर्ण जायाग (gynoecium) फल का रूप धारण कर लेता है। कुछ पौधों में फलों के उत्पादन के पश्चात् जीवन समाप्त हो जाता है। ऐसे पौधों के सारे साधन फूल और फल उत्पन्न करने में ही लगा दिये जाते हैं। कुछ में ऐसा नहीं होता। उनमें वृद्ध अंग जीवित रहता है। और प्रतिवर्ष फल देता है।

फल (Fruits)—फल भी कई प्रकार के होते हैं और उनका वर्गीकरण उनकी सरचना अंडाशयों की संख्या आदि पर आधारित है। फल तीन प्रकार के होते हैं (१) साधारण (simple) (२) सामूहिक (aggregate) अथवा (३) समग्रथित (composite)। साधारण फल एक अंडाशय से, सामूहिक फल अनेक अण्डपों (carpels) से और समग्रथित फल पुष्प समूह (inflorescence) से बनता है। शुष्क (dry) और मांसल

(succulent) फल भी होते हैं। वे स्फोटि (dehiscent) जैसे पापी (poppy) अथवा कपास के फल और अस्फोटि (indehiscent) जैसे गेहूँ अथवा चावल के फल होते हैं। कपास का फल कई अडपों द्वारा बनता है और उसे प्रावर अथवा केप्सयूल (capsule) कहते हैं। जब यह पक जाता है तब अपने आप फटकर अन्दर कपास की गेंद खोल देता है। प्रत्येक कपास की गेंद में बीजों पर कपास के तन्तु लगे होते हैं इन तन्तुओं की लम्बाई और कोमलता पर ही कपास की उत्तमता निर्भर करती है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारत में इस महत्त्व-पूर्ण पौधे मे परागण मधुमक्खियों द्वारा होता है जबकि विदेशों में यही कार्य पक्षी करते हैं।

बीज (Seeds)—एक बीज आवश्यक रूप मे अविकसित भ्रूण (embryo) होता है। इसमे प्रारम्भिक पोषण के लिए आवश्यक भोजन सग्रहीत रहता है और यह एक बीज चोल (testa) द्वारा रक्षित होता है। भ्रूण मे एक अथवा दो बीजपत्र cotyledons) होते हैं और एक लम्बाकार परन्तु छोटी अक्ष होती है जिसका एक सिरा भविष्य में स्कन्द (stem) और दूसरा जड़ का निर्माण करता है। ये क्रमश भ्रूणाग्र (plumule) और भ्रूण मूल (radicle) कहलाते हैं। प्रत्येक बीज एक निश्चित समय तक सुषुप्तावस्था (dormancy) मे रहता है। उसके बाद ही वह उगने के योग्य हो पाता है। विभिन्न बीजों मे यह समय भिन्न होता है। इसी प्रकार उत्पन्न करने की शक्ति भी एक निश्चित समय तक ही पाई जाती है। कुछ बीज कुछ दिन अथवा सप्ताह तक ही उद्भेदन के योग्य रहते हैं। जब कि भारतीय कमल के बीज चार सौ वर्ष के बाद भी उग सके हैं। साधारणतया चार से दस वर्ष तक ही बीज उगने के रहते हैं। आजकल सग्रह करने के वैज्ञानिक साधनों के कारण यह समय और बढ़ाया जा सकता है।

बीज तथा फल प्रसार (dispersal of seeds and fruits) जाति के लिए बहुत आवश्यक क्रिया है। इसके साधन वायु, जल अथवा जन्तु होते हैं। आज मानव ही ससार के कोने-कोने मे इनके प्रसार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन हो गया है।

(४)

एक सुसगठित पौधे की सरचना और प्रक्रियाओं के सक्षिप्त वर्णन

के पश्चात् अब हम एक आदर्श पृष्ठवंशी प्राणी, मानव का भी उसी प्रकार अध्ययन करें। एक पृष्ठवंशी का शरीर द्विपार्श्वतः संमित (bilaterally symmetrical) और सिर, वक्ष और उदर तीन भागों में विभक्त होता है। इसकी त्वचा के भी दो भाग होते हैं, ऊपर का अधिचर्म (epidermis) और अन्दर का निचर्म (dermis)। अधिचर्म (जैसे जब मनुष्य दाढ़ी बनाता है) लगातार बदलता जाता रहता है और निचर्म में रक्त, लसीका (lymph) रंगकोशाएँ, (pigment cell) चेता कोशाएँ (nerve cells), स्वेद ग्रन्थियाँ (sweat glands) आदि होती हैं। पक्षियों के अतिरिक्त सब पृष्ठवंशियों में पाये जानेवाले दाँत, त्वचा से ही निर्मित महत्त्वपूर्ण सरचना (structure) हैं। मासपेशियाँ दो प्रकार की होती हैं। अनैच्छिक (involuntary) जो लगातार कार्य करती रहती है तथा दूसरी ऐच्छिक (voluntary) जो केवल इच्छानुसार ही कार्य करती हैं। हृदय की भित्ति की मासपेशियाँ हृत पेशी (cardiac muscle) कहलाती हैं। रक्त नलिकाएँ (blood vessels) और नाडियाँ (nerves) मासपेशियों में जाल की तरह फैली हुई हैं। मांसपेशियों का अस्थियों से विशेष सम्बन्ध है और इन्ही के कारण अस्थियाँ अपने जोड़ों पर घूम रही हैं।

मानव शरीर के अन्दर अस्थियों का एक आधारी ढाँचा है जिसको अस्थिपिञ्जर (skeleton) कहते हैं। इसमें लगभग दो सौ अस्थियाँ हैं जो योजी ऊतियों (connective tissue) अस्थियों और मासपेशियों के मध्य कार्य करनेवाली मास रज्जुओं (tendons) और दो अस्थियों के मध्य अस्थि-रज्जुओं (ligament) की सहायता से सुचारु रूप से कार्य कर सकती हैं। खोपड़ी (skull) और मेरुदण्ड (vertebral column) इस अस्थिपिंजर की अक्ष (axis) बनाते हैं जिससे हाथों और पैरों के आधारी ढाँचे क्रमशः अंशचक्र (shoulder girdle) और श्रोणीचक्र (pelvic girdle) के माध्यम से मिलान्वित हैं। मानव-शरीर की सीधी खड़ी अवस्था के कारण अस्थिपिंजर के अपने लाक्षणिक स्वरूप बन गये हैं। हाथ की बनावट में मुड़नेवाला (opposable) अँगूठा एक महत्त्वपूर्ण संरचना है। यह पकड़ने के लिए ही कुशल अंग नहीं है, वरन् इन उँगलियों के अगले सिरे पर केन्द्रित नाड़ी जाल के कारण मानव विभिन्न कार्य
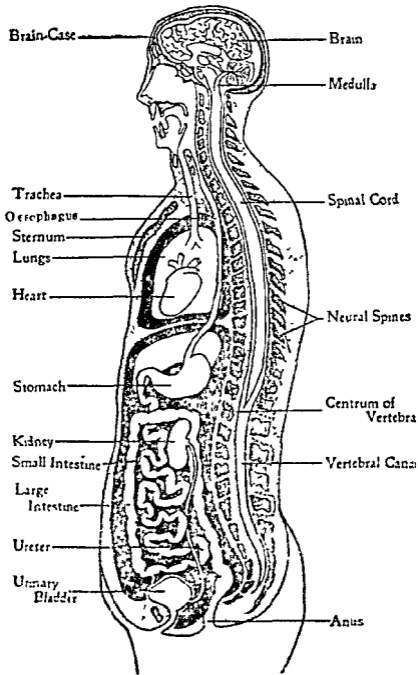
An ideal diagrammatic longitudinal section showing position of various organs in the human body.

सफलतापूर्वक करने में समर्थ हो सका है और मस्तिष्क के सहयोग से तो मानव सृष्टि का विशिष्ट प्रभुता सम्पन्न प्राणी बन गया है।

अस्थिपिंजर के अतिरिक्त एक उन्नत उद्भिद् के समान मानव शरीर भी तन्तुओं अवयवों और महतियों से बना है। इसका शरीर विज्ञान (Anatomy) और देह-व्यापार विज्ञान (Physiology) का अध्ययन, भेषज विज्ञान (Medical science) का कार्य है। प्राणी-शास्त्र के दृष्टिकोण से कुछ विशिष्ट बातों पर इस भूमिका में प्रकाश डाला जा सकता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण महतिया (systems) का वर्णन नीचे दिया जाता है।

(क) पाचन-महति (Digestive system)—आन्त्रकुल्या (Alimentary canal) मूलतः एक रासायनिक प्रयोगशाला है जिसमें भोजन मास पेशियों की क्रिया से एक सिरे से दूसरे सिरे तक जाता है। इस बीच में विभिन्न पाचन-रसों (digestive juices) द्वारा सरल विलेय अवस्था में परिवर्तित किया जाता है ताकि पाचन-पथ की भित्तियों (walls) में से जीवधारी के उपयोग में आने के लिए अन्दर जा सकें। प्रोटीन (protein—प्रोभूजिन) कार्बोहाइड्रेट (carbohydrates)—प्रांगोदीय) और वसा (fats) वाले जटिल भोजन का जलांशन (hydrolysis) होता है। इस क्रिया में भोजन के साथ जल मिलाया जाता है फिर विकर (enzyme) जो विशिष्ट आवेनक (catalyst) होते हैं रासायनिक क्रिया करते हैं। ये विकर भोजन के जटिल व्यूहाणुओं (molecule) को सरल कर देते हैं और प्रोटीन (protein) को एमिनो एसिड (amino acid—तिक्ति अम्ल) में, वसा को फैटी एसिड (fatty acid) में और कार्बोहाइड्रेट को शर्करा में बदल देते हैं।

यह रासायनिक क्रिया भोजन को चबाने समय थूक मिलने के साथ प्रारम्भ हो जाती है। थूक में टायलिन (ptyalin) नामक विकर माड (starch) का पाचन प्रारम्भ कर देता है। निगल क्रिया द्वारा निगल (oesophagus) में होता हुआ भोजन आमाशय में आ जाता है। आमाशय मोटी भित्तिवाली थैलेनुमा रचना है जो उरःप्राचीर (diaphragm) के ठीक नीचे होता है यहाँ जठर ग्रन्थियों (gastric glands) द्वारा बनाया गया जठर रस (gastric juice) भोजन को

पचाता है। इस रस में ६६% जल, हाइड्रोक्लोरिक एसिड (hydro chloric acid), थोड़ा सा लवण, श्लेष्मल (mucous) तथा पेपसिन (pepsin) नामक विकार होता है जो प्रोटीन को तोड़ता है। कुछ घन्टों बाद अच्छी प्रकार मथित भोजन निजठर संकोचित (pyloric valve) में से निकल कर क्षुद्रांत (small intestine) मे पहुँचता है। यह लगभग छब्बीस फीट लम्बी नली है। रासायनिक प्रयोगशाला के इस भाग मे पाचन कार्य केवल पूर्ण ही नहीं होता, उसका शोषण (abosorption) भी होता है। पेपसिन के समान महत्त्वपूर्ण पचन रस इस भाग मे भी मिलते हैं। ये आन्त्रकुल्या के ही भाग हैं, परन्तु उससे दूर स्थित अवयवों से प्राप्त किये जाते है।

इन अवयवों मे शरीर की महानतम ग्रन्थि यकृत (liver) है जो १००० सी० सी० (1000 cc) पित्त रस बनाती है। यह एक जटिल क्षारीय द्रव है और पित्ताशय (gall bladder) मे इकट्ठा होता रहता है। इस उत्सर्ग (secretory) कार्य के अतिरिक्त प्रोटीन और कार्बोहाईड्रेट चयापचय (metabolism) विटामिनों (जीवति—(vitamins) का संग्रह, रक्त के विषैले पदार्थों का हटाना आदि क्रियाओं के लिए भी यह महत्त्वपूर्ण अवयव है। पैंक्रियास (pancreas) भी समान महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है। यह आमाशय के निकट स्थित है और अपने रस को पित्त प्रणाली मे डाल देती है। इसमे ट्रिपसिन (trypsin), एमाईलेस (amylase) लाईपैस (lipase) आदि विकर होते हैं जो क्रमश: प्रोटीन, माड (starch) और वसा पर अपनी क्रिया करते हैं। इसके अतिरिक्त क्षुद्रांत में उत्पन्न एरेपसिन (erepsin) नामक एक विकर पचन क्रिया पूर्ण करने मे सहायता देता है। इस प्रकार परिवर्तित भोजन आसृति (osmosis) और क्षुद्रात के जैविक क्रियाओं द्वारा शोषित कर लिया जाता है। अपचित और दुष्पाच्य भाग मलाशय मे पहुँचता है जहाँ प्रमुख रूप से जल का शोषण होता है। इस प्रकार अपचित भाग गुद (rectum) मे ठोस विष्ठा के रूप मे जमा हो जाता है और समय समय पर यह मल गुदद्वार मे होकर वाहर निकाल दिया जाता है।

कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन और वसा आदि के अतिरिक्त विटामिन्स अथवा जीवति भी महत्त्वपूर्ण सहायक भोज्य पदार्थ (accessory food) हैं। इनका रासायनिक संगठन और शरीर मे इनकी क्रियाओं का स्वरूप

अत्यधिक कठिन विषय है। फिर भी इनमें से छः सात काफी जाने हुए हैं। यह सब मनुष्य जानते हैं कि संतुलित भोजन (blanced diet) के अभाव में मनुष्य और पशुओं में कई प्रकार के रोग हो जाते हैं।

१७वीं शताब्दी में स्कर्वी (Scurvy) नामक बीमारी में नींबू और संतरे के रस रोगी को दिये जाते थे। १८वीं शताब्दी में रिकेट्स (Rickets) नामक रोग की चिकित्सा में काड मछली का तेल काम में लाया जाने लगा। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में (१८८१) रूसी वैज्ञानिक लूनिन (Lunin) की इस खोज ने कि शुद्ध प्रोटीन, वसा और कार्बोहाईड्रेट पर पाले गये चूहे जल्दी मर जाते हैं इस ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। १८८६ में डच पूर्वी द्वीप समूह में वेरी वेरी (Beri-Beri) नामक बीमारी के सम्बन्ध में जाँच के लिए डच सरकार ने एक कमीशन स्थापित की। इस बीमारी के जीवाणु (micro orgnnism) कारकों को ढूँढने में दो अमूल्य वर्ष नष्ट हो गये। भाग्य से परीक्षण के लिये रखी गई मुर्गियों पर इकमैन (Eykman) और उसके सहयोगी ग्रिजन्स (Grijans) ने भोजन सम्बन्धी खोज की। साफ किया हुआ चावल खिलाने पर मुर्गियों में यह बीमारी कुछ ही सप्ताहों में प्रकट हो गई। परन्तु साफ करते समय अलग किये हुए छिलकों को भी साथ खिलाने पर यह रोग तत्काल अच्छा हो गया और इस प्रकार 'कुछ तत्त्वों' के अभाव को रोग का कारण बताया गया। २०वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में सर फ्रैडरिक गाउलैंड हॉपकिन्स (Sir Fredric Gowland Hopkins) ने १९०६ में केवल प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और वसा के अतिरिक्त और भी कुछ अत्यधिक जटिल वस्तुओं के भोजन में साथ होने पर बल दिया। १९१२ में इनको भोजन का सहायक कारक बताया गया। उसी साल केसीमिर फंक (Casimir Funk) ने इनका नाम 'विटामिन' रखा। यद्यपि इनको सहायक भोज्य पदार्थ कहा जाता है तथापि जिस कम मात्रा में इनकी आवश्यकता होती है उसको देखते हुए इनका मूल कार्य शक्ति (eneagy) का साधन होना सम्भव नहीं।

पहले इनके नाम इनके अभाव से उत्पन्न रोगों के नाम पर पड़े, जैसे एन्टीन्यूरिटिक (antinuritic) बाद में इनका नामकरण अक्षर क्रम से (alphabetical order) करने का सुझाव रखा गया और इस प्रकार

ए बी सी डी (A B C D) आदि नाम पड़े। अब इनके रासायनिक सगठन की खोजों के कारण यह कार्य सरल हो गया और रासायनिक नाम दिये जाने लगे हैं। ये विटामिन प्राकृतिक साधनों से उत्पन्न होते हैं परन्तु प्रयोगशालाओं मे सश्लेषित (synthesize) भी किये जाते हैं।

विटामिन 'ए' शरीर की वृद्धि मे सहायता करता है। यह मक्खन, मलाई, अण्डे सब्जी और गाजर से प्राप्त होता है।

विटामिन 'बी' एन्टीन्यूरिटिक (antinuritic) होता है और इसकी कमी बेरी बेरी (Beri Beri) नामक रोग का कारण हो जाती है। भोजन मे विटामिन 'सी' की उपस्थिति स्कर्वी (Scurvy) नामक रोग को रोकती है। यह सन्तर, टमाटर नीबू आदि मे बहुतायत से मिलता है। इसी प्रकार विटामिन डी रक्त मे भास्वर अथवा फासफोरस (phosphorous) और चूने (calcium) का नियमन करता है और ठीक प्रकार से निर्माण मे सहायता देता है। विटामिन 'ई' प्रति-अजीवाणु (antisterilitic) माना जाता है।

इसके अतिरिक्त शरीर मे अप्रणाल ग्रन्थियाँ (ductless glands) जैसे गल ग्रन्थि (thyroid), पापी ग्रन्थि (pituitary) होती हैं, जिनका भ्रौण विकास के समय आत्रकुल्या से सम्बन्ध टूट जाता है। जीवधारी की देह व्यापारिकी पर इनका महान् प्रभाव होता है और यह न्यासर्ग (hormones) का उत्सर्जन करते हैं।

(ख) परिवहण रक्तभ्रमण सहति (Circulatory system)—यह रक्तवाहक (blood vascular) तथा लसीका वाहक (lymphatic) सहतियों से मिलकर बनती है। लसीका सहति अक्रिय रूप से कार्य करती है। साधारणतया परिवहण सहति का अर्थ केवल रक्त-वाहक सहति से ही समझ लेते हैं। रक्तवाहिनी नलिकायें, रक्त को हृदय से विभिन्न अगों को ले जाने वाली धमनियाँ (arteries) और विभिन्न अवयवों से हृदय की ओर लानेवाली शिरायें (veins) और इन दोनों प्रकार की रक्त वाहिनियों मे सम्बन्ध स्थापित करनेवाली केशिकायें (capillaries) रक्त वाहक सहति के मुख्य अग हैं।

हृदय मे चार कोष्ठ (chambers) होते हैं। दो शुद्ध रक्त और दो अशुद्ध रक्त से सम्बन्धित हैं। यदि हम यह कहें कि दो हृदय साथ मिलकर कार्य करते हैं तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। हृदय के ऊपरी

भाग में दो पतली भित्ति के वेश्म होते हैं जिन्हें दाहिने व बायें अलिन्द (auricles) कहते हैं। इनके ठीक नीचे दो दाहिने व बायें, प्रवेश्म (ventricles) होते हैं। दोनों दाहिने भाग अशुद्ध रक्त बायें भाग शुद्ध रक्त क्रमश फेफड़ों और शरीर को पहुँचाते रहते हैं।

हृदय की पम्पिंग (हवा भरना और हवा छोड़ना) क्रिया उसकी भित्ति की मांस पेशियों के संकोचन पर निर्भर होती है। अलिन्द और प्रवेश्म बारी बारी संकुचित एव शिथिल होते रहते हैं। संकोचन को हृतकुंचन (systole) और शिथिलन को प्रसार (diastole) कहते हैं। इस प्रक्रिया को हृदय की धड़कन (heart beat) कहते हैं। यह क्रिया औसतन प्रतिमिनट बहत्तर (७२) बार होती है और बालक के जन्म होने के पूर्व से प्रारम्भ होकर मनुष्य की मृत्यु के महत्त्व को समझाने लगातार होती रहती है। इस आश्चर्यजनक कार्य के समय तक के लिए हमको यह जानना आवश्यक है कि यदि प्रति धड़कन दो औंस रक्त निकालती हो तो चौबीस घण्टे में लगभग १३,००० पौण्ड रक्त हृदय द्वारा फेंका जाता है। किसी भी सशक्त मनुष्य को इतना ही भार प्रतिदिन उठाना पड़ जाय तो यह निश्चय है कि अपने कार्य काल को कम कराने के लिए वह हड़ताल कर देगा। हृदय से निकलते समय रक्त की गति बहुत अधिक होती है जो धीरे धीरे कम होती हुई केशिकाओं तक पहुँचकर बहुत कम हो जाती है। शिराओं में यह गति क्रम से फिर बढ़ती है परन्तु हृदय में इसका प्रवेश बहिर्गमनीय रक्त से धीरे ही होता है। २३ सैकण्ड में रक्त की एक इकाई शरीर का पूरा चक्कर लगाकर हृदय में वापिस पहुंच जाती है। हृदय में रक्त चाप धमनियों और शिराओं से अधिक होता है, जो स्वाभाविक है। केशिकाओं में यह दबाव बहुत कम होता है और यहीं धमनियों से त्याज्य (waste) पदार्थ लेकर और पौष्टिक पदार्थ देकर रक्त अपना वास्तविक कार्य सम्पादन करता है।

यह आश्चर्यजनक और जटिल परिवहण कार्य और इसकी विभिन्न दद व्यापारिनी क्रिया में वाहिनी प्रेरक नाड़ियों (vasamotor nerves) द्वारा नियमित होता है। ये नाड़ियें विशेष कर किसी अवयव को जाती हुई छोटी धमनियों के संकोचन और विस्फारण (dilation) का नियन्त्रण करती हैं क्योंकि शरीर में रक्त की मात्रा सर्वदा समान

रहती है, इसलिए किसी अवयव को अधिक मात्रा में रक्त पहुँचाने की आवश्यकता होने पर दूसरे किसी अवयव को कम रक्त दिया जाता है। उदाहरण के लिए भोजनोपरान्त पचन संहति को अधिक रक्त पहुँचता है परन्तु मस्तिष्क को कम। परिणाम-स्वरूप मनुष्य कुछ निद्रित अवस्था का आभास करता है। मानव के समान उष्ण रक्तवाले प्राणी एक निश्चित तापमान बनाये रखते हैं। उष्मा वितरण का कार्य रक्त सम्पादन करता है। अधिक कार्य करने के फलस्वरूप अधिक ऊष्मा पैदा होती है और पसीना आने पर अधिक उष्मा बाहर निकल जाती है। शरीर से इस प्रकार ऊष्मा निकलते रहने के बाद भी शरीर गर्म रहता है। जब रक्त त्वचा से हटाकर अन्दर के दूसरे अवयवों को पहुँचाया जाता है तब ठण्ड लगती है जैसा भोजन करने के बाद। अब आपकी समझ में आ गया होगा कि जुकाम लगने के समय हम अपने आपको गर्म क्यों अनुभव करते हैं।

(ग) श्वसन (Respiration)—यह एक जारण (oxidation) क्रिया है जिसके परिणामस्वरूप ऊर्जा तथा ऊष्मा का उन्मोचन होता है। वायु फेफड़ों में जाकर रक्त को शुद्ध करती है। बाह्य नासाविवर (external nostrils) अथवा मुख से वायु फैरिंग्स (pharynx) में पहुँचती है और कंठपिधान (epiglottis) के ऊपर होती हुई घोषित (larynx) में प्रवेश करती है। घोषित से एक श्वासनाल (trachea) निकलता है जो वक्ष में प्रवेश करते ही दो दाहिने और दो बायें क्लोम नालों (bronchi) में विभक्त हो जाता है। प्रत्येक क्लोमनाल छोटी-छोटी नलिकाओं (bronchioles) में विभक्त होकर वायुकोशीय प्रणालियाँ (alveolar ducts) अलिन्द (atrium) तथा निवाप (infundibulum) का रूप ले लेती हैं और प्रत्येक निवाप में सैकड़ों वायुकोष (alveoli) होते हैं। रक्तवाहक संहति की सूक्ष्म केशिकाएँ इन वायुकोशों को घेरे रहती हैं जहाँ वायु की ऑक्सीजन (Oxygen) के बदले कारबन डाइ-ऑक्साइड (CO_2) रक्त से निकलती रहती है। जलवाष्प और ऊष्मा भी बाहर निकलती है। यह वाति विनिमय अन्तः श्वसन (inspiration) और उच्छ्वसन (expiration) द्वारा नियमित की जाती है और इसे श्वसन क्रिया कहते हैं।

इस संवातन गति को संक्षेप में यहाँ बताते हैं। फेफड़े शंक्वाकार (conical) और लचीले (elastic) थैले होते हैं और वाता प्रवेश

(air tight) वक्षगुहा में लटके रहते हैं। जब वक्षगुहा पसलियों की ओर उरप्राचीर (diaphragm) की गति के कारण विस्तृत होती है तो फेफड़े भी फैल जाते हैं। प्रतिवर्ग इंच पन्द्रह पौंड दबाव के हिसाब से फेफड़े वक्षगुहा से चिपके रहते हैं और इसीलिए वक्षगुहा के फैलने से फेफड़े भी उसके साथ फैल जाते हैं और वायु अन्दर खिंच आती है। परिणामस्वरूप अन्त श्वसन क्रिया पूर्ण हो जाती है। जब उर प्राचीर के शिथिलीन और पसलियों के पीछे, सरकने के कारण वक्षगुहा का आयतन कम होता है तब फेफड़े पर दबाव पड़ता है और हवा बाहर निकल जाती है। (expiration)। फेफड़े इस प्रकार क्रिया में कोई सक्रिय भाग नहीं लेते। यदि वक्षगुहा में किसी दुर्घटना के कारण छिद्र हो जाय तो फेफड़ों का ममसदन (collapse) हो जाता है क्योंकि फिर हवा का दबाव वक्षगुहा के अन्दर और बाहर समान हो जायगा। इस *प्रान्त की मांसपेशियाँ मस्तिष्क से नियंत्रित होती हैं इसलिए मनुष्य इच्छानुसार अपनी श्वास कुछ समय के लिए रोक सकता है।*

श्वसनक्रिया का ध्येय वायु का रक्त के निकट सम्पर्क में आते ही पूर्ण हो जाता है। आपने देखा होगा कि अन्दर जानेवाली वायु की अपेक्षा बाहर निकलने वाली वायु अधिक गर्म और आर्द्र होती है। इसमें अपेक्षाकृत कार्बन डाई ऑक्साइड (CO_2) अधिक मात्रा में होती है। प्रश्न उठता है कि रक्त में ऑक्सीजन (Oxygen) किस प्रकार जाती है और किस प्रकार चैतन्य कोशा तक जीवनोपयोगी प्रक्रियाओं के लिए पहुँचती है? वायु की ऑक्सीजन रक्त कणों में उपस्थित हीमोग्लोबिन (hamoglobin) नामक पदार्थ से मिलकर ऑक्सी हीमोग्लोबिन (Oxy haemoglobin) नामक एक अस्थिर पदार्थ बनाती है। जब यह कोशा तक पहुँचता है तब वहाँ उसका ऑक्सीन और हीमोग्लोबिन में विश्लेषण हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक कोशा की ऑक्सीजन की आवश्यकता पूरी होती है।

घोषिन में स्वतंत्र (vocat cords) होते हैं जो वायु के दबाव से आवेपन (vibrate) करते हैं और ध्वनि उत्पन्न करते हैं। मुँह फेरिंग्स और नासावेश्म ध्वनि प्रतिध्वनक वेश्मों (resonating chambers) का कार्य करते हैं।

उत्सर्जन (Excretion)—जीवधारी की जीवनोपयोगी प्रक्रियाओं के लिए यदि भोजन आवश्यक है तो त्याज्य पदार्थों का उत्सर्जन (excretion) भी उतना ही अनिवार्य है। हम ऊपर कार्बन डाइ-ऑक्साइड (CO_2) जल और उष्मा का फेफड़ों से चल और कुछ लवणों का पसीने के द्वारा त्वचा से तथा कुछ पित्तीली वस्तुओं का यकृत से उत्सर्जन पढ़ चुके हैं। तथापि उत्सर्जन के विशेष अंग दो वृक्क हैं जो यकृत के सहयोग से इस कार्य का सम्पादन करते हैं। वे रक्त के तरल भाग में रासायनिक पदार्थों की एक निश्चित मात्रा नियन्त्रित करने में सहायता देते हैं। वृक्क (kidney) मूल नलिकाओं तथा सम्बन्धित रक्तवाहिनियों से बना है। जब रक्त इन नलिकाओं के सिरों में से जिन्हें वृक्काणु (malphigian body) कहते हैं निकलता है तब अत्यधिक दबाव होने (ultrafiltration) के कारण त्याज्य पदार्थों के साथ-साथ शर्करा, जल और लवण जैसे उपयोगी पदार्थ भी इनमें प्रवेश पा जाते हैं जो बाद में नलिकाओं से वापिस शोषित कर लिये जाते हैं और बचे हुये नाइट्रोजिनस त्याज्य पदार्थ (nitrogenous wastes) संग्रह नलिकाओं (collecting tubules) संग्रह प्रणालियों द्वारा वृक्क निवाप (pelvis) में पहुँच जाता है और वहाँ से वृक्क प्रणाली (ureter) में होता हुआ मूत्राशय (urinary bladder) में संग्रह कर लिया जाता है। वहाँ से मूत्र समय-समय पर निकाल दिया जाता है।

मूत्र का रासायनिक संगठन रोग-परीक्षण में (clinically) महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ ब्राईट नामक रोग में प्रोटीन, डाइबीटीज (Diabetes) में शर्करा और गाउट (Gout) में यूरिकाम्ल (uric acid) अत्यधिक मात्रा में मिलता है। इस प्रकार शरीर में होनेवाले सामान्य और असामान्य देहव्यापारात्मक क्रियाओं का पता मूत्र से लग सकता है।

प्रजनन (Reproduction) इस क्रिया में जीवधारी कुछ इस प्रकार की कोशाओं का निर्माण करता है जो जटिल परिवर्तनों के बाद माता पिता के समान ही सन्तति उत्पन्न करने में समर्थ होती हैं। जो अवयव इन कोशाओं का निर्माण करते हैं वे प्रजनन ग्रन्थि, शुक्रग्रन्थि

(testes) व डिंब ग्रन्थि (ovaries) कहलाते हैं। कुछ निम्न श्रेणी के प्राणियों में (जैसे केंचुआ) दोनों अवयव एक ही रूप में पाये जाते हैं उभयलिंगी (hermaphrodite); परन्तु उच्च श्रेणी के प्राणियों में यह भिन्न प्राणियों में होते हैं जो इस प्रकार नर और मादा कहलाते हैं।

मानव-शरीर में अंड प्रणाली (oviduct) में निषेचन (fertilization) के पश्चात् डिंब गर्भाशय (uterus) में स्थित हो जाता है। गर्भाशय की भित्ति में रक्तवाहिनियाँ अधिक मत्रा में केन्द्रित हो जाती हैं। भ्रूण विभिन्न कलाओं (membranes) द्वारा घिर जाता है और जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता है। बढ़ते हुए गर्भाशय को पूर्ण रूप से भर देता है। गर्भ-स्थिति में भ्रूण का माता के शरीर से परजीवी (parasitic) के समान सम्बन्ध रहता है। प्राथमिक रूप से भोजन वितरण के लिए गर्भाशय की रक्त-वाहिनियाँ पर्याप्त होती हैं। परन्तु भ्रूण के विकास के साथ-साथ आवश्यकता भी बढ़ती है और गर्भपोष या प्लेसेंटा (placenta) नामक नई रचना जिसको गर्भाशय और भ्रूण दोनों की ऊतियाँ निर्माण करती हैं बन जाती हैं। नाल (umblical cord) प्लेसेण्टा और भ्रूण के मध्य सम्बन्ध स्थापित करती है। यहाँ यह ध्यान रखने योग्य है कि माता और भ्रूण के रक्त में सीधा सम्मिश्रण नहीं हो पाता। भ्रूण प्रारम्भ से अन्त तक एक स्वतन्त्र जीवधारी रहता है। यह अल्पकालीन आश्रय बच्चे के जन्म के साथ समाप्त हो जाता है।

चयापचय-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के पारस्परिक सहयोग और उनका रासायनिक नियन्त्रण हमारे अभिनव ज्ञान द्वारा महत्त्वपूर्ण विषय बन गये हैं।

हारमोन्स शरीर के विभिन्न भागों की चयापचयिक (metabolic) क्रियाओं को प्रभावित करते हैं और इनका अध्ययन एण्डोक्राइनोलोजी (Endocrinology) कहलाता है। कुछ विशिष्ट अंगों के अतिरिक्त जिन्हें अप्रणाल ग्रन्थियाँ (ductless glands) कहते हैं पेन्क्रियाज (pancreas) प्रजनन ग्रन्थियाँ (glands) तथा आंत्र (intestine) भी कुछ ऐसे पदार्थ का उत्सर्जन करती हैं जो शरीर की विभिन्न प्रक्रियाओं का नियन्त्रण करती हैं। यदि शुक्र-कोशों को नष्ट कर दिया

जाय तो गौण लैंगिक लक्षण (Secondary sexual characters) प्रकट नहीं होंगे। ऐसे व्यक्ति में वृषण हारमॉन (testotarone) अन्त' क्षेप (injection) द्वारा कर दिया जाय तो उसकी यह कमी तत्काल दूर हो जायगी। अप्रणाल ग्रन्थियों में गलग्रन्थि (thyroid) परागल ग्रन्थि (Parathyroid) उप वृक्कय (adrenals) पोष-ग्रन्थि (Pitui tary) आदि शरीर की देह-व्यापारिकी पर अत्यधिक प्रभाव रखती हैं उदाहरणस्वरूप पोष ग्रन्थि जिसके दो भाग होते हैं बारह से अधिक विभिन्न प्रकार के हारमोन्स पैदा करता है जो शरीर का आकार, जन्युकोशाओं का विकास, स्तनों में दूध का उत्पन्न करना तथा इन्सुलिन (insulin) और थाइरोक्सिन (thyroxine) आदि दूसरे हारमोन्स के उदासर्जन नियमन करने वाले दूसरे हारमोन उत्पन्न करना आदि कार्य करते हैं।

चेता संहति (Nervous system) पर्यावरण के अनुसार जीव धारी का व्यवस्थापन (adjustment) और विभिन्न आन्तरिक क्रियाओं का तत्काल सम्बन्ध करने वाला यह संस्थान सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है। प्रमस्तिष्क अर्ध गोल (cerebral hemispheres) मानव मस्तिष्क का सबसे बड़ा और सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। यह प्रमुख एकीकरणकर्ता (co-ordinating agent) है और ऐच्छिक क्रियाओं (voluntary actions) बुद्धि (intelligence) स्मरण शक्ति (memory), भावनाओं (emotion) चेतन संवेदनाओं (conscious ensations) का प्रमुख केन्द्र है। इसके पश्चात् निमस्तिष्क (cerebellum) का स्थान आता है जो प्रमस्तिष्क से प्राप्त आदेशों को कार्य रूप में परिणत करता है। यदि एक हाथ को हम जान बूझकर उठायें तो शारीरिक साम्य (equilibrium) को बनाये रखने के लिए कुछ अचेतन कार्य निमस्तिष्क को करने पड़ते हैं। यह विवेचक है परन्तु स्वयं चेतन नहीं है। मस्तिष्क पुच्छ (medulla) यह भाग है जहाँ श्वसन, परिग्रहण, हृदय की गति अन्न प्रणाली की तरंग गति (peristalsis) निगलन आदि क्रियाओं का नियन्त्रण होता है। यह नीचे सुषुम्ना से सम्बन्धित है। मस्तिष्क और सुषुम्ना दोनों से क्रमश: क्रेनियल (cranial narves) तथा स्पाईनल

चेताएँ (spinal nerves) निकलती हैं जो परिहरण चेता सहति (peripheral nervous system) का निर्माण करती हैं। इनके अतिरिक्त स्वायत्त चेता सहति (automatic nervous system) अन्न प्रणाली, हृदय की धमनियों आदि का नियन्त्रण करती हैं। ये इच्छाशक्ति के नियमन में नहीं हैं। मस्तिष्क और सुषुम्ना खोपड़ी (skull) और कशेरुकाओं (vertebrae) द्वारा रक्षित हैं।

क्रेनियल चेता और स्पाईनल चेता तीन प्रकार की होती हैं—शुद्ध संवेदी (sensory) शुद्ध चालक (motor) और मिश्र चेताएँ (mixed)। प्रथम प्रकार की चेताएँ शरीर से सुषुम्ना और मस्तिष्क तक संवेद ले जाती हैं। दूसरी प्रकार की चेताएँ आदेशों को मांसपेशी अथवा किसी ग्रन्थि को ले जाती हैं और तीसरे प्रकार की चेता चालक और संवेदी दोनों का कार्य करती हैं यद्यपि आदेशों (impulse) का शुद्ध स्वभाव तो अभी तक नहीं जाना जा सका है। किन्तु रासायनिक और वैद्युत दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। वास्तव में ये अधिकांश क्रेनियल और स्पाईनल चेताएँ मिश्रित होती हैं क्योंकि इनके दो मूल (root) होते हैं—एक संवेदी दूसरा चालक तन्तुओं का। शुद्ध क्रेनियल चेता में शुद्ध संवेदी हैं जो संवेदांग (sense organ) को जाती हैं और कुछ नेत्र की मांस पेशियों को चलानेवाली चेता के समान शुद्ध चालक होती हैं।

कभी-कभी सुषुम्ना में ही संवेदन चेताओं का सीधा सम्बन्ध चालक चेताओं से हो जाता है। मान लीजिए किसी व्यक्ति का हाथ किसी तेज धारवाली चाकू पर रक्खा जाय तो वह अपना हाथ फौरन हटा लेता है। इसको प्रतिक्षेप क्रिया अथवा रिफ्लेक्स एक्शन (reflex action) कहते हैं। इस प्रकार की क्रिया मस्तिष्क को अनावश्यक परिश्रम से बचा लेती है और मानव व्यवहार का एक अंग बन जाती है। यहाँ तक कि पितृगति द्वारा संतति में भी पहुँचती है। ऐसे प्रतिक्षेप जो मनुष्य अनुभव द्वारा सीखता है, प्रसीमित प्रतिक्षेप (conditioned reflexes) कहलाते हैं।

चेता संस्थान प्राथमिक रूप में भ्रूण के बहिस्तर (ectoderm) से बनता है। बाहर स्थित संवेदांगों (sense organs) में नेत्र श्रवणेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) मुख्य हैं। संवेदनक

साधन कोई हो मस्तिष्क में ही उनका अनुभव और निर्वचन होता है।

सामान्य रूप से चेता सहति के बाद सवेदागों का वर्णन स्वाभानिक हो जाता है। परन्तु स्थानाभाव के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं है। किसी प्रकार हमारे शरीर मे जटिल प्रक्रियाओं द्वारा होमियो स्टेसिस (*Homeostasis*) नामक स्थिर अवस्था बनी रहती है। इसी प्रकार शरीर मे कोई विशेष परिवर्तन जैसे घनत्व में, सगठन मे, तापमान मे रक्त के समान शर्करा और लवण की मात्रा मे, नहीं होने पाते। ऐसा सभवतया चेता सहति और अप्रणाल ग्रन्थियों द्वारा उदासजित हारमोन्स के कारण होता है। किसी ने सच कहा है 'हम भयानक और आश्चर्यजनक बने हैं।'

— -

अध्याय १७

पोषण और स्वास्थ्य रक्षा

'भोजन मनुष्य का निर्माण करता है' यह एक ऐसी कहावत है जिसमें काफी सत्यता है। पोषण (nutrition) जैसा कि हमने पढ़ा है, जीवधारी की एक अनिवार्य आवश्यकता है, क्योंकि यह शरीर को बनाता है और परिश्रम करने के लिए शक्ति प्रदान करता है। पूरी मात्रा में स्वादिष्ट भोजन पोषण में सहायक होता है लेकिन भोजन की न्यूनता भूखा मारती है और असन्तुलित एवं अल्प भोजन का अर्थ होता है अपर्याप्त पोषण।

मनुष्य के पाचन संहति (Digestive system) के वर्णन के आरम्भ में भोजन के स्वरूप, पाचनपथ में उस पर होनेवाली विभिन्न रासायनिक क्रियाओं का जो उसको शोषण और सात्मीकरण के योग्य बनाती हैं, उल्लेख किया गया है। साथ ही हमारे लिए उस भोजन के निर्माण में हरे पौधों के कार्य पर भी विशेष बल दिया गया है।

पौधे साधारण निर्जीव वस्तुएँ (inorganic things) जैसे लवण, कार्बन-डाइ-आक्साइड (CO_2) और जल आदि से भोजन बनाने में समर्थ हैं। ये इससे जटिल प्रोटीन (Proteins) कार्बोहाइड्रेट (carbohydrates) वसा (fats) और तेल (oils) बनाते हैं जो जड़ों, तनों, पत्तों, फलों और बीजों में उपयोग के लिए एकत्रित कर दिये जाते हैं। भोजन का निर्माण सूर्य के प्रकाश में पत्तों के हरे रंग के पदार्थ द्वारा किया जाता है। भोजन निर्माण कार्य में जड़ों, तनों, पत्तों का कार्य पिछले अध्याय में दिया जा चुका है। पौधों में भोजन का स्व-निर्माण (holophytic) का और प्राणियों में पूर्व निर्मित भोजन पर निर्भर रहने की रीति (holozoic) भी देखी जा चुकी है। यहाँ एक स्वस्थ व्यक्ति के लिए उचित पोषण देनेवाले भोजन के विषय में बतलाना ही पर्याप्त होगा। प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट भोजन के तीन मुख्य

पदार्थ हैं। ये शक्ति पैदा करनेवाली वस्तुएँ हैं जो जीवधारी को कार्य करने के लिए आवश्यक शक्ति देती हैं।

(a) प्रोटीन—यह पदार्थ है जिसमें नाइट्रोजन मुख्य तत्त्व होता है यह शरीर वृद्धिकारक पदार्थों में मुख्य है। चेतन पदार्थ, प्ररस प्रधानत प्रोटीन से ही बनता है। यह शरीर में निरन्तर होनेवाली क्रियाओं के फलस्वरूप क्षय को प्राप्त होकर नाइट्रोजन को एक महत्त्वपूर्ण त्याज्य पदार्थ के रूप में बदलता रहता है। अत शरीर को नष्ट नाइट्रोजन के स्थान पर नई नाइट्रोजन देनेवाले प्रोटीन की निरन्तर आवश्यकता रहती है।

प्रोटीन एमिनो एसिड (amino acids) में बदलकर शरीर में शोषित कर लिये जाते हैं, बाद में ये पुन शरीर के तन्तुओं और तरल पदार्थों में निर्मित किये जाते हैं। ये पोषण क्रिया के अनिवार्य अंग हैं। प्रोटीन के प्रमुख साधन मास, मछली, दूध अडे और सब्जी में फलियाँ (मटर, सेम मोठ) और दृढ फल (nuts) जैसे नारियल आदि हैं। डेढ पाव दूध (one pint) मनुष्य शरीर की लगभग एक चौथाई प्रोटीन पूर्ति करता है। स्कूल जानेवाले बच्चों को प्रत्येक दिन के लिए सामान्यतया ७० १०० ग्राम (gram) प्रोटीन की आवश्यकता होती है।

(b) वसा—वसा साधारणतया शरीर में ईंधन के काम में आती है। कुछ प्ररस के बनाने के उपयोग में लाई जाती है और कुछ शरीर वसा (body fat) का निर्माण करती है। मक्खन और तेल वसा के मुख्य साधन हैं परन्तु दूध पनीर, दृढ फल (nuts) तथा अडों में भी वसा पाई जाती है। कुछ भोजनों में जैसे मास मछली में भी वसा होती है।

(c) कार्बोहाइड्रेट्स—(Carbohydrates)—अधिकतर माड (starch) और चीनी में होता है। ये भी ईंधन का कार्य करते हैं और सब मासपेशियों तथा जिगर में पाये जाते हैं जो आवश्यकता होने पर स्थितिक शक्ति (potential energy) के साधनस्वरूप मिलते हैं। ये प्ररस का कुछ भाग बनाने में भी सहायक होते हैं। आवश्यकता से अधिक होने पर वसा में परिणत होकर सम्पूर्ण शरीर की

वसा तन्तुओं ऊतियों (fatty tissues) में जमा हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त माड आलू और उससे कुछ कम मात्रा में कुछ मछलियों में तथा गन्ना चुकन्दर, शीरा (molasses) और शहद आदि में मुख्य रूप से मिलता है। पके हुए फल और दूध भी कुछ शर्करा प्रदान करते हैं।

इन खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त खनिज (minerals) और विटामिन (vitamins) एक संतुलित भोजन और अच्छे स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ हैं। खनिज पदार्थ शरीर के अस्थिपंजर को सुव्यवस्थित रखने में सहायता देते हैं, कोशा के कुछ भागों को बनाते हैं तथा शरीर की विभिन्न क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

शरीर को ठीक और स्वस्थ रखने के लिए एक दर्जन से भी अधिक मूलतत्त्व (elements) आवश्यक समझे जाते हैं। कैल्सियम (calcium) और अयस् अथवा लोहा (iron) मानव शरीर के पोषण में दो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण खनिज हैं। पहला हड्डियों और दांतों के लिए आवश्यक है। यह हृदय स्पंदन, रुधिरातंचन (clotting of the blood) और चेता संहति की दृढ़ता के लिए भी आवश्यक होता है। दूध और पनीर इसके सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हैं अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने भोजन में दूध को अनिवार्य स्थान देना चाहिए। अर्थात् दूसरा अयस् (iron) रक्त के कुछ भाग को बनाता है तथा फेफड़ों में आक्सीजन (Oxygen) के शोषण (absorption) के लिए उत्तरदायी तत्त्व है। प्रायः प्रत्येक मनुष्य में कुछ मात्रा में अयस् (iron) की कमी रहती है जिसके परिणाम स्वरूप रक्त न्यूनता (anemia) हो जाता है। मांस, अंडे गेहूँ, खुबानी, सूखी सेम और मटर की फली में अयस् (iron) पर्याप्त मात्रा में मिलता है। हरी सब्जी और फलों में भी थोड़ा बहुत अयस् (iron) मिलता है। कभी-कभी साधारण गेहूँ के आटे को भी अयस् मिलाकर अधिक उपयोगी बना दिया जाता है।

इसी प्रकार विटामिन की शरीर में यद्यपि बहुत थोड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है तथापि यह जीवन के लिए अत्यन्त अनिवार्य तत्त्व समझे जाते हैं। वे विभिन्न प्रकार के पौधे और प्राणियों के तन्तुओं में पाये जाते हैं। कई तरह का भोजन खाने से इनकी पर्याप्त

मात्रा में पूर्ति हो जाती है। खाद्य पदार्थों में इनकी कमी के कारण विभिन्न राग (Vitamin deficienov diseases) उत्पन्न हो जाते हैं। विटामिन भोजन में से निकाले जाते हैं और रसायनशाला में भी तैयार किये जाते हैं। ये चिकित्सकों द्वारा रोगी को अन्य औषधियों के साथ दिये जाते हैं। यथासम्भव एक स्वस्थ मनुष्य को अपनी विटामिन आवश्यकताओं को प्रतिदिन के प्राकृतिक भोजन द्वारा ही पूरी करनी चाहिए। कुछ पोषण निपुण व्यक्ति (expert) भोजन में विटामिन मिलाकर, जैसे दूध में विटामिन डी (vitamin D), इसे पुष्ट बनाते हैं। मार्गरिन (margarine) में विटामिन-ए (vitamin A) मिलाकर इस वनस्पति तेल को मक्खन की तरह उपयोगी बनाया जाता है। बाजार में रोटी और मक्खन को सश्लिष्ट विटामिनों (synthetic vitamins) जैसे थियामिन (Thiamin, नियासिन (Niacin) रिबोफ्लेविन (Riboflebin) और अयस् (iron) मिलाकर अधिक पौष्टिक बनाया जाता है।

मनुष्य को उपलब्ध पके हुए परिरक्षित (preserved) जमाए हुए (frozen) तथा विजलीयत (dehydrated food) आदि भोजनों का अधिक विस्तार में वर्णन आवश्यक नहीं है। परन्तु मनुष्य को ठीक और स्वस्थ रखनेवाले एक अच्छे पौष्टिक या सतुलित भोजन के विषय म सक्षिप्त वर्णन अनावश्यक न होगा।

न्यूनतम मात्रा में आवश्यक शक्ति दे सकनेवाले भोजन की कुल मात्रा, पर्याप्त महत्त्व रखती है। आवश्यक शक्ति का परिमाण गर्मी मापने की इकाई केलोरी (calorie) सख्या से जाना जाता है। एक व्यक्ति औसतन ६० ७० केलोरी शक्ति प्रतिघटा व्यय करता है। एक साधारण कार्य करनेवाले व्यक्ति को प्रतिदिन लगभग तीन हजार केलोरी शक्ति की आवश्यकता होती है। प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन के भोजन में कम से कम आवश्यक प्रोटीन अनिवार्य खनिज (minerals) और विटामिन होने ही चाहिए। ये पदार्थ रक्षा करने वाले भोजन कहलाते हैं। एक आदर्श भोजन में अनाज फलियों, हरी सब्जी, दूध और मक्खन हो सकते हैं। एक मासाहारी मनुष्य मास और अडे में ही पर्याप्त मात्रा में पोषक पदार्थ पा लेता है। चूहों के निम्न चित्र स्थूल रूप से उनकी न्यूनतम पोषण आवश्यकताओं तथा एक असतुलित भोजन की कमियों का दिग्दर्शन कराते हैं।

व्यक्तिगत स्वास्थ्य रक्षा का तात्पर्य केवल एक पौष्टिक भोजन से ही नहीं है, वरन् भोजन को ठीक प्रकार उपयोग में लाना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। भोजन रुचि होने पर ही करना चाहिए क्योंकि उस समय भोजन को पचानेवाले रस बनने लगते हैं। भोजन की इच्छा और भूख में अन्तर है। भूख पेट के सुकड़ने से भी लग सकती है जैसे एक बीमार आदमी को भूख तो लग सकती है परन्तु उसे खाने
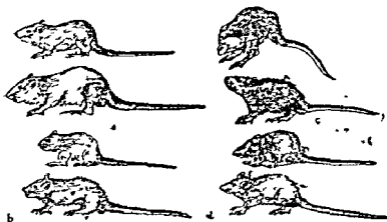
Rats showing effects of deficiency diets: calcium deficiency, b—phosphorus deficiency, c—vitamin A deficiency, d—vitamin B complex deficiency

की रुचि नहीं होती। बैठे रहने की आदतवाले मनुष्य को प्रायः कम भूख लगती है और परिणामस्वरूप उसका स्वास्थ्य भी खराब रहता है। इसलिए यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है कि वह अच्छा स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए कुछ व्यायाम करे। उचित समय से पहले खाते रहने की आदत बुरी ही नहीं, अस्वास्थ्यप्रद भी है।

मानव-शरीर अपने विभिन्न कार्यों को निश्चित क्रम से करता है *अतः मनुष्य के लिए भी नियमितता की आवश्यकता हो जाती है।* स्वास्थ्य की दृष्टि से नियमित समय पर उचित मात्रा में भोजन करना, उसको अच्छी तरह चबाना, आदि बहुत महत्त्वपूर्ण नियम हैं।

भोजन करने के पहले और बाद मे थोडा सा आराम काफी लाभदायक सिद्ध होता है।

छूत की बीमारी, उनसे बचने के उपाय तथा चिकित्सा एक लम्बा विषय है परन्तु यदि मनुष्य अपने स्वास्थ्य लिए के रहन सहन मे नियम का पालन करे तो इसकी अधिकाश कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। अतः स्वास्थ्य के कुछ नियम नीचे बता देना अप्रसंगानुकूल न होगा।

१—छूत के रोगियों की सङ्गति से बचना।

२—छूत के रोगियों के काम मे लाये हुए या उनके द्वारा दूषित किये पदार्थों को छूने से बचना।

३—हमेशा प्रातःक्रिया से निवृत्त होकर तथा भोजन के पहले और बाद मे हाथ धोना।

४—अपने शरीर की त्वचा व अन्य छिद्रों को आवश्यकता से अधिक न छूना।

५—अपनी त्वचा को स्वच्छ रखना तथा छोटे से घाव की भी चिकित्सा पर ध्यान देना।

६—अपने कपड़ों को विशेषकर जो शरीर के निकट सम्पर्क मे रहते हैं अथवा जो अन्दर पहने जाते हैं प्रतिदिन धोना।

७ - साफ किया हुआ या उबाला हुआ पानी पीना और उसी पानी को काम मे लाना जो नगर-पालिका (Municipality) द्वारा पीने योग्य घोषित कर दिया गया हो।

८—अच्छी प्रकार पकाये हुए भोजन को अथवा कच्चे भोज्य पदार्थों को अच्छी प्रकार धोकर और साफ करके खाना।

९—केवल नष्ट रोगाणु (pasteurised) दूध को पीना।

१०—निवास-स्थान की मिट्टी को गन्दगी से स्वच्छ रखना तथा उसमें हवा आने-जाने की पूर्ण सुविधा होना।

११—अपने घर मे चूहे, मक्खियाँ और मच्छरों तथा इसी प्रकार के अन्य हानिकारक जीवों को न रहने देना।

१२—अपने दाँतों को प्रातःकाल एवं रात्रि मे; दोनों समय, साफ करना और रात्रि मे लगभग आठ घण्टे सोना।

व्यक्तिगत स्वास्थ्य और उसकी रक्षा, जन-स्वास्थ्य और उसकी

रक्षा का मार्ग प्रशस्त करता है। यह कार्य जन हित के लिए एक लोक सगठन द्वारा किया जाता है। राजकीय स्वास्थ्य-सम्बन्धी सगठन, अन्तर्राष्ट्रीय सघीय राज्य अथवा नगर के लिए होते हैं। १६२३ मे लीग ऑफ नेशन्स (League of Nations) द्वारा एक स्वास्थ्य सगठन स्थापित किया गया था। अभी कुछ वर्ष हुए सन् १६३८ में सयुक्तराष्ट्र सघ (United Nations Organization) की विश्व-स्वास्थ्य सगठन (World Health Organization W H O) नामक एक विशिष्ट सस्था बनी। अपर्याप्त पोषण (malnutrition), मलेरिया, क्षयरोग, माता और बच्चे के स्वास्थ्य, स्वच्छता तथा मनुष्य के स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य कई समस्याओं से इसका मुख्य सम्बन्ध है। चिकित्सा-सम्बन्धी और लोक स्वास्थ्य-सम्बन्धी विभाग प्राय एक दूसरे से मिलकर कार्य करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय और अन्तर्प्रान्तीय बीमारियों को फैलाने से रोकने के लिए निरोधायनों (quarantines) का बनाना और जनता के स्वास्थ्य व चिकित्सा का ध्यान रखना इनके मुख्य कार्य हैं।

चिकित्सा और स्वास्थ्य-सम्बन्धी राजकीय विभाग ही केवल समाज के लिए उपयोगी है। चिकित्सालयों शाकाण्विकीय (bacteriological) प्रयोगशालाओं आदि की स्थापना करना इनका मुख्य कार्य है। ये सम्पूर्ण राज्य मे अच्छे स्वास्थ्य के लिए कार्यक्रम बनाते हैं, प्राथमिक सहायता पहुँचाते हैं, नागरिकों को स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा देते हैं और विभिन्न नगरपालिकाओं (Municipalities) के स्वास्थ्य-विषयक कार्यों की जॉच करते हैं। नगरपालिकाएँ शुद्ध जल, शुद्ध दूध वितरण करने और नगर म स्वास्थ्य रक्षण नियमों का पालन करवाने के लिए उत्तरदायी होती हैं। व्यक्तिगत और स्वेच्छा से बनाये गये संगठन भी कभी-कभी लोक-स्वास्थ्य और चिकित्सा के लिए पर्याप्त धन व्यय करते हैं। अमेरिका मे रॉकफेलर फाउण्डेशन (Rockfeller Foundation) जैसी प्रसिद्ध सस्थाएँ हैं जो सामाजिक सुधारेच्छुक व्यक्तियों द्वारा मानवहित स्वरूप स्थापित की गई हैं।

वातावरण को स्वास्थ्यकर और रोगाणुरहित रखने के लिए

सामाजिक स्वच्छता, जन-स्वास्थ्य विभाग का एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य है। मल प्रवाह (sanitation), जल और उसकी स्वच्छता, शुद्ध दूध, भोजन प्राणीय (animal) और वनस्पति दोनों का वितरण और कीटों तथा अन्य हानिकारक प्राणियों का नियन्त्रण आदि इसके विभिन्न कार्यक्षेत्र हैं। आज-कल मल-प्रवाह के लिए बहता हुआ पानी उपयोग मे लाया जाता है। इसका तात्पर्य एक ऐसे उत्प्रग्राही तरल पदार्थ को उत्पन्न करना है जिसे पानी के साथ सरलता से भूमि के ऊपर अथवा अन्दर ले जाया जा सके। इस गन्दे पानी को स्वच्छ करने के लिए विभिन्न रीतियाँ काम मे लाई जाती हैं।

राजस्थान जैसे मरुस्थलों को छोड़कर साधारणतया हर जगह पृथ्वी पर इकट्ठा हुआ पानी पीने के काम मे लाया जाता है। इस पानी को पीने से पूर्व स्वच्छ करना पड़ता है। इसकी दो प्रसिद्ध रीतियाँ हैं—एक रेत के द्वारा छानने की और दूसरी क्लोरीन (chlorination) से शुद्ध करने की। जब भी पानी के गन्दा होने का संशय हो तो उसे दस मिनट उबाल कर फिर काम मे लाना चाहिए। इसी प्रकार दूध की शुद्धता के विषय मे भी पूरी सावधानी रखनी चाहिए क्योंकि दूध के साथ उसमे प्राय: भयानक बीमारियों जैसे डिप्थीरिया (Diptheria), टाईफाइड (Typhoid) और क्षय रोग के कीटाणु चले जाते हैं। इसके अतिरिक्त भोजन, विशेषकर मांस के वितरण मे भी बहुत देख-रेख की आवश्यकता होती है। मास के बाजारों में स्वास्थ्य विभाग के निपुण व्यक्तियों द्वारा नियमित रूप से देख-भाल होनी चाहिए।

स्वास्थ्य विभाग का विनाशी कीटों (insect pests) और प्राणियों से भी सम्बन्ध है। मलेरिया वाले प्रान्तों मे मच्छरों का नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। मच्छर उत्पन्न होने वाले पानी को बहा देना चाहिए, गड्ढों को भरवा देना चाहिये तथा वहाँ उत्पन्न घास आदि को हटा देना चाहिए, स्थिर जल मच्छरों के अभिजनन (breeding) के लिए आदर्श स्थान होते हैं अत: मच्छरों के जातकों (larva) को पनपने से रोकने के लिए स्थिर जल पर तेल छिड़क देना चाहिए। मच्छरों का घर में प्रवेश रोकने के लिए द्वारों और खिड़कियों में

जाली लगाना तथा मसहरी का प्रयोग करना दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है। अन्य प्राणियों में चूहे सबसे हानिकारक हैं क्योंकि वे अपने शरीर के साथ पिस्सू ले जाते हैं जो रोगाणु-वाहक होते हैं भटकने हुए कुत्ते भी बड़ा उत्पात करते हैं क्योंकि ये प्राय जल भी (Hydrophobia) नामक रोग के कीटाणु-वाहक होते हैं। सामाजिक स्वास्थ्य विभाग का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य छूत के रोगों को फैलने से रोकना, मुक्त ज्वर (Typhoid) डिप्थीरिया आदि कोई भी छूत के रोग फैलें तो हमें जन स्वास्थ्य विभाग को तत्काल सूचना देनी चाहिए। ऐसे समय पर सबसे पहले ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन बीमारियों से पीड़ित रोगियों से अन्य लोगों को सम्पर्क में न आने देना चाहिए। तथा जो लोग बीमारों के सम्पर्क में आते हैं उन पर भी निरोधक (quarantine) नियमों का प्रयोग करना चाहिए। तत्पश्चात् जहाँ बीमारी फैल चुकी हो उन स्थानों पर रोगविनाशक तथा बीमारी को फैलने से रोकने के लिए अन्य साधन जैसे टीका लगवाना (vaccination) आदि का प्रयोग करना चाहिए। जन स्वास्थ्य विभाग के अन्तर्गत बच्चों के स्वास्थ्य के लिए पृथक् विभाग स्थापित करने की बड़ी आवश्यकता है। इस देश में बच्चे अधिक संख्या में मरते हैं और बच्चों के स्वास्थ्य सम्बन्धी विभाग का रोगी बच्चों के लिए औषधालय, उनके दुग्ध-गृह, मातृ स्वास्थ्य सदन, शिशु केन्द्र आदि जैसी संस्थाएँ बनवाना और उनकी देख रेख करना मुख्य कार्य हो सकते हैं। इसके बाद *स्कूल जानेवाले बच्चों के स्वास्थ्य का प्रश्न* आता है जिन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी अच्छी आदतें डालने की शिक्षा दी जा सकती है। हमारे देश में बच्चों के लिये स्कूल में अच्छा व स्वस्थ वातावरण बनाने की अत्यधिक आवश्यकता है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण *प्रश्न कारखानों में काम करनेवाले व्यक्तियों के स्वास्थ्य का है।* हमारे यहाँ के मजदूरों के काम करने की परिस्थितियाँ बड़ी भयानक हैं स्वास्थ्य की देख रेख करनेवालों के लिए व्यवसाय-सम्बन्धी रोगों और परिश्रम सम्बन्धी संकटों को जानने के लिये काफी क्षेत्र है। कार्य करने-*वालों को सुरक्षा के नियमों का पालन कर तथा कलपुर्जों* का पूरा ज्ञान प्राप्त कर आकस्मिक दुर्घटनाओं को टालने का प्रयास करना चाहिये। कारखाने में विशेषकर रासायनिक कारखानों में मजदूरों के

विपाक्त होने के उदाहरण मिलते रहते हैं। रासायनिकों, चिकित्सकों और प्रबन्धकों को इस प्रकार की आकस्मिक व अप्रत्याशित दुर्घटनाओं से बचने के लिए परस्पर मिलकर काम करना चाहिए। कारखाने मे रेत या कूड़ा करकट सिलीकोसिस (Silicosis) नामक रोग उत्पन्न कर देते हैं। इसी प्रकार कोयले और लोहे की चूरी क्रमशः एन्थ्राकोसिस (Anthracosis) और सिडरोसिस (Sidrosis) आदि रोग के कारण हैं। ऐसी खानों में काम करनेवाले श्वसन यन्त्र पहनते हैं और वहाँ के प्रबन्धकर्ता काम करने के स्थानों मे शुद्ध हवा पहुँचाने का प्रबन्ध करते हैं।

"स्वास्थ्य घर से प्रारम्भ होता है" अर्थात् जो कुछ भी व्यक्तिगत या समाज की स्वास्थ्य रक्षा के विषय मे पढ़कर या देखकर सीखा जाता है उन नियमों का उपयोग घर मे ही सबसे अधिक महत्त्व रखता है। स्वच्छ रहना, शारीरिक उद्योग करना, मानसिक उद्योग या पढ़ने लिखने के कार्य करना, आकस्मिक दुर्घटनाओं से बचना, प्रसन्न रहना, क्रोधित नहीं होना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जो घर पर ही अच्छी तरह से प्रयोग में लाई जा सकती हैं। स्वच्छता रखने तथा छूत के रोगों से बचने के विभिन्न उपाय अधिकतर घर पर ही अच्छी प्रकार सीखे जा सकते हैं। घर की देख भाल, उसकी सुरक्षा, घर के प्राणियों का पौष्टिक भोजन, घर मे बच्चों और रोगियों की देख-भाल आदि किसी व्यक्ति को भी स्वास्थ्य और आरोग्यता के नियमों से भिज्ञ कराने के लिए पर्याप्त हैं। स्वस्थ और आरोग्य व्यक्ति की एक अच्छे कटे हुए हीरे से तुलना की जा सकती है जिसके सब भाग एक से चमकते हैं और एक-सा ही महत्त्व रखते हैं। "वह अच्छे घर में पैदा हुआ है," यह प्रत्येक घर का ध्येय होना चाहिए। वही सबसे स्नेह कर सकता है और प्रत्येक का प्रियपात्र बन सकता है।

अध्याय १८

कीट, जीवाणु, कीटाणु

पिछले अध्याय में प्राणियों के वर्गीकरण के समय यह बतलाया गया था कि फाइलम आर्थ्रोपोडा (Phylum Arthropoda) का कीट वर्ग एक बहुत महत्त्वपूर्ण वर्ग है। प्राणीशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा जिसे कीट विज्ञान (Entomology) कहते हैं इस विस्तृत वर्ग का अध्ययन करती है। बहुत से कीट वनस्पति को नष्ट कर देते हैं अथवा अन्य प्रकार से मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं।

(क) मच्छर (Mosquitoes)—यह कौन नहीं जानता कि मलेरिया मच्छरों के द्वारा फैलता है। एक अशिक्षित मनुष्य के लिए सब मच्छर एक से हैं पर वास्तव में उनमें हजारों भेद होते हैं। उदाहरणस्वरूप हम एनोफिलीज (Anopheles) मलेरिया के मच्छर और एडिस (Aedes) पाडु ज्वर (Yellow Fever) के मच्छरों को ले सकते हैं। एडिस प्राय. उष्ण व अर्धउष्ण देशों में पाये जाते हैं और घरों के चारों तरफ विशेष रूप से दिन में दिखलाई पड़ते हैं। दिन में काटने के कारण कभी-कभी 'इन्हें दिन के मच्छर' (Day Mosquito) भी कहा जाता है। यह मच्छर काले रग का होता है जिसमें गहरे सफेद चिन्ह होते हैं। इसके पैरों और पेट पर काली और सफेद धारियाँ होती हैं और वक्ष जिस पर टाँगों के तीन युग्म लगे रहते हैं, चग (lyre) के आकार के सफेद चिह्न होते हैं। एनोफिलीज (Anopheles) सामान्य मलेरियाणु वाहक मच्छर होता है। इसकी पहचान इसके चितकबरे परों, इसके दीवार पर कोण बनाते हुए बैठने की स्थिति (सिर, वक्ष और उदर सभी एक लाइन में) तथा इसके जातक अथवा लार्वा जो पानी की सतह के समानान्तर तैरा करता है, से होती है। यह साधारणतः अनुमान किया जाता है कि मच्छर खून पर जीवित रहते हैं। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। ये कोमल पौधों के रस पर जीवित रहते हैं अत: उनको केले के पत्तों पर जीवित रखा जा सकता है।
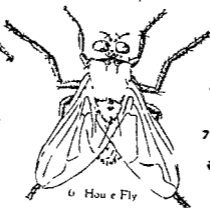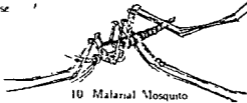
Harmfuml and useful insects

(ख) मक्खी (House Fly)—घर की सामान्य मक्खी मच्छरों से भी अधिक हानिकारक होती है। इतना ही नहीं कि यह हमें सोते हुए परेशान करती है या दूध पीते समय उसमें गिर जाती है वरन् यह अपने साथ रोग के कई कीटाणु भी ले आती है। मुक्त ज्वर (Typhoid), क्षयरोग, हैजा, पेचिश, डिफ्थीरिया आदि रोगों को विशेष रूप से मक्खी ही फैलाती है। यह इन कीटाणुओं को दो तरह में ले जाती है, या तो इन्हें अपने भोजन के साथ खा लेती है और फिर इन्हें दूसरे भोजन पर जमा कर देती है अथवा इन्हें अपने शरीर से चिपके हुए साथ ले जाती है। इसके पंख, पैरों और मुख के आगे के हिस्से (proboscis) पर महीन बाल होते हैं और इन बालों पर लगी हुई रेत के साथ हजारों जीवाणु ले जाये जाते हैं। यह अनुमान लगाया गया है कि एक मक्खी प्राय बारह लाख ५० हजार (१२,५०,०००) जीवाणु (bacteria) ले जा सकती है। इनमें से कुछ कीटाणु (germs) अहानिकर हो सकते हैं तो कुछ भयकर रोगों को फैलानेवाले भी हो सकते हैं। यह सडे हुए मास, घोडे की खाद और मनुष्य की टट्टी आदि हरएक गन्दी जगह पर अण्डे दे देती है। क्षयरोग के रोगियों के थूक से भोजन लेकर यह इस रोग के कीटाणुओं को दूसरे मनुष्यों में फैला देती है। यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य होना चाहिए कि इसके पैदा होने की जगह को नष्ट करे और मक्खी पकड़ने का पूरा प्रयत्न करे।

(ग) दीमक (White Ants)—दीमक वास्तविक चीटियाँ नहीं हैं, पर इनका चीटियों से बाह्य साम्य है। दीमक लकडी खानेवाले प्राणी होते हैं और लाखों की सख्या में एक स्थान पर रहते हैं। लकडी के अतिरिक्त वे किताबों, कपडों, भोजन और अनाज के खेतों को भी नष्ट कर देते हैं। भारत में दीमक का विशेष अध्ययन देहरादून में वन-अनुसंधान सस्था (Forest Research Institute) के प्रसिद्ध प्राणी-शास्त्र (Zoologist) व कीट शास्त्रविज्ञ (Entomologist) डॉ० एम० एल० रूनवाल (Dr. M. L Roonwal) द्वारा किया जा रहा है।

(घ) खटमल (Bed Bugs)—जहाँ कहीं भी होते हैं काफी उत्पात करते हैं। प्राय ये दीवारों की दरारों मे से निकलते हैं और चारपाइयों या चटाइयों में घुस जाते हैं। इस विनाशी कीट को

मारने के लिए धूपेन्य अथवा बेनजीन (Benzene) व डी० डी० टी० का प्रयोग करना अच्छा होता है।
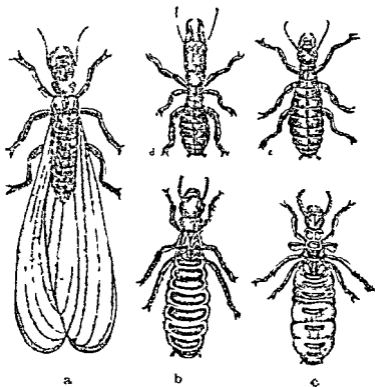
White Ant a—Winged type b—natute male c—egg laying female d—soldier. e—worker

(ड) मधुमक्खी (Honey Bee)—मधुमक्खी की कहानी अमर है। यह शहद और मोम बनाती है और ऐसा करते समय फूलों में परागण (pollination) का महत्वपूर्ण कार्य करती । यह एक संघचारी कीट (social insect) है और इसका सामाजिक जीवन प्रत्येक के लिए शिक्षाप्रद है। इनमे रानी, कई नर कीड़े तथा अन्य कई काम करनेवाले (workers) जाति के कीट होते हैं। रानी लगभग

पाँच साल तक जीवित रह सकती है और अपने समय में लगभग १०,००,००० अंडे देती है। इस संघ में केवल रानी ही पूर्ण विकसित मादा होती है, नर अनिषिक्त (unfertilised) अंडों से निकलते हैं। दूसरी काम करनेवाली मक्खियाँ आकार में छोटी होती हैं तथा रानी से साम्य रखते हुए भी अविकसित मादा होती हैं। उनकी पीछे की टाँगों पर पराग टोकरी (pollen basket) होती है। इनके संघ में फूलों का पराग, भोजन के काम में लाया जाता है। रानी को "राजसी भोजन" (Royal jelly) खिलाया जाता है। मधुमक्खी की कहानी सदैव एक कहानी ही रहेगी। सभ्यता के प्रारम्भ से आज तक शहद खाने के प्रयोग में आता रहा है। बाइबिल में भी कई स्थानों का उल्लेख है जहाँ दूध और शहद बहुतायत से पाया जाता था। अमेरिका व दूसरे देशों में जहाँ लाखों रुपयों का शहद पैदा किया जाता है। मधुमक्खी लगभग पन्द्रह सौ (१५००) प्रकार के फूलों पर बैठती है। शहद केवल एक स्वादिष्ट ही नहीं वरन् स्वास्थ्यप्रद भोजन है।
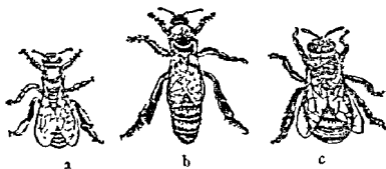
Honey Bee—a—worker b— Queen c—Drone

(च रेशम का कीट (Silk worm,—रेशम का कीड़ा प्रसिद्ध बामबिक्स (Bombyx) नामक शलभ (moth) का ही जातक रूप है। इसकी मादा लगभग दो सौ (२००) से पाँच सौ (५००) तक अंडे देती है। वसन्त-ऋतु में अंडोद्भेदन होता है और जातक (larvae) बाहर आते हैं। इसके जातक (larvae) जब तक वे लगभग तीन इंच लंबे नहीं हो जाते शहतूत के पत्तों पर ही पलते हैं। अनेकत्वक पतन

moults) के पश्चात् करीब पाँच दिन में २००० से ३००० फीट लम्बा रेशमी धागों का जाल बुनते हैं जिसे कृमिकोष (cocoon) कहते हैं। इस जाल के अन्दर से पन्द्रह या बीस दिन में बड़ा हुआ कीट बाहर निकलता है और अडे दे देता है। रचनान्तरण (metamor phosis) पूर्ण होने के पहले ही कृमिकोष (cocoon) के कीटों को भाप द्वारा नष्ट कर दिया जाता है और कृमिकोष के इस रेशम के जाल को खोल करके ही इससे रेशमी कपड़ा बनाया जाता है।

a—Silk Worm, b—Cocoon, c—Silk worm moth

कीट पौधों में बीमारी फैलाने का काम करते हैं साथ ही स्वयं भी पौधों को पर्याप्त हानि पहुँचाते हैं। उनकी चबाने, छेदने, अडे देने और चूसने की क्रियाएँ कड़वापन पैदा करने और बड़े पौधों के तंतुओं में अन्य कई बाधाएँ पहुँचाने में सहायक होती हैं। लकड़ी के शत्रु दीमक, फसल, उद्यान, जंगलों को विनाशी टिड्डियाँ (locusts) गेहूँ के पौधों के लिए हेशियन मक्खी (hessian fly), कपास के लिए वीविल (cotten boll weevil,, धान के लिए धान के खटमल (rice bug), गोभी के लिए गोभी का पतंगा, शिकरा वीविल आलू के लिए गुलाब के दल पत्र का निनाशक एफिड आदि हैं। झींगुर, घुन, आटे की कीड़ों की करतूतें सभी जानते हैं।

जीवाणु (bacteria) यद्यपि अन्य सभी उद्भिदों में कवकानि (fungi) से अधिक साम्य रखते हैं तथापि उनकी अपनी पृथक्

श्रेणी है। एक हजार से अधिक वर्णित जातियों में लगभग दस प्रतिशत जीवाणु मनुष्य प्राणियों और उद्भिदों में रोग फैलानेवाले (pathogenic) होते हैं। उनमें से कई प्राणीय और औद्भिद जैव द्रव्य का विघटन कर भूमि को उपजाऊ बनाते हैं। इन जीवधारियों की सूक्ष्मता की कल्पना करना कठिन है। कई जीवाणु सिगरेट की आकृति के होते हैं और यदि ऐसा एक जीवाणु (bacteria) इस परिमाण का बन जाय तो सिगरेट पीनेवाले का आकार भी लगभग बीस गुना या और अधिक बड़ा होगा। उसके इतने छोटे आकार के कारण ही उसकी रचना का अध्ययन कठिन है। इसमें प्ररस (protoplasm) होता है और यह प्रोटीन (protein) की एक भिल्ली या कला (membrane) से ढका रहता है। इसमें कुछ अन्य कण (granules) और न्यष्टि (nucleus) भी पाया जाता है। ये सामान्यत तीन प्रकार के होते हैं। गोलाणु (Coccus) जो गोलाकार होते हैं और दण्डाणु (Bacillus) जो लम्बे या दण्ड के आकार के होते हैं और अधिकुन्तलाणु (Spirillum) जो पेंचदार या शृङ्गविशिष्ट होते हैं कभी कभी एक चौथे प्रकार के अशु (filament) के समान पतले आकार के भी पाये जाते हैं।

इन जीवधारियों के प्रगुणन की क्रिया जल्दी और कोशा के साधारण विखण्डन द्वारा होती है। कभी कभी यह हर दस मिनट बाद होती रहती है। हैजे का एक कीटाणु चौबीस घण्टे में ४,५००,०००,०००,०००,००० ००० रोगाणु उत्पन्न करता है और उसका वजन लगभग दो सौ टन (200 tons) होता है। परन्तु यह सैद्धान्तिक संख्या कई प्राकृतिक कारणों से पूर्ण नहीं हो पाती। अधिकतर जीवाणु बिना रङ्ग के होते हैं। उनमें से बहुत कम आत्मपोषी (autotrophic) अर्थात् अपना भोजन स्वयं बनाने के योग्य होते हैं।

परजीवी (parasitic) और मृतजीवी (saprophytic) जीवाणु कार्बन डाई ऑक्साइड (CO_2) और पानी को उपयोग में लाने के अयोग्य होने के कारण अन्य जीवधारियों द्वारा निर्मित प्राणीय संयोगों (compounds) पर निर्भर रहते हैं। रोग फैलाने वाले अन्य जीवाणु चुनकर पदार्थों का प्रयोग करते हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ एक विशेष प्रकार के रक्त पर या उद्भिदों (host plants) अथवा प्राणियों के कुछ विशेष (specific) तन्तुओं पर

जीवित रह सकते हैं कुछ विचार (enzymes) बनाते हैं जो जारण (oxidation), अहसन (reduction) की प्रक्रियाओं का नियन्त्रण करते हैं और इस प्रकार श्वसन क्रिया का नियन्त्रण होता है। अवात जीवी (anaerobic) जीवाणु जो स्वतन्त्र ऑक्सीजन (free oxygen) की अनुपस्थिति मे जीते हैं भोजन तत्त्वों का जारण कर मुपव (alcohol) प्राणीय अम्ल (organic acid) कार्बन डाई-ऑक्साइड Carbon dioxide) मे विघटन कर देते हैं।

जीवाणु मनुष्य के कई भयङ्कर रोगों के कारण हैं जैसे क्षय रोग, निमोनिया, मुक्त ज्वर (Typhoid) हैजा आदि। वे कृष्ट उद्भिदों (cultivated plants) रुचिफल (pears), नींबू, कपास आदि में भी कई रोग फैला देते हैं। सन् १८७६ मे बरिल (Burill) प्रथम विद्वान था जिसने उद्भिदों की जीवाणु जनित बीमारियों (bacterial diseases) का पता लगाया और प्रमाणित किया कि रुचिफल नीरञ्जा (Blight of pears) जीवाणुओं द्वारा होती है। जीवाणु खाद्य पदार्थों को नष्ट कर देते हैं, दूध को खट्टा कर देते हैं और मक्खन, शराब, आलू, वनस्पति तथा फलों को नष्ट कर देते हैं।

इन हानिकारक जीवाणुओं मे से रोग फैलानेवाले जीवाणु सबसे अधिक भयकर हैं क्योंकि वे मानव के स्वास्थ्य और प्रसन्नता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखते हैं। बहुत से जीवाणु विज्ञ (Bacteriologist) पृथ्वी के इस कष्ट को पूर्णतया नष्ट करने के ध्येय से भैषजिक जीवाणिकी (Medical bacteriology) के क्षेत्र में नई नई रीतियों (technique) को विकसित करने मे लगे हुए हैं। ये रोगाणु या तो जीवनावश्यक तन्तुओं को, जिन पर वे आक्रमण करते हैं नष्ट कर देते हैं, अथवा टाक्सिन (toxin) नामक विष उत्पन्न करते हैं जो सम्पूर्ण शरीर में फैल कर रोग पैदा कर देते हैं। भाग्यवश शरीर मे विष का प्रभाव प्रतिविष निर्माण (antitoxic production) को उत्साहित कर देता है। और यदि प्रतिविष अधिक शीघ्र बनता है और बलशाली होता है तो रोगी रोगाणुओं से युद्ध कर सकता है। इतना ही नहीं वह रोगी उस विशेष रोग के प्रति प्रतिकारी (immune) हो जाता है। वह मनुष्य जीवन में कभी उस रोग मे पुन ग्रसित नहीं होता। आधुनिक

मैपज्ञिक जीवाणु विद (Medical bacteriologist) रोग से पीड़ित हुए बिना ही इस प्रतिरक्षिता (immunity) को प्रदान करने में सहायता देते हैं। यह कार्य वे वैक्सीनेशन (vaccination) द्वारा विशिष्ट रोगाणुओं अथवा विषाणुओं या इनके घोल को शरीर में पहुँचाकर करते हैं।

मैपज्ञिक जीवाणुविद्या (Medical bacteriology) का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हानिकारक जीवाणुओं को जल में, खाद्य द्रव्य में या कपड़ों में जहाँ कहीं भी हों नष्ट करना है। यह कार्य स्वाभाविकतया सूर्य की किरण, क्ष रश्मियों (X rays) पारनील-लोहित रश्मियों (Ultra violet rays) द्वारा अथवा प्रतिपूय (antiseptic) तथा रोगाणुनाशक द्रव्यों (disinfectants) जैसे आयोडीन (Iodine), क्लोरीन (Chlorine), बोरिक अम्ल (Boric acid), कार्बोलिक अम्ल (Carbolic acid) हाइड्रोजन-परऑक्साइड (Hydrogen peroxide), मरक्यूरिक क्लोराइड (Mercuric chloride) आदि से किया जाता है। इनको सावधानी से प्रयोग में लाना होता है क्योंकि कुछ त्वचा के लिए हानिकारक होते हैं जैसे फार्मेल्डिहाइड (Formaldehyde), और कुछ शरीर के अन्दर जाकर शरीर को हानि पहुँचाते हैं जैसे मरक्यूरिक क्लोराइड। आधुनिक अनुसन्धानों में गन्धकी भेषज (Sulpha drugs) और पेनिसिलीन (Penicillin) नई औषधियाँ हैं। इसी प्रकार खाद्य पदार्थों को भी जीवाणु प्रभाव से बचाने का प्रयत्न करना होता है। यह निरोगन (pasteurization) और जीवाणुघात (sterilization) द्वारा किया जाता है। पहला कार्य कुछ समय के लिए लगभग ७०० डिग्री फ० (160°F) तक गर्म करने से होता है जब कि दूसरा उच्च निपीड (pressure) और ताप (temperature) द्वारा किया जाता है। अन्य ताप की रीति डौराला (Durs) की वस्तुओं के प्रयोग में लाई जाती है। सबसे भयकर अन्नविष से, जो बाट्यूलिज्म (botulism) कहलाता है, प्रायः मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यह जीवाणु क्लास्ट्रीडियम बॉट्यूलिनम (Clostridium botulinum) के विघटन तत्त्व (decomposition products) से होता है।

जीवाणु मानव जीवन के लिए अनेक कल्याणकारक कार्य भी करते हैं। उनकी चयापचयिक (metabolic) क्रियाएँ कई

महत्त्वपूर्ण व्यापारिक प्रक्रियाओं से प्रत्यक्ष रूप मे सम्बन्धित हैं। इन पदार्थो मे एसिटोन (acetone) और सुषव (alcohol) एसिटो-ब्यूटिलिक्म (Clostendium acetobutylinum) अनाज और शीरे (molasses) के कार्बोहाइड्रेट का किण्वन (ferment) करते हैं और एसीटोन, मेथिल सुषव (methyl alcohol) और एनब्यूटिल सुषव (n Butyl alcohol) उत्पन्न करते हैं जो तीनों ही महत्त्वपूर्ण औद्योगिक वस्तुएँ हैं। हाल ही मे यह खोज हुई है कि विटामिन बी टू इस जीवाणु द्वारा कार्बोहाइड्रेट के किण्वन (fermentation) से ही प्राप्त एक तत्त्व है सिरके (vinegar) की उत्पत्ति मानव इतिहास में सबसे पुरानी प्रक्रियाओं मे से एक है। प्रकृति मे पूयन (putrifaction) करने के लिए जीवाणु सबसे महत्त्वपूर्ण जीवधारी हैं। जीवाणुओं द्वारा विभिन्न प्रकार के प्राणीय तत्त्वों म विघटन (discomposition) प्रकृति की देन माना गया है। इस क्रिया से यह द्रव्य, साधारण तत्त्वों जैसे कार्बन-डाई ऑक्साइड और नाइट्रोजन आदि मे परिवर्तित हो जाता है, जो पौधा द्वारा पुन उपयोग मे लाया जाता है। शिम्बिकुल्य (leguminous) उद्भिदों की जड़ों के सम्बन्ध में यह पहले बतला दिया गया है कि एक जीवाणु (Rhizobium) वायु की नाइट्रोजन का स्थिरीकरण करते हैं (fixes the atmospheric nitrogen) और भूमि को और अधिक उर्वरा बनाते हैं। अन्य जीवधारियों तथा मनुष्य के शरीर मे जीवाणु अनेक उपयोगी कार्य करते हैं। वे आँतो मे पाचन तथा अन्य दैहिक (physio-logical) क्रियाओं को करने मे सहायता पहुँचाते हैं।

यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अणु जीवों (Micro orgnisms) का पूर्ण अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिकों को सवर्ध (culture) पर ही आश्रित रहना पडता है। जीवाणुहत जीवाणु सवर्ध (sterlized culture media) पर ही पाले जाते और परीक्षित किये जाते हैं। ऐसे ही एक अध्ययन के अन्तर्गत यह पता लगा कि ये जीवधारी कभी-कभी अचानक वियोजित (disintegarate) हो जाते हैं अथवा लुप्त हो जाते हैं। यह एक प्रकार के विषाणु (virus) जिसे जीवाणुभक्ष (bacteriophage) कहते हैं, इसकी उत्पत्ति

के कारण होता है। यह तत्त्व, जो कुछ वैज्ञानिक द्वारा मजीव और अन्यों द्वारा केवल जटिल प्रोटीन व्यूहाणु (complex protein molecule) माना जाता है, हाल की ही कुछ खोजों में से एक है जिसके भविष्य की सम्भावनाएँ पूर्णतया समझी नहीं गई हैं।

कीटाणु (germs) अथवा सूक्ष्म इककोशीय जीवधारियों (minute unicellular organisms) से होनेवाली कुछ प्रसिद्ध बीमारियों का भी यहाँ उल्लेख किया जा सकता है जो अधिकतर प्रजीव (Protozoa) वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। एक अनिश्चित मनुष्य के लिये विषाणु (viruses) द्वारा उत्पन्न बीमारियाँ जैसे जल (Hydrophobia) आदि भी कीटाणुओं (germs) से ही उत्पन्न हुई मानी जाती हैं। कम से कम इस भिन्नता का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। कीटाणुओं द्वारा होनेवाली बीमारियों के कुछ विशेष उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

(क) मलेरिया (Malaria)—यह बीमारी एक जीवधारी, जो मलेरियाणु अथवा प्लास्मोडियम (Plasmodium) कहलाता है, के द्वारा होती है। यह एनोफिलीज (Anopheles) मच्छर के काटने से मनुष्य-शरीर में पहुँच जाता है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है।

(ख) सुषुप्ति रोग (sleeping-sickness)—यह बीमारी ट्रिपनोसोमा गेम्बियन्सी (Trypanosoma gambiense) के द्वारा होती है जो सेटसी (Tsetse) मक्खी के काटने से शरीर में पहुँच जाता है। यह बीमारी अफ्रीका में साधारणतः होती है।

(ग) रामरूपीय प्रमातिसार (Amoebic dysentry)—यह एन्टामीबा हिस्टोलिटीका (Entamoeba histolytica) द्वारा होती है। इस अणु जीव की अन्य जाति दूसरी बीमारियाँ जैसे दाँतों में पायरिया कर देती है।

जीवाणु : यह संक्षिप्त और साधारण विवरण जीवाणुकी विज्ञान (Science of Bacteriology) के जनक और रोग विजेता पास्त्यॅार (Pasteur) के उल्लेख बिना पूर्ण नहीं होगा। रेशम के कीड़े और जल भी (Hydrophobia) आदि बीमारियों पर प्रयोगात्मक व्याख्या करते हुये उसने निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया कि "भाग्य पर निर्भर रहने और निरुद्योग बैठे रहनेवालों के दिन बीत गये हैं अतः

मनुष्य को चाहिए कि वह विज्ञान को पथ प्रदर्शक बनाकर अपने अधिकृत राज्य मे वीरता से प्रवेश करे।" किण्वन सिद्धान्त (Theory of fermentation) में आमूल चूल परिवर्तन के लिए वही उत्तरदायी है [और उसी ने रोगाणुवाद (Germ thory of diseases) के प्रतिपादन मे मुख्य भाग लिया। वह एक ९० वर्ग फीट प्रयोगशाला (laboratory) मे रहता था। उसका सम्पूर्ण जीवन कार्य मे ही व्यतीत हुआ। सन् १८६५ में उसने रेशम के कीड़ों की बीमारी पर अनुसन्धान करना प्रारम्भ किया और लगभग तीन साल मे ही अपने आपको हानि पहुँचाकर भी इस पर विजय प्राप्त की। उसके शरीर के एक हिस्से मे लकवा (Paralysis) हो गया। उससे चिकित्सक ने उससे कहा, "यदि तुम इस गर्म मकान मे ही निवास करते रहे तो मृत्यु नहीं तो लकवा (Paralysis) अवश्य हो जायगा' पास्टयोर (Pasteur) ने उत्तर दिया 'डॉक्टर! मैं अपने कार्य को नहीं छोड सकता, मैं अपने लक्ष्य के निकट पहुँच चुका हूँ। मुझे खोज के पूर्ण होने की प्रतीति हो रही है। कुछ भी हो मैं अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर जाऊँगा।' इसे बुद्धिमत्ता कहें या दूरदर्शिता लेकिन यह महानता अवश्य ही थी

अध्याय १६
वंशानुक्रम और विकास
(१)

किसी भी जीवधारी का अपने ही समान सन्तानोत्पन्न करना एक विशेष गुण है। कपास के पौधे से कपास का पौधा अथवा चूहे से चूहा ही पैदा होता है। वंशानुक्रम वह गुण है जिसके कारण संतान अपने माता पिता के ही समान होती है। यही नहीं, बच्चे अधिकतर अपने माता पिता के सदृश ही होते हैं और उनके समान ही व्यवहार करते हैं। इस विषय में वे अपने पड़ोसी बच्चों से बिल्कुल भिन्न होते हैं। तथापि एक ही माता पिता की दो संतान कभी एक सी नहीं मिलती। दो व्यक्ति चाहे वे कितने ही निकट-सम्बन्धी क्यों न हों एक दूसरे से भिन्न होते हैं और इस भिन्नता को विभेद (variation) कहते हैं।

एक ही जाति (species) में पाये जाने वाले विभेदों के तीन कारण हैं। पहला वातावरण (environment), दूसरा प्रसंकरण (hybridization) और तीसरा उत्परिवर्तन (mutation)। जो पौधे अनउपजाऊ भूमि में पैदा किये जाते हैं वे उपजाऊ भूमि में पैदा होने वाले अपने ही सजातियों से, ऊँचाई, भोजन निर्माण आदि में पीछे रह जाते हैं। इसी प्रकार अधिक प्रकाश में उत्पन्न पौधे कम प्रकाश में होने वाले पौधों से अधिक भोजन निर्माण करते हैं। परन्तु इस प्रकार प्राप्त किये हुए विभेद उनकी सन्तानों में वंशानुक्रम द्वारा नहीं जाते। वातावरण कारकों जैसे भूमि, प्रकाश आदि से प्राप्त विभेद अपनी जाति के लक्षणों तक ही सीमित रहते हैं। एक चूहा चाहे कितने ही स्वस्थ वातावरण में रक्खा जाय हाथी उत्पन्न नहीं कर सकता।

प्रसंकरण द्वारा प्राप्त दूसरा भेद दो, कुछ भिन्न जीवधारियों में अभिजनन (breeding) द्वारा प्राप्त किया जाता है। माता पिता दोनों अपनी संतान को कुछ नये गुण देते हैं इसलिए इस प्रकार प्राप्त किया गया विभेद पित्र्यगुण है।

तीसरे प्रकार का विभेद जिसमें जीवधारी में एकाएक अकल्पित परिवर्तन हो जाता है, उत्परिवर्तन (mutation) द्वारा प्राप्त होता है।

जीवधारी मे इन अकल्पित परिवर्तनों को वातावरण अथवा अभिजनन के आधार पर नहीं समझाया जा सकता। हम इस विषय पर आगामी पृष्ठों मे विचार करेंगे। विज्ञान का वह अंग जो वंशानुक्रम के तथ्यों व नियमों से सम्बन्ध रखता है वंशानुक्रम विद्या (Genetics) कहलाता है। आस्ट्रिया (Austria) मे ब्रून (Brun) नामक नगर के ग्रिगर मेन्डल (Gregor Mendel) नामक पादरी ने सर्वप्रथम वंशानुक्रम के आधारभूत नियमों की खोज की। यह पादरी अपने अवकाश के समय हरी मटर के पौधों पर प्रयोग किया करता था। उसकी खोजें सन् १८६५ ई० मे प्रकाशित हुई परन्तु सन् १९०० तक उन्हें कोई नहीं जानता था। जब कई वैज्ञानिकों ने मेन्डल (Mendel) के समान ही अपने प्रयोगों से निष्कर्ष निकाले तब मेन्डल का कार्य प्रकाश मे आया तथा वंशानुक्रम का सांख्यिकीय (statistical) अध्ययन मेन्डेलिज्म (Mendelism) कहलाया। मेन्डेल की इस असाधारण सफलता का कारण प्रयोगों के लिये चुने गये उत्तम गुण वाले पौधे थे। उसने पौधों के विशेष एकक गुणों (unit charncters) पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और अपने प्रयोगों का ठीक ठीक विवरण रखा। मेन्डल द्वारा प्रतिपादित निम्न चार महत्त्वपूर्ण नियम हैं —

(१) एकक गुण नियम (Low of Unit Charncters)—कारक (factor) अथवा पित्र्यैक (gene) लक्षणों को वंशानुक्रम नियंत्रण करते हैं और ये युग्मों मे पाये जाते हैं।

(२) प्रभुता नियम (Low of Dominance) युग्म का एक कारक दूसरे कारक को प्रकट होने से रोक देता है।

(३) गुण पृथक्करण नियम (Low of Segregation) केवल एक ही पित्र्यैक, जन्यु (gamete) अथवा बीजाणु (spore) मे जाता है।

(४) स्वतंत्र नियम (Low of Independent Assortment) दो विरोधी लक्षणों के युग्मों के पित्र्यैक पृथक्-पृथक् बीजाणुओ (spores) में जाते हैं और तत्पचात् ये बीजाणु स्वतन्त्रतापूर्वक एक दूसरे से मिलते हैं।

यह नियम, विशेषकर तीसरा, आधुनिक वंशानुक्रम विज्ञान की आधारशिला है। यद्यपि मेंडल को वंशानुक्रम के भौतिक आधार (physical basis) का तो ज्ञान न था परन्तु उसने जीवधारी में कारक (factor) नामक वस्तु का प्रतिपादन किया जो व्यक्ति के लक्षणों का वाहक था। आज हम इसी वस्तु को पित्र्यैक अथवा जीन (gene) कहते हैं। मेन्डल द्वारा मटर पर किये गये साधारण प्रयोगों को पृष्ठ २२२, २२३ व २२४ के चित्रों में समझाया गया है। जैसे ऊपर बताया जा चुका है उसने मटर के पौधों के निश्चित लक्षणों (characters) पर जैसे लम्बाई, ठिगनापन, पीला और सफेद फूल, पीला गोल और हरा झुर्रीवाला बीज आदि विभेदों पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। दूसरे अपने प्रयोगों को प्रारम्भ करने से पूर्व अपने पौधों की शुद्धता का पूर्ण निश्चय कर लिया। यह उसने लम्बे और ठिगने पौधों के पृथक्-पृथक् अभिजनन द्वारा निश्चित किया।
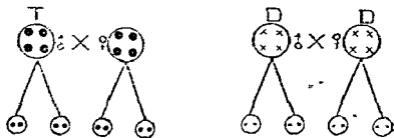
Showing true breeding varieties of Tall and Dwarf Peas.

एक गुण प्रसंकरण का प्रथम प्रयोग (लम्बा व ठिगना)

मटर एक स्वय परागण (Self Pollination) करनेवाली जाति है अर्थात् एक ही पुष्प के पु तत्त्व (Male elements) और स्त्रीतत्त्व (Female elements) मिलकर फूलों और बीजों का निर्माण करते हैं। मेण्डल ने ठिगने पौधों के फूलों से उसके पु केसर (stamen) सावधानी से अलग कर दिये। फिर लम्बे पौधों के पराग को ठिगने पौधों की कुक्षि (stigma) में कृत्रिम रूप से स्थानांतरित किया। प्रथम संतति के सभी पौधे लम्बे पैदा हुए। तत्पश्चात् इन प्रथम संतति के पौधों में स्वय परागण क्रिया और देखा कि द्वितीय संतति में लम्बे और ठिगने पौधों में ३ १ का अनुपात था। इस प्रयोग को उन्होंने प्रारम्भ रक्खा और तीसरी संतति में देखा कि तीन लम्बे पौधों में केवल एक ही शुद्ध लम्बी सन्तानें पैदा हुई। शेष दोनों ने पहले के समान ही ३ १ के अनुपात में संतानें उत्पन्न कीं। ठिगने पौधों ने ठिगने ही उत्पन्न किये। आगे के पृष्ठ के चित्र में मटर के दोनों विभेदों लम्बाई (T) और ठिगनेपन (t) का दिग्दर्शन कराया गया है। यदि पौधा पैदा होने के समय से फल देने के समय तक जीवित रहे तो मेण्डल का कारक (Factor) आनेवाली सन्ततियों में बिना किसी प्रयत्न के स्थानान्तरित हो जाता है (पित्र्य द्रव्य की शुद्धता—(Purity of Germ plasm)।

दो लक्षणों पर किया गया दूसरा प्रयोग (पीला गोल व हरी झुर्रीवाला बीज)

पृष्ठ ३८२ के चित्र में विरोधी लक्षणों (Contrasting characters) वाले दो पौधों के प्रसंकरण के परिणामों को बताया गया है। Y पीले और R गोल y हरे और r झुर्रीदार लक्षणों का द्योतक है। इस चित्र के देखने से आपको पता लगेगा कि जन्युओं के बनने में लक्षणों की शुद्धता बनी रही और उन्होंने प्रसंकरण में स्वतन्त्रता का परिचय दिया। परिणाम भी प्रत्याशित अनुपात ९ ३ ३ १ में ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार यदि विरोधी लक्षणों के तीन युग्मों पर प्रयोग किये जायें तो द्वितीय संतति में २७ ९ ९ ९ ३ ३ ३ १ का अनुपात प्राप्त होगा।
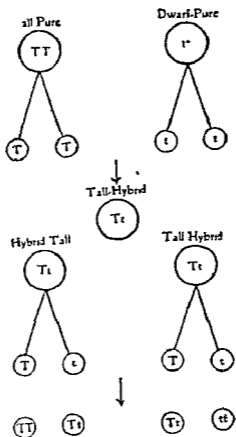
Mendel's experiment with one set of characters (Mono Hybrid), namely Tallness and Dwarfness in Pea plants.

पित्रगति प्रक्रिया (Mechanism of Inheritance)—यह सर्व विदित है कि उद्भिद और प्राणी वर्ग दोनों ही मैथुन के परिणाम-स्वरूप नये जीव (individual) उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक नये जीव का जीवन एक कोशा (single cell) से प्रारम्भ होता है। युक्त (zygote), नरजन्यु (gamets या sperm शुक्रकोष) और मादाजन्यु (egg-डिम्बाणु) के संयोग से पैदा होता है। जाति के सम्पूर्ण लक्षण इन जन्युओं (gametes) में रहते हैं। यदि हम पृथ्वी पर सम्पूर्ण जनसख्या की कल्पना करें और उनके भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक गुणों को देखें तो हमें आश्चर्य होगा कि इन सब गुणों (traits) का आधारजन्यु (gamete) न्यष्टि (nuclei) नामक तत्व हैं जो इतने छोटे हैं कि उन्हें एक बडी पिन के सिर पर अच्छी तरह से रक्खा जा सकता है। सूक्ष्म तथापि अपरिमित शक्तिशाली न्यष्टि के पित्र्यसूत्र (chromosomes) की तुलना में आधुनिक अणुबम (Atom bomb) या हाइड्रोजन बम (Hydrogen bomb) की सब शक्ति नगण्य प्रतीत होती है। मेण्डल (Mendel) के प्रयोगों ने यह सिद्ध कर दिया कि वंशानुक्रम लक्षणों (heredity characters) के लिए विशेष "कारक" (factor) या तत्व होते हैं और आधुनिक अनुसंधानों ने
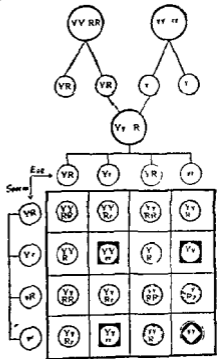
Mendel's experiment with peas taking to characterss (Dihybrid), yellowness and roundness as opposed to greenness and wrinklendness of the seeds

यह सिद्ध कर दिया कि ये 'कारक' जो जीन (gene) कहलाते हैं, न्यष्टि की पित्र्यसूत्र पर ही रहते हैं। प्रत्येक जीन एक या अनेक लक्षणों का वाहक है। प्राणियों में जन्युओं के और पौधों में बीजाणु (spores) के बनने में न्यष्टि की रचना स्पष्ट हो जाती है (प्लेट-६)। जीवधारियों की प्रत्यक जाति (species) में निश्चित पित्र्यसूत्रों की संख्या दृष्टिगोचर होने लगती है। इतना ही नहीं वरन् इन जीन्स (genes) की पित्र्यसूत्रों पर स्थिति का भी पता लगाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण परम्परागत लक्षणों (hereditary characters) के निश्चयकों (determiners) को देखा जा सकता है। (पृष्ठ ३०४ का चित्र)। अत-पौधों और प्राणियों के मूल लक्षण निषिक्ति और युक्ता के निर्माणकाल में ही बच्चे में निश्चित हो जाते हैं और वातावरण का प्रभाव बहुत सीमित होता है।

पित्र्यसूत्रों पर जीन्स की स्थिति एक लाइन में होती है तथा हरेक गुण (trait) का लक्षण (characters) साधारणत एक जीन में ही रहता है यद्यपि इसका प्रकट होना एक से अधिक पर भी निर्भर रह सकता है। पित्र्यसूत्र के विभाजन के समय यह द्विगुणित होता है जिसमें दोनों दुहित कोशाएँ (daughter cells) अपने पित्र्यसूत्रों के निर्माण में समान जीन्स ग्रहण करती हैं। जादवाली दो, माता अथवा पिता से ग्रहण की जाती हैं तात्पर्य यह है कि पित्र्यसूत्रों की द्विगुणित संख्या (diploid number), मान लीजिए किसी एक जाति में चार, वास्तव में दो युग्मों (two sets) से होती है। एक युग्म माता से और दूसरा पिता से प्राप्त होता है। कई उद्भिदों और प्राणियों में प्राय एक पित्र्यसूत्र अन्य पित्र्यसूत्रों से भिन्न व अधिक (extra) होता है। ये पित्र्यसूत्र जाति के विशेष गुणों (special qualities) जैसे लिंग (sex) निश्चयक होते हैं। इसलिए युक्ता में इसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति बच्चे को मादा या नर बनाने के लिए उत्तरदायी होती है। मनुष्य में वास्तव में ऐसा ही होता है।

पित्र्यसू वंशानुक्रम के वाहक होते हैं। यह इस तथ्य से सिद्ध हो गया है कि इनकी संख्या, रचना, आकार तथा एकस्वरूपता किसी भी जाति के लिए निश्चित होती है। एक्स रे (X ray) आदि द्वारा पूर्ण पित्र्यसूत्र या इनके किसी भाग को परिवर्तित करने या उसे सन्धानों के

Showing fruit fly Drosophila, a fruit fly, Drosophila, b—its Mutant, c and d—chromosomes of the male and female fruit fly, e—choromosome showing gene distribution

कारण पित्र्यसूत्र के जीन सिद्धान्त (gene theory) के आधार पर, नये लक्षणों के उत्पत्ति और मेण्डल के नियम जैसे प्रभुता नियम (2nd law of dominance) की असफलता को समझना सम्भव हो गया है। यह ही नहीं वरन् प्रकृति मे नई जातियां (species) के उत्पादन के कारण भी अधिकतर पौधों और प्राणियों के पित्र्यसूत्र मे परिवर्तन ही है। आधुनिक वंशानुक्रम प्रक्रिया (mechanism of heredity) की धारणा (conception) भी अधिकतर टी० एच० मोरगन (T. H. Morgan) के ड्रोसोफिला (Drosophila) नामक मक्खी पर किये गये पथिकृत (pioneer) कार्य पर निर्भर करती है। वंशानुक्रम के भौतिक आधार के ज्ञान पर ही हमारी उद्भिदों के अभिजनन की आधुनिक खोजें सम्भव हो सकी हैं और आज अनेक विद्वान् प्राणीशास्त्र और उद्भिज-शास्त्र के क्षेत्र में नये प्रकार के उपयोगी प्राणियों और उद्भिदों की उत्पत्ति की खोज में लगे हुए हैं।

(८)

आजकल सभी वैज्ञानिक विकास (evolution) के सिद्धान्त पर सहमत हैं। उद्भिद् और प्राणी दोनों ही पूर्व विद्यमान (preexisting) जीवधारियों से पैदा होते हैं। तथा दोनों ही कभी कभी अपने माता-पिता से कुछ विभिन्न जीव उत्पन्न करते हैं एवं पृथ्वी के इतिहास में पहले विभिन्न प्रकार के उद्भिज्जात (flora) और प्राणीजात (fauna) रहते थे। यह सब निर्विवाद तथ्य हैं, जो सावधानी से किये गये अवलोकन और प्रत्यक्ष प्रयोगों से सिद्ध किये जा चुके हैं। फिर भी, एक समय था जब लोग विशिष्ट सृष्टि निर्माण (special creation) के सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। उनका कथन था कि किसी शक्ति ने एक ही समय सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की और वह अब भी चल रही है। इस सिद्धान्त के पक्ष में एक ही प्रमाण दिया जाता है कि समान प्राणी समान प्राणियों को जन्म देते हैं लेकिन सूक्ष्म परीक्षण से विदित होता है कि यह भी वास्तविकता नहीं है। यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि दो भाई भी बिल्कुल एक से नहीं होते अतः

यह धारणा (conception) केवल एक मत मात्र है जिसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। आधुनिक विज्ञान ही केवल पृथ्वी व उस पर जीवन की उत्पत्ति का प्रवैगिक व्याख्या (dynamic
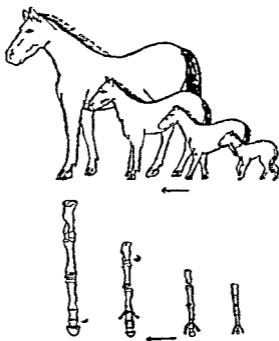
Evolution of the horse, note the development of his toe

interpretation) कर सकता है जो नमशः परिवर्तन की क्रिया से बा विवास से हुआ है। वह प्रकृति में स्थिरता के विचार को बिल्कुल नहीं मानता।

ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिन्होंने जीव विज्ञानशास्त्रियों को यह विश्वास दिला दिया है कि विकास एक कल्पना ही नहीं वरन् एक सिद्ध तथ्य है। अतः प्रकृति की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का सद्विकास सम्बन्धित सिद्धान्तों (Organic theories) और पथ प्रदर्शक विद्वान्

के विचारों का उल्लेख करने से पूर्व इन कुछ महत्त्वपूर्ण प्रमाणों के विषय में बतलाना उपयोगी हो सकता है।

(क) शायद सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण जीवाश्मों (fossils) का है जो उद्भिदों और प्राणियों के प्रस्तरीकृत अवशिष्ट हैं जो युगों पूर्व पृथ्वी पर रहते थे। विभिन्न प्रकार के उद्भिद समुदाय जिनका पिछले पृष्ठों में वर्णन हो चुका है क्रमशः एक एक करके पैदा हुए। शैवाल (Algae) और कवक (Fungi) सर्वप्रथम पैदा हुए इनके बाद मुग्दरहिता (Lycopside) और फिर नग्नबीज (Gymnosperms) तथा अन्त में संवृत बीज (Angiosperms) उत्पन्न हुए। आधुनिक घोड़े का मूल और विकास इसका एक उत्तम उदाहरण है जो इस पशु का एक कुत्ते की आकृतिवाले पूर्वज से विकास होने को प्रमाणित करता है।

(ख) तुलनात्मक पशुओं का शारीरिक (morphology) अध्ययन शास्त्र विकास सिद्धान्त (theory of evolution) के पक्ष में अन्य महत्त्वपूर्ण विषय है। इनके आधार पर ही हम बिल्ली और चीते, स्यार और कुत्ते, बन्दर और मानव, मटर की फली और सेम की फली आलू और गार्डन पेटुनिआस (garden petunias) का एक साथ वर्गीकरण करते हैं। यह विज्ञान ही विभिन्न उद्भिदों और प्राणियों के समुदाय की उत्पत्ति की स्थापना करता है। पुष्प रचना (floral morphology), बीज संरचना और उद्भिदों में काष्ठ रचना (wood anatomy) और प्राणियों में उनकी अस्थियों (skeletons) का अध्ययन आदि अनेक साधनों से यह तथ्य एकत्रित किये गये हैं।

(ग) जीवधारियों के भ्रौण अध्ययन (embryological studies) विकास सिद्धान्त का अन्य प्रमाण है। प्रसिद्ध अंग्रेजी प्राणीशास्त्री टी. एच. हक्सले (T H Huxley) का यह कथन कि व्यक्ति चरित जाति चरित की पुनरावृत्ति करता है (ontogeny repeats phylogeny) इस प्रमाण की बहुत अच्छी व्याख्या कर देता है। इसका साधारण तात्पर्य यह है कि पौधे और प्राणी अपने व्यक्तिगत जीवन में उन सब अवस्थाओं में से गुजरते या दोहराते हैं
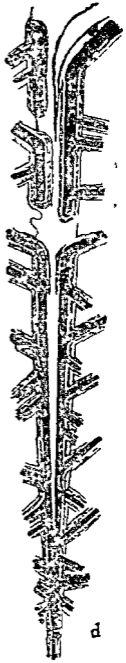
Diagrammatic representation of the evolution of the Stele (Vascular system) in the ferns, solid stele becoming hollow and later net like a, b, c—transverse sections, d—longitudinal section

जो उनके जाति इतिहास को प्रकट करती है। यदि हम विभिन्न प्राणियों जैसे मुर्गा, कुत्ता खरगोश और आदमी के भ्रूणों की (embryo) की जाँच करें तो विकास की कुछ अवस्थाओं में हमें उनकी रचना में बहुत थोड़ा भेद मिलेगा। एक मेढक अपनी टेडपोल अवस्था में से गुजरता है उसी से यह पता लगता है कि उसके पूर्वजों का मत्स्य सदृश जीवों से कुछ सम्बन्ध अवश्य था। पर्णाङ्गों (ferns) की रचना (anatomy) में पुनरावृत्ति (recapitulation) के सिद्धान्त को बहुत अच्छी तरह से बतलाया गया है।

(घ) उद्भिज् जात और प्राणी जात का पूर्वकालीन और आधुनिक विस्तार भी इस विकास सिद्धान्त को दृढता से प्रतिपादित करता है। स्थानिक उद्भिदों (ऐसे पौधे जिनका आज सीमित विस्तार हो) के ऐसे पूर्वज थे जो पूर्वकाल में विस्तृत रूप में फैले हुए थे। उदाहरणस्वरूप प्रसिद्ध मेडन हेयर वृक्ष (Maiden hair tree) अथवा गिंक्गो बाईलोबा (Ginkgo biloba) का जो अब चीन में ही पाया जाता है, मध्यकल्प (Mesozoic periods) में विश्वव्यापी विस्तार था उद्भिद सृष्टि में आज भी 'उसको भूत काल से सम्बन्ध (Link with the past) बतलानेवाला माना जाता है।

(ङ) पशुपालन और उद्भिदों के प्रसंकरण (hybridisation) से लिए प्रमाण काफी विश्वसनीय है। वंशानुक्रम के भौतिक आधार तथा उद्भिदों और प्राणियों के गुणों के कृत्रिम चुनाव की सम्भावना को समझ कर प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा नये गुण (traits) प्रचलित किये गये हैं जिनके परिणामस्वरूप मनुष्य अपने जीवन काल में ही प्रकृति में नवीनतम विभिन्नताएँ लाने में समर्थ हो सका है जिनकी उत्पत्ति में अन्यथा शायद हजारों वर्ष लग जाते।

प्रारम्भ में कहा जा चुका है कि अब जीव विज्ञान शास्त्री क्रमशः विकास से हुए परिवर्तन के विषय में सहमत हैं। कुछ जीव विज्ञान शास्त्रियों के विशेष महत्वपूर्ण विचार नीचे संक्षेप में दिए जाते हैं —

(अ) लामार्कवाद (The Theory of Lamark)–जीन बेपटिस्ट लामार्क (Jean Baptist Lamark) एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी जीव विज्ञान शास्त्री था। उसने यह निर्देश किया कि जीवधारियों में अपने को

परिस्थिति के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है अत वे अपने को वातावरण (environment) के समतुल्य बना लेते हैं और ऐसा करते समय अपनी आकृति मे कुछ स्थानिक परिवतन कर लेते हैं। जो अग प्रयोग मे आते हैं उनका विकास हो जाता है और जिन अगों का उपयोग नहीं होता वे क्रमश ह्रास को प्राप्त होते हैं। लामार्क की धारणा थी कि अगों के लगातार उपयोग से जो अर्जित गुण (acquired characters) उत्पन्न होते हैं वे सन्तति मे पहुँचते रहते हैं। यही इस सिद्धान्त (theory) का सार है। उसका विचार था कि जिराफ (giraffe) की लम्बी गर्दन उसके मरुस्थल की झाडियों तक पहुँचने के लगातार प्रयत्न के कारण क्रमश विकसित हुई।

लोहार जीवन-पर्यन्त अपनी भुजाओं को काम में लेकर उन्हें दृढ बना लेते हैं। उनके बच्चों की भुजाएँ भी स्वभावत मजबूत ही होंगी परन्तु सा परीक्षीय प्रमाण इसके विपरीत दिखलाई पडते हैं। क्योंकि जैसा पहले ऊपर बतलाया जा चुका है कि वातावरण के प्रभाव से उत्पन्न हुई विभिन्नताएँ पैत्रिक नहीं होतीं। पूँछ कटे हुए चूहों की हजारों सतति (generation) के पश्चात् भी उनकी सन्तान मे बिना पूँछ के चूहे उत्पन्न नहीं हुए। अर्जित गुण की अपैत्रिकता का एक अन्य प्रतिष्ठित उदाहरण चीन की स्त्रियों का है। उनके छोटे पाँवों का होना सौन्दर्य का चिन्ह माना जाता है अत जब लडकी पैदा होती है, विशेषकर धनी परिवारों मे तो उसे लकडी के जूते पहना दिये जाते हैं जिससे पैर छोटे रहें उनका यह अर्जित कभी भी उनकी सन्तान ने ग्रहण नहीं किया।

अर्जित गुणों का पैत्रिकता (inheritance) के लिए प्रमाण के न होते हुए भी कुछ जीव वैज्ञानिक (Biologist) अभी तक लामार्क के विचारों को स्वीकार करते हैं। उनका विश्वास है कि यदि सदृश परिस्थितियों मे वातावरण के कारण हुए परिवर्तनों का एक सन्तति दूसरी सन्तति तक विकास माना जाता है तो उनका जन्यु कोशाओं के तत्त्व को बदलना भी सम्भव हो सकता है और इस तरह कुछ समय पर्यन्त जाति को भी प्रभावित कर सकते हैं। यह ऊपर देखा जा चुका है *कि रासायनिक पदार्थ जैसे कोलचीसीन (colchicine) और (X-ray)* द्वारा या विभेदक या जीन (gene) मे परिवर्तन ला देते हैं। अत यह आशा करना अनुचित नहीं कि वातावरण सम्बन्धी तत्त्व environ-

mental factors) एकसा रहे यद्यपि जितने प्रभावशाली न हों तो भी कई वर्षों में परिवर्तित हो जावें और जन्यशाखाओं के प्रत्यैक या जीन्स (genes) में सुधार करें तथा परिणामस्वरूप जाति में पैत्रिक परिवर्तन (heritable changes) ला सकें।

(आ) डारविन वाद (Darwin's Theory)—जैसे ही जीवधारियों के विकासवाद (Theory of organic evolution) का प्रश्न आता है चार्ल्स डारविन (Charles Darwin) का नाम ध्यान में आ जाता है। डारविन के पिता और पितामह दोनों चिकित्सक (physicians) थे और उसके नाना एक प्रसिद्ध मिट्टी के बर्तन बनानेवाले थे। अतः वंशानुक्रम और वातावरण की दृष्टि से डारविन का पालन वैज्ञानिक भूमिका (background) से हुआ था। उसने औषधि का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया किन्तु शल्य चिकित्सा को देखते ही उसे घृणा उत्पन्न होती थी इसके माता पिता ने उसे गिरजाघर का पादरी बनाने का प्रयत्न किया और इससे उसके अध्ययन में लापरवाही हुई। अन्त में उसने केम्ब्रिज (Cambridge) से B A किया और वहाँ वह उद्भिज शास्त्र के प्राध्यापक हेन्सलो (Henslow) और भूगर्भ विज्ञान के प्राध्यापक सेजविक (Sedgewick) के प्रभाव में आ गया। हेन्सलो ने डारविन के लिए एक प्राणीविज्ञ के स्थान पर ब्रिटिश जहाज बीगल (Beagle) पर जाने की व्यवस्था की जो संसार का मानचित्र तैयार करने के लिए भ्रमण पर जा रहा था। अपनी इस यात्रा के पाँच वर्षों में डारविन को उद्भिजों और प्राणियों के संग्रह और वर्गीकरण का अपूर्व अवसर मिला। इस अध्ययन स्वरूप उसके विचारों की नींव पड़ी जो अन्त में विश्व के सम्मुख डारविन प्राकृतिक वरण वाद (Darwin's Theory of Natural Selection) के रूप में प्रस्तुत हुआ। वह प्राणीय जगत में वृहद् अभिजनन शक्ति (powerof over production) और स्पर्धा (competition) को देख कर बहुत प्रभावित हुआ और उसने सोचा कि प्रकृति को कोई ऐसा मार्ग निकालना ही होगा कि जिससे कुछ जीव जीवित रहें और अन्य नष्ट हो जायँ।

अन्त में डारविन ने प्राणी-जगत में विकास के विषय में अपने विचारों को एकत्र कर अपनी धारणा तैयार की और जब वह अपने

परिणामों को प्रकाशित करनेवाला था तभी उसे एलफ्रेड रसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) का निबन्ध मिला। वह भी विकास के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रूप से ठीक डारविन के निष्कर्षों पर पहुँचा था पर डारविन ने सौजन्यतापूर्वक वालेस के परिणामों को पहले प्रकाशित होने दिया। परन्तु अन्त में वे दोनों निबन्ध साथ साथ ही प्रकाशित किये गये। सन् १८५९ में डारविन की पुस्तक जीवों का विकास (Origin of species) के प्रकाशन ने 'धर्म' (Theology) को भड़का दिया और शीघ्र ही वैज्ञानिकों और पादरियों में कटु संघर्ष प्रारम्भ हो गया। डारविन के विचारों पर देश और विदेश दोनों में समर्थन हुआ। उसके सिद्धान्त का संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

जीवधारियों में प्रजनन की वृहद् शक्ति होती है। वे इतनी प्रचुर संख्या पैदा करते हैं कि सबका जीवित रहना सम्भव नहीं हो सकता। एक फल देनेवाले वृक्ष का पुष्प एक करोड़ से भी अधिक बीज पैदा कर सकता है। एक छत्रा (Mushroom) लगभग २,०००,०००,००० बीजाणु पैदा कर सकता है। एक विशेष ईल मत्स्य (Congo Eel) एक ऋतु में १५०,००,००० अण्डे देता है। अत सभी संतान पैदा नहीं हो सकतीं और सुरक्षित स्थान व भोजन की सीमितता के कारण उनमें भीषण संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। यह जीवन संघर्ष केवल प्राणी और उद्भिदों तक ही सीमित नहीं होता वरन् उसी जाति के जीवधारियों में भी हो जाता है। उनमें से बहुत कम प्रतिशत इस संघर्ष में जीतते हैं और पूर्ण विकसित होते तथा पनपते हैं। अब प्रश्न यह है कि वे कौन से भाग्यशाली जीव हैं जो जीवित रहते हैं। हम यह जान चुके हैं कि घनिष्ट सम्बन्धी भी पारस्परिक साम्य नहीं रखते और कुछ व्यक्तिगत विभिन्नताएँ रखते हैं। डारविन ने देखा कि जीवधारियों की थोड़ी सी भिन्नताएँ भी उपयोगी होती हैं क्योंकि उन्हें कुछ समय में संघर्ष को जीतने में सहायता देती हैं और अन्त में पैत्रिक (hereditary) बन जाती हैं। प्राणीविज्ञ की भाषा में भी इस विचार को रक्खें तो इसका तात्पर्य यह है कि इस जीवन-संघर्ष में प्रकृति सर्वोत्तम प्रतिद्वन्द्वी को, जिसमें उपयोगी विभिन्नताएँ होती हैं, चुनती है। अत. डारविन का विकासवाद (Theory of Evolution) प्राकृतिक वरण (Natural selection) के नाम से प्रसिद्ध है।

'प्राकृतिकवरण' की कल्पना के विरुद्ध सबसे महत्त्वपूर्ण आलोचना यह थी कि उस समय लोगों को यह समझना कठिन था कि जीवधारी में विभिन्नता कैसे उत्पन्न होती है और वह पैत्रिक हो सकती है अथवा नहीं। डारविन इसे नहीं समझा सका तथा उसने अपने सिद्धान्त में कमजोरी का अनुभव किया और फलस्वरूप इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि विकास में काम करनेवाले कई कारकों में (factors) प्राकृतिक वरण भी कारण (factor) था। पैत्रिक (heritable) और अपैत्रिक (non-heritable), अल्प और अधिक तथा उपयोज्य (adaptable) तथा अनुपयोज्य (non-adaptable) आदि विभेदों के भेद का पता लगाना भी सम्भव नहीं था तथापि डारविनवाद समयानुसार परीक्षण से आगे बढ़ गया और प्रकृति के विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत किए गये अन्य सिद्धान्तों में आज भी सर्वोत्तम महत्त्व रखता है।

परिवर्तनवाद (Mutation Theory)—सन् १९०१ में एक डच जीव वैज्ञानिक ह्यूगो डी० व्रीस (Hugo D' Vries) ने परिवर्तनवाद का प्रतिपादन किया। यूट्रेक्ट (Utrecht) में उसके वनस्पतिउद्यान (Botanical garden) में उसने गुलाबाँस के पौधों (Evening primrose) में नये प्रकार के पौधे देखे। वे उत्तरोत्तर संतति में एक शुद्ध अभिजाति (Pure breed) की तरह अपने में प्रजनन करते हुए पाये गये। वे अपने माता पिता से आकार प्रकार के काफी भिन्न थे। अत डी० व्रीस ने उन्हें नई जाति समझा। आकस्मिक परिवर्तन जो इन नये पौधों को जन्म देते थे परिवर्तन (mutation) कहलाये जाने लगे। परिवर्तन का मुख्य कारण अज्ञात है परन्तु यह जन्युकोशाओं में जीन या क्रिोमैक में परिवर्तन द्वारा ही हो सकते हैं। ये परिवर्तन (mutation) आकस्मिक हुए और इनका मूल अज्ञात रहा। इस वाद के अन्तरगत डी० व्रीस ने बतलाया कि परिवर्तनों के फलस्वरूप ही नई जाति उत्पन्न हुई। उसने परिवर्तनों को असंतत विभेदन (discontinuous variation) कहा, और डारविन के संतत विभेदन (continuous variation) के विरुद्ध उन्हें नई जातियों के निर्माण का कारण बतलाया। असंतत विभेदन प्रारम्भ से ही स्पष्ट (distinct) होते हैं। वस्तुत. यह डारविनवाद

का ही संशोधन था। डी० व्रीस ने डारविन की छोटे और संतत विभेदन की अपेक्षा असंतत और स्पष्ट भिन्नताओं पर विशेष बल दिया।

सांपरीक्षीय प्रमाणों की दृष्टि से परिवर्तन (mutation) न्यष्टि (nuclei) पिन्यसूत्र के परिवर्तनों (chromosomal changes) के बाह्य संशोधित रूप (outward expression of alterations) माने जाते हैं। उदाहरणस्वरूप धतूरे पर किये गये वंशानुक्रम-सम्बन्धी कार्य से पता लगता है कि पिन्यसूत्रों (chromosomes) की संख्या किन्हीं कारणों से या कृत्रिम रूप से जैसे कोल्चीसिन (colchicine) के प्रयोग से द्विगुणित, त्रिगुणित और चौगनी हो जाती है तो त्रिगुण (triploid) और चतुर्गुण (tetraploid) पौधे बनते हैं। यह देखा गया है कि ऐसे जीव परिमाण size), आकृति (shape) उत्पत्ति (yield) और वृद्धि अर्घ (rate of growth) और पुष्पों में अवन्ध्यता (fertility) अथवा वन्ध्यता (sterility) आदि में अपने माता पिता से पर्याप्त विभिन्नता रखते हैं। यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि ये जीन (gene) परिवर्तन ड्रोसोफिला (Drosophila) मक्खी में पाये गये हजारों विभिन्न प्रकार के परिवर्तित जीवों (mutants) के लिए किस प्रकार उत्तरदायी होते हैं।

एक आधुनिक विकासवाद, जिसका अनेक जीव वैज्ञानिकों द्वारा समर्थन हुआ है, यह मानता है कि जीवधारियों में होनेवाले परिवर्तन मुख्यतया उत्परिवर्तन (mutants) ही होते हैं। फिर 'प्राकृतिक वरण' (Natural selection) इन उत्परिवर्तित जीवों में अयोग्य को छोड़ते हुए और उपयोगी जीवों का वरण करता हुआ उसमें काट छाँट करता है। वातावरण, निर्देशक शक्तियाँ समझी जाती हैं। और भिन्नताएँ केवल कारण (causative) मात्र। विकास में प्रकृति (nature) और शिक्षा दोनों ही अनिवार्य 'कारक' प्रतीत होते हैं।

अध्याय २०

संस्कृति के विकास में जीवशास्त्र

जीव विज्ञान का मानव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में मानव भी प्राणी जगत के विकास-क्रम में एक कड़ी है और सृष्टि के असख्य प्राणियों में से एक है। समय व स्थान के दृष्टिकोण से वह बहुत ही अर्वाचीन है और उसका स्थान अल्प है। यद्यपि हम सृष्टि म सजीव जगत् की उत्पत्ति के विषय में बहुत कम जानते हैं, फिर भी यह निश्चित है कि उद्भिद व प्राणी जगत् की विभिन्न विकासशील शाखाओं के पूर्णरूप से स्थापित होने के लगभग बाद ही मानव का इस ससार में प्रादुर्भाव हुआ।

आदि मानव ने चाहे वह जब व जैसे आया हो, सर्वप्रथम सुप्राप्य जङ्गली पशुओं और वनस्पति वर्ग पर ही जीवनयापन किया। जैसे-जैसे उसका जीवन अधिक जटिल होता गया वैसे-वैसे वह अपना भोजन, स्थान, वस्त्र, स्वास्थ्यदायक जडी बूटियाँ कला व सुख के अन्य साधनों के लिए उद्भिद वर्ग पर अधिकाधिक आश्रित होता गया। मानव को सम्बोधन करते हुए उद्भिद का निम्न कथन कितना सुन्दर व शिक्षाप्रद है —

'हे पथिक! इसके पहले कि तू मेरे विरुद्ध मुझे हानि पहुँचाने के लिए हाथ उठाए, मेरी बात सुन। मैं शरद् ऋतु की ठंडी रात्रि में तेरे घर को गर्म रखने के लिए जलनेवाली सूखी घास हूँ। साथ ही ग्रीष्मकालीन सूर्य से बचाव के लिए मैं तेरे लिए छाया करता हूँ। इतना ही नहीं मेरे फल तेरी यात्रा के समय तेरी प्यास को बुझाते और तुझे तरोताजा करते हैं।'

"मैं ही तेरे घर की शहतीर तेरी मेज का तख्ता, तेरा पलँग जिस पर तू सोता है, व नाव की लकडी हूँ।'

'मैं ही तेरी कुदाली का हत्था, घर का दरवाजा, तेरे पालने की लकडी व तेरी ठठरी का खोल हूँ।'

"मैं ही प्राणदायी रोटी व सुन्दर पुष्प हूँ।"

"इसलिए ऐ पास से निकलनेवाले पथिक! मेरी प्रार्थना सुन और मुझे हानि न पहुँचा।'

उद्भिदों से मानव का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है और प्राणियों के साथ तो उसका मूल सम्बन्ध है। यदि पक्षी श्री सम्पन्न सरीसृप (Glorified reptile) कहा जा सकता है तो मानव को भी पवित्र स्तनी (Sanctified mammal) कहा जा सकता है। प्राणी विज्ञान वेत्ताओं को कभी-कभी औषध विनाशी (pests of medicine) कहा जाता है। थोड़े से विचार करने पर यह स्थिति इसके विपरीत पाई जाती है। मानव देह व्यापारिक विज्ञान (human phosiology) के विकास की आधुनिक अवस्था हमारे निम्न श्रेणी के प्राणियों पर किये गये प्रयोगों और उनसे प्राप्त मूल सिद्धान्तों पर आधारित हैं। अवरोधक (preventive) और आरोग्यकारी (curative) औषधियों का अनुसधान मानवता को प्राण विज्ञान की महत्त्वपूर्ण देन है।

पिछले पृष्ठों में आपको बताया जा चुका है कि किस प्रकार प्राणी-विज्ञान ने भेषज विज्ञान (medicine) को महत्त्वपूर्ण सहारा दिया है। पहिले रोग मनुष्यों को पापकर्मों के फलस्वरूप परमात्मा का कोप माने जाते थे। जेकब हेनले (Jacob Henle) प्रथम व्यक्ति था जिसने जीवित वस्तुओं को बीमारी फैलने के कारण बताया और अण्वीक्ष यत्र (microscope) के आविष्कारक ल्यूवेनहाक (Leeuwenhook) ने 'रायल सोसायटी में जल में पाये जानेवाले सूक्ष्म कीटाणुओं की स्थिति का ज्ञान कराया। रेशम के कीड़ों पर किये गये अनुसन्धानों के अनुभव के आधार पर पास्त्योर (Pasteur) ने अपने सुविख्यात 'रोगाणुवाद' (Germ Theory of Diseases) का प्रतिपादन किया। अँग्रेज सर्जन लार्ड लिस्टर (Lord Lister) ने शल्य चिकित्सा में प्रतिपूय पद्धति (antiseptic system) का विकास करते हुए पास्त्योर का आभार माना। पास्त्योर के ही कार्य से उत्साहित होकर अपनी २८वीं वर्षगाँठ पर अपनी पत्नी द्वारा भेंट में प्राप्त अण्वीक्ष द्वारा राबर्ट काख (Robert Koch) ने प्लीहृ ज्वर (Anthrax) और यक्ष्मा के रोगाणुओं का अनुसन्धान कर यन्त्र का वास्तविक उपयोग किया।

लगभग ६० वर्ष पहिले जब विषाणुओं (Viruses) का पता चला इनकी ओर सबका ध्यान आकर्षित हुआ। रोगाणुवाद के पूर्णरूपेण मान्य हो जाने के बाद तो यह विषाणु उद्भिदों व प्राणियों

की अनेक रोगावस्थाओं के कारण सिद्ध हुए (चेचक, पीतज्वर, इन्फ्लुएन्जा जुकाम आदि)। जेकर ने १८४० में शैशव स्तम्भ (infantile paralysis) का अनुजीवों (microbes) के अलावा कोई और कारण बताया। जेनर (Jenner) व पास्चर ने शरीर में चेचक व जलमी (Hydrophobia) के कुछ विषाणुओं को इन्जेक्शन द्वारा शरीर में प्रविष्ट कराकर कृत्रिम प्रतिकारिता (immunity) पैदा करने की प्रणाली को जन्म दिया। जीवाणुओं (bacteria) के अपवाद में विषाणुओं की यह विशेषता है कि वे प्राणीय माध्यम में रहते व प्रगुणन (multiplication) करते हैं। ये केवल इलेक्ट्रान अणुवीक्ष (Electron microscope) द्वारा ही देखे जा सकते हैं। भौतिक ज्ञान शास्त्री व रसायन शास्त्री इनको केवल प्रोटीन (protein) का मणिभ (crysta) मात्र मानते हैं। चाहे जो भी हो विषाणुओं ने गद्धिदों के रोग और अणुजीव विज्ञान (microbiology) के क्षेत्र में एक नया मार्ग प्रशस्त किया है।

इस शताब्दि के प्रारम्भ में प्रति जैविकों (antibiotics) के अनुसधान ने तो चिकित्सा प्रणाली में एक महान् विप्लवकारी प्रभाव डाला है। एक जीवाणु (bacillus) महल (colony) के सवर्ध (culture) में दूसरे जीवधारियों के आ जाने के कारण कुछ भाग के नष्ट हो जाने की पास्चर की खोज ने इसका निर्देश कर दिया था। वार्ड (Ward) ने १८६६ में इस प्रक्रिया (phenomenon) को एन्टी बायोसिस कहा। रॉकफैलर सस्था के ड्यूबोस महोदय ने १९२८ में जीवाणु के शरीर से बाहर निकलनेवाले एक ऐसे पदार्थ का वर्णन किया जिसने स्ट्रप्टोकॉक्स (Streptocococcus) की तरह, स्टेफाइलो कॉक्स (Staphylocous) के दो, और न्यूमोकॉक्स (Pneumococous) के आठ सतति पर एक शक्तिशाली ह्रमीय कार्य किया। एलेक्जेण्डर फ्लेमिङ्ग (Alexander Flemming) ने ड्यूबोस से पहले अपने स्टेफाइलोकॉक्स के सवर्ध से पेनिसिलीन (penicillin) का आविष्कार कर लिया था परन्तु यह जानकारी कुछ समय के लिए उपयोग में नहीं लाई जा सकी। १९३५ में फ्लोरी (Florey) ने पेनिसिलीन को बभ्रु चूर्ण (borwn powder) के रूप में सवर्ध से अलग किया। यह इतना शक्तिशाली था कि १२० लाख में

केवल एक भाग हिमोलिटिक स्ट्रेप्टोकोकाई का निरोध कर सकता था। १९४१ मे पेनिसिलीन मनुष्य पर प्रथम बार प्रयुक्त की गई और तब से आज तक यह सक्रमण पर विजय का डका बजाती चली जा रही है। १९४४ मे क्षय जीवाणुओ के लिए स्ट्रेप्टोमाईसीन (Strepto mycin) ढूँढ निकाली गई। १९४७ मे येल विश्वविद्यालय (Yale University) में बर्क होल्डर (Burkholder) ने क्लोरोमाईसिटिन (Chloromycetin) नामक प्रतिजैविक को मुक्त ज्वर (Typhoid के लिए अलग किया। इसी प्रकार ओरोमाइसिन (Aureomycin) कासरुपीय आमातिसार (amoebic dysentry) मे अत्यधिक उपयोगी पाया गया।

विटामिन और हारमोन की खोज और उनका मानव कल्याण के लिए उपयोग चिकित्सा शास्त्र की एक और महत्त्वपूर्ण देन है। जीवधारी की शारीरिक प्रक्रियाओ के सुचारु और व्यवस्थित रूप से चलने मे इनका कितना महत्त्व है इसका चित्रण सरलता पूर्वक नहीं किया जा सकता। इन्सुलिन (Insulin) की खोज और उपयोग सब जानते हैं। इसके आविष्कारक बेन्टिङ्ग ((Banting) और उसके साथियों को इसी आविष्कार पर नोबेल पुरस्कार (Nobel Prize) मिला। पोष ग्रन्थि (Pituitary gland) के द्वारा निर्मित हारमोन का उल्लेख किया जा चुका है। सन् १९२३ मे डोईजी (Doisy), ऐलन (Allen) और अन्य व्यक्तियों ने लैंगिक हारमोन (sex harmone) को अलग किया। ब्यूटेना (Butenandt) ने एक करोड़ गैलन मानव मूत्र मे से कुल पाँच ग्राम (gram) इन्ड्रास्टेरोन नामक पु हारमोन (male harmone) निकाला।

पौधो मे सेंचन क्रिया (pollination) के बिना फलो के बनाने मे, उपयुक्त समय से फलों को गिरने से रोकने में, और इस प्रकार के कई अन्य कार्यों मे हारमोन का उपयोग सफलतापूर्वक किया है। एक हालैंड निवासी देह व्यापार विद् (physiologist) एफ० डब्ल्यू वेन्ट (F. W Went) जो इस समय कैलिफोर्निया की टेक्नो लोजी सस्था (California Institute of Technology) मे कार्य कर रहे हैं इस क्षेत्र के उल्लेखनीय विद्वान हैं।

कृषि मे घास-फूस का पैदा होना एक बहुत बड़ा उत्पात व बाधा है। अब तक केवल परिश्रम द्वारा ही इसे नष्ट किया जा सकता था और

यह खर्चीला पड़ता था। अब फिनोक्सी एसेटिक एसिड (phenoxy) (acetic acid) से प्राप्त एक सश्लेषित हारमोन ०.०००१ ० ०१ का समाहार फसल को तो हानि नहीं पहुँचाता परन्तु घास-फूस को दो तीन सप्ताहों में बिलकुल नष्ट कर देता है इस हारमोन का उपयोग अमेरिका व यूरोप मे लाखों एकड़ भूमि साफ करने के काम में लिया जा चुका है परन्तु भारत मे अभी इसका प्रयोग परीक्षणों में ही किया जा सका है।

पाँचवें अध्याय में आपको जीव विज्ञान की नवीनतम शाखा पितृजाति विद्या' के विषय मे बताया जा चुका है। नियमों के प्रयोगों से उद्भिदों और पशुओं की नस्ल सुधारने मे अधिक महत्त्वपूर्ण सहायता मिलती है। उद्भिद अभिजनन के प्रयोगों मे प्रवरण (selection) एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग है। इसके द्वारा उद्भिदों के लाभदायक लक्षण तो रख लिए जाते हैं और हानिप्रद लक्षणों को दूर कर दिया जाता है। लूथर बरबक (Luther Burbank) नामक प्रसिद्ध उद्भिद अभिजनक ने एक महाकाय शास्ता डेजी (अभिसुन्दरा की एक जाति) और गुठली-रहित जामुन का निर्माण किया। जगली चकन्दर अब इतनी अधिक सुधार दी गई है कि गन्ने से टक्कर लेती है।

दूसरी प्रणाली प्रसंकरण (Hybridisation) की है। इस प्रणाली से भारत व जावा म गन्ने पर सफल प्रयोग किए गये हैं। उनकी न केवल अधिक शर्करा उत्पादन वरन् रोग निरोधक शक्ति में भी उन्नति की गई है। रूस में भी इसी प्रकार का कार्य अनाजों के जगली विभेदों के अन्तराभिजनन पर किया गया है और अधिक उपज व रोग और सूखेपन (Draught) से लड़ने की शक्ति रखनेवाली किस्मे बनाली गई हैं। आज की मानवता आस्ट्रियन पादरी ग्रेगर मेन्डेल, टी० एच० मार्गन, और प्रसिद्ध रूसी विद्वान एन० आई० वेविलॉव के गेहूँ और आलू की अच्छी नस्ल बनाने के लिए उनकी ऋणी है।

उत्परिवर्तनों का (mutation) चाहे वह प्राकृतिक हो अथवा कृत्रिम, एक अलग स्थान है। ये जीन में परिवर्तन के कारण और तत्काल होते हैं। उदाहरणार्थ क्राइसेन्थियम (Chrysanthemum, हेम पुष्पति) के फूल इसी प्रकार प्राप्त हुए थे। दक्षिणी अमेरिका में

एक वृक्ष की शाखा पर भिन्न प्रकार के सन्तरे को लगा देखकर एक अमेरिकन यात्री ने उस डाल को केलिफोर्निया मे जाकर लगाया और केलिफोर्निया की महान् नावेल ओरेन्ज (Navel orange) व्यापार को जन्म दिया। प्रसिद्ध बीज रहित वाशिंग्टन नावेल ओरेंज आज एक बहुमूल्य निधि बन गया है। इसी प्रकार बीज रहित, एम्परर अंगूर और सेबों की भी विभिन्न किस्में पैदा की गई । जिस समय डी. व्राइज (D, Vries) ने उत्परिवर्तन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था और उसके बाद भी ऐसा विचार किया जाता था कि पित्र्येक (genes) स्थिर होते हैं परन्तु अब एक्स रे (X-Ray) अल्ट्रा वायोलेट रेज (ultra violet rays) और ऊँचे नीचे तापक्रमों द्वारा उनको बदला जा सकता है। परन्तु इस प्रकार प्राप्त पौधे हानिकारक लक्षणोंवाले होते हैं। फिर भी इनका प्रयोग प्रसकरण मे किया जाता है। जौ (barley) के विभिन्न विभेद पैदा कर लिये गये और आज इन उत्परिवर्तनों द्वारा कृषि और उद्यानों के लिए नये विभेद तैयार किये जा सकते है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रकृति मे जीवधारियों के नये विभेद उत्पन्न करने में इनका एक विशेष हाथ है।

प्रयोगात्मक उद्भिद् पारिस्थिकी (Experimental plant ecology) के विकास के साथ साथ वनों की जैविकी (Biology) एक नये दृष्टिकोण से देखी जाने लगी (उद्भिद् समूह का स्थान से सम्बन्ध आदि के नियम) वन पालक (Sylviculturist) की दृष्टि से वन-समूह स्थिर इकाई न रहकर सर्वदा परिवर्तित होते रहते है। इसलिए वह सब पारिस्थिकीय तथ्यों पर विचार करता हुआ लकड़ी के उत्पादन और उसके उपयोग में उस अनुभव का आर्थिक उपयोग करता है। मनुष्यो का जीवन वनों और उससे उत्पन्न वस्तुओं से अधिक सम्बन्धित है। जैसे लकडी, निर्यास (gum) उद्याम (resin) आदि। जीवधारियों की आधारभूत आवश्यकतायें जैसे ऋतुएँ, वनों पर निर्भर करती है। वन सरक्षण और राष्ट्रीय प्राकृतिक वातावरण अब कला और सुन्दरता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है, और इसने अब लगभग विज्ञान का रूप लेकर मानव की प्रसन्नता के लिए उद्यानो की उपयोगिता बढा दी है।

ससार की जन-सख्या की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ साथ खाद्य समस्या विषम हो जाती है। इस समस्या का हल नये साधनों को

ढूँढकर निकालना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप प्रसंकरण द्वारा चुकन्दर अब गन्ने के समान ही उपयोगी हो गया है। एक समय था जब इस विचार की भी हँसी उड़ाई गई थी। फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन का अपने लड़के को चुकन्दर देते हुए एक व्यंग चित्र बनाया गया था जिसका शीर्षक था 'प्रिय इसे चूसो, तुम्हारे पिताजी कहते हैं कि यह शर्करा है' (Suck bear suck, your father says it is sugar.) आधुनिक अनुसन्धानों द्वारा संतुलित चयापचय (balanced-metabolism) में और शरीर को विभिन्न तन्तुओं में होनेवाले क्षय की पूर्ति में तिक्ती अम्ल (amino-acid) का महत्त्व सिद्ध किया है। इसके अतिरिक्त सेम (beans) व दूसरे सभी धान्यों और किण्व (Yeast, Turolopsis utilis) के विस्तार से कृषि बहुमूल्य सिद्ध हुई है। क्लोरेला (Chlorella) नामक अरवीद्य हरि-आप्यका (green alga) के कार्य की खोज सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। लेखक द्वारा २६ नवम्बर १६५३ के सण्डे स्टेण्डर्ड (Sunday Standard) नामक समाचारपत्र से कुछ विशेष तथ्य एकत्रित किये गये। सूर्य प्रकाश अथवा कृत्रिम प्रकाश में कृत्रिम कार्बन डाइ आक्साइड (CO_2) और जलवाष्प (water vapour) देने पर इस हरी-आप्यका ने इस प्रकार प्राप्त शक्ति का २०% से अधिक उपयोग किया (हरे उद्भिद केवल ०.३% उपयोग करते हैं) और सोयाबीन से कई गुना अधिक प्रोटीन निर्माण किया। वास्तव में उद्भिद शास्त्रियों और जीव-रसायनज्ञों (Biochemists) ने इस आप्यका के रूप में एक सोने की खान ही प्राप्त कर ली है।

जीव विज्ञान की मानव-कल्याण के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन यह है कि वह इस सृष्टि का एक अंग है, न कि उससे अलग। तथापि हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या, व्यवहार में सुधार व अयोग्यों का निर्मूलन आदि समस्याओं के सुलझाने के लिए वंशानुक्रम विद्या के नियमों का मानव पर प्रयोग करने में अभी वर्षों परिश्रम और अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। मानव विचारशील प्राणी है और इसलिए समय रहते उसको इस विषय पर भी ध्यान देना होगा।

हमारे विचार से इस खंड की समाप्ति के पूर्व हम उद्भिद-शास्त्र क्यों पढ़ें, इस प्रश्न का संक्षिप्त उत्तर देना संगत होगा। प्रथम हमारे

अस्तित्व के लिए हम उद्भिदों के कितने ऋणी हैं, यह इस पुस्तक में पूर्ण रूपेण सिद्ध किया जा चुका है। इसका अध्ययन उदार और संतुलित शिक्षा के लिए आवश्यक है। मानव के वातावरण में पाई जानेवाली दो महान् वस्तुएँ हैं, नीचे पृथ्वी तल पर फैला हुआ उद्भिद समुदाय और दूसरा आकाश। उद्भिदों के अध्ययन से ही मनुष्य कलात्मक और साहित्यिक रचनाओं का मूल्यांकन कर सकता है क्योंकि इनमें उद्भिदों का ही अधिक वर्णन होता है। जीवधारियों में अकेला मानव ही दार्शनिक है। प्रकृति के रंगमंच पर होनेवाली विभिन्न प्रकार की क्रियाओं को देखकर ही मनुष्य उद्यानों और वनों की सुन्दरता का मूल्य समझ सकता है। इसके अतिरिक्त उद्भिदों और प्राणियों की रचना में विभिन्नता होते हुए भी उनकी साम्यता का ज्ञान होता है। वे एक दूसरे का संतुलन व प्रतितोलन करते हैं और अत्यधिक सुन्दर नमूने देते हैं। यह सब ज्ञान हमें जीवनदर्शन और प्रकृति में हमारा स्थान बताने में सहायता देता है।

"प्रकृति हमें उसके अन्तरतम को एकदम ढूँढने की आज्ञा नहीं देती। हम सोचते हैं कि हमने प्रारम्भ तो कर दिया है परन्तु वास्तव में अभी हम द्वार पर ही हैं।"—सेनेका (Seneca)

PLATE 1

Transverse, longitudinal and surface sections of stem, root and leaf of a flowering plant showing general anatomy, a & b L,S of Stem c L S of root tip d -T S of root and e -lower leaf epidermis
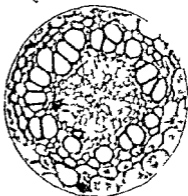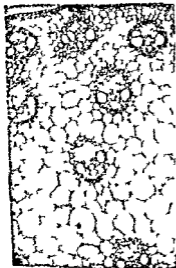
PLATE 2

Transverse sections of different plant stems a T S young Pine Stem b T S Maize Stem c T.S Dicot Stem d T S Vascular bundle e T.S Fern Stem

PLATE 3

Human skeleton

PLATE 4

a

d

b

e

c

f

Transverse sections of some animal tissues a Frog s' blood, c. human bone, d. human jejunum, e. human in stomach.

PLATE 5
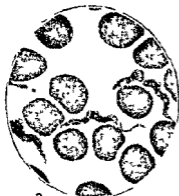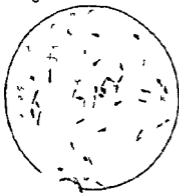
Germs a Three germs of sleeping sickness b Germs of cholera Bacteria d Spirillum bacteria e *Closteridium* (poisonous) f Typhoid Bacteria

H 001
SA42S
...APANA RURAL COLLEGE
23724
UDAIPUR
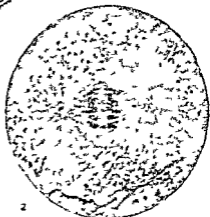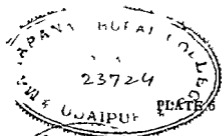
An animal cell dividing into two Nucleus seen into parts known as chromosomes